

उत्तराध्ययनसूत्र

दार्शनिक अनुशीलन एवं वर्तमान परिप्रेक्ष्य में उसका महत्त्व



जहा पेमं जलेजार्यं नोवलिप्सइ वारिणा।

एवं अलितौ कामेहिं तं वयं बूम माहणं ॥

उत्तराध्ययन सूत्र 25-27

साध्वी डॉ. विनीतप्रज्ञा

उत्तराध्ययन सूत्र

दार्शनिक अनुशीलन एवं वर्तमान
परिप्रेक्ष्य में उसका महत्त्व

आत्मीय आशीष :

- प.पू. सुदीर्घसंयमी दिग्विद श्री जी म.सा.
प.पू. समतामूर्ति प्रियदर्शना श्री जी म.सा.
प.पू. सेवामावी दिग्विदश्री श्री जी म.सा.

लेखन :

प.पू. गहन आत्मसाधिका गुरुवर्या अनुभवश्रीजी म.सा.
की सुशिष्या प.पू. प्रसिद्धव्याख्यात्री
गुरुवर्या हेमप्रभाश्रीजी म.सा. की चरणाश्रिता
साध्वी डॉ. विनीतप्रज्ञा

प्रकाशन : १

श्री चन्द्रप्रभु महाराज जुना जैन मन्दिर ट्रस्ट
३४५, मिन्ट स्ट्रीट, साहुकारपेट, चेन्नई - ६०० ०९६.

भगवान महावीर के २६०० वें जन्म कल्याणक
वर्ष के उपलक्ष में

प्राप्ति-स्थान :

श्री चन्द्रप्रभु महाराज जुना जैन मन्दिर ट्रस्ट

३४५, मिन्ट स्ट्रीट, साहुकारपेट,

चेन्नई - ६०० ०७६.

कुराल ज्ञान भंडार

खरतरगच्छ जैन उपाश्रय

गुजराती कटला, पोस्ट : पाली (राज.)

पीन : ३०६ ४०१.

मुद्रक

जैन प्रिन्टर्स

२७, वैद्यनाथन स्ट्रीट,

चेन्नई - ६०० ००१.

☎ : ५२११८६१

मूल्य : 300 रूपये

दिनांक ३ फरवरी २००२

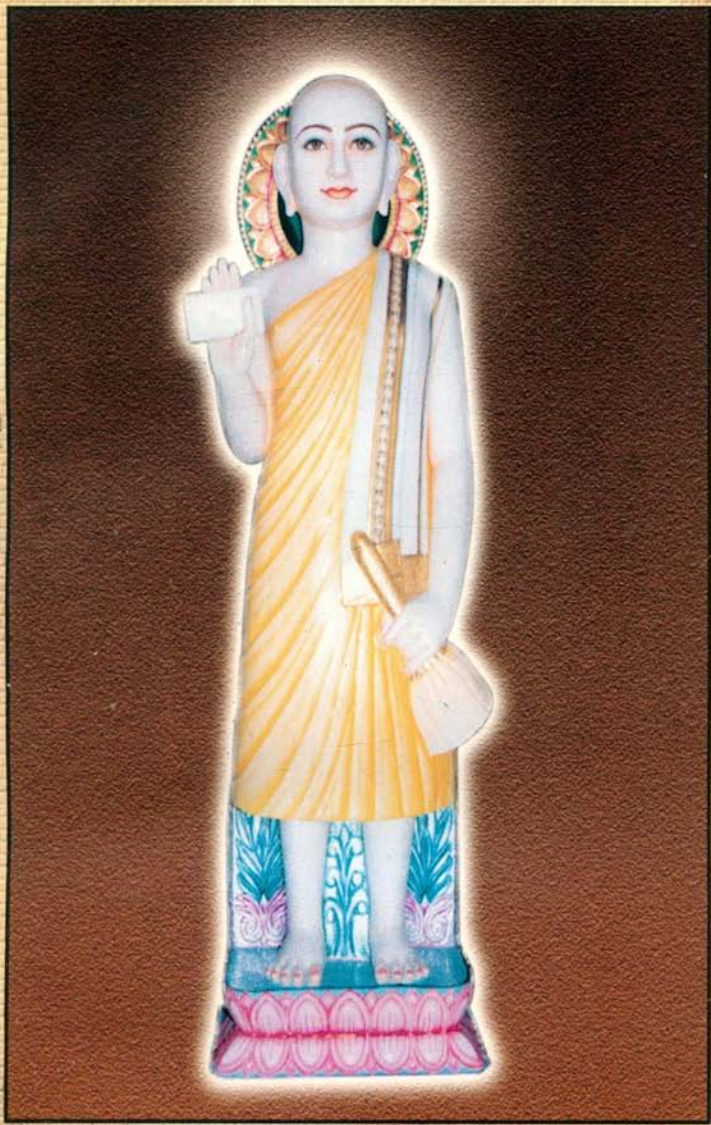


श्री चन्द्रप्रभस्वामी

श्री चन्द्रप्रभु महाराज जूना जैन मंदिर
चेन्नई



सर्वकामद, सर्वविधनहर, सर्वसिद्धिदायक
परमाराध्य श्री नागेश्वर पार्श्वनाथ
नागेश्वरतीर्थ (उल्हेल)



कलिकाल कल्पतरु दादा
श्री जिनकुशलसूरीश्वरजी म. सा.

श्री अनुभव स्मारक संस्थान, पाली (राज.)



**प.पू. महान आत्मसाधिका
गुरुवर्या अनुभवश्रीजी म.सा.**

परम आराध्या,
महान आत्मसाधिका गुरुवर्या
अनुभवश्रीजी म.व्हा.
को श्रद्धासभर

व्रतार्पण

आपके अनन्त उपकारों से
उपकृत हूँ।
जिसका जिसको अर्पण कर
प्रफुल्लित हूँ।

विनीतप्रज्ञा



-: प्रकाशन सहयोगी :-

इस पुस्तक की ५०० प्रतियों के प्रकाशन में
“श्री महावीरस्वामी जैन मंदिर ट्रस्ट”
देवदर्शन एपार्टमेंट, चेन्नई सहयोगी बना है।
उनकी यह श्रुतभक्ति अनुकरणीय एवं अनुमोदनीय है।
एतदर्थ ट्रस्ट को सादर धन्यवाद।

प्रकाशकीय

उत्तराध्ययनसूत्र जिनवाणी का उत्कृष्ट प्रतीक है । इसमें निहित हैं जैन शासन के सर्वोत्तम सिद्धांत, उनके स्वरूप, प्रकार एवं विवेचन । स्व पर का निर्धारण, जीवाजीव की विभक्ति का आधार सम्यक् चारित्र, सम्यग् ज्ञान, सम्यग् दर्शन का गहन अध्ययन । जीव का निर्माण एवं निर्वाण । विनय, विवेक, वाणी व्यवहार की समीचीन अभिव्यक्ति ।

हर एक लेखक की अपनी दृष्टि होती है किसी भी ग्रन्थ के बहुआयामी पक्ष के प्रस्तुति करण की । श्रद्धेय, प्रज्ञावान, पूजनीय साध्वी हेमप्रभा श्री जी. म. सा. की सुशिष्या मनीषी साध्वी विनीतप्रज्ञा श्री जी ने उत्तराध्ययनसूत्र के प्रति अपना दृष्टिकोण दर्शित करते हुए अपना दायित्व प्रशंसनीय ढंग से बखूबी निभाया है ।

श्री चन्द्रप्रभु महाराज जैन जुना मन्दिर ट्रस्ट अपने द्वारा इस मूल ग्रन्थ के प्रकाशन में बेहद खुरी ज्ञापित करता है । श्रुतदेवी और शासन देव से प्रार्थना करता है कि भविष्य में भी इसी तरह वे अपनी गहन अनुभूति और विशद ज्ञान से समाज को आलोकित करती रहें ।

श्री चन्द्रप्रभु महाराज
जुना जैन मन्दिर ट्रस्ट,
345, मिन्ट स्ट्रीट,
चेन्नई - 600 079.

मोहनचन्द ढढा
अध्यक्ष

ज्ञान जैन
मानद मंत्री

श्री रूनीतीर्थोद्धारक पू. आचार्य श्री विनयचन्द्रसूरिजी म.सा.
के शिष्य कल्पजयसूरि

शुभाकांक्षा :

ॐ ह्रीं अर्हं नमः

भारत देश ही एक ऐसा देश है जहां आध्यात्मिकता का सूर्य आज भी तपता है । जीवन शान्ति के लिये आध्यात्मिकता की शरणागति के सिवा कोई ईलाज नहीं है अतः साहित्य जगत में आध्यात्मिकता का प्रसार अत्यावश्यक है ।

आदमी के जीवन में साहित्य का बड़ा प्रभाव है । साहित्य ही आदमी को सदाचारी, आदर्श एवं पवित्र बनाता है और साहित्य ही इन्सान को हैवान एवं दुर्जन, दुराचारी एवं अनाड़ी भी बनाता है । अतः इस युग में भौतिकता एवं विलासिता के चक्कर से बचने के लिये आध्यात्मिक साहित्य प्रकाशन बहुत ही जरूरी है ।

जैनदर्शन ने जगत को अनुपम, उत्तम साहित्य की जो भेंट दी है शायद इतनी किसी दर्शन ने नहीं दी है । ऐसे ही विशाल साहित्य में से एक है उत्तराध्ययनसूत्र । उसमें पत्ते-पत्ते पर त्याग, वैराग्य, निर्ममत्वभाव, सहनशीलता, क्षमा नम्रता, दमन इत्यादि की प्रेरणा भरी हुई है ।

उत्तराध्ययनसूत्र प्रभु महावीर की अन्तिम वाणी है अपनी मृत्यु को ज्ञान बल से नजदीक देखकर जगत के जीवों को जाते जाते कुछ हित शिक्षा प्रदान करने हेतु जो प्रवचन दिया उसको ग्रन्थरूप किया वही उत्तराध्ययनसूत्र के नाम से प्रसिद्ध है ।

साध्वी विनीतप्रज्ञा जी ने उत्तराध्ययनसूत्र के ऊपर यह थीसीस लिखकर आम जनता को सूत्र का परिचय कराने के साथ साथ ही उत्तराध्ययनसूत्र के अमूल्य ज्ञान पाने की जिज्ञासा पैदा करने का एवं इस आगमसूत्र के प्रति आदरभाव बढ़ाने का अद्भुत प्रयत्न किया है इस भौतिकवाद के भयानक युग में वासना विलास के साहित्य के अनिष्टों से बचाने का अच्छा काम किया है अतः यह प्रयास स्तुत्य है, अनुमोदनीय है । आगे भी श्रुतज्ञान-भक्ति का काम करने में उमंग बढ़ती रहे, प्रगति करे यही शुभाकांक्षा ।

आशीर्वचन

आगमों में उत्तराध्ययनसूत्र मुझे अतिप्रिय है । जब जब इसके स्वाध्याय का अवसर मिलता है तब तब मन में चिन्तन उभरता है कि कितना गहरा एवं व्यापक 'जीवनदर्शन' भरा पड़ा है इस आगम में । किसी मनीषी ने ठीक ही कहा है:-

'यदिहास्ति तदन्यत्र' यन्नेहास्ति न तत्त्वचित् यहां नीति है, धर्म है, सामाजिक शिष्टाचार है, विनय है, अनुशासन है, अध्यात्म है, अनासक्ति का महत्त्व है, इतिहास है, पुराण है, कथा है, दृष्टान्त है और तत्त्वचर्चा है । यह गूढ भी है और सरल भी है । इसमें आन्तरिक जगत का मनोविश्लेषण भी है और बाह्यजगत की रूप रेखा भी है । वस्तुतः उत्तराध्ययनसूत्र जीवन की सर्वांगीण व्याख्या प्रस्तुत करता है । यह जैन जगत की गीता है, अतएव इसकी उपादेयता एवं प्रासंगिकता सार्वकालिक एवं सार्वलौकिक है ।

मेरी प्रबल इच्छा थी कि कोई उत्तराध्ययनसूत्र में प्रतिपादित दार्शनिक पक्ष को इस प्रकार व्याख्यायित करे कि जीवन के लिये उसकी उपादेयता का महत्त्व जनसाधारण को भी ज्ञात हो। मुझे प्रसन्नता है कि यह कार्य मेरी अन्तेवासिनी साध्वी विनीतप्रज्ञा ने यथाशक्य पूर्ण करने का प्रयास किया है । परमात्मा महावीर की अन्तिमवाणी उत्तराध्ययनसूत्र पर उसने 'उत्तराध्ययनसूत्र का दार्शनिक अध्ययन एवं वर्तमान परिप्रेक्ष्य में उसका महत्त्व' के नाम से अपना 'शोधप्रबंध' लिखा है । उसने उत्तराध्ययनसूत्र के 'जीवनदर्शन' को सर्वग्राह्य बनाने की पूरी कोशिश की है ।

इसके लिये सर्वप्रथम उसने गुरुगम से उत्तराध्ययनसूत्र मूल एवं उसके व्याख्या साहित्य का तलस्पर्शी अध्ययन किया है । आगम मर्मज्ञ एवं प्रबुद्धचिन्तक डॉ. सागरमलजी जैन साहब की दुर्लभ सन्निधि में उसका अनुशीलन परिशीलन किया है । सोने में सुहागा की तरह डॉ. साहब के मौलिक चिन्तन से उसकी प्रज्ञा का परि कार हुआ है । तत्पश्चात् ही इस शोधप्रबंध का लेखन प्रारंभ हुआ है ।

परमात्मा का यह जीवनदर्शन संपूर्ण रूपेण उसका स्वयं का जीवनदर्शन बने। उसका सृजनात्मक व्यक्तित्व उसके साधनात्मक जीवन

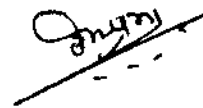
का संगीत बन जाय । उसके जीवन से अहं और मम शब्द सदा सदा के लिये लुप्त हो जाय । साधना ही उसका विश्राम बने । वह संयम यात्रा के पड़ावों को सानन्द पार करती हुई सतत गतिशील रहे । रत्नत्रय की साधना द्वारा स्वयं को निखारते हुए जिनशासन की गरिमा में अभिवृद्धि करे यही शुभाशीष है ।

यह शोधप्रबंध अध्येताओं को उत्तराध्ययनसूत्र के जीवन दर्शन के अनुरूप जीवन जीने की सतत प्रेरणा देता रहे, यही इसकी सच्ची उपयोगिता होगी ।

'श्री चन्द्रप्रभु जैन जूना मंदिर ट्रस्ट' ने इस शोधप्रबंध का प्रकाशन करवाकर जिनवाणी के प्रति अपनी सच्ची श्रद्धा-आस्था का जो परिचय दिया, वह अनुमोदनीय है ।

साधारण भवन
कार्तिक पूर्णिमा
30-11-2001

मंगलाकाक्षिणी



(साध्वी हेमप्रभा)

अन्तर की उर्मियां

परमात्मा महावीर की अन्तिम देशना को परमोपकारी गणधर भगवंतों ने जनकल्याणार्थ उत्तराध्ययनसूत्र के रूप में गुंफित किया । उत्तराध्ययनसूत्र जैन आगम साहित्य के मूर्धन्य ग्रंथों में एक है क्योंकि अन्य आगम ग्रंथ मुख्यतः एक ही विषय को प्रतिपादित करते हैं, वहां उत्तराध्ययन सूत्र में अनेक विषयों का समावेश होता है । जैन धर्म की दार्शनिक एवं आचार संबंधी मान्यताओं को समझने के लिये यह अतीव उपयोगी है । भगवान महावीर के समय में इसकी जितनी उपयोगिता थी, वर्तमान में इसकी उपयोगिता और अधिक है ।

इस बात को लक्ष्य में रखते हुये हमारे जीवन को नया आयाम देने वाली प.पू. गुरुवर्या श्री ने हमारी प्रज्ञासंपन्ना, आत्मप्रिया भगिनी विनीतप्रज्ञा श्री जी को प्रेरणा एवं निर्देश दिया कि वे उत्तराध्ययन पर कुछ काम करें । पू. गुरुवर्या श्री के निर्देशानुसार उत्तराध्ययन से संबंधित विषय का चयनकर हमारी बहिना ने अपना शोधकार्य प्रारंभ किया । परमात्मा की अंतिमवाणी को जनोपयोगी बनाने का भरसक प्रयास उन्होंने इस ग्रन्थ में किया है । जैन दर्शन के सिद्धान्तों का तुलनात्मक चिंतन करते हुए इस शोध प्रबंध में कई विषयों का वैज्ञानिक विश्लेषण भी किया है । उनका यह प्रयास स्तुत्य एवं अनुमोदनीय है ।

परम प्रसन्नता का विषय है कि जनकल्याणी इस शोध प्रबन्ध का "श्री चन्द्रप्रभु जुना जैन मंदिर ट्रस्ट" द्वारा प्रकाशन किया जा रहा है । इस पावन प्रसंग पर हम भी अपने उमड़ते हुए उदगारों को संवरण न कर सके बस फिर क्या था बहिना के अभिवादन के लिये कलम चल पड़ी ।

नई दिशा देने वाला यह ग्रंथ जन-जन के जीवन का पथप्रदर्शक बने एवं अज्ञान रूपी अंधकार में भटकते हुए प्राणियों के जीवन में ज्ञान का दीप प्रज्ज्वलित करें । साथ ही गुरुदेव से प्रार्थना है कि यह दार्शनिक ग्रंथ बहिना के जीवन का दर्शन बनें । उनकी श्रुत साधना अविरत गति से आगे बढ़ती हुई जिनवाणी के प्रचार प्रसार में पूर्ण सहयोगी बने ।

इन्हीं शुभकामनाओं के साथ

अनुभव-हेम गुरु -चरण-रज

गुरु-भगिनीवृन्द

आत्मीय प्रस्तुति

हिन्दूधर्म में जो स्थान 'गीता' का है, बौद्ध धर्म में 'धम्मपद' का है, ईसाई धर्म में 'बाइबिल' और इस्लाम में 'कुरान' का है, वही स्थान जैनधर्म के अर्धमागधी आगम साहित्य में 'उत्तराध्ययनसूत्र' का है । परम्परागत दृष्टि से इसे भगवान महावीर के अन्तिम वचनों या अन्तिम उपदेश के रूप में स्वीकार किया जाता है । वस्तुतः यह जैन धर्म, दर्शन आचार और साधना का लघुकोश ग्रन्थ है । प्रस्तुत ग्रन्थ के छत्तीस अध्यायन जैन धर्म-दर्शन का सर्वांग विवेचन प्रस्तुत करते हैं ।

उत्तराध्ययन निर्युक्ति के अनुसार यह ग्रन्थ पूर्व साहित्य से उद्घृत है ।

मेरी व्यक्तिगत मान्यता यह है कि पूर्व में यह ग्रन्थ अंग आगम साहित्य के दसवें अंग प्रश्नव्याकरणसूत्र में समाहित था । स्थानांगसूत्र में इसे प्रत्येकबुद्धभाषित, महावीर भाषित और आचार्य भाषित कहा गया था । उसी के ऋषि भाषित अंग को अलग करके शेष सामग्री से इस ग्रन्थ की रचना हुई है । यह तथ्य उत्तराध्ययनसूत्र के उपलब्ध संस्करण के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है । पूज्या साध्वी विनीतप्रज्ञा जी ने अपने इस शोधप्रबन्ध में विस्तार से इसकी चर्चा की है । जहां तक इस ग्रन्थ के रचनाकार का प्रश्न है यह तो सत्य है कि इसके मूलवचन भगवान महावीर तथा अन्य प्रत्येक बुद्धों एवं आचार्यों के हैं, फिर भी उनको संकलित एवं सम्पादित कर वर्तमान स्वरूप प्रदान करने का श्रेय आचार्य भद्रबाहु को जाता है । चाहे हम निर्युक्तिकार के रूप में आचार्य भद्रबाहु या आर्य भद्र को स्वीकार करें इतना स्पष्ट है कि निर्युक्ति की रचना के पूर्व उत्तराध्ययनसूत्र का वर्तमान स्वरूप प्रायः निर्धारित हो चुका था । माथुरी एवं वल्लभी (प्रथमवाचना) के समय यह ग्रन्थ उपलब्ध था । इसकी माथुरीवाचना को अचेल परम्परा के यापनीय सम्प्रदाय में मान्यता प्राप्त है । अपराजित सूरि (लगभग 9-10वीं शती) ने इसके अनेक अंश अपनी भगवती आराधना की टीका में न केवल उद्घृत किये हैं अपितु दशवैकालिक और उत्तराध्ययनसूत्र पर टीका लिखने का भी निर्देश किया है । अर्धमागधी आगम साहित्य को मान्य करने वाली श्वेताम्बर परम्परा में तो अनेक टीकायें लिखी गई हैं । न केवल अपने प्रकाशित संस्करणों की अपेक्षा से अपितु उपलब्ध हस्तलिखित प्रतियों

की बहुलता के आधार पर यह एक सुस्थापित सत्य है कि यह ग्रन्थ युग-युगों से जैन समाज में अत्यन्त लोकप्रिय रहा है ।

जैन धर्म, दर्शन आचार और साधना का आकर ग्रन्थ होने पर भी इसकी ओर विद्वत्वरग का ध्यान कम ही गया था । सर्वप्रथम हरमन जेकोबी के द्वारा 'सेक्रेडबुक्स आफ द ईस्ट' सीरीज में जब इसका अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित हुआ तो विद्वत् समाज का आकर्षण इस ओर बढ़ा । शूब्रिंग ने इसका टिप्पण सहित एक संस्करण प्रकाशित किया । इन दोनों ग्रन्थों की भूमिकाएं विद्वानों में बहुचर्चित रही । पूर्व में मैंने शोधकार्य हेतु उत्तराध्ययनसूत्र का मानस बनाया था । किन्तु जब मुझे यह ज्ञात हुआ कि वाराणसी में पार्श्वनाथ विद्याश्रम से श्री सुदर्शनलाल जैन उत्तराध्ययन पर शोध कार्य कर रहे हैं तो मैंने अपना मानस बदला और जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों के तुलनात्मक अध्ययन को अपना शोध विषय बनाया । डॉ. सुदर्शनलाल जैन का शोधग्रन्थ 'उत्तराध्ययन एक परिशीलन' बाद में प्रकाशित हुआ - किन्तु इस ग्रन्थ में सांस्कृतिक परिशीलन पर ही अधिक बल दिया गया था । बाद में मेरे मार्ग दर्शन में 'उत्तराध्ययन और धम्मपद का तुलनात्मक अध्ययन' विषय पर श्री महेन्द्रकुमारसिंह का शोध प्रबन्ध तैयार हुआ और प्रकाशित भी हुआ - किन्तु दार्शनिक दृष्टि से गम्भीर अध्ययन फिर भी अपेक्षित था ।

जब सन् 1996 में साध्वी विनीतप्रज्ञा जी के द्वारा उत्तराध्ययनसूत्र पर शोध कार्य करने का प्रस्ताव मेरे समक्ष आया तो उन्हें इसके दार्शनिक पक्ष पर विशेष बल देने को कहा और उत्तराध्ययनसूत्र का दार्शनिक अनुशीलन ऐसा शोध विषय प्रस्तावित किया ।

गुरुवर्या पूज्या साध्वीवर्या श्री हेमप्रभा श्री जी की यह हार्दिक भावना थी कि यह कार्य मेरे सान्निध्य और दिशानिर्देश में पूर्ण हो । तदनुसार उन्होंने पूज्या अमितयशा श्री जी, विनीतप्रज्ञा श्री जी, शीलांजना श्री जी और दीपमाला श्री जी को मेरे सान्निध्य में शोधकार्य एवं अध्ययन हेतु शाजापुर प्रस्थान करने का निर्देश दिया । साध्वी मण्डल पूना से लगभग एक हजार किलोमीटर की पदयात्रा करके शाजापुर आया और लगभग दो वर्ष जितनी दीर्घ अवधि तक अपने शोधकार्य और जैन आगमों के अध्ययन में दत्तचित्त होकर जुड़ा रहा ।

साध्वी श्री विनीतप्रज्ञा जी ने दो वर्ष की इस दीर्घ अवधि में शोध और अध्ययन के लिये जो कठिन श्रम किया है उसका मैं प्रत्यक्ष दर्शी रहा हूँ। उन्होंने मूलग्रन्थ और उसकी टीकाओं का तलस्पर्शी अध्ययन तो किया ही, साथ ही तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से भी अनेकानेक ग्रन्थों को खोजा और टटोला है। विनीत प्रज्ञा नाम को सार्थक करते हुए उन्होंने अपनी गवेषणा को व्यापक और तल स्पर्शी दोनों ही बनाने का प्रयत्न किया है। इस सब में उनकी अध्ययन निष्ठा और प्रज्ञापटुता स्वतः ही स्पष्ट है। मेरा दायित्व तो दिशा निर्देशन और परिष्कार तक सीमित रहा है। इस विशाल ग्रन्थ में तुलनात्मक एवं गवेषणात्मक दृष्टि से जो कुछ लिखा गया वह उनके वैदुष्य का प्रतिबिम्ब है। उत्तराध्ययनसूत्र के धर्म, दर्शन, आचार और साधना सभी पक्षों पर उन्होंने दार्शनिक दृष्टि से अपनी कलम चलाई है, यही नहीं समाज दर्शन, आर्थिक दर्शन, राजनैतिक चिन्तन आदि अछूते पक्षों पर उन्होंने कुछ लिखने का साहस किया है। मैं साध्वी जी से यह अपेक्षा करता हूँ कि वे भविष्य में भी इसी प्रकार परिश्रम पूर्वक अपनी प्रज्ञा का सदुपयोग करते हुए जिनवाणी के अध्ययन, अनुशीलन, गवेषणा और शोध में लगी रहेंगी।

उनका यह सद्भाग्य है कि उन्हें प्रेरणा-प्रदात्री, प्रज्ञानिधि, गुरुवर्या के साथ-साथ प्रज्ञा सम्पन्न एवं परिश्रमी साध्वी मण्डल का सहयोग प्राप्त है। वे सत्साहित्य का सृजन करते हुए मानव कल्याण के मार्ग को प्रशस्त करती रहें।

मुझे यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हो रही है कि चेन्नई का श्री संघ इस शोध ग्रन्थ का प्रकाशन कर उसे जन-जन के लिए सहज सुलभ बना रहा है। उनकी यह धर्म प्रभावना अनुमोदनीय है।

कार्तिकपूर्णिमा
शाजापुर (म.प्र.)

डॉ. सागरमल जैन
पूर्व निर्देशक
पार्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी

प्राक्कथन

साध्वी विनीतप्रज्ञा जी का 'उत्तराध्ययनसूत्र - एक दार्शनिक अनुशीलन एवं वर्तमान परिप्रेक्ष्य में उसका महत्त्व' ग्रन्थ की प्रस्तावना लिखते समय मैं असीम आनंद और गौरव महसूस कर रहा हूँ ।

अपनी गुरुवर्या पू. साध्वी हेमप्रभा श्री जी की प्रेरणा से लिखा हुआ यह ग्रन्थ अपने आपमें एक अनोखा ग्रन्थरत्न बन गया है ।

भारतीय दर्शन क्षेत्र में जैन दार्शनिकों का अमूल्य योगदान रहा है । वैदिक दर्शन में वेद और उपनिषदों का जो स्थान है, वही जैन दर्शन में आगमों का स्थान है । उत्तराध्ययनसूत्र प्राचीन जैन आगमों में एक विशिष्ट स्थान रखता है और दार्शनिक दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है । इस शोधकार्य का मुख्य उद्देश्य ही उत्तराध्ययनसूत्र के दार्शनिक पहलुओं पर प्रकाश डालना और वर्तमान संदर्भ में इसमें प्रतिपादित विषयों का महत्त्व और उपादेयता प्रदर्शित करना है । हर प्रकरण के अध्ययन से पता चलता है कि यह ग्रंथ साध्वी जी के अत्यंत परिश्रम और तलस्पर्शी अध्ययन का फल है ।

यह ग्रन्थ 'उत्तराध्ययनसूत्र' का एक प्रामाणिक, विश्लेषण है । उत्तराध्ययनसूत्र में प्रतिपादित सभी विषयों का समावेश करके इसमें उनकी मार्मिक व विस्तृत चर्चा की है । प्रथम दो प्रकरणों में जैन आगमों में 'उत्तराध्ययनसूत्र' का स्थान, इसमें प्रतिपादित विषय, भाषा एवं शैली की चर्चा है । इतना ही नहीं 'उत्तराध्ययनसूत्र' पर वर्तमान हिन्दी और अंग्रेजी में उपलब्ध साहित्य, चूर्णी, शोधलेख, अनुवाद इत्यादि संदर्भ देकर जिज्ञासु और संशोधकों की सहायता की है । आगमों का वर्गीकरण व प्रमेदों की भी विस्तृत चर्चा है । अन्य प्रकरणों में प्रमाणमीमांसा, ज्ञानमीमांसा, आचार, मोक्ष, समाधिभरण, मनोविज्ञान, शिक्षण अर्थशास्त्र इत्यादि विविध विषयों को सप्रमाण प्रतिपादित किया गया है । इस ग्रन्थ में जैन दर्शन के अनेक सिद्धान्तों का सूक्ष्म विवेचन और जहां जहां आवश्यक है, वहां अन्य भारतीय दर्शन सिद्धान्तों के साथ तुलना भी की गई है । साध्वीजी ने इस ग्रंथ के अंतिम

उपसंहारात्मक प्रकरण में उत्तराध्ययनसूत्र में प्रतिपादित सिद्धान्तों की वर्तमान परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुतता दिखाने का प्रशंसनीय कार्य किया है ।

हिंदी में लिखा हुआ यह ग्रंथ दर्शन क्षेत्र, तत्रापि जैन दर्शन साहित्य के लिए एक अमूल्य योगदान है । यह ग्रंथ विद्वत्भोग्य तो है ही, साथ जैन दर्शन के अन्य जिज्ञासुओं के लिए भी उपकारक सिद्ध होगा । इस ग्रंथ की भाषा सरल और सुविशद है । इस ग्रन्थ के प्रकाशन के लिए ग्रन्थ कर्त्री और प्रकाशक दोनों अभिनन्दनार्ह हैं । साध्वी श्री विनीत प्रज्ञाजी के द्वारा भविष्य में इसी प्रकार शोध कार्य एवं ग्रन्थलेखन-कार्य संपन्न होता रहे ऐसी हार्दिक कामना प्रकट करता हूँ ।

प्रो. डॉ. यज्ञेश्वर सदाशिव शास्त्री
अध्यक्ष, तत्त्वज्ञान विभाग,
गुजरात युनिवर्सिटी,
अहमदाबाद-1.

प्रो. रवीन्द्रकुमार जैन, शास्त्री,

एम.ए., डी.लिट्.

शुभ—कामना

स्वनाम धन्य साध्वी श्री विनीतप्रज्ञा जी का यह शोध कार्य मौलिकता, प्रासंगिकता एवं प्रेषणीयता के स्तर पर अपना एक नया कीर्तिमान स्थापित करता है । आज समस्त विश्व अनिश्चय, क्षण जिजीविषा एवं विघटित जीवनमूल्यों की छाया में सांस ले रहा है । वह आध्यात्मिक एवं भौतिक जीवनमूल्यों के सन्तुलन को प्रायः नकार चुका है । आस्तिक मूल्य अपनी महत्ता खो चुके हैं । हम नकली और घटिया जीवन के आदी हो चुके हैं । ऐसी स्थिति में केवल हमारे प्राचीन आमम ग्रन्थ ही हमारा उद्धार कर सकते हैं । हमारे 45 आगम ग्रन्थों में सूत्र ग्रन्थों की और उनमें भी उत्तराध्ययनसूत्र की अनुपमता आज भी बनी हुई है ।

साध्वी जी ने यह व्याख्यापरक एवं साम्य—वैषम्य मूलक ग्रन्थ रचकर वस्तुतः एक चिर अपेक्षित आवश्यकता की पूर्ति की है । साध्वी जी व्यक्ति से व्यक्तित्व बनकर इस कृति में उभरी हैं । मुझे विश्वास है उनके इस सारस्वत गुणात्मक व्यक्तित्व से अनेक ग्रन्थ जन्म लेंगे ।

यह ग्रन्थ प्रधान साध्वी हेमप्रभाश्री जी म.सा. की सत्प्रेरणा एवं श्री चन्द्रप्रभु जैन जूना मंदिर ट्रस्ट के सहयोग से प्रकाशित हो रहा है, यह अनुकरणीय उदाहरण है ।

विनीत

रवीन्द्रकुमार जैन

भूमिका

उत्तराध्ययनसूत्र जैन आगम साहित्य का एक प्राचीन एवं महत्त्वपूर्ण आगम है, यह जैन आचार एवं सिद्धान्त का प्रतिनिधि ग्रन्थ है। इसमें जहां एक ओर विद्वद् जनोचित जैनदर्शन के विविध दार्शनिक पक्षों का वर्णन उपलब्ध होता है, वहीं दूसरी ओर जनसामान्य के नैतिक जीवन व्यवहार से सम्बन्धित उपदेशात्मक सामग्री भी उपलब्ध होती है।

जैन धर्म के श्वेताम्बर सम्प्रदाय में 'उत्तराध्ययनसूत्र' विशेष रूप से प्रचलित है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय में सामान्यतया इसके नियमित स्वाध्याय की परम्परा है। दिग्म्बर और यापनीय सम्प्रदायों में अंगबाह्य आगम के रूप में इसकी मान्यता तो रही है किन्तु वे इसके उपलब्ध संस्करण को नहीं मानते हैं। यही नहीं इसकी विशेषताओं के कारण यह शोधकर्ताओं के आकर्षण का विषय भी रहा है।

प्रस्तुत शोध में मेरा प्रयोजन पूर्व शोधकर्ताओं के लेखन की पुनरावृत्ति करना नहीं है पर इसमें निहित आज तक अस्पष्ट विशेषताओं को उजागर करना है। इस शोधकार्य की अपनी कुछ विशेषताएं हैं। इसमें उत्तराध्ययनसूत्र के दार्शनिक पक्षों और उनके ऐतिहासिक विकास क्रम पर विशेष बल दिया है साथ ही इसमें उत्तराध्ययनसूत्र की अवधारणाओं की युगीन प्रासंगिकता की चर्चा भी की गई है। जैन दार्शनिक अवधारणाओं का जैन आगमों के आलोक में अध्ययन करना तथा वर्तमान में उनकी सार्थकता पर विचार करना आवश्यक है।

आज मानव के सामने अनेक ज्वलंत समस्याएँ हैं। सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, वैचारिक, धार्मिक, साम्प्रदायिक विषमताओं ने समाज की सुख शान्ति को भंग कर दिया है। इन आधुनिक समस्याओं का उत्तराध्ययनसूत्र के आलोक में समाधान खोजने का प्रयास भी इस शोधप्रबंध में हमने किया है।

शोध के लिए अंग्रेजी में रिसर्च (Research) शब्द का प्रयोग होता है। रिसर्च (Research) शब्द का शाब्दिक अर्थ पुनः खोज करना है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि शोध का सम्बन्ध वर्तमान से ही नहीं अपितु अतीत से भी है। वह वर्तमान में

अतीत का अनुसंधान है। एक अन्य दृष्टि से विचार करें तो ब्रह्म वर्तमान के संदर्भ में अतीत के तथ्यों की उपादेयता की खोज है। दूसरे शब्दों में वह अतीत के तथ्यों का वर्तमान के सन्दर्भ में मूल्यांकन है। इसका एक अर्थ यह भी हो सकता है कि अतीत के ज्ञान के सहारे वर्तमान की समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न करना। इस प्रकार शोध की प्रक्रिया अतीत और वर्तमान दोनों से ही जुड़ी हुई है।

अतीत विस्मृति के गहन गह्वर में विश्रान्त न रहे और वर्तमान अतीत की उन अनुभूतियों एवं शिक्षाओं का लाभ उठाने से वंचित न रहे, इस उत्तरदायित्व का निर्वाह करना प्रत्येक शोधकर्ता का कर्तव्य है। इस कर्तव्य बोध ने ही मुझे शोध कार्य के लिये प्रेरित किया। वस्तुतः मुझ में इस कर्तव्य बोध को जगाने का सम्पूर्ण श्रेय मेरे अस्तित्व का आधार, कृतित्व का प्राण गुरुवर्या हेमप्रभा श्री जी. म. सा. को है, जिन्होंने मेरे जीवन में न केवल जिज्ञासा के बीज बोए वरन् हर समय उसका सिंचन भी किया है, और कर रही है।

पू. गुरुवर्या के असीम उपकारों की अभिव्यक्ति किस रूप में करूं समझ में नहीं आता। आपका सदज्ञान का संबल, प्रेरणा एवं मार्गदर्शन प्रारम्भ से अन्त तक साथ रहा यहां तक कि शोधकार्य संपूर्ण होने पर आपश्री ने अतिव्यस्तता के बावजूद अल्पावधि में इसमें कई महत्त्वपूर्ण संशोधन करके इस कृति की गरिमा को बढ़ाया है। गुरुवर्या श्री सर्वतोभावेन मेरी आस्था एवं श्रद्धा की केन्द्र हैं। यह निहायत सत्य है : आपकी कृपा, प्रेरणा, मार्गदर्शन के अभाव में इस कृति की कल्पना भी आकाश कुसुमवत् है।

जहां तक प्रस्तुत शोध विषय के चयन का प्रश्न है वह एक कठिन कार्य था, क्योंकि व्यक्ति की महत्त्वाकांक्षाएं तो असीम होती हैं, किन्तु उसकी कार्य क्षमता एवं प्रतिभा की अपनी सीमा होती है। अतः सर्वप्रथम यह निर्णीत किया गया कि अपने ही एम. ए. उत्तरार्ध में लिखित लघु शोभ्य प्रबन्ध 'जैनदर्शन में अहिंसा का स्वरूप एवं वर्तमान में उसकी उपादेयता' को शोभ्य प्रबन्ध का विषय बना लिया जाये और उस पर ही विस्तारपूर्वक एवं गहराई से कुछ लिखा जाये पर अन्तर्मन इस बात को समग्रतः स्वीकार नहीं कर पा रहा था। एक बार जिसके लिए कलम चल पड़ी पुनः उसी पर कलम चलाना रूचिकर नहीं लग रहा था। मैं विषय चयन के इन्हीं विचारों में विचरण कर रही थी। इतने में गुरुवर्या श्री ने मुझे बुलाकर आज्ञा प्रदान की— 'मेरी इच्छा है कि तुम उत्तराध्ययनसूत्र पर शोध कार्य करो'। इतना सुनते ही मैं कुछ पल के लिए असमंजस में पड़ गई। मन आशंकित हो उठा कि कहीं अल्पज्ञता

वश जिनवाणी का विपरीत प्रतिपादन न हो जाये। आगम ग्रंथों पर समीक्षात्मक रूप से कुछ लिखना गुरुगंभीर कार्य है। मन में बार-बार यह प्रश्न उभर रहा था कि क्या मैं विषय के साथ उचित न्याय कर पाऊंगी ? कुछ समय तक तो मन विकल्पों की वीथियों में ही भटकता रहा। इतने में आत्मचिन्तन और मन्थन से अन्तस्वर फूट पड़ा 'गुरु आज्ञा के सामने तुझे विकल्प करने का अधिकार ही क्या है? गुरु आज्ञा सफलता का सबल संकेत है। सिद्धि का सोपान है।' बस फिर क्या था; सारे विकल्प विगलित हो गये। मन निस्तरंग जल की भांति शान्त होकर अपने लक्ष्य पर स्थिर हो गया। निश्चित समय पर उत्तराध्ययनसूत्र मूल एवं टीकाओं का अध्ययन प्रारम्भ हो गया। पू. गुरुवर्या श्री एवं अधिकारी विद्वानों से समय-समय पर चर्चा होती रही। इसी सन्दर्भ में सन् १९६७ के बम्बई घातुर्मास के अन्तर्गत आगममर्मज्ञ, श्रद्धेय डॉ. सागरमलजी जैन का आगमन हुआ और उनके निर्देशन में शोध करने का निश्चय किया गया ।

प्रस्तुत शोधप्रबंध सत्रह अध्यायों में विभक्त है। इसके प्रथम अध्याय में जैनागम साहित्य की रचना, उसका रचनाकाल, उसका वर्गीकरण तथा जैनागमों की विभिन्न वाचनाएं एवं उनके काल की चर्चा के साथ ही इसमें जैनागमों की संक्षिप्त विषयवस्तु का भी चित्रण किया गया है। अन्त में जैनागमों में उत्तराध्ययन का क्या स्थान है, इसकी चर्चा की गई है।

दूसरे अध्याय में उत्तराध्ययन का परिचय प्रस्तुत किया गया है। इसमें उत्तराध्ययन के नामकरण के सन्दर्भ में जो विभिन्न अक्षरणाएँ प्रचलित हैं, उनका उल्लेख करते हुए यह बताया गया है कि उत्तराध्ययन को मूलसूत्र कहने का क्या औचित्य है। साथ ही इसमें उत्तराध्ययन के रचयिता एवं रचनाकाल के सन्दर्भ में भी चर्चा की गई है। उसके पश्चात् इसमें उत्तराध्ययन की भाषा, शैली तथा उसके विभिन्न अध्ययनों की विषयवस्तु की चर्चा की गई है। अन्त में उत्तराध्ययन पर रचित व्याख्यासाहित्य और टीकासाहित्य का भी संक्षिप्त परिचय दिया गया है।

दार्शनिक अध्ययन में ज्ञानमीमांसा का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। इसी दृष्टिकोण को लक्ष्य में रखकर प्रस्तुत शोधप्रबंध के तीसरे अध्याय में उत्तराध्ययन में प्रतिपादित ज्ञानमीमांसा का उल्लेख किया गया है। इसमें विशेष रूप से पंचज्ञानवाद और प्रमाणवाद की चर्चा की गई है। इस चर्चा के प्रसंग में हमने पंचज्ञानवाद और प्रमाणवाद के ऐतिहासिक विकासक्रम की भी चर्चा की है।

चतुर्थ अध्याय में उत्तराध्ययन में प्रतिपादित तत्त्वमीमांसीय अवधारणाओं की विस्तृत रूप से चर्चा की गई है। इस अध्याय के अन्तर्गत पंचास्तिकाय की अवधारणा से षट्द्रव्यों की अवधारणा का विकास कैसे हुआ, इसका ऐतिहासिक विकासक्रम दिखाते हुए षट्द्रव्यों का विस्तार से विवेचन किया गया है। साथ ही प्रस्तुत अध्याय में द्रव्य, गुण एवं पर्याय के पारस्परिक सम्बन्ध की भी चर्चा की गई है। इस अध्याय के अन्त में उत्तराध्ययन में प्रतिपादित जीव आदि नवतत्त्वों की अवधारणा को भी स्पष्ट किया गया है।

प्रस्तुत शोधप्रबंध का पंचम अध्याय आत्ममीमांसा से सम्बन्धित है। इस अध्याय के अन्तर्गत आत्मा के आस्तित्व के प्रमाणों की चर्चा एवं साथ-साथ आत्मा के स्वरूप पर भी प्रकाश डाला गया है। साथ ही इसमें संसारी एवं सिद्ध जीवों के विभिन्न प्रकारों की चर्चा करते हुए त्रस एवं स्थावर जीवों के वर्गीकरण की विभिन्न अवधारणाओं के ऐतिहासिक विकास क्रम की भी चर्चा की गई है और अन्त में षट्जीवनिकाय एवं उनके भेद प्रभेदों का उत्तराध्ययन के आधार पर विस्तार से विवेचन किया गया है। ज्ञातव्य है कि उत्तराध्ययन का जीवाजीवविभक्ति नामक अन्तिम अध्ययन जीवों के भेद प्रभेद की व्यापक रूप से चर्चा करता है। प्रस्तुत विवेचन में उसी को आधार बनाया गया है।

जैनदर्शन का कर्मसिद्धान्त अत्यन्त विलक्षण है। प्रस्तुत शोधप्रबंध के षष्ठम अध्याय में कर्ममीमांसा का विवेचन है। उत्तराध्ययन के तैत्तिरीय अध्ययन में हमें कर्मसिद्धान्त का विवेचन उपलब्ध होता है। उसी को आधार बनाकर प्रस्तुत कृति में कर्म के स्वरूप, कर्मबन्ध के कारण और कर्मों की विभिन्न प्रकृति की विस्तृत चर्चा की गई है। इस अध्याय के अन्त में कर्मसिद्धान्त नियतिवाद है या पुरुषार्थवाद ? इस दार्शनिक समस्या पर भी प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है।

प्रस्तुत शोधप्रबंध का सप्तम अध्याय उत्तराध्ययन में प्रतिपादित जीवनदर्शन का विवेचन प्रस्तुत करता है। इस अध्याय के प्रारम्भ में उत्तराध्ययन के आधार पर संसार की दुःखमयता का चित्रण करते हुए दुःख के कारण और दुःखविमुक्ति के उपायों की चर्चा की गई है। साथ ही यह भी स्पष्ट किया गया है कि उत्तराध्ययन के अनुसार सांसारिक सुख सुखाभास मात्र है। अन्त में क्या उत्तराध्ययन जीवन का निषेध सिखाता है इस समस्या को उठाते हुए उत्तराध्ययन के जीवनदर्शन को प्रस्तुत किया गया है। निष्कर्ष के रूप में इसमें यह उल्लेख किया गया है कि उत्तराध्ययन का जीवनदर्शन निराशावादी न होकर आशावादी है, वह

जीवन में दुःखों की यथार्थता को स्वीकार करते हुए भी उनसे विमुक्ति की प्रेरणा देता है।

आठवें अध्याय में समाधिमरण की अवधारणा की चर्चा की गई है। इसमें समाधिमरण का प्रयोजन, उसकी परिस्थिति, प्रक्रिया एवं प्रकारों की विस्तार से चर्चा की गई है और अन्त में यह सिद्ध किया गया है कि समाधिमरण आत्महत्या नहीं है।

प्रस्तुत कृति का नवम अध्यायन उत्तराध्ययन के साधनात्मक पक्ष मोक्षमार्ग का विवेचन करता है। इस अध्याय के प्रारम्भ में जैनदर्शन में प्रतिपादित द्विविध से लेकर पंचविध मोक्षमार्ग सम्बन्धी विभिन्न अवधारणायें प्रस्तुत की गई हैं, साथ ही इसमें दर्शन, ज्ञान और चारित्र की पूर्वापरता के प्रश्न को लेकर दार्शनिक दृष्टि से गंभीर चर्चा भी की गई है। इसके पश्चात् सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप के स्वरूप, प्रकार आदि का विस्तृत विवेचन किया गया है।

प्रस्तुत शोधप्रबंध का दसवां अध्याय श्रमण आचार का विवेचन करता है। इस अध्याय के प्रारम्भ में भगवान् पार्श्वनाथ के चातुर्याम से भगवान् महावीर स्वामी के पंचमहाव्रत रूप धर्म का विकास कैसे हुआ, यह दर्शाते हुए इसमें पंचमहाव्रत, पंचसमिति, तीनगुप्ति, मुनि की दैनिक सामाचारी और दशविध सामाचारी का भी विवेचन किया गया है। इसके साथ ही इसमें बाईस परीषह, दशविध श्रमणधर्म, षट् आवश्यक आदि की भी चर्चा की गई है। इस अध्याय के अन्त में श्रमणाचार के विवादित प्रश्न सचेल-अचेल का उत्तराध्ययन के तैवीसवें अध्यायन के आधार पर समीक्षात्मक विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

प्रस्तुत कृति का ग्यारहवां अध्याय श्रावकाचार का विवेचन करता है। इसमें सप्तदुर्व्यसन, पैंतीस मार्गानुसारी गुण, श्रावक के बारह व्रत और ग्यारह प्रतिमाओं की चर्चा की गई है। ज्ञातव्य है कि उत्तराध्ययन में श्रावकाचार का विस्तृत विवेचन उपलब्ध नहीं होता है। अतः इस अध्याय की विषय सामग्री के लिए मूलतः उपासकदशांग और दशाश्रुतस्कन्ध जैसे अन्य आगमों का ही आधार लेना पड़ा है। इस अध्याय में श्रमण जीवन एवं गृहस्थ जीवन की श्रेष्ठता के प्रश्न को लेकर उत्तराध्ययन के प्रकाश में विशेष रूप से यह दिखाया गया है कि उत्तराध्ययनसूत्र श्रमण आचार को प्रमुखता देते हुए भी गृहस्थ धर्म की महत्ता को स्वीकार करता है।

बारहवां अध्याय उत्तराध्ययन में प्रतिपादित शिक्षादर्शन की विवेचना करता है। इस अध्याय के अन्तर्गत शिक्षा के उद्देश्य, गुरु शिष्य के सम्बन्ध और गुरु के प्रति शिष्य के विनय आचार की चर्चा की गई हैं। साथ ही इसमें स्वाध्याय का प्रयोजन, उसका स्वरूप, उसका महत्त्व और उसके विभिन्न अंगों की उत्तराध्ययन के आधार पर विवेचना की गई है।

प्रस्तुत कृति के तेरहवें अध्याय में उत्तराध्ययन में प्रतिपादित मनोवैज्ञानिक अवधारणाओं की चर्चा है। इसके अन्तर्गत संज्ञा, कषाय, लेश्या, ध्यान आदि पर विशेष रूप से प्रकाश डाला गया है। इस अध्याय के अन्तर्गत वासनाओं के दमन या निरसन की मनोवैज्ञानिक समस्या पर दार्शनिक दृष्टि से विवेचन प्रस्तुत किया गया है। साथ ही इसमें यह दिखाने का प्रयत्न भी किया गया है कि उत्तराध्ययन का मनोविज्ञान किस प्रकार फ्रायड के समान वासनाओं के दमन की अपेक्षा निरसन की अवधारणा को प्रस्तुत करता है।

इस शोध प्रबंध का चौदहवां अध्याय सामाजिक दर्शन से सम्बन्धित है। हमने इस अध्याय के अन्तर्गत वर्णव्यवस्था की चर्चा करते हुए यह बताया है कि उत्तराध्ययन जन्मना वर्णव्यवस्था को अस्वीकार करता है और कर्मणा वर्णव्यवस्था का समर्थन करता है। जातिगत श्रेष्ठता का खण्डन करते हुए इसमें यह बताया गया है कि श्रेष्ठता का आधार कुल विशेष में जन्म लेना नहीं अपितु व्यक्ति का सदाचरण है। इस विवेचना के लिये मुख्यतः उत्तराध्ययन के बारहवें 'हरिकेशीय' एवं पच्चीसवें 'यज्ञीय' अध्ययन को आधार बनाया गया है। साथ ही इस अध्याय में विवाह संस्था, उसका उद्देश्य, पारिवारिक जीवन आदि सामाजिक प्रश्नों पर भी प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है।

इस शोध प्रबंध का पन्द्रहवां अध्याय आर्थिक दर्शन से सम्बन्धित है। इस अध्याय के प्रारम्भ में जैन धर्म में अर्थ का क्या स्थान है ? इसकी चर्चा करते हुए उत्तराध्ययन के आर्थिक-दर्शन का विशेष रूप से विवेचन किया गया है। इसमें यह भी बताया गया है कि वित्त से दुःख विमुक्ति सम्भव नहीं है। अतः मनुष्य के लिए अर्थ की उपयोगिता किस सीमा तक है; यह एक विचारणीय प्रश्न है। उत्तराध्ययन की दृष्टि में अर्थ साधन है, साध्य नहीं। वस्तुतः उत्तराध्ययन का आचार दर्शन इच्छा-निवृत्ति का दर्शन है। वह आवश्यकताओं और इच्छाओं को सीमित करने का निर्देश देता है।

सोलहवें अध्याय में प्रस्तुत ग्रन्थ में चर्चित विभिन्न दार्शनिक और धार्मिक परम्पराओं का निर्देश है। यह अध्याय इस बात पर विशेष रूप से प्रकाश डालता है कि उस युग में जैन धर्म के अतिरिक्त कौन-कौन सी धार्मिक एवं दर्शनिक परम्पराएं अस्तित्व में थी। वस्तुतः उत्तराध्ययन में भारतीय दर्शनों के पूर्व बीज ही उपलब्ध होते हैं। अतः दर्शनों का क्रमिक विकास एक परवर्ती घटना है।

इस कृति के सत्रहवें अध्याय में उत्तराध्ययन की शिक्षाओं की प्रासंगिकता और उसके महत्त्व ही चर्चा की गई है। इसके प्रारंभ में हमने उत्तराध्ययन के परिप्रेक्ष्य में धर्म एवं विज्ञान के सम्बन्ध पर विचार किया है तत्पश्चात् धार्मिक आडम्बर, कर्मकाण्ड, रूढ़िवाद, एवं जन्मना जाति व्यवस्था के उन्मूलन हेतु प्रस्तुत ग्रन्थ के निर्देशों की विवेचना है। इसी क्रम में आगे सामाजिक, आर्थिक, वैचारिक एवं मानसिक विषमता से विमुक्त होने के उपायों का विस्तृत विश्लेषण है। अध्याय के अन्त में आशावादी दृष्टिकोण को प्रस्तुत करते हुए उपभोक्तावादी संस्कृति से बचने के कई सुरक्षात्मक पहलू बताये हैं।

इस प्रकार प्रस्तुत शोधप्रबन्ध में हमने दार्शनिक विचारों की विवेचना के साथ वर्तमान में उसकी शिक्षाओं की उपयोगिता बताने का पूर्ण प्रयास किया है।

कृतज्ञता ज्ञापन

सर्वप्रथम, मैं हृदय की असीम आस्था के साथ नतमस्तक हूँ परमपावन परमात्मा एवं उनकी कल्याण कारिणी वाणी के प्रति जो मेरी श्रुतसाधना के अवलंबन बने। मेरी दर्शन-विशुद्धि, आत्मशुद्धि के साथ इस कृति के सर्जन का आधार बने।

इस शोध कार्य की सम्पन्नता महान आत्मसाधिका, भाववत्सला पू. गुरुवर्या श्री अनुभव श्री जी. म. सा. की दिव्यकृपा के बिना सम्भव नहीं थी। उनकी अदृश्य प्रेरणा ही मेरे आत्मविश्वास का अटल आधार बनी। इस कृति की पूर्णता की पलों में उनके पावन चरणों में मेरा श्रद्धाभिषिक्त अनन्त-अनन्त वन्दन है।

जिनके आशीर्वाद एवं स्नेह की मुझे सदा अपेक्षा है वे हैं, पू. सुदीर्घसंयमी पू. विनोद श्री जी. म. सा., पू. प्रियदर्शना श्री जी. म. सा., पू. विनयप्रभा श्री जी. म. सा., स्नेहप्रदात्री पू. प्रियम्वदा श्री जी. म. सा. एवं विनीतयशा श्री जी. म. सा.। ग्रन्थ की पूर्णाहूति की पावन पलों में उन सभी का स्मरण मेरी आत्मतृप्ति का आधार है। मेरी सहपथगामिनी, स्नेहवत्सला, कोकिलकंठी पू. कल्पलता श्री

जी. म. सा., मृदुस्वभावी शुद्धांजना श्री जी, विदुषीवर्या श्रद्धांजना श्री जी तथा अध्ययनरता योगांजना श्री जी एवं दीपशिखा श्री जी का अविस्मरणीय सहयोग मेरी श्रुतसाधना का प्राण है।

प्रतिभामूर्ति पूज्या अमितयशा श्री जी. म. सा., सदाप्रसन्ना, सहयोगिनी शीलांजना श्री जी एवं अध्ययनरता दीपमाला श्री जी का आत्मीय सहयोग तो कृति के साथ जुड़ा ही रहेगा; जिन्होंने सुदीर्घ अवधि तक पू. गुरुवर्या श्री से दूर रह कर मेरे अध्ययन को प्रमुखता दी। जिनके आत्मीय, स्नेहिल-सहयोग, सत्प्रेरणा एवं सद्भावमय सन्निधि में यह कार्य सम्पन्न हुआ। उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करे उनकी आत्मीयता का अयमूल्यन नहीं करूंगी। वे मेरे अपने हैं। बंस इन सभी के स्नेह सहयोग से मेरी ज्ञान-यात्रा और साधना-यात्रा सतत गतिमान रहे यही शुभाशा है।

इस कार्य का परम श्रेय जैन धर्मदर्शन के मर्मज्ञ, मूर्धन्य मनीषी भारतीय संस्कृति के पुरोधा डॉ. सागरमल जैन को है, जिन्होंने उत्तराध्ययनसूत्र पर आधारित इस शोधप्रबन्ध को पू. गुरुवर्या श्री के सपने के अनुरूप साकार करने में सहयोग दिया और इसकी विषय वस्तु को अधिकाधिक प्रासंगिक एवं उपादेय बनाने हेतु मार्गदर्शन किया। यद्यपि वे नाम-स्पृहा से पूर्णतः विरत हैं तथापि इस कृति के प्रणयन के मूल आधार होने से इस के साथ उनका नाम सदा सदा के लिए स्वतः जुड़ गया है। वे मेरे शोधप्रबन्ध के दिशा निर्देशक ही नहीं हैं, वरन् मेरे आत्मविश्वास के प्रतिष्ठाता भी हैं। पू. गुरुवर्या श्री के दीर्घकालीन वियोग की पीड़ा ने जब-जब मेरे चिन्तन, लेखन एवं प्रणयन को प्रभावित कर गतिरोध उत्पन्न किया तब-तब उनके वात्सल्यपूर्ण उद्बोधन ने मेरी उदासीनता को तोड़ कर मुझे प्रामाणिकता से अपना कार्य पूर्ण करने की प्रेरणा दी। वस्तुतः उनका दिशा निर्देशन ही इस शोध कार्य का सौन्दर्य है। शुद्धहृदय से भावाभिनत हूँ उनके प्रति।

मेरे शोधप्रबन्ध के निर्देशक डॉ. यज्ञेश्वरजी शास्त्री (प्रवक्ता गुजरात युनिवर्सिटी, अहमदाबाद) हैं। यद्यपि क्षेत्रीय दूरियों के कारण मैं उनके दार्शनिक चिन्तन का पूरा लाभ नहीं उठा पाई तथापि समय समय पर मेरे द्वारा प्रेषित सामग्री का अवलोकन करके पत्रों के द्वारा उन्होंने जो कुछ मार्गदर्शन दिया वह मेरे लिए विशेष सहायक बना। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध आपके निर्देशन एवं मार्गदर्शन के द्वारा ही

परिपूर्ण बन सका है। एतदर्थ में उनके प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ।

इस कृति के संशोधन में मूर्धन्य मनीषी डॉ. रवीन्द्र कुमार जी जैन एम.ए., डी.लिट., का प्रखर पांडित्य तथा तलस्पर्शी चिन्तन अतीव उपयोगी बना है। एतदर्थ मैं उनकी चिर ऋणी हूँ।

इस शोधप्रबंध हेतु विश्वविद्यालय संबंधी छोटी बड़ी सभी औपचारिकताओं को पूरी करने में श्री नारायणचन्द्र जी मेहता (अहमदाबाद) ने जो महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई उसे कभी भुलाया नहीं जा सकता। उनका स्नेह, सद्भावभरा सहयोग, इस कृति के अस्तित्व के साथ सदा सुरक्षित रहेगा।

'शाजापुर श्रीसंघ' के सदस्यों की आत्मीय स्मृतियाँ इस शोध कार्य का अविभाज्य अंग हैं। जहाँ मुझे अध्ययन के अनुकूल शान्त एवं स्वस्थ वातावरण मिला, समुचित व्यवस्था मिली और मिला सभी के अन्तर्हृदय का असीम अनुराग, जिसके सहारे पू. गुरुवर्याश्री से दूर रह कर भी इस कार्य को सुचारु रूप से सम्पन्न कर सकी।

स्वाध्याय समर्पित श्री ज्ञान जैन के श्रुतानुराग एवं अथक श्रम का सुपरिणाम है कि इस शोधप्रबंध का प्रकाशन इतनी अल्प अवधि में हो सका। कम्प्यूटर कॉपी से लेकर साजसज्जा तक के सभी प्रेस संबंधी कार्य उन्होंने जिस लगन के साथ पूर्ण किये वे वास्तव में अनुमोदनीय हैं। उनके सहयोग के बिना इतना परिष्कृत एवं आकर्षक प्रकाशन होना अशक्य था। उनकी श्रुत साधना मजिल प्राप्ति तक सतत गतिमान रहे, यही परमात्मा से मंगलकामना है और उनके सार्थक श्रम के प्रति यही सच्ची कृतज्ञता है।

इस शोध सामग्री को कम्प्यूटराइज्ड करने में मेरी सहपथगामिनी मुमुक्षु सुश्री अनैता बी. शंकरलेखा (बी.ए.), श्री विनयजी, श्री मयंकजी का तथा मुद्रण व्यवस्था में धर्म स्नेही बंधु श्री मानोज जी नारेलिया का जो श्रमपूर्ण सहयोग रहा वह मानस पटल पर सदैव जीवंत रहेगा। इस कृति के शुद्ध स्वच्छ व शीघ्र मुद्रण हेतु जैन प्रिंटर्स (चेन्नई) को हार्दिक धन्यवाद है।

इनके अतिरिक्त प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में इस शोधप्रबंध के प्रणयन में जो भी सहयोगी बने हैं उन सबके प्रति मैं अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ।

अज्ञान एवं प्रमादवश इस शोध प्रबंध में यदि कुछ कमियां रह गई हों तो प्रबुद्ध पाठक अपने सुझाव एवं मंतव्य प्रस्तुत करने हेतु सादर आमंत्रित है । आशा है वे कमियों के प्रति अंगुलि निर्देशकर श्रुतसाधना की गरिमा को सुरक्षित रखने में अवश्य सहयोगी बनेंगे ।

घरम तीर्थंकर प्रभु महावीर के 2600 वें जन्मकल्याणक वर्ष में प्रभु की अंतिम देशना से सम्बन्धित यह शोधबंध लोकार्पण होने जा रहा है । भगवान के उपदेश एवं संदेश उनकी उपस्थिति में तो लाभप्रद थे ही किन्तु आज के सन्दर्भ में उन संदेशों की उपयोगिता और अधिक है । यह प्रभु की वाणी जन जन के आत्म-उत्कर्ष में उपकारी बने यही शुभाशंसा...

जिनाज्ञा के विपरीत कुछ लिखा गया हो तो मिच्छामि दुक्कडम् ।

अनुभव-हेम-गुरुचरणरज

साध्वी विनीतप्रज्ञा

विषयानुक्रमणिका

१. जैन आगम साहित्य और उसमें उत्तराध्ययनसूत्र का स्थान १ - ५३
 - १.१. जैन धर्म में आगमों का स्थान
 - १.२. जैन आगमों का वर्गीकरण
 - १.३. जैन आगमों की विभिन्न वाचनाएँ
 - १.४. जैन आगमों में उत्तराध्ययनसूत्र का स्थान
२. उत्तराध्ययनसूत्र : एक परिचय ५५-१२१
 - २.१ उत्तराध्ययनसूत्र के नामकरण के संबन्ध में विभिन्न धारणायें
 - २.२ उत्तराध्ययनसूत्र मूलसूत्र है; क्यों ?
 - २.३ उत्तराध्ययनसूत्र के उपदेष्टा एवं रचयिता के सम्बन्ध में विभिन्न धारणायें
 - २.४ उत्तराध्ययनसूत्र का काल निर्धारण
 - २.५ उत्तराध्ययनसूत्र की भाषा
 - २.५.१ उत्तराध्ययनसूत्र की भाषा-अर्थमागधी
 - २.५.२ उत्तराध्ययनसूत्र की मूलभाषा पर महाराष्ट्री प्राकृत का प्रभाव क्यों एवं कैसे?
 - २.६ उत्तराध्ययनसूत्र की शैली
 - २.६.१ उपदेशात्मक उपमा या दृष्टान्तों के द्वारा विषय का सुबोधोक्ति
 - २.५.२ प्रतीकात्मक रूपक
 - २.५.३ कथा एवं संवाद
 - २.५.४ पुनरुक्ति और उसका कारण
 - २.७ उत्तराध्ययनसूत्र के विभिन्न अध्ययन एवं उनकी विषयवस्तु
 - २.८ उत्तराध्ययनसूत्र का व्याख्या साहित्य
 - २.८.१ निर्युक्ति साहित्य और उत्तराध्ययनसूत्र निर्युक्ति
 - २.८.२ चूर्ण साहित्य और उत्तराध्ययनसूत्र चूर्ण
 - २.८.३ उत्तराध्ययनसूत्र की संस्कृत टीकायें
 - २.८.४ उत्तराध्ययनसूत्र की हिन्दी/अंग्रेजी व्याख्यायें एवं टीकायें
 - २.८.५ उत्तराध्ययनसूत्र सम्बन्धी शोधप्रबन्ध एवं शोध आलेख

३. उत्तराध्ययनसूत्र में प्रतिपादित ज्ञानमीमांसीय अवधारणायें १२३ - १३६
- ३.१. ज्ञानवाद
- ३.२. प्रमाणवाद
४. उत्तराध्ययनसूत्र में प्रतिपादित तत्त्वमीमांसीय अवधारणायें १४१ - १७६
- ४.१ पंचास्तिकाय की अवधारणा
- ४.२ षट्द्रव्यों की अवधारणा
- ४.३ विविध दर्शनों में द्रव्य की अवधारणा
- ४.४ जैनदर्शन में द्रव्य की अवधारणा
- ४.५ गुण एवं पर्याय का स्वरूप एवं उनका पारस्परिक सम्बन्ध
- ४.६ द्रव्य, गुण एवं पर्याय का पारस्परिक सम्बन्ध
- ४.७ षट्द्रव्यों का स्वरूप एवं लक्षण
- ४.८ लोक का स्वरूप एवं प्रकार
- ४.९ नवतत्त्वों की अवधारणायें
५. उत्तराध्ययनसूत्र में प्रतिपादित आत्ममीमांसा १७८ - २१०
- ५.१. आत्मा का अस्तित्व
- ५.२. आत्मा का स्वरूप
- ५.३. जीवों के भेद
- ५.४ सिद्ध जीवों के भेद
- ५.५. संसारी जीवों के भेद
- ५.६. त्रस एवं स्थावर जीवों का वर्गीकरण
- ५.७. षट्जीवनिकाय के भेद-प्रभेद
६. उत्तराध्ययनसूत्र में प्रतिपादित कर्मसिद्धान्त २१२ - २३८
- ६.१. कर्म का स्वरूप
- ६.२. कर्म-बन्ध के कारण

- ६.३. कर्मों की विभिन्न प्रकृतियाँ
 ६.४. कर्म सिद्धान्त नियतिवाद है या पुरुषार्थवाद

७. उत्तराध्ययनसूत्र का जीवनदर्शन २४० - २६६
- ७.१ संसार की दुःखमयता
 ७.२ दुःख का कारण एवं दुःख मुक्ति के उपाय
 ७.३ सांसारिक सुख सुखाभास है
 ७.४ उत्तराध्ययनसूत्र का जीवन-दर्शन
 ७.५. क्या उत्तराध्ययनसूत्र जीवन का निषेध सिखाता है
८. उत्तराध्ययनसूत्र में प्रतिपादित समाधिमरण की अवधारणा २६८ - २६३
- ८.१. मरण के सत्रह प्रकार
 ८.२ समाधिमरण का प्रयोजन, परिस्थिति, प्रक्रिया एवं प्रकार
 ८.३ अन्य ग्रन्थों में समाधिमरण
 ८.४ समाधिमरण आत्महत्या नहीं है।
९. उत्तराध्ययनसूत्र का साधनात्मक पक्ष : मोक्ष मार्ग २६५ - ३४२
- ९.१ द्विविध से पंचविध मोक्षमार्ग
 ९.२ दर्शन एवं ज्ञान की पूर्वापरता का आधार
 ९.३ सम्यग्ज्ञान
 ९.४ सम्यग्दर्शन
 ९.५ सम्यक्चारित्र
 ९.६ सम्यक्तप
१०. उत्तराध्ययनसूत्र में प्रतिपादित श्रमणाचार ३४३ - ४२३
- १०.१ चतुर्याम और पंचमहाव्रत
 १०.२ अष्टप्रवचनमाता : सप्तिति गुप्ति
 १०.३ सामाचारी
 १०.३.१ दैनिक सामाचारी

- १०.३.२ दशविध समाचारी
 १०.४ बाईस परीषद
 १०.५ दशविध मुनिधर्म
 १०.६ षट् आवश्यक
 १०.७ सचेत अचेत का प्रश्न

११. उत्तराध्ययनसूत्र में प्रतिपादित श्रावकाचार ४२५ - ४६०
 ११.१ सप्तव्यसन का त्याग
 ११.२ मार्गानुसारी के पैंतीस गुण
 ११.३ श्रावक के बारह व्रत
 ११.४ श्रावक की ग्यारह प्रतिमा

१२. उत्तराध्ययनसूत्र का शिक्षादर्शन ४६२ - ४८६
 १२.१. शिक्षा का उद्देश्य
 १२.२ विनय-आचार
 १२.३ गुरु-शिष्य सम्बन्ध
 १२.४ स्वाध्याय का स्वरूप एवं महत्त्व

१३. उत्तराध्ययनसूत्र में प्रतिपादित मनोविज्ञान ४८८ - ५२५
 १३.१ संज्ञा : कथाय : लेश्या : ध्यान
 १३.२ वासनाओं का दमन हो या निरसन ?

१४. उत्तराध्ययनसूत्र का सामाजिक दर्शन ५२७ - ५४६
 १४.१ वर्णव्यवस्था एवं जातिगत श्रेष्ठता का खण्डन
 १४.२ विवाह संस्था और उसका उद्देश्य
 १४.३ पारिवारिक जीवन
 १४.४ शासन व्यवस्था

१५. उत्तराध्ययनसूत्र का आर्थिक दर्शन ५४८ - ५६१
- १५.१ जैन साहित्य में अर्थ का स्थान
- १५.२ उत्तराध्ययनसूत्र का आर्थिक दृष्टिकोण
- १५.३ वित्त से दुःख विमुक्ति सम्भव नहीं
- १५.४ अर्थ की उपयोगिता कहां तक?
- १५.५ अर्थ साधन है : साध्य नहीं
- १५.६ उत्तराध्ययनसूत्र का आर्थिक दर्शन इच्छानिवृत्ति का है।
१६. उत्तराध्ययनसूत्र में प्रतिपादित अन्य दर्शन एवं दार्शनिक परम्परायें ५६३ - ५७३
१७. उत्तराध्ययनसूत्र की शिक्षाओं की प्रासंगिकता और उनका महत्त्व ५७५ - ६०४
- ★ सहायक ग्रन्थ सूची ६०६ - ६१५

अध्याय - १

जैन आगम साहित्य और
उसमें उत्तराध्ययनसूत्र का स्थान



जैन आगम साहित्य और उसमें उत्तराध्ययनसूत्र का स्थान

१.१ जैन धर्म में आगमों का स्थान

प्रत्येक धर्म परम्परा के कुछ मौलिक पवित्र ग्रन्थ होते हैं जो उसके मूल सिद्धान्त, जीवन आदर्श तथा आचार सम्बन्धी नियमों के निर्धारक होते हैं। जिस प्रकार वैदिकपरम्परा में 'वेद', बौद्धपरम्परा में 'त्रिपिटक', ईसाईयों में 'बाईबिल', पारसियों में 'अवेस्ता', इस्लाम में 'कुरान' प्रमाणभूत पवित्र धर्मग्रन्थ हैं उसी प्रकार जैन परम्परा में 'आगम' प्रमाणभूत धर्मग्रन्थ हैं। यहां ज्ञातव्य है कि जहां पारसी, ईसाई या इस्लाम धर्मों में एक ग्रन्थ को ही प्रमाणभूत धर्मग्रन्थ माना गया है वहां वैदिक, जैन एवं बौद्ध परम्पराओं में ग्रन्थों के समूह को प्रमाणभूत माना गया है। हिन्दू (वैदिक) परम्परा की 'प्रस्थानत्रयी', बौद्ध परम्परा के 'त्रिपिटक' तथा जैन परम्परा के आगम एक ग्रन्थ न होकर अनेक ग्रन्थों के समूह हैं। यह स्मरण कि 'आगम' शब्द ग्रन्थ-समूह का वाचक है। इसमें अनेक ग्रन्थ समाहित हैं।

आगम क्या है ?

जैनपरम्परा में तीर्थंकर या अर्हत् को अर्थ का उपदेष्टा माना गया है। उनके उपदेशों पर आधारित, गणधर, स्थविर या आचार्य द्वारा रचित ग्रन्थ आगम कहलाते हैं।^१

आगम शब्द की व्याख्या अनेक रूपों में उपलब्ध होती है। अपने व्युत्पत्तिपरक अर्थ की दृष्टि से आगम शब्द 'आ' उपसर्ग पूर्वक 'गम्' धातु से निष्पन्न हुआ है। यहां 'आ' उपसर्ग पूर्णता का सूचक है तथा 'गम्' धातु ज्ञानार्थक है, इस प्रकार जिससे वस्तुतत्त्व का पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो उसे 'आगम' कहा गया है।

१ 'अल्पं भासद् अरहा, सुतं गच्छति गणधरा निउम ।
सासनस्तु विद्यद्गण, तज्जो सुतं दित्त्वं पवत्तद् ॥'

- आवश्यकनिर्मुक्ति गाथा ६२ (त्रिभुक्ति संग्रह पृष्ठ ३०) ।

'आगम शब्द के कुछ अर्थ एवं व्याख्याएं निम्न रूप से भी प्राप्त होती हैं -

'प्राकृत-हिन्दी कोश' में 'आगम' शब्द के ज्ञान, जानना, शास्त्र, सिद्धान्त आदि अनेक अर्थ किये गये हैं।^२

आचारंगसूत्र में भी आगम शब्द 'जानने' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।^३

संस्कृत-हिन्दी कोश के अनुसार परम्परागत सिद्धान्तग्रन्थ, उपदेशग्रन्थ तथा धर्मग्रन्थ आगम हैं।^४

अधिकांश ग्रन्थों में आप्त के उपदेश को आगम कहा गया है। वस्तुतः आप्तवचन से उत्पन्न अर्थबोध आगम है। उपचार से आप्तवचन भी आगम कहे जाते हैं।

आगम शब्द में प्रयुक्त 'आ' 'ग' और 'म' इन अक्षरों के आधार पर इसे निम्न रूप से भी विश्लेषित किया गया है - जिससे पदार्थों का परिपूर्णता (आ) के साथ मर्यादित (म) ज्ञान (ग) प्राप्त हो वह आगम है।^५

आचार्य सिद्धसेनगणि के अनुसार जो ज्ञान आचार्यपरम्परा से वासित होकर आता है वह आगम है।^६

विशेषावश्यक भाष्य में कहा गया है कि जिससे सही शिक्षा प्राप्त होती है अथवा विशेष ज्ञान प्राप्त होता है वह शास्त्र आगम या श्रुतज्ञान कहलाता है।^७

इस प्रकार आप्त अर्थात् सर्वज्ञ के प्रामाणिक वचनों के आधार पर निर्मित ग्रन्थ या शास्त्र आगम कहलाते हैं।

वर्तमान में प्रमाणभूत आगमों की संख्या के विषय में जैनपरम्परा के उपसंप्रदायों में कुछ मतभेद देखा जाता है। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा का एक वर्ग ८४ आगमों को प्रमाण मानता है तो दूसरा वर्ग ४५ आगमों को ही प्रमाण मानता

२ प्राकृत-हिन्दी कोश पृष्ठ १०६।

३ आचारंगसूत्र १/२/३/६२ तथा १/४/२/१६ - (अंगसुतापि, लाडनू, खण्ड १, पृष्ठ २१, ३५)।

४ संस्कृत-हिन्दी कोश पृष्ठ १३६।

५ 'आ समन्तात् गम्यते वस्तुतत्त्वमनेनेपायमः'

- दलाकरावतारिका मुक्ति - उद्धृत 'जैन आगम साहित्य मनन और मीमांसा' पृष्ठ ५ - देवेन्द्र मुनि।

६ 'आगच्छन्नाचार्य परम्परया वासनाद्वारेनेत्यागमः'

- सिद्धसेनगणि कृत 'भाष्यानुसारिणी' टीका पृष्ठ ८७।

७ 'सासिग्नह ज्ञेयतयं सत्यं तं चाऽपिसे विसेसियं नापं ;

आगम एव य सत्यं आगमकथं तु सुयनापं ।'

- 'विशेषावश्यकभाष्य' भाष्या ५२६।

है। श्वेताम्बर संप्रदाय के अमूर्तिपूजक सम्प्रदाय अर्थात् स्थानकवासी और तेरापन्थी इनमें से ३२ ग्रन्थों को ही आगम के रूप में स्वीकार करते हैं। जहां तक दिगम्बरपरम्परा का प्रश्न है वह १२ अंगसूत्रों और १४ अंगबाह्यसूत्रों को स्वीकार तो करती है किन्तु उसके अनुसार वर्तमान में ये ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं, इनके आधार पर दिगम्बर आचार्यों ने कुछ आगम तुल्य ग्रन्थ निर्मित किये हैं जिन्हें वे प्रमाणभूत मानते हैं; यथा— कसायपाहुड, षट्खण्डागम, मूलाचार, भगवतीआराधना, समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, पंचास्तिकायसार, गोम्मटसार आदि।

१.२ जैन आगमों का वर्गीकरण

जैनपरम्परा में इन आगमग्रन्थों को अनेक प्रकार से वर्गीकृत किया जाता रहा है। प्राचीन परम्परा में जैन आगमों को 'अंग' और 'पूर्व' ऐसे दो भागों में विभाजित किया गया था। विद्वानों की ऐसी मान्यता है कि प्रभु पार्श्वनाथ की परम्परा के आगम 'पूर्व' के नाम से जाने जाते हैं। 'पूर्व' शब्द का एक अर्थ यह भी ध्वनित होता है कि जो अंगों के पूर्व रहे हों, उनके पूर्व निर्मित हुए हों या पूर्ववर्ती तीर्थंकर के द्वारा उपदिष्ट हों, वे पूर्व हैं। इस प्रकार तीर्थंकर पार्श्वनाथ की परम्परा के आगम 'पूर्व' हैं और भगवान महावीर के गणधरों द्वारा रचित आगम 'अंग' हैं। आगे चलकर पूर्व साहित्य को बारहवें अंग 'दृष्टिवाद' के अंतर्गत ही समाहित कर लिया गया।

अंगों के बाद स्थविर आचार्यों के द्वारा जो ग्रन्थ निर्मित हुए उन्हें अंगबाह्य की संज्ञा दी गई। इस प्रकार अंग और अंगबाह्य इन दो भागों में आगमसाहित्य को वर्गीकृत किया गया। यह वर्गीकरण लगभग तीसरी शताब्दी तक प्रचलित रहा। आचार्य उमास्वाति ने भी तत्त्वार्थसूत्र में आगमों को इन्हीं दो वर्गों में विभाजित किया है,^१ साथ ही उन्होंने तत्त्वार्थ के स्वोपज्ञभाष्य में अंगग्रन्थों की संख्या १२ स्वीकार की है, किन्तु अंगबाह्य ग्रन्थों में से कुछ ग्रन्थों का नामोल्लेख करते हुए 'आदि' कहकर उनकी संख्या को अनिर्धारित ही छोड़ दिया^२। पुनः इन अंगबाह्यग्रन्थों को भी आवश्यक एवं आवश्यक व्यतिरिक्त ऐसे दो भागों में विभक्त किया गया। आचार्य उमास्वाति ने इस वर्गीकरण का कोई उल्लेख नहीं किया

१ तत्त्वार्थसूत्र अ. १. सू. २०।
२ नवमसूत्र सू. ७६

- ('नवसुतापि' लाहौर पृष्ठ २६८)

है। किन्तु नन्दीसूत्र में हमें आवश्यक एवं आवश्यक व्यतिरिक्त ग्रन्थों का सन्दर्भ मिलता है।¹⁰ पुनः स्थविरों द्वारा रचित ग्रन्थों की संख्या और अधिक हो जाने पर आवश्यक व्यतिरिक्त ग्रन्थों को भी कालिक एवं उत्कालिक ऐसे दो भागों में विभाजित किया। नन्दीसूत्र में जो सूची दी गई उसमें निम्न ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है -

नन्दीसूत्र में निर्दिष्ट आगम और उनका वर्गीकरण

आगम		अंगबोधा	
अंगप्रविष्ट		अवश्यक	
१. आचारांग		१. सामायिक	आवश्यक व्यतिरिक्त
२. सूत्रकृतांग		२. चतुर्विंशतिस्तव	
३. स्थानांग		३. वन्दन	
४. समवायांग		४. प्रतिक्रमण	
५. भगवतीसूत्र (व्याख्याप्रज्ञप्ति)		५. कायोत्सर्ग	
६. ज्ञाताधर्मकथांग		६. प्रत्याख्यान	
७. उपासकदशांग			
८. अन्तकृतदशांग			
९. अनुत्तरोपपातिक दशांग			
१०. प्रश्नव्याकरणसूत्र			
११. विपाकसूत्र			
१२. दृष्टिवाद			
	कालिक		उत्कालिक
१. उत्तराध्ययनसूत्र	१७. वरुणोपपात	१. दशदैकालिक	१७. पौरषीमण्डल
२. दशाश्रुतरक्तं	१८. गरुडोपपात	२. कल्पिकाकल्पिक	१८. मण्डलप्रवेश
३. कल्प	१९. धरुणोपपात	३. चुल्लकल्पश्रुत	१९. विद्याधारणविनिश्चय
४. व्यवहार	२०. वेश्रमणोपपात	४. महाकल्पश्रुत	२०. गणिविद्या
५. निशीथ	२१. वेलंघरोपपात	५. औपपातिक	२१. ध्यानविमक्ति
६. महानिशीथ	२२. देवेन्द्रोपपात	६. राजप्रश्नीय	२२. मरणविमक्ति
७. ऋषिभाषित	२३. उत्थानश्रुत	७. जीवामिगम	२३. आत्मविशोधि
८. जम्बुद्वीपप्रज्ञप्ति	२४. समुत्थानश्रुत	८. प्रज्ञापना	२४. यौतशागश्रुत
९. दीपसागरप्रज्ञप्ति	२५. नागपरियापनिका	९. महाप्रज्ञापना	२५. संलेखनाश्रुत
१०. चन्द्रप्रज्ञप्ति	२६. निरयावतिका	१०. प्रमादाप्रमाद	२६. विहारकल्प
११. क्षुत्लिकाविमान प्रविमक्ति	२७. कल्पिका	११. नन्दी	२७. चरणविधि
१२. मल्लिकाविमान प्रविमक्ति	२८. कल्पावतंसिका	१२. अनुयोगद्वार	२८. आतुरप्रत्याख्यान
१३. अंगचूलिका	२९. पुष्पिका	१३. देवेन्द्रस्तव	२९. महाप्रत्याख्यान
१४. बंगचूलिका	३०. पुष्पचूलिका	१४. तंदुलवैद्यारिक	
१५. विवाहचूलिका	३१. वृष्णिदशा	१५. छन्दकैथ्यक	
१६. अरुणोपपात		१६. सूर्यप्रज्ञप्ति	

नन्दीसूत्र में जिन आगमग्रन्थों का उल्लेख है, उनमें भी आज कालिक और उत्कालिक वर्ग के अनेक आगमग्रन्थ अनुपलब्ध हैं, पुनः जहां आवश्यक वर्ग के अन्तर्गत छः स्वतन्त्र आगमों का उल्लेख है, वहां वर्तमान में उसे एक ही आगम माना जाता है। इस प्रकार वर्तमान में आगमों की संख्या ४५ तक सीमित हो जाती है। लगभग बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी के पश्चात् नन्दीसूत्र के पूर्व प्रचलित वर्गीकरण के स्थान पर एक नया वर्गीकरण आया, जिसमें आगमों को अंग, उपांग, छेद, मूल, चूलिका एवं प्रकीर्णकसूत्र के रूप में वर्गीकृत किया गया है। इस वर्गीकरण के आधार पर वर्तमान में उपलब्ध कौनसा आगम किस वर्ग में आता है यह स्पष्ट हो जाता है। यह नवीन वर्गीकरण निम्नांकित है -

आगमों का नवीन वर्गीकरण

(१) अंग आगम

- | | | |
|-------------------|-----------------------|--|
| १. आचारांग | २. सूत्रकृतांग | ३. स्थानांग |
| ४. समवायांग | ५. व्याख्याप्रज्ञप्ति | ६. ज्ञाताधर्मकथा |
| ७. उपासकदशा | ८. अन्तकृतदशा | ९. अनुत्तरोपपातिकदशा |
| १०. प्रश्नव्याकरण | ११. विपाकसूत्र | १२. दृष्टिवाद (जो विच्छिन्न हो गया है) |

(२) उपांग-आगम :

- | | |
|-------------------------|-------------------------------|
| १. औपपातिक | २. राजप्रश्नीय या राजप्रसेणीय |
| ३. जीवाजीवाभिगम | ४. प्रज्ञापना |
| ५. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति | ६. सूर्यप्रज्ञप्ति |
| ७. चन्द्रप्रज्ञप्ति | ८. निरयावलिका |
| ९. कल्पावतंसिका | १०. पुषिका |
| ११. पुष्यचूला | १२. वृष्णिदशा |

(३) मूलआगम :

- | | |
|---------------------|----------------------|
| १. उत्तराध्ययनसूत्र | २. दशवैकालिक |
| ३. आवश्यकसूत्र | ४. पिण्डनिर्युक्ति । |

स्थानकवासी एवं तेरापंथी सम्प्रदाय में आवश्यक एवं पिण्डनिर्युक्ति के स्थान पर नन्दीसूत्र एवं अनुयोगद्वारा को मूलसूत्र माना गया है।

(४) छेदसूत्र :

- | | | |
|------------------|----------------|--------------|
| १. दशाश्रुतरकन्ध | २. कल्प | ३. व्यवहार |
| ४. निशीथ | ५. महानिशीथ और | ६. जीतकल्प । |

स्थानकवासी एवं तेरापंथी सम्प्रदाय में महानिशीथ एवं जीतकल्प के अतिरिक्त पूर्वोक्त, चारों सूत्रों को ही छेदसूत्र के रूप में स्वीकार किया गया है।

(५) चूलिका सूत्र :

१. नन्दीसूत्र २. अनुयोगद्वार

(६) प्रकीर्णक आगमग्रन्थ :

- | | |
|--------------------|---------------------|
| १. यतुःशरण | २. आतुरप्रत्याख्यान |
| ३. महाप्रत्याख्यान | ४. मक्तपरिज्ञा |
| ५. तंदूलवैचारिक | ६. संस्तारक |
| ७. गृष्ठाघार | ८. गणिविद्या |
| ९. देवेन्द्रस्तव | १०. मरणसमाधि |

इन आगमों को सुव्यवस्थित एवं सम्पादित करने हेतु अनेक प्रयास किये गये हैं जिन्हें जैन शब्दावली में वाचना कहा जाता है, जिनका विवरण आगे दिया जा रहा है।

१.३ जैन आगमों की विशिष्ट वाचनाएं

आज से पच्चीस सौ वर्ष पूर्व का इतिहास यह बताता है कि उस समय जिज्ञासु अपने धर्मशास्त्रों का ज्ञान अपने धर्मगुरुओं से वाचना द्वारा प्राप्त करते थे। सर्वप्रथम वे श्रुतपाठ को कंठस्थ करते तत्पश्चात् कण्ठस्थ पाठों का बारबार पारायण करके उन्हें याद रखते थे। इस प्रकार श्रुतसंपदा गुरुशिष्य परम्परा से संरक्षित होती रही और भगवान महावीर के निर्वाण के लगभग 980 वर्ष बाद तक यह कण्ठस्थ ही रही।

आचार्य अपने शिष्यों को सूत्र और अर्थ का जो अध्ययन कराते थे, उसे जैन परिभाषा में 'वाचना' कहते हैं।¹¹ वैसे प्रत्येक श्रुतधर आचार्य अपने शिष्यों को वाचना देते हैं परन्तु यहां हमारा तात्पर्य उस सामान्य वाचना से नहीं है। यहां हमें तो उन्हीं विशेष वाचनाओं का उल्लेख अभीष्ट है, जो जैनसंघ में श्रुतसंपदा को संरक्षित करने हेतु हुई थी।

इन वाचनाओं के माध्यम से जैन आगमों को सुरक्षित रखने का प्रयास किया गया। जैसे भगवान के उपदेशों के आधार पर गणधरों ने आगमों की रचना की थी, वे आज शब्दशः हमारे पास उस रूप में नहीं हैं। इसका मुख्य कारण यह था कि जहां वैदिक परम्परा में शब्द पर अधिक बल दिया गया, वहां

श्रमणपरम्परा में अर्थ की प्रधानता रही है। अतः शाब्दिक स्वरूप पर विशेष ध्यान नहीं देने के कारण ब्राह्मणों की तरह जैनाचार्य आगमग्रन्थों की अक्षरशः सुरक्षा नहीं कर पाये। साथ ही वेदों की सुरक्षा में गृहस्थों एवं ऋषियों दोनों का सहयोग रहा है। एक ओर यह परम्परा पिता पुत्र के द्वारा आगे बढ़ी तो दूसरी ओर गुरु शिष्य के योग से आगे चली। इस प्रकार वेदपाठों की सुरक्षा का दोहरा प्रबंध था जिसने वेदपाठों को अविच्छिन्न रखा किन्तु जैनागमों की सुरक्षा में कुल परम्परा या पिता-पुत्र परम्परा का कोई सहकार न रहा। अतएव जैनश्रुत की परम्परा को जीवित रखने का श्रेय विद्यावंश (साधुसंघ) को ही जाता है। किन्तु काल के विपर्यय एवं बुद्धि की मन्दता के कारण यह परम्परा भी अविच्छिन्न नहीं रह सकी, फिर भी यह कहा जा सकता है कि अंगों का अधिकांश भाग जो आज उपलब्ध है, वह भगवान के उपदेश के अधिक निकट है। उसमें विस्मरण, परिवर्तन और परिवर्धन अवश्य हुआ है किन्तु वह परवर्ती आचार्यों की निजी कल्पना नहीं है। इस श्रुत संपदा को सुरक्षित रखने के अनेक प्रयास हुए हैं। जब जब श्रुत धारा विच्छिन्न होती प्रतीत हुई, श्रमणसंघ के समर्थ आचार्यों के नेतृत्व में श्रुत की सुरक्षा का प्रयत्न किया गया। जैन परम्परा में इस प्रकार आगमसुरक्षा के सामूहिक प्रयत्नों को भी 'वाचना' कहा गया है। जिस प्रकार बौद्धपरम्परा में त्रिपिटक के संकलन एवं सुरक्षा के लिए संगतियां हुईं उसी प्रकार जैन परम्परा में आगमसाहित्य की सुरक्षा के लिए वाचनायें हुईं। आगम की पांच वाचनाओं के निर्देश प्रकीर्ण रूप से उपलब्ध होते हैं।

प्रथम वाचना

प्रथम वाचना भगवान महावीर के निर्वाण के १६० वर्ष पश्चात् पाटलीपुत्र में हुई। अतः इसे पाटलीपुत्रीय वाचना कहते हैं। इसका इतिहास यह है कि मध्यदेश में द्वादश वर्षीय अकाल पड़ा। इससे श्रमण संघ अस्त व्यस्त हो गया। अनेक मेधावी श्रमण काल कवलित हो गये। वे अनेक दूरस्थ (समुद्र तटवर्ती) प्रदेशों की ओर चले गये। अतः अध्ययन, अध्यापन, धारण तथा प्रत्यावर्तन सभी में विक्षेप पड़ने लगा। सुकाल होने पर जब अवशिष्ट साधु समुदाय एकत्रित हुआ तो उन्होंने पाया कि आगमज्ञान अंशतः विस्मृत एवं विश्रृंखलित हो गया है। अतः उन्होंने श्रुत संरक्षण को अनिवार्य एवं प्राथमिक कार्य समझा। इस वाचना में ग्यारह अंग तो व्यवस्थित किये गये पर बारहवें अंग 'दृष्टिवाद' और पूर्व साहित्य का वहां कोई विशिष्ट ज्ञाता नहीं था। उसके तत्कालीन ज्ञाता आचार्य भद्रबाहु नेपाल में थे। तब संघ की प्रार्थना पर उन्होंने मुनि स्थूलभद्र को पूर्व की वाचना देना प्रारम्भ किया।

संघ की प्रार्थना पर उन्होंने मुनि स्थूलभद्र को पूर्व की वाचना देना प्रारम्भ किया। किन्तु मुनि स्थूलभद्र ने दस पूर्व तक का ही अर्थतः अध्ययन किया तथा शेष चार पूर्व का शाब्दिक ज्ञान प्राप्त किया।

इस प्रकार सुदीर्घ प्रयास के उपरान्त भी पाटलीपुत्र की वाचना में एकादश अंग ही सुव्यवस्थित किये जा सके। 'दृष्टिवाद' एवं उसमें अन्तर्निहित पूर्व को पूर्णतः सुरक्षित नहीं रखा जा सका और शनैः शनैः वह विलुप्त होता चला गया। फिर भी उसकी विषय-वस्तु के आधार पर अनेक अंग बाह्य ग्रन्थों की रचना अवश्य हुई।

द्वितीय वाचना

आगमों की द्वितीय वाचना ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी में महावीर निर्वाण के लगभग ३०० वर्ष पश्चात् कुमारी पर्वत पर हुई। सम्राट् खारवेल जैन धर्म के परम उपासक थे। उनके सुप्रसिद्ध 'हाथी गुफा' अभिलेख से यह सिद्ध होता है कि उन्होंने उड़ीसा के कुमारी पर्वत पर जैन मुनि सम्मेलन बुलाया और मौर्यकाल की पाटली पुत्र वाचना के पश्चात् जो अंग विस्मृत हो रहे थे उनका पुनरोद्धार कराया।

इस अभिलेख के अतिरिक्त 'हिमवन्त-थेरावली' नामक संस्कृत-प्राकृत मिश्रित पट्टावली में भी स्पष्ट उल्लेख है कि महाराजा खारवेल ने प्रवचन का उद्धार कराया था। 'हिमवन्त-स्थविरावली' के अतिरिक्त इस वाचना के सम्बन्ध में श्वेताम्बर साहित्य में कहीं कोई सूचना उपलब्ध नहीं है। सम्भवतः यह वाचना दक्षिण की अचेल परम्परा में प्रचलित रही होगी। यहां यह भी ज्ञातव्य है कि 'हिमवन्त-थेरावली' की प्रमाणिकता को अधिकांश विद्वान स्वीकार नहीं करते हैं, फिर भी खारवेल के अभिलेख से इस वाचना की पुष्टि अवश्य होती है।

तृतीय वाचना

आगम संकलन का तीसरा प्रयास महावीर निर्वाण के ८२७ वर्ष पश्चात् अर्थात् ई. सन् की तीसरी शताब्दी में मथुरा में आर्य स्कंदिल के नेतृत्व में हुआ। अतः यह वाचना माथुरी वाचना या स्कंदिली वाचना के नाम से विश्रुत है। प्रथम, द्वितीय वाचना के पश्चात् ग्यारह अंगों का ज्ञान उसी कठस्थ परम्परा से प्रवाहित

होता रहा, यथा शिष्य ने गुरु मुख से अधीत किया और स्मृति कोश में संरक्षित कर लिया। पुनः शिष्य ने अपने शिष्य को उसी प्रकार अधीत करवाया। स्मृति की भी एक सीमा होती है। कालान्तर में शनैः शनैः विशाल ज्ञान राशि को धारण करने वाले शिष्य प्रशिष्यों की कमी होती गई और वीर निर्वाण के ८०० वर्ष पश्चात् पुनः बारह वर्षों का अकाल पड़ा। नंदीचूर्णि में इसका उल्लेख है कि अकाल में अनेक मेधावी श्रुतज्ञों का देहान्त हो गया। इसमें दो मान्यताएं हैं। प्रथम मान्यता के अनुसार सुकाल होने के पश्चात् आर्य स्कंदिल की अध्यक्षता में उपस्थित मुनियों की स्मृति के आधार पर कालिक सूत्रों को सुव्यवस्थित किया गया। अन्य कुछ विद्वानों का मतव्य है कि इस काल में सूत्र नष्ट नहीं हुए थे किन्तु अनुयोगघर दिवंगत हो गये थे। अतः एक मात्र जीवित अनुयोगघर आर्य स्कंदिल द्वारा अनुयोग का पुनः प्रवर्तन किया गया। अचेल परम्परा में यापनीय आचार्य पाल्यकीर्ति शाकटायन ने स्त्रीमुक्ति प्रकरण में इस वाचना का मथुरागम के रूप में उल्लेख भी किया है।

चतुर्थ वाचना

चतुर्थ वाचना भी तृतीय वाचना के समकालीन वीरनिर्वाण से ८२७ से ८४० के पश्चात् हुई थी। जिस समय उत्तरपूर्व और मध्य में विचरण करने वाले मुनिगण मथुरा में एकत्रित हुये थे, उसी समय दक्षिण पश्चिम अर्थात् राजस्थान, गुजरात और महाराष्ट्र में विचरण करने वाले मुनिगण वल्लभीपुर (सौराष्ट्र) में आर्य नागार्जुन के नेतृत्व में एकत्रित हुए। अतः इसे नागार्जुनीय वाचना भी कहते हैं। इस वाचना के उल्लेख आगमिक व्याख्या-साहित्य में उपलब्ध हैं।

पांचवी वाचना

वीर निर्वाण के ६०० या ६६३ वर्ष पश्चात् ई. सन् पांचवी शती के उत्तरार्द्ध में देवद्विगणि क्षमाश्रमण की अध्यक्षता में पुनः श्रमणसंघ वल्लभी में एकत्रित हुआ। यह वाचना आर्य स्कंदिल की माथुरी वाचना और आर्य नागार्जुन की वल्लभी वाचना के लगभग १५० वर्ष पश्चात् हुई। इस वाचना में मुख्यतः आगमों को पुस्तकाकार करने का कार्य किया गया।

इस प्रकार उपलब्ध साक्ष्य से यह प्रतीत होता है कि पाटलीपुत्रीय वाचना के समय एकादश अंग सुव्यवस्थित हुए थे। बारहवें दृष्टिवाद जिसमें अन्य दर्शनों एवं महावीर के पूर्व पार्श्वनाथ की परम्परा का साहित्य समाहित था, उसका पूर्ण रूप से संकलन नहीं किया जा सका। कारण वहां चतुर्दश पूर्वविद् की उपस्थिति नहीं थी।

आगे बाह्य आगम साहित्य के अनेक ग्रन्थ जैसे प्रज्ञापना, आचारदशा, नंदी, अनुयोगद्वार आदि परवर्ती आचार्यों की कृति होने से वाचना में सम्मिलित नहीं किये गये होंगे। यद्यपि दशवैकालिक, आवश्यक, उत्तराध्ययनसूत्र, आचारदशा, बृहत्कल्प व्यवहार आदि ग्रन्थ पाटलीपुत्र की वाचना के पूर्व के हैं किन्तु इस वाचना में इनका क्या किया गया — यह जानकारी प्राप्त नहीं होती है। हो सकता है कि सभी साधु साधवियों के लिये उनका स्वाध्याय नियमित व आवश्यक होने के कारण इनके विस्मृत होने का प्रश्न ही न उठा हो। जहां तक उत्तराध्ययनसूत्र का प्रश्न है, कुछ विद्वानों के अनुसार पूर्व में यह प्रश्नव्याकरणदशा का ही भाग था। अतः अंग आगमों की वाचना में इसकी भी वाचना हुई होगी।

अंतिम वाचना में जो ग्रन्थ संकलित एवं पुस्तकाकार (लिपिबद्ध) किये गये, वे ही आगे सुरक्षित रह सके। ज्ञातव्य है कि अंतिम वल्लभी वाचना के आगम दक्षिण पश्चिम भारत की संचल परम्परा को ही मान्य रहे। आगे हम इन आगमग्रन्थों की विषयवस्तु का संक्षिप्त परिचय देंगे।

१.४ जैन आगमों की विषयवस्तु

अंग आगम

आचारांग आदि अंग आगम कहलाते हैं। भगवान के उपदेश के आधार पर गणधर भगवन्तो ने जिन शास्त्रों की रचना की, वे अंग आगम कहलाते हैं।

अंग आगम की पुरुष के रूप में भी कल्पना की गई है। पुरुष के बारह अंगों (पादद्वय, जंघाद्वय, उरुद्वय, गात्रद्वय—देह का अग्रवर्ती तथा पृष्ठवर्ती भाग, बाहुद्वय, ग्रीवा तथा मस्तक) के साथ बारह आगम का सम्बन्ध स्थापित किया गया

है। इन बारह अंगों में जो प्रविष्ट हैं, अंगत्वेन अवस्थित हैं, वे आगम श्रुतपुरुष के अंग हैं।¹² अतः आचारांग आदि बारह आगमों को अंग आगम कहा गया है। अब हम संक्षिप्त रूप से इनकी विषयवस्तु की चर्चा करेंगे -

१. आचारांग

अंग आगमों में आचारांग का स्थान प्रथम है। इसका नाम इतना अन्वर्थक है कि नाम से ही स्पष्ट हो जाता है कि यह आचार संबन्धी ग्रन्थ है। उपलब्ध आचारांग के दो श्रुतस्कंध हैं। विद्वानों की मान्यता है कि दूसरा श्रुतस्कंध वूलिकारूप है, जो प्रथम श्रुतस्कंध के साथ परवर्तीकाल में जोड़ दिया गया।

प्रथम श्रुतस्कंध के ६ अध्ययन हैं पर इसका ७वां अध्ययन वर्तमान में अनुपलब्ध है। दूसरे श्रुतस्कंध के १५ अध्ययन हैं जो प्रथम श्रुतस्कंध के अध्यायों की व्याख्या मात्र हैं।

आचारांगसूत्र का प्रारम्भ आत्मजिज्ञासा की भावना से होता है। तदनन्तर इसमें जैनाचार के मूलभूत सिद्धान्त, षड्जीवनिकाय की यतना का विस्तृत वर्णन है। मुख्य विषय के साथ उसमें लोक स्वरूप, सांसारिक संबन्धों की अशरणाता दर्शाते हुए राग, द्वेष एवं कषाय विमुक्ति की सघोट प्रेरणा भी दी गई है।

प्रथम श्रुतस्कंध के अन्य अध्ययनों में मुनि आचार के निरूपण के साथ साथ आचार पालन के फलस्वरूप प्राप्त होने वाले समाधिमरण की भी चर्चा की गई है। प्रथम श्रुतस्कंध के अन्तिम (नौवें) अध्ययन में, जो उपघानश्रुत के नाम से जाना जाता है, भगवान महावीर के साधनामय जीवन का वर्णन है।

द्वितीय श्रुतस्कंध में साध्याचार का विस्तृत विवेचन किया है। मुनियों की भिक्षाचर्या, उनके ठहरने के स्थान अर्थात् वसति, वस्त्र पात्र आदि का स्वरूप एवं उनके ग्रहण की विधि क्या है, इत्यादि विषयों का बहुत ही गंभीर विवेचन इसमें उपलब्ध होता है। इसके अन्त में भगवान महावीर के जीवन का प्रथम श्रुतस्कंध की अपेक्षा अति विशद वर्णन दिया गया है। साथ ही इस अध्ययन में पांच

१२. 'इह पुरुषस्य द्वावश अंगानि भवन्ति तद्यथा द्वौ पादौ, द्वे जघे, द्वे ऊरुणौ, द्वे गात्राळौ, द्वौ बाहु, प्रीया शिरस्य एवं श्रुतरूपस्यापि परम्पुरुषस्याचारादीनि द्वादशांगानि क्रमेण वेदितव्यानि तथा चोक्तम् -

'पायदुर्गं जंघोसं गायदुर्गळं तु यो यं बाहू

गीसा सिरं ष पुरितो भारतस अनेसु च पविट्टो'

श्रुतपुरुषस्यापि प्रविष्टमंगप्रविष्टम् अंगभावेन व्यवस्थिते श्रुतमंगे'

- अभिधानराजेंद्रकेश प्रबंधभाग पृ. ३८।

महाव्रतों की २५ भावनाओं को सांगोपांग व्याख्यायित कर जैन आचार की विशिष्टता को रेखांकित किया गया है।

इस प्रकार इस आगम का प्रथम श्रुतस्कंध भाषा शैली विषयवस्तु आदि की दृष्टि से प्रभु महावीर की वाणी के सर्वाधिक निकट प्रतीत होता है। इसकी शैली उपनिषदों की शैली से मिलती है। इसकी प्राचीनता असंदिग्ध है। यद्यपि द्वितीय श्रुतस्कंध परवर्ती है फिर भी विद्वानों के अनुसार इसका काल भी ई. पू. प्रथम या दूसरी शती से परवर्ती नहीं हो सकता।

२. सूत्रकृतांग

सूत्रकृतांग द्वितीय अंग आगम है। इसका वर्तमान में जो संस्करण उपलब्ध है, उसमें दो श्रुतस्कंध हैं — प्रथम श्रुतस्कंध में सोलह अध्ययन हैं और द्वितीय में सात अध्ययन हैं।

जो सूचक होता है उसे सूत्र कहा गया है। इस आगम में सूचनात्मक तत्त्व की प्रमुखता है। अतः इसका नाम सूत्रकृत है।

इसके प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्ययन में बन्ध के कारण की चर्चा करते हुए विभिन्न दार्शनिक मतों की चर्चा की गई है। दूसरा अध्ययन मुख्यतः वैराग्योत्पादक उपदेशों से युक्त है। तृतीय अध्ययन में अनुकूल एवं प्रतिकूल उपसर्गों की तथा चतुर्थ में स्त्री परीषह की चर्चा की गई है। पांचवें अध्ययन में नरक के दुखों का वर्णन है; छठे अध्ययन में भगवान महावीर की स्तुति की गई है (प्राकृत जैन-साहित्य में यह सबसे प्राचीन स्तुति है)। सातवें अध्ययन में चरित्रहीन व्यक्ति की दुर्दशा व आठवें अध्ययन में शुभ एवं अशुभ के स्वरूप का विवेचन है। नवें, दशवें एवं ग्यारहवें अध्ययन में क्रमशः धर्म मार्ग में स्थिरता, समाधि एवं मुक्ति के मार्ग का विवेचन किया गया है। बारहवें अध्ययन में क्रियावादी, अक्रियावादी, विनयवादी एवं अज्ञानवादी मतों का विवेचन है। तेरहवें, चौदहवें, पंद्रहवें में क्रमशः मुख्य रूप से साधु के कर्तव्य, परिग्रह, विवेक की दुर्लभता, संयम के सुपरिणाम आदि का वर्णन है। सोलहवें अध्ययन में श्रमण का सम्यक् स्वरूप बताया गया है।

द्वितीय श्रुतस्कंध के अध्ययनों में विभिन्न सम्प्रदायों के भिक्षुओं के आचार, कर्मबंध के त्रयोदश स्थान, निर्दोष भिक्षा की विधि, मूलगुण एवं उत्तर गुणों की विवेचना हुई है। साथ ही इस श्रुतस्कन्ध के अन्त में लोकमूढ मान्यताओं

का खण्डन, आर्द्रकुमार का दार्शनिक संवाद तथा गौतम स्वामी द्वारा नालंदा में दिये गये उपदेशों का वर्णन है।

सूत्रकृतांग की दार्शनिक चर्चायें महत्त्वपूर्ण हैं। इससे उस युग में प्रचलित विभिन्न दार्शनिक मत मतान्तरों की जानकारी मिलती है।

३. स्थानांग

तीसरा अंग आगम 'स्थानांग' है। स्थान शब्द अनेकार्थी है। विद्वानों की मान्यता है कि इसमें एक स्थान से लेकर दस स्थान तक जीव और पुद्गल की विविध अवस्थाओं का वर्णन है। अतः इसका नाम स्थानांग रखा गया है।

स्थानांग में संग्रहनय की अपेक्षा से जहां जीव में एकत्व का प्रतिपादन किया गया है, वहां दूसरी ओर व्यवहारनय की अपेक्षा से उसमें अनेकत्व का भी निरूपण हुआ है। संग्रहनय के अनुसार चेतना गुण की अपेक्षा से जीव एक है, परन्तु व्यवहारनय की दृष्टि से जीवों के अनेक भेद होते हैं। जैसे ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग अथवा सिद्ध या संसारी की अपेक्षा से उसके दो भेद किये गये हैं। ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य की अपेक्षा से जीवों के तीन भेद तथा चार गतियों में भ्रमण की अपेक्षा से चार भेद भी किये गये हैं। इसी प्रकार पांच इन्द्रियों की अपेक्षा से जीव पांच प्रकार के, जीवनिर्काय तथा लेश्याओं की अपेक्षा से जीव छः प्रकार के भी होते हैं। इसी क्रम में यहां जीवों को दस भागों में विभक्त किया गया है।

इसके प्रत्येक अध्ययन में अध्ययन की संख्या के अनुसार वस्तुओं का वर्णन भी किया गया है जैसे प्रथम अध्ययन में एक लोक, एक अलोक आदि। जिससे एक संख्या वाली वस्तु कौन कौन है, दो संख्या वाली वस्तु कौन कौन है, इसका बोध होता है।

हेतुवाद का निरूपण इस आगम की मुख्य विशेषता है।

४. समवायांग

समवायांग द्वादशांगी का चतुर्थ अंग है। आचार्य अभयदेवसूरि के अनुसार प्रस्तुत आगम में जीव, अजीव आदि पदार्थों का समवतार या विवेचन है। अतः इस आगम का नाम समवाय या समवाओ है।

समवायांग का वर्तमान में उपलब्ध परिमाण ग्रन्थाग्र १६६७ है। इसमें जीवादि समस्त तत्त्वों का द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की

दृष्टि से एक से लेकर कोटानुकोटि संख्या तक का परिचय दिया गया है। इसमें तीर्थंकर, गणधर, चक्रवर्ती और वासुदेव के वर्णन के साथ जैन भूगोल एवं खगोल की सामग्री भी संकलित है।

पं. दलसुख भाई मालवणिया के द्वारा स्थानांग एवं समवायांग के विषय को निम्न रूप से विभक्त किया गया है—

१. मोक्षमार्ग	२. तत्त्वज्ञान	३. गणितानुयोग
४. महापुरुष	५. संघव्यवस्था	६. पुरुष परीक्षा
७. विविध ^{१३}		

समवायांग की शैली भी स्थानांग की तरह संख्या प्रधान है। संभवतः विषयों की सरलता से खोज की जा सके इस हेतु से इनमें संख्या क्रम से कोश शैली में विषयों का निरूपण किया गया है।

स्थानांग एवं समवायांग जैसी कोश शैली वैदिक परम्परा के ग्रन्थ महाभारत के वनपर्व (अध्याय-१३४) एवं बौद्ध परम्परा के ग्रन्थ 'अंगुत्तर-निकाय' तथा 'पुगल पञ्जति' में भी उपलब्ध होती है।

समवायांग प्राकृत गद्य में लिखित है। किन्तु इसका जो अंश संग्रहणी सूत्रों से लिया गया है वह पद्य में है।

७. व्याख्या प्रज्ञप्ति (अभावती)

व्याख्याप्रज्ञप्ति पांचवा अंग है इसका प्राकृत नाम 'विवाहपण्णति' है। वृत्तिकार ने इसकी अनेक प्रकार से व्याख्या की है—

१. जिस ग्रन्थ में कथन का विविध रूपों में, प्रकृष्टतः निरूपण किया गया हो वह ग्रन्थ व्याख्या प्रज्ञप्ति है।

२. व्याख्या+प्रज्ञा+औप्ति - व्याख्या-कुशलता से, आप्त द्वारा प्राप्त ज्ञान जिस ग्रन्थ में है, वह व्याख्याप्रज्ञप्ति है।

'समवायांग' एवं 'नदीसूत्र' के अनुसार व्याख्याप्रज्ञप्ति में ३६००० प्रश्नों का समाधान है।

प्रस्तुत आगम के एक श्रुतस्कंध में एक सौ अड़तीस अध्ययन हैं जो शतक के नाम से विश्रुत है। उद्देशकों की संख्या १६२५ है।

१३ 'जैनगम स्वाध्याय' पृष्ठ ६३

- पं. दलसुख मालवणिया ।

प्रस्तुत आगम में ज्ञान के विविध आयामों का वर्णन है साथ ही दार्शनिक तथ्यों का गंभीर निरूपण भी किया गया है। अतः जनमानस की अत्यधिक श्रद्धा का विषय होने से इस जिनवाणी को 'भगवती' विशेषण से अंलकृत किया गया। आगे चलकर यह विशेषण, विशेषण न रहकर नाम के रूप में रूढ़ हो गया। वर्तमान में व्याख्याप्रज्ञप्ति की अपेक्षा 'भगवती' नाम अधिक प्रचलित है।

प्रस्तुत आगम में इक्कीस से तेइसवें अध्ययन तक वनस्पति का अद्भुत वर्गीकरण किया गया है। गणित की दृष्टि से पार्श्वसंतानीय गांगेय अणुगार के प्रश्नोत्तर महत्वपूर्ण हैं। इसमें वर्णित गर्भ-विज्ञान वर्तमान 'जेनेटिक इंजीनियरिंग' की दृष्टि से विशिष्ट महत्व रखता है। इस आगम के अध्ययन से एक तथ्य यह भी उभरता है कि उस युग में धार्मिक मान्यताओं में भिन्नता होते हुए भी धार्मिक कट्टरता का अभाव था। उपर्युक्त विशेषताओं के साथ इस आगम की एक प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें सर्वप्रथम नवकार महामंत्र को मंगलाचरण के रूप में लिपिबद्ध किया गया है।

इस आगम में गद्य शैली की प्रधानता होते हुए भी अंशात्मक रूप से पद्यभाग भी उपलब्ध है।

६. ज्ञाताधर्मकथा

यह छठा अंग आगम है। इसके नामकरण के सन्दर्भ में 'अभिधानराजेन्द्रकोश' में कहा गया है कि ज्ञात का अर्थ उदाहरण है। अतः जिसमें उदाहरण प्रधान धर्मकथायें हैं अथवा जिसके प्रथम श्रुतस्कन्ध में ज्ञात अर्थात् उदाहरण हैं तथा दूसरे श्रुतस्कन्ध में धर्मकथायें हैं वह 'ज्ञाताधर्मकथा' है।^{१४} डॉ. सागरमल जी जैन के अनुसार इसमें ज्ञातवंशीय महावीर द्वारा आख्यात कथारूपकों का संकलन होने से इसका नाम 'ज्ञाताधर्मकथा' है। दिगम्बरपरम्परा में इसका नाम 'णाहधम्मकथा' है। इसमें णाह (नाथ) शब्द से दिगम्बर मान्यतानुसार नाथवंशीय महावीर का ही बोध होता है।

यह आगम दो श्रुतस्कन्धों में विभक्त है, प्रथम श्रुतस्कन्ध में उन्नीस अध्ययन हैं तथा दूसरे में दसवर्ग हैं।

१४ 'आतन्नुवाहरानि तत्प्रधाना धर्मकथा अथवा ज्ञातानि ज्ञाताध्यानानि प्रथमश्रुतस्कन्धे धर्मकथा द्वितीये, यासु ग्रन्थपत्रविषु ता ज्ञाताधर्मकथा: ।
- 'अभिधानराजेन्द्रकोश, चतुर्थ भाग, पृष्ठ २००६ ।

प्रस्तुत आगम में दृष्टान्तों और कथाओं के माध्यम से तप, त्याग व संयम की प्रेरणा दी गई है। इसके प्रथम श्रुतस्कन्ध में मेघकुमार, धन्नासार्थवाह, शैलक राजर्षि, मल्लि, (मल्लिनाथ), जिनपालित, जिनरक्षित, नन्दमणियार, तेतलीपुत्र, द्रौपदी, चिलातिपुत्र—सुषमा, पुण्डरीक—कण्डरीक आदि की कथायें तथा अण्डे, कछुए, चन्द्रमा आदि के प्रेरक एवं रोचक दृष्टान्त हैं।

द्वितीय श्रुतस्कन्ध दस वर्गों में विभक्त है। इन वर्गों में प्रायः स्वर्ग के इन्द्रों की अग्रमहिषियों के रूप में उत्पन्न होने वाली साधना मार्ग से च्युत पार्ष्वसन्तानीय साधियों की कथायें हैं। इस द्वितीय श्रुतस्कन्ध को विद्वानों ने परवर्ती प्रक्षेप माना है।

७. उपासकदशांग

यह सातवां अंग आगम है। इसमें भ. महावीर के दस उपासकों का पवित्र चरित्र है। 'उपासक' शब्द का प्रयोग जैन गृहस्थ के लिये किया जाता है। यहां 'दशा' शब्द दस की संख्या का सूचक है, क्योंकि उपासकदशांग में दस उपासकों की कथायें वर्णित हैं। यदि दशा शब्द का अर्थ अवस्था करें तो इसमें उपासकों की अविरत, विरत एवं साधक अवस्थाओं का वर्णन होने से भी इसका उपासकदशा नाम सार्थक सिद्ध होता है। प्रस्तुत आगम में एक श्रुतस्कंध है जिसमें दस अध्ययन हैं। इसकी शैली गद्यात्मक है।

इसमें वर्णित दस श्रावकों के नाम क्रमशः आनन्द, कामदेव, चुलनीपिता, सुरादेव, चुलनीशतक, कुण्ड कोलिक, शकडालपुत्र, महाशतक, नन्दिनीपिता और सालिहीपिता हैं।

इसमें उपर्युक्त दस प्रमुख उपासकों की ऋद्धि, समृद्धि उनके व्रत ग्रहण एवं समाधिमरण की साधना तथा उस साधना में उपस्थित उपसर्गों पर विजय प्राप्त करने का निर्देश है।

गृहस्थाचार का मुख्यरूप से विवेचन करने वाला यह एक मात्र आगम ग्रन्थ है। अन्य आगमों में जहां साध्वाचार के निरूपण की प्रमुखता है वहां इस आगमग्रन्थ में एकमात्र गृहस्थाचार का सुन्दर निरूपण किया गया है।

८. अन्तकृतदशांग

आठवाँ अंग आगम अन्तकृतदशा (अन्तगडदसा) है। केवलज्ञान प्राप्ति के साथ ही जो साधक संसार (जन्म मरण की परम्परा) का अन्त कर लेते हैं वे अन्तकृत कहलाते हैं। इसमें अन्तकृत साधकों की जीवनगाथा का वर्णन होने से इस आगम का नाम अन्तकृतदशांग है।

इस आगम में एक श्रुतस्कंध के आठ वर्ग में ६० (प्रच. किरणावली के अनुसार ६२) अध्ययन हैं। वर्तमान में इसका परिमाण ६०० ग्रन्थाग्र है।

प्रथम वर्ग में द्वारिका नगरी का वृत्तांत कहकर श्रीकृष्ण वासुदेव की रानियों एवं पुत्रों की संख्या का वर्णन किया गया है तथा अंधकवृष्णि राजा की धारिणी रानी के दस पुत्रों द्वारा नेमिनाथ प्रभु के पास दीक्षा लेकर बारह भिक्षुप्रतिमा का पालन करते हुए गुणसंवत्सर तप की आराधना कर अनशन पूर्वक शत्रुंजय गिरि पर मोक्ष जाने का वर्णन है। द्वितीय वर्ग में अंधकवृष्णि कुल के दूसरे आठ राजकुमारों की दीक्षा, आराधना एवं अनशनपूर्वक सिद्धि गमन का वर्णन है।

तृतीय वर्ग के प्रथम अध्ययन में अणियसकुमार, दूसरे से सातवें में देवकीरानी के छह पुत्रों, आठवें में गजसुकुमाल, ९, १०, ११ वें में बलदेव (कृष्ण के ज्येष्ठ भ्राता) के तीन पुत्रों एवं १२ व १३ वें में वसुदेव की धारिणी रानी के दो पुत्रों के दीक्षाग्रहण एवं आराधनापूर्वक मोक्षगमन का उल्लेख है।

चतुर्थ वर्ग में जालि मयालि आदि दस राजकुमारों की मुक्ति का विवरण है। पांचवें वर्ग में कृष्ण की आठ रानियों तथा शाम्बकुमार की दो रानियों की दीक्षा और उनके शत्रुंजय पर मोक्ष गमन का वर्णन है। इसमें दारुअग्नि एवं दीपायन द्वारा द्वारिका के नाश का उल्लेख भी है।

छठे वर्ग में अंतकृतकेवली सोलह राजकुमारों का वर्णन है। इसी में बालमुनि, अतिमुक्तकुमार के सहज बालभाव एवं साधना का भी वर्णन है।

सातवें वर्ग में श्रेणिक महाराजा की तेरह रानियों एवं आठवें वर्ग में श्रेणिक महाराजा की दस रानियों की दीक्षा आदि का विवेचन है।

यह आगम भौतिकता पर आध्यात्मिकता की विजय का संदेश देता है। साथ ही रत्नावली, कनकावली आदि उत्कृष्ट तपश्चर्याओं का उल्लेख भी इसकी विशेषता को प्रकट करते हैं।

९. अनुत्तरोपपातिकदशा

द्वादशांगी का नौवां अंग अनुत्तरोपपातिक दशा है। इसके दस अध्ययनों में उत्कृष्ट चारित्र पालन कर अनुत्तर विमानवासीदेव बनने वाले मुनिवरो का वर्णन है। अतः इसका नाम 'अनुत्तरोपपातिक दशा अन्वर्थक' है।

प्रस्तुत आगम में एक श्रुतरस्कन्ध, तीन, वर्ग एवं तैंतीस अध्ययन हैं। इसकी शैली गद्यात्मक एवं भाषा महाराष्ट्री प्रभावित अर्धमागधी है।

प्रथम वर्ग में जाली मयालि आदि दस राजकुमारों, द्वितीय वर्ग में दीर्घसेन, महासेन आदि तेरह राजकुमारों एवं तृतीय वर्ग में धन्यकुमार, सुनक्षत्र कुमार आदि दस कुमारों के द्वारा अपूर्व भौतिक सम्बन्ध का त्याग कर वैराग्यपथ पर अग्रसर होने का वर्णन है।

इस प्रकार कुल तैंतीस कुमार उत्कृष्ट तप, त्याग और संयम की आराधना कर अनुत्तरविमान नामक देवलोक के देव हुए। वहां से अपनी आयु पूर्ण कर मानवभव के द्वारा मुक्ति को प्राप्त करेंगे।

इस आगम में महावीरकालीन इन कुमारों की आध्यात्मिक साधना के साथ साथ तत्कालीन सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों पर भी प्रकाश डाला गया है।

१०. प्रश्नव्याकरण

'प्रश्नव्याकरण' (पण्हावागरण) दसवां अंग आगम है। प्राचीन आगम स्थानांगसूत्र के अनुसार इसमें ऋषिभाषित, आचार्यभाषित और महावीरभाषित दस अध्ययनों के होने का उल्लेख है। समवायांग और नन्दीसूत्र के निर्देशानुसार इसमें निमित्तशास्त्र सम्बन्धी प्रश्नोत्तर हैं, किन्तु प्रश्नव्याकरणसूत्र के वर्तमान संस्करण में इसके दस अध्ययनों के रूप में पांच आश्रव द्वारों एवं पांच संवरद्वारों की चर्चा मिलती है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि कालक्रम में प्रश्नव्याकरणसूत्र की विषयवस्तु में परिवर्तन होता रहा। प्रश्नव्याकरणसूत्र के पांच आश्रवद्वारों एवं पांच संवरद्वारों की चर्चा हमें सर्वप्रथम नन्दीचूर्णि में उपलब्ध होती है।

आश्रवद्वारों के रूप में इसमें हिंसा, असत्य, स्तेय, अब्रह्मचर्य एवं परिग्रह का विस्तृत विवेचन किया गया है एवं यह भी बताया गया है कि इन आश्रवद्वारों के सेवन से जीव को किस प्रकार की दुर्गति प्राप्त होती है।

पांच संवरद्वारों की चर्चा करते हुए इसमें अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की विस्तृत चर्चा की गई है। इसमें अहिंसा आदि के विभिन्न नामों और उनकी सार्थकता का भी उल्लेख है। प्रस्तुत आगम में अहिंसा के ६० नामों की चर्चा करते हुए उसके स्वरूप को व्यापक रूप से स्पष्ट किया गया है।

इसकी प्राकृत भाषा प्रांजल, विशेषणों से भरपूर तथा गद्यात्मक है। डॉ. सागरमल जैन की यह मान्यता है कि इस आगम की प्राचीन विषयवस्तु उपलब्ध, 'ऋषिभाषित' और 'उत्तराध्ययनसूत्र' का सम्मिलित रूप है। इस सन्दर्भ में उन्होंने अपने कुछ तर्क एवं प्रमाण प्रस्तुत किये हैं जो विद्वानों के लिये विचारणीय हैं। जिसकी चर्चा 'उत्तराध्ययनसूत्र की विषयवस्तु' के सन्दर्भ में इस ग्रन्थ के द्वितीय अध्याय में उपलब्ध है।

११. विपाकसूत्र

यह द्वादशांगी का ग्यारहवां अंग है। उपलब्ध अंग आगमों में यह अंतिम अंग आगम है। विपाक का अर्थ शुभ एवं अशुभ कर्मों का उदय (अनुभव) है। इसमें पुण्य एवं पाप कर्मों के विपाक (उदय) का वर्णन होने से इसका नाम विपाकसूत्र रखा गया है।^{१५}

प्रस्तुत आगम में दो श्रुतस्कन्ध एवं बीस अध्ययन हैं, वर्तमान में यह १२१६ ग्रन्थांग परिमाण है।

प्रथम श्रुतस्कन्ध के दस अध्ययनों में क्रमशः मृगापुत्र, उज्जितकुमार, अभागसेन, शकट, बृहस्पतिदत्त, नंदीवर्धन, उदुम्बरदत्त, शौर्यदत्त, देवदत्ता और अंजुश्री की कथाएँ हैं। इन कथाओं में यह बतलाया गया है कि इन लोगों ने पूर्व भव में कैसे कैसे पापकर्मों का उपार्जन किया जिसके परिणामस्वरूप उन्हें दुःखी होना पड़ा। पाप करते समय तो जीव अज्ञानतावश प्रसन्न होता है, किन्तु उसका

१५ (क) 'समवायंग' प्रकीर्णक समवाय, सूत्र ६६

(ख) 'मन्दीसूत्र' ६१

(ग) कसापपाहुड भाग १ - पृष्ठ १३२;

(घ) 'तत्त्वार्थसूत्र' - १/२०।

- 'अगमुत्तापि' ताडनू खण्ड १ पृष्ठ ६२२ ;

- 'नवमुत्तापि' ताडनू पृष्ठ २७५ ;

परिणाम (विपाक) कितना दुःखद होता है इसका विशद वर्णन इस श्रुतस्कन्ध में किया गया है।

‘स्थानांगसूत्र’ में कर्मविपाक के मृगापुत्र, गोत्रास, अण्डशकट, माहन, नन्दीसेन, शौरिक, उदुम्बर, सहसोद्दाह, आमलक और कुमार लिच्छवी, ये दस अध्ययन बतलाये हैं।^{१६} जो वर्तमान संस्करण में उपलब्ध नामों से भिन्न हैं।

पंडित बेचरदास डोशी ने स्थानांग में वर्णित नामों के साथ वर्तमान में उपलब्ध संस्करण के नामों का समन्वय किया है। वह इस प्रकार है -

गौत्राश, उज्जितक के अन्य भव का नाम है। ‘अण्डनाम’ अभग्गसेन ने पूर्व भव में जो अण्डे का व्यापार किया था, उसका सूचक ‘होना’ चाहिये। ‘माहन’ (ब्राह्मण) नाम का सम्बन्ध बृहस्पतिदत्त पुरोहित से हो सकता है। ‘नन्दीसेन’ का नाम नन्दीवर्धन के लिये प्रयुक्त हुआ है। सहसोद्दाह-आमलक का सम्बन्ध राजा की माता को तप्तशलाका से मारने वाली देवदत्ता के साथ मिलता है। कुमार लिच्छवी के स्थान पर अंजुश्री नाम आया है, अंजु का जीव अपने अंतिम भव में किसी सेठ के यहां पुत्र रूप में उत्पन्न होगा इस कारण से सम्भव है कि लिच्छवी का सम्बन्ध लिच्छवी वंश विशेष से है।^{१७}

द्वितीय श्रुतस्कन्ध में सुबाहु, भद्रनन्दी आदि दस कथाओं के माध्यम से पुण्यफल का निरूपण किया है। इन व्यक्तियों ने पूर्वभव में सुपात्रदान आदि शुभ कार्य किये, जिनके फलस्वरूप इन्हें अपार ऋद्धि की प्राप्ति हुई।

कर्म सिद्धान्त जैनदर्शन का आधारभूत सिद्धान्त है। प्रस्तुत आगम में उदाहरणों के माध्यम से इस सिद्धान्त का सुन्दर वर्णन किया गया है।

१२. दृष्टिवाद

दृष्टिवाद बारहवां अंग आगम है। इसमें संसार के सभी दर्शनों एवं नयों का निरूपण किया गया है। ‘दृष्टिपात’ तथा ‘भूतवाद’ इसके अपर नाम हैं।

१६ ‘स्थानांगसूत्र’ - १०/१११

- (‘अंगसुत्ताणि’ लाडनू ‘खण्ड १ पृष्ठ ८१३)।

१७ ‘जैन साहित्य का बृहद् इतिहास’ प्रथम भाग - पृष्ठ २८१।

'दृष्टिपात' में पात शब्द का अर्थ 'समावेश' है अर्थात् सभी नयों, दृष्टियों या दर्शनों के अभिप्राय जिसमें समाविष्ट हैं, वह दृष्टिपात है।

यह बारहवां अंग आचार्य भद्रबाहु के पश्चात् लुप्त हो गया। अतः इसके विषय का विवरण नन्दीसूत्र के आधार पर दिया जा रहा है। सभी नयों की दृष्टियों से कथन करने वाला तथा जिसमें समस्त भावों की प्ररूपणा हो वह सूत्र दृष्टिवाद है। इसके पांच विभाग हैं - १. परिकर्मसूत्र २. सूत्र ३. पूर्वगत ४. अनुयोग और ५. चूलिका।^{१८}

इसका मूल प्रतिपाद्य लिपिविज्ञान, गणितविद्या, छिन्नछेदनय, अछिन्नछेदनय चतुर्नय, चौदहपूर्वों का संक्षिप्त विवेचन, अर्हत, चक्रवर्ती आदि का जीवनचरित्र तथा अंत में मंत्र-तंत्र आदि का विवरण था।

विशेषावश्यकभाष्य की ५५१वीं गाथा में कहा गया है कि दृष्टिवाद में सारे पदार्थों का वर्णन किया गया है। इस प्रकार सिद्ध होता है कि दृष्टिवाद में सभी दर्शनों का समावेश था। अतः जैन आगमों में यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ था।

उपांग आगम

अंगों की तरह उपांगों की संख्या भी बारह ही है। प्राचीन समय में उपांगों की गणना अंगबाह्य या अंगप्रविष्ट ग्रन्थों में की जाती थी।^{१९} तेरहवीं शती के बाद ही उपांग शब्द का उल्लेख प्राप्त होता है।

शाब्दिक अर्थ में 'उपांग' शब्द अंग से सम्बन्धित प्रतीत होता है किन्तु विषयवस्तु आदि की दृष्टि से उपांगों की अंगों के साथ कोई संगति नहीं बैठती है।

आगम पुरुष की कल्पना में अंगशास्त्रों के समान ही उपांगों के स्थान भी कल्पित किये गये हैं। इन उपांगों की विषय वस्तु निम्न रूप से वर्णित की जा रही है-

^{१८} 'से किं तं विद्विवाए ? विद्विवाए णं सत्त्वावपररूपणा आद्यदिग्गइ से समासओ पंचविहे, पण्णने तं जण -

१. परिक्रम्ये, २. सुताई, ३. पुव्वगए, ४. अनुओगे, ५. चूलिया ।' - नन्दीसूत्र ६२ (नवसुत्ताणि कडनू पृष्ठ २७४) ।

^{१९} 'नन्दीसूत्र' - पृ. - ६०

- (उद्धृत 'प्रकीर्णक साहित्य : मनन और मीमांसा' पृष्ठ ६२) ।

१. औपपातिक

प्रथम उपांग उववाइयं (औपपातिक) सूत्र है। उपपात का अर्थ प्रादुर्भाव या जन्मान्तर संक्रमण है। उपपात शब्द उर्ध्वगमन या सिद्धिगमन के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है। अभिधानराजेन्द्रकोश के अनुसार इस अंग में नरक एवं स्वर्ग में उत्पन्न होने वाले तथा सिद्धि प्राप्त करने वाले जीवों का वर्णन है; इसलिए यह उपांग औपपातिक नाम से विख्यात है।^{२०}

इसके दो अध्याय हैं, जिसमें प्रथम का नाम समवसरण और द्वितीय का उपपात है। इसके वर्णित विषय को तीन अधिकारों में बांटा गया है -

१. समवसरणाधिकार २. औपपातिकाधिकार और ३. सिद्धाधिकार।

समवसरणाधिकार में नगर, उद्यान, वृक्ष, राज्य आदि का वर्णन किया गया है। इसमें भगवान के गुणों, उपदेशों के वर्णन के साथ समवसरण की रचन का भी सजीव चित्रण है।

औपपातिकाधिकार में विभिन्न परिणामों, विचारों, भावनाओं तथा साधन करने वाले जीवों का पुनर्जन्म किस प्रकार का होता है; इसका वर्णन है।

सिद्धाधिकार में केवलीसमुद्घात, सिद्धों के स्वरूप एवं सिद्धों के सुख आदि का उल्लेख किया गया है।

प्रस्तुत आगम का प्रारंभिक भाग गद्यात्मक एवं अंतिम भाग पद्यात्मक है तथा मध्य में गद्यपद्य का सम्मिश्रण है। फिर भी प्रमुख रूप से यह गद्यात्मक ही है।

इसमें राजनैतिक एवं सामाजिक तथ्यों के साथ ही धार्मिक, दार्शनिक एवं सांस्कृतिक तथ्यों का भी विशद विवेचन किया गया है।

२. राजप्रश्नीय

रायपसेणीय या राजप्रश्नीय द्वितीय उपांग है; नन्दीसूत्र के अनुसार इसका नाम रायपसेणीय है।

२० 'उपपत्तनमुपपातो देवनारकजन्मसिद्धिगमनं तदधिकृतमध्ययननौपपातिकमिदं घोषांगं वर्तते।'

- 'अभिधानराजेन्द्रकोश', तृतीय भाग, पृष्ठ १००।

सिद्धसेनगणि, एवं मुनिचन्द्रसूरि द्वारा क्रमशः उल्लिखित प्रसेनकीय तथा राजप्रसेनजित के आधार पर पं. बेचरदास दोशी ने इसका नाम रायपसेणइय रखा है।^{२१} प्रस्तुत आगम दो भागों में विभक्त है—

प्रथम विभाग में भगवान महावीर के समवसरण में सूर्याभदेव के उपस्थित होने पर गौतमस्वामी उसके विषय में प्रभु से प्रश्न पूछते हैं। उत्तर में भगवान सूर्याभदेव के पूर्वभव को बतलाते हुए कहते हैं कि यह पूर्व भव में राजा परदेशी था, इसका उल्लेख है।

द्वितीय विभाग में राजा परदेशी के वृत्तान्त का उल्लेख किया गया है। राजा परदेशी अनात्मवादी, अपुनर्जन्मवादी तथा जड़वादी दृष्टिकोण को लेकर केशीश्रमण के समक्ष अनेक प्रश्न प्रस्तुत करता है। श्रमण केशीकुमार न्याय एवं युक्तिपूर्वक उसका समाधान देते हैं। तब राजा श्रावक धर्म को अंगीकार करता है अन्त में पत्नी के द्वारा भोजन में विष खिला देने पर समभाव पूर्वक आमरण अनशन स्वीकार करता है।

आत्मवाद एवं जड़वाद की प्राचीन धारणा को जानने के लिए यह आगम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

इस आगम के नाम का सीधा सम्बन्ध तो राजा प्रसेनजित् से है, पर वर्तमान में उपलब्ध कथानक को राजा प्रसेनजित् से जोड़ना तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता। यह सारा कथाक्रम कैसे परिवर्तित हुआ यह विद्वानों के लिए अन्वेषणीय है।

यह आगम सांस्कृतिक दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है, इसमें बत्तीस प्रकार के नाटकों तथा सप्त स्वरो का उल्लेख किया गया है। लेखनकला, शिल्पकला के साथ साम, दाम एवं दण्ड आदि तीन नीतियों का भी निरूपण किया गया है। इससे भगवान पार्श्वनाथ की परम्परा सम्बन्धी अनेक जानकारियाँ प्राप्त होती हैं।

इस आगम का यही कथानक बौद्ध 'त्रिपिटक' में दीर्घनिकाय के पयासीसुत्त में उपलब्ध होता है।^{२२}

२१ 'जैन साहित्य का बृहद् इतिहास' भाग-२ पृष्ठ २७।

२२ वैश्विपे - दीर्घनिकाय, पयासीसुत्त।

३. जीवाजीवाभिगम

प्रस्तुत आगम का नाम 'जीवाजीवाभिगम' है। इसमें भगवान महावीर और गौतम गणधर के प्रश्नोत्तरों के माध्यम से जीव और अजीव इन दो मूलभूत तत्त्वों के स्वरूप का प्रतिपादन है। अतः इसका नाम जीवाजीवाभिगम (जीव + अजीव + अभिगम अर्थात् ज्ञान) अर्थात् जीव और अजीव का ज्ञान है।

प्रस्तुत आगम में एक अध्ययन नौ प्रतिपत्ति, -२७२ गद्यसूत्र और ८१ गाथायें हैं।

यद्यपि इस आगम का प्रतिपाद्य जीव एवं अजीव का स्वरूप है तथापि इसमें अवान्तर विषय भी विपुल मात्रा में उपलब्ध होते हैं। जैसे सागरों, द्वीपों, सोलह प्रकार के रत्नों, विविध अस्त्र-शस्त्रों, विविध प्रकार के यानों, कल्पवृक्ष, पात्रों, भवनों, वस्त्रों तथा ग्राम नगर, राजा आदि की चर्चा की गई है। इसमें त्यौहारों और उत्सवों का भी वर्णन है।

पुष्करिणी, कदलीघर, प्रसाधनघर आदि का भी इसमें सरस एवं साहित्यिक वर्णन है। इस प्रकार इसमें भारतीय समाज और संस्कृति के बारे में विस्तृत जानकारी उपलब्ध होती है। स्थापत्य कला की दृष्टि से पद्मवरवेदिका और विजयद्वार का वर्णन बहुत महत्त्वपूर्ण है। फिर भी इसका मूल प्रतिपाद्य तो जीव और अजीव तत्त्व ही है। इसमें जीवों की विभिन्न स्थितियों का तथा उनके अल्पबहुत्व आदि का विस्तृत विवेचन है।

४. प्रज्ञापना

चतुर्थ उपांग का नाम प्रज्ञापना (पण्णवणा) है। जिसका अर्थ है प्रकर्ष रूप से ज्ञापन (प्रतिपादन) अथवा प्रकर्ष रूप से ज्ञान का आस्वादन है।

प्रस्तुत सूत्र के रचयिता श्यामाचार्य ने इसका सामान्य नाम 'अध्ययन एवं विशेष नाम प्रज्ञापना दिया है।^{२३} जैसे अंगों में भगवतीसूत्र सबसे बड़ा है, वैसे ही उपांगों में प्रज्ञापना सबसे बड़ा है। इसमें छत्तीस पद अर्थात् अध्याय हैं। यह भी प्रश्नोत्तर शैली में है। इसमें जीव, अजीव, आश्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष का प्ररूपण है। पहले, तीसरे, पांचवे, दसवें एवं तेरहवें पद में जीव और अजीव की विवेचना है। सोलहवें एवं बावीसवें पद में मन, वचन और काया योग तथा आश्रव का एवं तेवीसवें पद में बन्ध का प्रतिपादन है। छत्तीसवें पद में केवलीसमुद्घात को

२३ 'प्रज्ञापना' गाथा २ व ३।

- ('अव्ययसुताषि', लाडनू खण्ड २, पृष्ठ ३)।

स्पष्ट करते हुए संवर निर्जरा एवं मोक्ष का वर्णन किया गया है। शेष पदों में भाषा, लेश्या, समाधि एवं लोकस्वरूप का प्रतिपादन है।

प्रज्ञापना के रचयिता श्यामाचार्य ने इसे दृष्टिवाद से उद्धृत माना है,²⁴ आचार्य मलयगिरि²⁵ इसे 'समवायांग' का तथा आचार्य तुलसी²⁶ इसे भगवती का उपांग मानते हैं।

५. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति

प्रस्तुत आगम का नाम जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति (जम्बुद्वीवपण्णत्ति) है। प्रज्ञप्ति का अर्थ है निरूपण। इसमें जम्बूद्वीप के स्वरूप का निरूपण है, इसलिए इसका नाम 'जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति' है।

प्रस्तुत आगम सात अध्यायों में विभक्त है। इन अध्यायों को वक्षस्कार कहा गया है। उनके विषय हैं—

- १) जम्बूद्वीप।
- २) कालचक्र और ऋषभ चरित्र।
- ३) भरत चरित्र।
- ४) जम्बूद्वीप का विस्तृत वर्णन।
- ५) तीर्थकरों का जन्माभिषेक।
- ६) जम्बूद्वीप की भौगोलिक स्थिति।
- ७) ज्योतिष चक्र।

इसका मुख्य प्रतिपाद्य तो जम्बूद्वीप का वर्णन है किन्तु इसके अवान्तर विषयों में भगवान ऋषभ, कुलकर, भरत चक्रवर्ती, कालचक्र, सौरमण्डल आदि अनेक विषयों का भी उल्लेख है। साथ ही इसमें चक्रवर्ती के चौदह रत्नों और नौ निधियों का भी प्रसंगानुकूल वर्णन हुआ है।

इसमें कालचक्र का सूक्ष्म एवं गंभीर वर्णन करते हुए वर्तमान अवसर्पिणी के छठे आरे का अत्यंत रोमांचक वर्णन है। प्रलय संबंधी भविष्यवाणियों इसमें उपलब्ध हैं। जिससे अणुयुद्ध की विभीषिका का एक प्रतिबिम्ब हमारे सामने आ जाता है।

२४ 'प्रज्ञापना' भाषा ३।

२५ 'प्रज्ञापना' टीका पत्र १

- ('उद्वेगसुतापि', लाडनू खण्ड २. पृष्ठ ३)।

- (उद्धृत - 'जैन आगम साहित्य : मनन और मीमांसा' पृष्ठ २२८)।

२६ 'उद्वेगसुतापि' खण्ड २. श्लोक पृष्ठ ३०

- आचार्य तुलसी।

युगलिक अवस्था की समाप्ति और समाज एवं राज्य व्यवस्था के प्रारम्भ होने के विवरण के साथ इसमें भगवान ऋषभदेव के जीवन प्रसंगों का भी विस्तृत वर्णन किया गया है।

६. सूर्यप्रज्ञप्ति

सूर्यप्रज्ञप्ति (सूर्यपण्णति) को छठा उपांग माना जाता है। सूर्यप्रज्ञप्ति में सूर्य आदि ज्योतिष्क-चक्र का वर्णन है।

इस ग्रन्थ में बीस प्राभृत हैं^{२७}। उपलब्ध मूल पाठ २२०० श्लोक परिमाण है। इसमें ज्योतिष सम्बन्धी मूल मान्यताओं का संकलन किया गया है, इसमें वर्णित नक्षत्रों के गोत्र आदि मुहूर्त शास्त्र का आधार है।

पाश्चात्य विद्वान विण्टरनित्स आदि इसे गणित, ज्योतिष तथा खगोल विज्ञान की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ मानते हैं। डॉ. शुब्रिंग (हेमबर्ग यूनिवर्सिटी जर्मनी) ने अपने भाषण में कहा है कि जैन विचारकों ने जिन तर्कसम्मत एवं सुसंगत सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया है, वे आधुनिक विज्ञानवेत्ताओं की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण हैं। इसमें विश्व के स्वरूप के साथ-साथ ग्रह, नक्षत्र, चन्द्र, सूर्य आदि की गति पर गहराई से विचार किया गया है। वस्तुतः सूर्यप्रज्ञप्ति के अध्ययन के बिना भारतीय ज्योतिष के इतिहास को सही रूप से नहीं समझा जा सकता।^{२८} इस प्रकार यह आगम भारतीय वाङ्मय का अपूर्वग्रन्थ प्रतीत होता है।

७. चन्द्रप्रज्ञप्ति

चन्द्रप्रज्ञप्ति (चंद्रपण्णति) सातवां उपांग है। इसके नाम से प्रतीत होता है कि इसमें चन्द्रमा से सम्बन्धित वर्णन होगा; किन्तु मंगलाचरणरूप तथा बीस प्राभृतों का संक्षेप में वर्णन करने वाली अठारह गाथाओं के अतिरिक्त इस ग्रन्थ की सामग्री 'सूर्यप्रज्ञप्ति' से अक्षरशः मिलती है। इस आधार पर कुछ विद्वानों की मान्यता है कि मूलतः यह एक ही ग्रन्थ था और इसका नाम सूर्य-चन्द्र प्रज्ञप्ति

२७ (क) 'गुरु के द्वारा शिष्यों को देश और काल की उचितता के साथ जो ग्रन्थ सारणियां दी जाती हैं; उन्हें प्राभृत कहा जाता है।'

- 'अभिधानतज्जेन्द्रकोश', पंचम भाग पृष्ठ ६१४।

(ख) 'सम्युक्त शास्त्र के भिन्न भिन्न भाग प्राभृत कहलाते हैं।'

- जैनप्रवचनकिरणवलि पृष्ठ ३६८।

२८. He who has a thorough knowledge of the structure of the world cannot but admire the inward logic and harmony of Jain ideas. Hand in hand with the refined cosmographical ideas goes a high standard of astronomy and mathematics. A history of Indian Astronomy is not conceivable without the famous Surya Pragyapti. Dr. Schubring. (उद्धृत 'जैन आगम साहित्य' पृष्ठ २६४ - आचार्य देवेन्द्र मुनि।)

होगा। कालान्तर में बारह उपांगों की संख्या की पूर्ति करने हेतु इसे विभाजित कर दिया गया।

स्थानांगसूत्र में 'सूर्यप्रज्ञप्ति', 'जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति' तथा 'द्वीपसागरप्रज्ञप्ति' के साथ-साथ 'चन्द्रप्रज्ञप्ति' को भी अंगबाह्य चार प्रज्ञप्तियों में उल्लेखित किया गया है।²⁹ नन्दीसूत्र में तो चन्द्रप्रज्ञप्ति को कालिक और सूर्यप्रज्ञप्ति को उत्कालिक बतलाया गया है।³⁰ वर्ण्य विषय एक होने पर भी इनका दो ग्रन्थों में विभक्त होने का आधार क्या है, यह अन्वेषण का विषय है।

मुनि नगराजजी ने अपनी पुस्तक 'जैनागम दिग्दर्शन' में इस सन्दर्भ में एक सम्यक् समाधान प्रस्तुत किया है; जिसका संक्षेप में आशय यह है कि शब्द अनेकार्थक होते हैं अतः यह भी संभव है कि इनकी शब्दावली एक होने पर भी भाव अभीष्ट ग्रन्थानुसार हो।³¹ आचार्य देवेन्द्रमुनि ने चन्द्रप्रज्ञप्ति और सूर्यप्रज्ञप्ति में समानता प्रतिपादित करते हुए भी चन्द्रप्रज्ञप्ति की नौ विशेषताएं बतलायी हैं।³²

इस प्रकार यह ग्रन्थ भी ज्योतिष विज्ञान की दृष्टि से अति महत्त्वपूर्ण है।

८. निरयावलीका

निरयावलीका—श्रुतस्कन्ध के अन्तर्गत पांच उपांगों का समावेश किया गया है, जो इस प्रकार हैं—

१. कल्पिका (निरयावलीका)
२. कल्पावर्तसिका (कप्पवडसिया)
३. पुष्पिका (पुष्पिया)
४. पुष्पचूलिका (पुष्पचूलिया)
५. वण्हि दशा (वृष्णिदशा)

विद्वानों के अनुसार ये पांचों उपांग पहले निरयावलीका के नाम से ही प्रसिद्ध थे। किन्तु बाद में बारह उपांगों का बारह अंगों से सम्बन्ध स्थापित करने पर इनकी गणना पृथक की जाने लगी।

२९ 'स्थानांगसूत्र' ४/२/१८६

३० 'नन्दीसूत्र' ७७, ७८

३१ 'जैनागमदिग्दर्शन' पृष्ठ ६६ से १०२

३२ 'जैन आगम साहित्य : मनन और मीमांसा' पृष्ठ २७०

- (अमसुताणि' लाडनूँ खण्ड १ पृष्ठ ६१३)।

- (नवसुताणि' लडनूँ पृष्ठ २६७)।

- मुनि नगराजजी।

- देवेन्द्रमुनि।

निरयावलिका (निरयावलिया) का दूसरा नाम कल्पिका भी है। इसमें नरक में जाने वाले जीवों का वर्णन किया गया है।

इसके दस अध्ययन हैं; जिनमें क्रमशः श्रेणिक महाराजा के दस पुत्र सुकाल, महाकाल, कण्ह, सुकण्ह, महाकण्ह, वीरकण्ह, रामकण्ह, पिउसेनकण्ह, और महासेनकण्ह का वर्णन है।

इसमें महाराजा चेटक एवं कोणिक के युद्ध का भी विवरण दिया गया है। इस युद्ध का उल्लेख 'भगवतीसूत्र'^{३३} एवं 'आवश्यकचूर्ण'^{३४} में भी मिलता है।

श्रावक को भी कभी आत्मरक्षा हेतु युद्ध करना पड़ता है, फिर भी आगम में युद्ध जन्य हिंसा को अहिंसा न मानकर हिंसा ही माना गया है। इसे विरोधजा हिंसा कहा जाता है। अपरिहार्य स्थिति होने पर श्रावक को आत्मरक्षा या आत्मीयजनों की रक्षा के निमित्त ऐसी हिंसा करना पड़ती है। फिर भी इसे कर्मबन्ध का कारण माना गया है।

इस आगम में कोणिक का रानी खेलना के गर्भ में आना, खेलना का बीभत्स दोहद, दोहद की पूर्ति, कोणिक द्वारा पिता (श्रेणिक) को जेल में डालना तथा श्रेणिक की मृत्यु आदि का भी विस्तृत वर्णन किया गया है।

९. कल्पावतंसिका

कल्प अर्थात् देवलोक, अवतंसिका अर्थात् निवास करने वाले। इस प्रकार देवलोक में निवास करने वाले जीवों का वर्णन होने से इसका नाम कल्पावतंसिका रखा गया है। इसमें धर्म की आराधना करने वाले श्रेणिक के दस पौत्रों की सद्गति का वर्णन है। उनके नाम इस प्रकार हैं - पद्म, महापद्म, सुभद्र, पद्मभद्र, पद्मसेन, पद्मगुल्म, नलिनीगुल्म, आनंद और नंदन।

इस प्रकार इसमें जीवन-विकास की प्रक्रिया पर प्रकाश डाला गया है। पहले वर्ग में श्रेणिक के कालकुमार आदि दस पुत्र कषाय के वश होकर नरकगामी बनते हैं, वहीं श्रेणिक के पौत्र तथा उपर्युक्त दस कुमारों के दस पुत्र संयम ग्रहण कर कषायों पर विजय प्राप्त करके देवगति को प्राप्त करते

३३ 'भगवतीसूत्र' ७/६/१७३ - २१०

३४ 'आवश्यकचूर्ण', भाग २ पृष्ठ १७४

- ('अंगसुताणि' खण्ड २ पृष्ठ ३०१ - ३०८)।

- (उद्धृत 'उर्वंगसुताणि' खण्ड २, भूमिका पृष्ठ ३६)।

हैं। इससे शिक्षा मिलती है कि उत्थान एवं पतन व्यक्ति के स्वयं के कर्मों पर आधारित है। मानव साधना से देव या सिद्ध भी बन सकता है, और विराधना से नारकगामी भी।

१०. पुष्पिका

पुष्पिका नामक इस तीसरे वर्ग के दस अध्ययनों में चन्द्र, सूर्य, शुक्र, बहुपुत्रिका देवी, पूर्णभद्र, मणिभद्र, दत्त, शिव, बल और अनादृष्टि की कथायें हैं। ये सब देव हैं। प्रभु महावीर के समवसरण में उपस्थित होकर इन्होंने विविध प्रकार के नाटक आदि द्वारा प्रभु की भक्ति की थी। उनकी विशिष्ट ऋद्धि देखकर गौतमस्वामी ने भगवान् से प्रश्न किया कि इनको यह ऋद्धि कैसे मिली? तब भगवान् ने बताया कि इन्होंने अपने पूर्व भव में दीक्षा ली थी, किन्तु फिर ये विराधक हो गये इस कारण देवयोनि में उत्पन्न हुए हैं। वहाँ से च्यवकर ये महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेंगे और संयम स्वीकार कर मोक्ष प्राप्त करेंगे।

इस प्रकार तीसरे वर्ग में सम्यक्त्व की आराधना और विराधना के फल का सुन्दर प्रतिपादन है। इसमें पुनर्जन्म और कर्मसिद्धान्त का समर्थन सर्वत्र मुखरित हो रहा है।

११. पुष्पचूला

चतुर्थ वर्ग का नाम पुष्पचूला है। इसके दस अध्ययन हैं। इनके क्रमशः निम्न नाम हैं— श्रीदेवी, द्वीदेवी, धृतिदेवी, कीर्तिदेवी, बुद्धिदेवी, लक्ष्मीदेवी, सुरादेवी, रसदेवी और गन्धदेवी। ये सभी पूर्व भव में भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा में संयम अंगीकार करती हैं किन्तु शरीर की आसक्ति के कारण संयम की विराधना कर देवलोक में देवियों के रूप में उत्पन्न होती हैं। देवलोक से आयु पूर्ण कर महाविदेह में जन्म लेंगी और दीक्षा लेकर मोक्षपद प्राप्त करेंगी।

१२. वृष्णिदशा (वृष्णिदसाओ)

पांचवे वर्ग का नाम वृष्णिदशा है। इसमें वृष्णिवंश के बारह राजकुमारों का चरित्र वर्णित है। इन सभी का संयम साधना के द्वारा 'सर्वार्थसिद्धि विमान' में उत्पन्न होने का निरूपण है। उनके नाम इस प्रकार हैं — निषधकुमार, मायनीकुमार, वण्हकुमार, वधकुमार, प्रगतिकुमार, ज्योतिकुमार, दशरथकुमार, वृद्धरथकुमार, महाधनुकुमार, सप्तधनुकुमार, दशधनुकुमार और शतधनुकुमार।

इस प्रकार इसमें यदुवंशीय राजाओं के इतिवृत्त का अंकन है। इसमें कथातत्त्वों की अपेक्षा पौराणिक तत्त्वों का प्राधान्य है। साथ ही द्वारिका नगरी एवं भगवान अरिष्टनेमि के वैशिष्ट्य को अनेक दृष्टियों से प्रतिपादित किया गया है।

मूलसूत्र

'मूल' शब्द का क्या तात्पर्य है इसकी विस्तृत विवेचना इसी ग्रन्थ के द्वितीय अध्याय में की गई है। उत्तराध्ययनसूत्र, दशवैकालिकसूत्र, आवश्यकसूत्र, पिण्डनिर्युक्ति या ओघनिर्युक्ति ये आगम मूलसूत्र कहे जाते हैं। जिनका संक्षिप्त परिचय निम्न रूप से दिया जा रहा है -

१. उत्तराध्ययनसूत्र

मूलसूत्रों में उत्तराध्ययनसूत्र का प्रथम स्थान है। कालिकश्रुत में भी इसका स्थान सर्वप्रथम मिलता है।^{३६}

इसमें दो शब्द हैं उत्तर और अध्ययन। निर्युक्तिकार के अनुसार ये अध्ययन आचारांग के अध्ययन के पश्चात् अर्थात् उत्तरकाल में पढ़े जाते हैं इसलिये इन्हें उत्तर अध्ययन कहा गया है।^{३६} श्रुतकेवली आचार्य शय्यभय के पश्चात् ये अध्ययन दशवैकालिक के अध्ययन के पश्चात् अर्थात् उत्तरकाल में पढ़े जाने लगे। इसलिये ये 'उत्तर अध्ययन' ही बने रहे।

इस सूत्र में ३६ अध्ययन हैं। प्रत्येक अध्ययन के विषय भिन्न भिन्न हैं उनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है -

क्रमांक	अध्ययन	गाथा/सूत्र	विषयवस्तु
१.	विनयश्रुत	४८	विनय का स्वरूप तथा महत्व,
२.	परीषह प्रविभक्ति	४६ / ३	साधु जीवन में आने वाले बाईस परोपदों का वर्णन;
३.	वतुरंगीय	२०	चार दुर्लभ अंगों का वर्णन,
४.	असंस्कृत	१३	जीवन की अनित्यता का बोध;

३५ (क) 'नदीसूत्र' ७८

(ख) 'पवित्रसूत्र'

३६ 'उत्तराध्ययननिर्युक्ति' गाथा ३

- ('नवसुताभि' लाडनू पृष्ठ २६७)

- 'स्वाध्याय सौम्य-सौरभ' पृष्ठ १६२ के अनुसार।

- निर्युक्तिसंग्रह पृष्ठ २६५।

५.	अकाममरणीय	३२	मरण के प्रकार व उनका स्वरूप,
६.	कुल्लक निर्ग्रन्थीय	१८	मुनि जीवन का प्रारम्भिक आचार,
७.	उरुप्रीय	३०	कामभोगों के दुःखद परिणाम का सोदाहरण चित्रण,
८.	कपिलीय	२०	लोभ की पराकाष्ठा से कपिलमुनि की विरक्ति का चित्रण,
९.	नमिप्रव्रज्या	६२	इन्द्र एव राजर्षि नमो का संवाद,
१०.	द्रुमपत्रक	३७	जीवन की अस्थिरता के वर्णन के साथ अप्रमत्तता की प्रेरणा,
११.	बहुश्रुतपूजा	३२	'बहुश्रुत' व्यक्ति का महात्म्य,
१२.	हरिकेशीय	४७	चण्डालकुलोत्पन्न हरिकेशी के दीक्षा ग्रहण के साथ जातिवाद एवं कर्मकाण्ड का खण्डन,
१३.	चित्रसंभूतीय	३५	चित्र व संभूति का संवाद,
१४.	इषुकारीय	५३	ब्राह्मण व श्रमण संस्कृति के अंतर का वर्णन,
१५.	सम्भिक्षुक	१६	भिक्षु के स्वरूप का निरूपण,
१६.	ब्रह्मचर्य समाधिस्थान	१७ / १२	ब्रह्मचर्य के दस समाधिस्थान,
१७.	पापश्रमणीय	२१	पापश्रमण के स्वरूप का निरूपण,
१८.	संजयीय	५४	संजय राजा को गर्दभालीमुनि द्वारा बोध की प्राप्ति,
१९.	मृगापुत्रीय	६८	ससार की असारता तथा संयम की श्रेष्ठता का दिग्दर्शन,
२०.	महानिर्ग्रन्थीय	६०	अनाथ तथा सनाथ के स्वरूप का विश्लेषण,
२१.	समुद्रपालीय	२४	दण्डित चोर को देखकर समुद्रपाल को बोध की प्राप्ति,
२२.	रथनेमीय	५१	राजीमति द्वारा रथनेमि को चारित्रिक पतन से बचाकर संयम में स्थिर करना,
२३.	केशीगौतमीय	८६	केशी और गौतम का संवाद,
२४.	प्रवचन माता	२७	पाच समिति तीन गुप्ति का निरूपण,
२५.	यज्ञीय	४५	जयघोष व विजयघोष के वार्तालाप में यज्ञीय कर्मकाण्ड की समालोचना,
२६.	सामाचारी	५३	साधु जीवन के दैनिक आचार का विश्लेषण,

२७.	खलुकीय	१७	अकिनीत शिष्य की प्रकृति का चित्रण,
२८.	मोक्षमार्ग गति	२६	चतुर्विध मोक्ष मार्ग का वर्णन,
२९.	सम्यक्त्व पराक्रम	१ / ७४	जैन साधना के विविध विषयो का स्वरूप और उनकी साधना का परिणाम,
३०.	तपोमार्ग गति	३७	तप के प्रकारों का उल्लेख,
३१	चरणविधि	२१	पांच प्रकार के चरित्रों का विश्लेषण;
३२.	अप्रमाद स्थान	१११	प्रमाद के कारण एवं उनका निवारण,
३३.	कर्म-प्रकृति	२५	कर्मों का स्वरूप एवं प्रकार;
३४.	लेश्या अध्ययन	६१	लेश्याओं का स्वरूप एवं प्रकार;
३५.	अनगर मार्ग गति	२१	मुनि जीवन की चर्या का वर्णन,
३६.	जीवाजीव विभक्ति	२६८	जीव तथा अजीव के विभाग का निरूपण

उत्तराध्ययनसूत्र के ३६ अध्ययनों का विस्तृत विवेचन इसी ग्रन्थ के द्वितीय अध्याय में किया जायेगा ।

२. दशवैकालिकसूत्र

मूल आगमों में दशवैकालिक का महत्त्वपूर्ण स्थान है। नन्दीसूत्र^{३७} पक्खिसूत्र^{३८} आदि के वर्गीकरण के अनुसार उत्कालिक सूत्रों में इसका प्रथम स्थान है। इसके दस अध्ययन हैं एवं इसकी रचना विकाल में होने से इसका नाम 'दशवैकालिक' रखा गया है। किन्तु नन्दीसूत्र के उत्कालिक सूत्रों में इसकी गणना होने से प्रतीत होता है कि यह सूत्र विकाल में पढ़ा जा सकता है। अतः इसका नाम दशवैकालिक है।

प्रस्तुत सूत्र के कर्ता श्रुतकेवली शयम्भव सूरि हैं। उन्होंने इसकी रचना अपने पुत्र मनक के लिये की थी। इसकी रचना वीर संवत् ७२ के आसपास चम्पा में हुई। इसके अध्ययन, गाथा एवं विषयवस्तु निम्न हैं—

क्रमांक	अध्ययन	गाथा/सूत्र	विषयवस्तु
१.	द्रुमपुष्पिका	५	धर्म प्रशंसा एवं माधुरी वृत्ति:

३७ 'नन्दीसूत्र' ७७

३८ 'पक्खिसूत्र'

('नवसुतापि' पृष्ठ २६७)

('स्वाध्याय' - 'सौम्य-सौरभ' पृष्ठ १६१)

२.	श्रामण्यपूर्वक		संयम में धृति और उसकी साधना:
३.	क्षुल्लिकाचार कथा	११	आचार व अनाचार का विवेक;
४.	धर्मप्रज्ञप्ति/ षड्जीवनिका	२८ / २३	जीवन संयम तथा आत्म संयम का विचार.
५.	पिडैषणा	१५०	गदेषणा, ग्रहणैषणा और भोगैषणा की शुद्धि.
६.	महाचार कथा	६८	श्रमणाचार का विस्तृत विवेचन.
७.	वाक्यशुद्धि	५७	भाषा विवेक का विश्लेषण
८.	आचार प्रणिधि	६३	श्रमण के अहिंसक आचारों का वर्णन.
९.	विनय-समाधि	६२/७	विनय का निरूपण;
१०.	संभिक्षु	२१	भिक्षु के स्वरूप का वर्णन;
११.	प्रथम चूलिका/ रतिवाथ्या	१८/१	संयम में अस्थिर होने पर पुनः स्थिरीकरण
१२.	दूसरी चूलिका/ विविक्तचर्या	१६	विविक्त चर्या का उपदेश

नवदीक्षित साधुओं की साधना में यह शास्त्र अत्यन्त उपयोगी है।

३. आवश्यकसूत्र

आध्यात्मिक साधना हेतु जो अवश्य करणीय है, उसका विधान इस सूत्र में किया गया है। अतः इसका नाम आवश्यकसूत्र रखा गया है। अवश्य करणीय छः कार्य हैं। उसी के आधार पर आवश्यकसूत्र के भी छः विभाग हैं— (१) सामायिक (२) चतुर्विंशतिस्तव (चउविसत्थो) (३) वन्दन (४) प्रतिक्रमण (५) कायोत्सर्ग और (६) प्रत्याख्यान। इसमें छः-आवश्यकों का विधान होने से इसे षडावश्यकसूत्र भी कहते हैं।

प्रथम 'सामायिक' नामक अध्ययन में सावद्य व्यापार का त्याग कर सम्माव की साधना की शिक्षा दी गई है।

दूसरे 'चतुर्विंशतिस्तव' अध्ययन में साधना में अवलम्बन भूत चौबीस तीर्थकरों का स्तवन किया गया है।

तीसरे 'वन्दन' अध्ययन में गुरु भगवन्त के प्रति वन्दन का निरूपण किया गया है।

चौथे 'प्रतिक्रमण' अध्ययन में आत्म गुणों के विकास एवं संयम पालन में हुई रखलनाओं के लिये प्रतिक्रमण का विधान किया गया है।

पांचवें 'कायोत्सर्ग' अध्ययन में काया के प्रति जो आसक्ति व ममत्व है, उसका त्याग करने की प्रेरणा दी गई है। कायोत्सर्ग आत्मा और देह की भिन्नता का अवबोध कराने वाली साधना है।

छठे 'प्रत्याख्यान' अध्ययन में भविष्य में दुराचरण का सेवन नहीं करने के संकल्प के साथ तप-त्याग में प्रवृत्त होने हेतु प्रत्याख्यान (प्रतिज्ञा) का वर्णन किया गया है। प्रत्याख्यान के माध्यम से आत्मा संयम में स्थिर होती है।

इस प्रकार इस सूत्र में छः आवश्यकों के माध्यम से आत्मा की त्रैकालिक शुद्धि का सुन्दर विधान किया गया है। सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दन एवं कायोत्सर्ग वर्तमान में आत्मा को शुद्ध बनाते हैं। प्रतिक्रमण अतीत के पापों की शुद्धि की प्रक्रिया है तथा प्रत्याख्यान भविष्य में आत्मा अशुद्ध न बने इसकी सुरक्षा है।

आवश्यकसूत्र को श्वेताम्बर अमूर्तिपूजक सम्प्रदाय अर्थात् स्थानकवासी और तेरापंथी छेद एवं मूलसूत्रों से पृथक् स्वतन्त्र सूत्र मानते हैं, जबकि श्वेताम्बर मूर्तिपूजक सम्प्रदाय इसे मूल सूत्रों के अन्तर्गत मानता है। वैसे नन्दीसूत्र में अंगबाह्य के दो वर्ग किये गये हैं - आवश्यक और आवश्यक व्यतिरिक्त।^{३९} उस काल में आवश्यकसूत्र के उपर्युक्त छः अध्ययन छः स्वतन्त्र सूत्र माने जाते थे।

४. पिण्डनिर्युक्ति

पिण्ड का अर्थ भोजन है। इस सूत्र में साधु की आहार विधि का वर्णन किया गया है। अतः इसका नाम पिण्डनिर्युक्ति रखा गया है। इसमें ६७१ गाथायें हैं।

पिण्डनिर्युक्ति के आठ अधिकार हैं - १. उद्गम २. उत्पादन ३. एषणा ४. संयोजना ५. प्रमाण ६. अंगार ७. घूम और ८. कारण। इन अधिकारों में इनके नाम के अनुसार विषय का वर्णन किया गया है।

विद्वानों की मान्यता है कि यह दशवैकालिक नियुक्ति का एक भाग है।⁴⁰ दशवैकालिकसूत्र के पांचवें अध्ययन का नाम पिण्डैषणा है। संभवतः इस पर लिखी गई नियुक्ति बड़ी हो जाने से इसे स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में स्वीकार किया गया है। कुछ विद्वान् पिण्डनियुक्ति के स्थान पर ओघनियुक्ति को मूलसूत्र मानते हैं।

ओघनियुक्ति

इसमें मुनि जीवन की सामान्य समाचारी का विस्तृत वर्णन किया गया है। इसके सात द्वार अर्थात् विभाग हैं। इसमें ८११ गाथायें हैं, जिनमें कुछ भाष्य की गाथायें भी सम्मिलित हैं।

पहले प्रतिलेखना द्वार में प्रतिलेखना, प्रतिलेखन तथा प्रतिलेख्य के विषय में विशद वर्णन किया गया है। दूसरे पिण्ड द्वार में तीन प्रकार की पिण्डैषणा अर्थात् भिक्षा-चर्या के उदगम, एषणा, धूम, अंगार आदि दोषों का वर्णन किया गया है। तीसरे उपधिप्रमाण द्वार में उपधि के दो प्रकार तथा जिनकल्पी एवं स्थविरकल्पी आदि की उपधि/उपकरण का वर्णन किया गया है। चौथे अनायतन द्वार में साधु-साध्वी के रहने के अयोग्य स्थान एवं उनमें रहने से होने वाली हानि को प्रकट किया गया है। पांचवें प्रतिसेवना द्वार में मूलगुण तथा उत्तरगुण का विवेचन किया गया है। छठे आलोचना द्वार में आलोचना के स्वरूप एवं फल आदि का विवरण दिया गया है। सातवें विशुद्धि द्वार में मुनि को गीतार्थ के समक्ष भूल स्वीकार करने की सोदाहरण शिक्षा दी गई है। संक्षेप में यह आगम साधु की जीवन चर्या का सुन्दर विवेचन प्रस्तुत करता है।

छेदसूत्र

छेदसूत्रों में मुख्यतः प्रायश्चित्त का निरूपण किया गया है। छेद शब्द का सम्बन्ध चारित्र एवं प्रायश्चित्त दोनों से है। चारित्र के पांच प्रकार हैं⁴¹—
(१) सामायिक (२) छेदोपस्थापनीय (३) परिहार विशुद्धि (४) सूक्ष्मसंपराय और

४० (क) 'आगम और त्रिपिटक : एक अनुसूचित' खण्ड २ पृष्ठ ४७६ ।

(ख) 'जैन आगम साहित्य : धनन और मौनता' पृष्ठ ४२४ ।

४१ (क) 'स्वार्णसूत्र' ४/२/१३८

(ख) 'उत्तरगुणसूत्र' २८/१२, ३३ ।

- मुनि नपरजयी ।

- शैवेन्द्रमुनि।

- ('अंगसुसाधि' लखनू खण्ड १ पृष्ठ ७०१) ।

(५) यथाख्यात। प्रायश्चित्त के दस प्रकार हैं—आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, उत्सर्ग, तप, छेद, मूल, अनवस्थाप्य और पारायिक।

वर्तमान में सामायिक एवं छेदोपस्थापनीय इन दो चारित्र की ही व्यवस्था है। शेष तीन चारित्र विच्छिन्न हो गये हैं। सामायिकचारित्र अल्पकालीन होता है एवं छेदोपस्थापनीय चारित्र जीवनपर्यन्त रहता है। अतः यह भी संभव है कि छेदोपस्थापनीय चारित्र से प्रायश्चित्त का सम्बन्ध होने के कारण इन सूत्रों का नाम 'छेदसूत्र' दिया गया हो। छेदसूत्रों की विषयवस्तु संक्षेप में निम्नानुसार है।

१. दशाश्रुतस्कन्ध

दशाश्रुतस्कन्ध के दो नाम मिलते हैं। 'नन्दीसूत्र' में इसका नाम 'दशा'⁴² एवं स्थानांग में इसका नाम 'आयारदशा'⁴³ मिलता है। इसमें दस अध्ययन हैं, अतः इसका नाम दशा है। इसके मूल प्रतिपाद्य की अपेक्षा से इसका नाम 'आयारदशा' है। इसका ग्रन्थाग्र १८३० श्लोक परिमाण है।

प्रथम दशा अध्ययन में बीस असमाधि स्थानों का वर्णन है। जिससे चित्त अशांत हो; ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि मोक्ष मार्ग से आत्मा पतित हो, वह असमाधि है। द्वितीय दशा में इक्कीस शबल दोषों का वर्णन किया गया है। जिन कार्यों से चारित्र मलिन होता है, वे शबल दोष हैं। तृतीय दशा में तैंतीस आशातनाओं का वर्णन है। चतुर्थ दशा में आठ प्रकार की गणिसंपदाओं का वर्णन है। श्रमणों के समुदाय को गण कहते हैं। गण का अधिपति गणि होता है। गणि की अर्हताएं गणि सम्पदा कहलाती हैं। इस दशा के अन्त में गुरु शिष्य संबंधी बत्तीस प्रकार की विनय प्रतिपत्ति का भी उल्लेख किया गया है। पांचवीं दशा में दस प्रकार की चित्तसमाधि एवं मोहनीयकर्म की विशिष्टता पर प्रकाश डाला गया है। छठवीं, सातवीं दशा में क्रमशः उपासक की ग्यारह प्रतिमाओं एवं श्रमण की बारह प्रतिमाओं का उल्लेख किया गया है। आठवीं दशा में पर्युषणाकल्प का वर्णन है। वर्तमान में जो 'कल्पसूत्र' है वह दशाश्रुतस्कन्ध का ही आठवां अध्ययन है। दशाश्रुतस्कन्ध की प्राचीन प्रतियां, जो चौदहवीं शताब्दी से पूर्व की हैं, उनके आठवें अध्ययन में कल्पसूत्र की विषयवस्तु के समान साध्याचार सम्बन्धित चातुर्मासिक

४२ 'नन्दीसूत्र' ७८

४३ 'स्थानांगसूत्र' १०/११५

('नवसुताणि' लाङ्गू पृष्ठ २६७)।

('अंगसुताणि' लाङ्गू पृष्ठ १ पृष्ठ ८१५)।

विशिष्ट नियम, जिनचरित्र और स्थविरावली दी गई है। नौवीं दशा में तीस महामोहनीय स्थानों का वर्णन है। मोहनीयकर्म सब कर्मों में बलवान है। अतः इन्हें महामोहनीय कहा गया है। जिनसे मोहनीयकर्म का निविड़ बन्ध होता है, वे महामोहनीय स्थान हैं। दसवीं दशा का नाम 'आयतिस्थान' है। इसमें नौ निदानों का वर्णन है। वासनापूर्ति मूलक संकल्प को निदान कहते हैं।

इस प्रकार प्रस्तुत आगम में चित्तसमाधि एवं धर्मस्थिरता की सुन्दर प्रेरणा दी गई है।

२. बृहत्कल्प

इस सूत्र को कल्प नाम से भी जाना जाता था। मध्यकाल में जब पर्युषणाकल्प कल्पसूत्र के नाम से प्रसिद्ध हो गया तो इसका नाम बृहत्कल्प हो गया। विद्वानों की मान्यता है कि बृहत्कल्प, व्यवहारसूत्र का पूरक है क्योंकि दोनों में साध्व्याचार का निरूपण किया गया है।^{१४}

'कल्प' शब्द का अर्थ है - मर्यादा। श्रमण धर्म की मर्यादा का प्रतिपादक होने से इसका बृहत्कल्प नाम सार्थक प्रतीत होता है। इसमें छः उद्देशक, इक्यासी अधिकार और २०६ सूत्र हैं। ग्रन्थाग्र ४७३ श्लोक परिमाण है।

प्रथम उद्देशक में साधु की मासकल्प या विहारकल्प सम्बन्धी मर्यादाओं का वर्णन किया गया है। द्वितीय उद्देशक में उपाश्रय कैसा होना चाहिए, इसका वर्णन किया गया है एवं शय्यातर (स्थान के मालिक) का आहार वर्जनीय बताया गया है। साथ ही कल्पनीय वस्त्र, रजोहरण आदि के प्रकारों का भी वर्णन किया गया है। तीसरे उद्देशक में साधु-साध्वी के पारस्परिक व्यवहार की मर्यादाओं पर प्रकाश डाला गया है। चतुर्थ उद्देशक में कदाचित् अब्रह्मसेवन तथा रात्रि भोजन सम्बन्धी दोषों के प्रायश्चित्त का विधान किया गया है। पंचम उद्देशक में ब्रह्मचर्य एवं आहार

४४ (क) 'वेदसूत्र-एक परिलीतन' पृष्ठ ३२

(ख) 'आगम साहित्य - एक अनुवर्तिन' पृष्ठ ६६

(ग) 'जैन साहित्य नुं सक्षिप्त इतिहास' (विष्टरनिद्रस के विचार पृष्ठ ७७) ;

(घ) 'आगमसार' पृष्ठ ३८२

- आचार्य देवेन्द्रगुनि ।

- आचार्य जयन्तसेनसूरी ।

- मोहनलाल दत्तचन्द देसाई ।

- रसिकलाल, षणनलाल सेठ ।

सम्बन्धी बातों पर विचार किया गया है। छठे उद्देशक में साधुओं के लिए अलीक (असत्य) आदि छः प्रकार के वचनों को वर्जनीय बताया गया है। साथ ही इसमें किस स्थिति में साधु साध्वी परस्पर एक दूसरे के सहयोगी बन सकते हैं इसका वर्णन किया गया है। अन्त में छः प्रकार की साधु-मर्यादा का उल्लेख है।

इस प्रकार इस ग्रन्थ में साधु-साध्वी के जीवन व्यवहार से सम्बन्धित अनेक नियमों का विधान किया गया है।

3. व्यवहारसूत्र

'व्यवहार' का अर्थ है आलोचना, शुद्धि या प्रायश्चित्त। इसका प्रतिपाद्य आलोचना या प्रायश्चित्त होने से इस सूत्र का नाम व्यवहार रखा गया है। इसके रचयिता आचार्य भद्रबाहुस्वामी (प्रथम) माने जाते हैं। इसमें दस उद्देशक हैं।

प्रथम उद्देशक में आलोचना करने वाला मुनि कैसा होना चाहिए और आलोचना किसके समक्ष की जा सकती है, इसका वर्णन है। द्वितीय उद्देशक में समान समाचारी वाले साधुओं की प्रायश्चित्त विधि का वर्णन किया गया है। तीसरे उद्देशक में विहार सम्बन्धी विवेक का उल्लेख है। साथ ही आचार्य आदि सात पद कब और कैसे प्रदान किये जाते हैं, इसका व्यवस्थित निरूपण है। चतुर्थ उद्देशक में आचार्य आदि के साथ विहार एवं वर्षावास में कितने साधु रहना चाहिये इसका वर्णन है। पांचवें उद्देशक में प्रवर्तिनी आदि साध्वियों की विहार चर्या आदि का वर्णन है। छठे उद्देशक में सम्बन्धियों के यहां जाने की विधि, आचार्य आदि की महत्ता का प्रतिपादन है। सातवें उद्देशक में मुख्य रूप से दीक्षा के योग्य पात्र, काल एवं विधि का वर्णन है। आठवें उद्देशक में शय्या आदि का ग्रहण करने की विधि का वर्णन है। नौवें उद्देशक में शय्यातर के अधिकार तथा अंशाधिकार का कोई भी पदार्थ साधु के लिए अकल्पनीय है, इस वर्णन के साथ साधु की प्रतिमाओं का संक्षिप्त वर्णन किया गया है। दसवें उद्देशक में यवमध्य चन्द्र एवं वज्रमध्य चन्द्र प्रतिमाओं की विधि, व्यवहार के पांच प्रकार, बालक की दीक्षा-विधि आचारांग आदि सूत्रों के अध्ययन का काल एवं दस प्रकार के वैद्यावृत्य का वर्णन किया गया है।

४. निशीथसूत्र

जिस प्रकार निशीथ अर्थात् कतकफल को पानी में डालने से कचरा नीचे बैठ जाता है, उस प्रकार इस शास्त्र के अध्ययन से भी आठ प्रकार के कर्मरूपी मल का उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम हो जाता है। इसलिये इसका निशीथ नाम अन्वर्थक है।

निशीथ का एक अर्थ अंधकार भी किया गया है; यह सूत्र अपवाद बहुल है। जनसामान्य में प्रकाशित करने योग्य नहीं है; गोपनीय है; इसलिए भी इसे निशीथ कहा जाता है।

पाठक के तीन प्रकार हैं— अपरिणामक (अपरिपक्व बुद्धि वाला), परिणामक (परिपक्व बुद्धि संपन्न) एवं अतिपरिणामक (कुतर्की)। इनमें से परिणामक पाठक ही निशीथसूत्र के अध्ययन के अधिकारी हैं; अन्य नहीं।

निशीथ में बीस उद्देशक हैं। इसमें चार प्रकार के प्रायश्चित्तों का वर्णन है। उन्नीस उद्देशकों में प्रायश्चित्त का विधान है और बीसवें में प्रायश्चित्त देने की विधि दी गई है। प्रथम उद्देशक में गुरुमासिक प्रायश्चित्त का वर्णन है। द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ एवं पंचम उद्देशकों में लघुमासिक प्रायश्चित्त के विषयों का निरूपण है। छठे से लेकर ग्यारहवें उद्देशक तक गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त का प्रतिपादन है। बारहवें से उन्नीसवें तक लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त का विधान है। बीसवें उद्देशक का मुख्य प्रतिपाद्य प्रायश्चित्त—दान की विधि है।

५. महानिशीथ

प्रस्तुत आगम के नाम से प्रतीत होता है कि निशीथसूत्र महानिशीथ का बृहद् रूप है। इसमें छः अध्ययन और दो चूलिकाएं हैं। यह ४५५४ गाथा परिमाण है।

इसका प्रथम अध्ययन शल्योद्धरण है। इसमें पाप रूपी शल्य के निवारणार्थ १८ पापस्थानकों का वर्णन है। दूसरे में कर्मविपाक का वर्णन करते हुए पापों की आलोचना पर प्रकाश डाला गया है। तीसरे एवं चौथे अध्ययन में कुशील साधुओं से दूर रहने का उपदेश है। पांचवें नवनीतसार अध्ययन में गच्छ के स्वरूप का विवेचन है। छठे अध्ययन में प्रायश्चित्त के दस भेदों एवं आलोचना के चार भेदों का विवेचन है।

चूलिकाओं में सुसद आदि की कथायें हैं। इस ग्रन्थ के सन्दर्भ में ऐसी मान्यता है कि यह मूल ग्रन्थ दीमकों के द्वारा क्षतिग्रस्त हो गया था। वर्तमान में उपलब्ध 'महानिशीथ' आचार्य हरिभद्र द्वारा क्षतिग्रस्त प्रति के आधार पर पुनर्रचित है।⁴⁵

६. जीतकल्प

'जीत', 'जीय' या 'जीअ' का अर्थ परम्परागत आचार, मर्यादा, व्यवस्था या प्रायश्चित्त से संबंधित एक प्रकार का व्यवहार है। इस सूत्र में जैन श्रमण के आचार सम्बन्धी प्रायश्चित्तों का विधान है। अतः इसका नाम 'जीतकल्प' रखा गया।

यह एक सौ तीन गाथा परिमाण है। इसके रचयिता जिनभद्र गणि क्षमाश्रमण हैं। इसमें प्रायश्चित्त के दस भेद बतलाये हैं—

१. आलोचना, २. प्रतिक्रमण, ३. तदुभय, ४. विवेक, ५. व्युत्सर्ग, ६. तप, ७. छेद, ८. मूल, ९. अनवस्थाप्य और १०. पाराधिक।

तत्पश्चात् इसमें क्रिया, क्रिया से लगने वाले दोषों तथा उपसंहार में बताया गया है कि अंतिम दो प्रायश्चित्त -- अनवस्थाप्य एवं पाराधिक की व्यवस्था अंतिम श्रुतकेवली भद्रबाहुस्वामी तक ही रही। उसके पश्चात् लुप्त हो गयी। वर्तमान में अधिक से अधिक आठ प्रायश्चित्त दिये जाते हैं।

चूलिकासूत्र

अवशिष्ट विषयों का वर्णन या वर्णित विषयों का स्पष्टीकरण जिन ग्रन्थों में होता है वे चूलिकासूत्र कहलाते हैं। चूलिका की यह परिभाषा नन्दीसूत्र की अपेक्षा अनुयोगद्वार के साथ अधिक सम्बन्ध रखती है।

१. नन्दीसूत्र

नन्दी शब्द का अर्थ है— आनन्द। चूर्णिकार ने इसके तीन अर्थ किये हैं— प्रमोद, हर्ष और कन्दर्प।⁴⁶

४५ 'जैन साहित्य नुं संक्षिप्त इतिहास'

४६ 'नन्दपं नदी, नन्दति वा अपयैति नदी, नन्दति वा नदी प्रमोदो हरिसो कल्पो इत्यर्थ'

- मोहनलाल, दलीचन्द देसाई पृष्ठ ७२ ।

- नन्दीचूर्णि पृष्ठ १, (उद्धृत 'नवसुताणि' भूमिका पृष्ठ ५६) ।

ज्ञान सबसे बड़ा आनंद है। प्रस्तुत आगम में ज्ञान के स्वरूप का वर्णन है। अतः इसका नाम नन्दी रखा गया है।

इसमें एक अध्ययन है, इसमें ५७ गद्यसूत्र और ६७ गाथायें हैं। श्लोक परिमाण ७०० हैं।

प्रारम्भ में प्रभु महावीर, जिनशासन आदि की स्तुति की गयी है। उसके पश्चात् महाज्ञानी आचार्यों की परम्परा के निर्देश के साथ पांच ज्ञानों का सुविस्तृत वर्णन है।

सम्यक्-श्रुत के प्रसंग में द्वादशांग या गणिपिटक के आचारांग, सूत्रकृतांग आदि बारह भेदों का उल्लेख किया है। प्रासंगिक रूप में मिथ्या श्रुत की भी चर्चा की गई है। गमिक, अगमिक, अंगप्रविष्ट, अंगबाह्य आदि के रूप में श्रुत का विस्तृत विश्लेषण किया गया है।

सामान्यतया: इसके रचयिता देवभद्रगणि माने जाते हैं। किन्तु कुछ विद्वान् देवर्द्धिगणि को इसके रचयिता मानते हैं। रचनाकाल विक्रम की पांचवीं शती है।

२. अनुयोगद्वार

प्रस्तुत आगम का नाम अनुयोगद्वार है। अनुयोग का अर्थ है - व्याख्या। इसमें आगमसूत्रों की व्याख्या पद्धति का निर्देश है।

इसके चार द्वार हैं। १८६६ श्लोक परिमाण उपलब्ध है। १५२ गद्यसूत्र हैं और १४३ पद्यसूत्र हैं।

इसमें व्याख्या पद्धति के चार अंग बताए गए हैं- १. उपक्रम २. निक्षेप ३. अनुगम और ४. नय। निर्युक्तियों में निक्षेप पद्धति की प्रधानता है। प्रस्तुत आगम में इस बात को स्वीकृत किया गया है। इसका प्रारम्भ पांच ज्ञान के निर्देश से होता है। उसके पश्चात् अनुयोगों का विस्तार से विवेचन किया गया है।

इसमें सप्तस्वर, नवरस, प्रमाण, नय आदि की भी चर्चा की गई है।

इस सूत्र में जैनन्याय के बीज छिपे हुए हैं। इसके आधार पर उत्तरवर्ती काल में न्यायशास्त्र का विस्तृत निरूपण हुआ है।

प्रकीर्णक सूत्र

सामान्यतः 'प्रकीर्णक' शब्द के विविध, बिखरे हुए, परचून आदि अनेक अर्थ किये जाते हैं किन्तु जैनसाहित्य के सन्दर्भ में प्रकीर्णक शब्द का विशिष्ट अर्थ किया गया है -

नन्दीचूर्ण के अनुसार 'अरहंतमग्गउपदिट्ठे जं मणुसरित्ता किचिं णिज्जूहंते (निर्यूठ) ते सत्त्वे पइणग्गा; अहवा सुत्तमणुसरतो अप्पणो. वयणकोसल्लेण जं धम्म देसणादिसु (गंधपद्धत्तिणा) भासते तं सत्त्वं पइण्णगं'^{४७} अर्थात् जिनमें अरिहंत के द्वारा उपदिष्ट मोक्षमार्ग का सूत्रानुसारी प्रतिपादन किया जाता है, वे प्रकीर्णक कहलाते हैं।

आगे हम आगमोदय समिति द्वारा प्रकाशित 'चतुःशरणादि मरणसमाध्यन्तं प्रकीर्णक दशक' के अनुसार दस प्रकीर्णक का विवेचन करेंगे-

१. चतुःशरण

चतुःशरण (चउसरण) प्रकीर्णक का दूसरा नाम 'कुशलानुबन्धी' भी है। इसमें ६३ गाथायें हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रतिपाद्य 'चार-शरण' है। इसमें इस अशरणभूत संसार में पीड़ित प्राणियों को उद्बोधन देते हुए कहा गया है कि 'हे आत्मा ! तू चारों गति का हरण करने वाले अरिहंत, सिद्ध, साधु एवं केवली प्ररूपित- सुखावह धर्म की शरण को स्वीकार कर।'^{४८} इन चार शरणों का विवेचन होने से इस ग्रन्थ का नाम चतुःशरण है। ये चार शरण ही आत्मा की कुशलता के हेतु हैं। कुशल का अनुबन्ध कराने वाले होने से इसे कुशलानुबन्धी प्रकरण भी कहा जाता है।

इसके प्रारम्भ में छः आवश्यक पर प्रकाश डालते हुए बताया गया है कि 'सामायिक' आवश्यक से चारित्र की शुद्धि होती है। 'चतुर्विंशतिजिनस्तव' से दर्शन की विशुद्धि होती है, 'वन्दन' से ज्ञान में निर्मलता आती है। 'प्रतिक्रमण' से ज्ञान, दर्शन और चारित्र तीनों की शुद्धि होती है। 'कायोत्सर्ग' से आत्मविशुद्धि हेतु तप होता है और प्रत्याख्यान से पुरुषार्थ (वीर्य) की शुद्धता होती है।'^{४९}

^{४७} 'नन्दीचूर्ण' पृष्ठ ६०;

^{४८} 'अरिहंत सिद्ध साधु, केवली कहिओ सुहावहो धम्मो।

ए ए चउरो वउणइहरणा, सरणं लहइ धम्मा ॥'

^{४९} चतुःशरण गाथा २, ५६ एवं ६०।

- (उद्धृत - 'प्रकीर्णक साहित्य: मनन और मीमांसा' पृष्ठ ६२)।

- चतुःशरण गाथा ११।

ग्रन्थ के अन्त में आर्य वीरभद्र का नाम अंकित है।^{५०} इससे इस ग्रन्थ के रचयिता आर्य वीरभद्र (लगभग १० वीं शती) माने जाते हैं। इस पर भुवनतुंग की वृत्ति और गुणरत्न की अवचूरि भी प्राप्त होती है। यह ग्रन्थ पद्यात्मक तथा प्राकृत भाषा में निबद्ध है।

२. आतुरप्रत्याख्यान

'आतुर प्रत्याख्यान' में पण्डित व्यक्ति को आतुर अर्थात् रोगादि के निमित्त से मरणातिक कष्ट उपस्थित होने पर कौनसा प्रत्याख्यान करना चाहिए, कैसी भावना रखनी चाहिए आदि की चर्चा करते हुए समाधिमरण के विषय में बताया गया है। अतः इसका नाम आतुरप्रत्याख्यान है। समाधिमरण की चर्चा होने से इसे 'अन्तकाल' प्रकीर्णक भी कहा गया है। इसका अन्य नाम 'बृहदातुरप्रत्याख्यान' भी है। इसमें ७० गाथायें हैं। मुख्य रूप से यह पद्यात्मक शैली में लिखा गया है किन्तु १० गाथाओं के बाद कुछ गद्य भाग भी है।

इसमें प्रथम बालपंडित मरण की व्याख्या की है फिर देशविरत श्रावक की व्याख्या करते हुए पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत एवं संलेखना की चर्चा की है। तत्पश्चात् बालपंडित अर्थात् व्रतधारी श्रावक की वैमानिकदेव के भव में उत्पत्ति होती है और वह सात भव में सिद्धि प्राप्त करता है—इसकी चर्चा है। पंडित मरण में पूर्व गृहीत व्रतों में अतिचारों की शुद्धि करके जिन एवं आचार्य की वन्दनापूर्वक सर्व प्राणातिपातविरति, सर्व मृषावादविरति, सर्व अदत्तादानविरति, सर्व अबह्यचर्यविरति और सर्व परिग्रहविरति ग्रहण करे; साथ ही सर्व बाह्याभ्यंतर उपाधि और अठारह पाप स्थानकों के त्याग पूर्वक केवल आत्मा का ध्यान करें तथा एकत्व भावना का चिन्तन करें, इसकी प्रेरणा दी गई है।

इसमें मरण के तीन प्रकार बताये गये हैं— बालमरण, बालपण्डितमरण और पण्डितमरण। बालमरण वाला विराधक होने से दुर्लभ बोधि होता है। पंडितमरण का वरण करने वाला आराधक होने से तीन भव में मोक्षगामी होता है।^{५१}

५० 'इअ जीवपमायस्सरी वीर भद्रतयेयमन्धयणं ।

- चतुःशरण गाथा ६३ ।

५१ 'तिविहं ज्ञपति मरणं, बालाणं बालपण्डियाणं च ।

तद्वयं पण्डितमरणं, जं केवलिनो अनुपरीति।'

- आतुरप्रत्याख्यान गाथा ३५ ।

3. महाप्रत्याख्यान

महाप्रत्याख्यान प्रकीर्णक में प्रत्याख्यान त्याग का विस्तृत विवेचन किया गया है। इसमें १४२ गाथायें हैं। शैली पद्यात्मक है।

ग्रन्थ के प्रारम्भ में तीर्थकरों, सिद्धों और संयतों को नमस्कार किया गया है। पाप एवं दुष्कृत की निन्दा करते हुए बताया है कि पापों की आलोचना करनी चाहिए; क्योंकि सशल्य की आराधना निरर्थक होती है और निःशल्य की आराधना सार्थक होती है। पंडितमरण का आराधक संसार को अशरणभूत जानकर, सर्वविरति धारण कर, निदान (आकांक्षा) रहित मृत्यु को प्राप्त करता है। कर्मों का क्षय करता है। यदि उत्कृष्ट आराधक हो तो उसी भव में मोक्ष प्राप्त करता है। जघन्य, मध्यम आराधना से सात-आठ भव में तो अवश्य ही मोक्ष प्राप्त करता है।

संक्षेप में शाश्वत सुख एवं अक्षय शान्ति के लिये भोगों का त्याग आवश्यक है। प्रत्याख्यान से साधना प्रदीप्त होती है। यही इस प्रकीर्णक का मूल घोष है।

४. भक्तपरिज्ञा

इस प्रकीर्णक में मुख्य रूप से 'भक्तपरिज्ञा' नामक मरण का उल्लेख होने से इसका नाम 'भक्तपरिज्ञा' है इसमें १७२ गाथायें हैं। इसके कर्ता आर्य वीरमद्र हैं।

इसके प्रारम्भ में बताया है कि वास्तविक सुख की प्राप्ति जिनाज्ञा की आराधना से होती है। तत्पश्चात् पंडितमरण (अभ्युद्यतमरण) के भक्तपरिज्ञा, इगिनी और पादपोषगमन ये तीन प्रकार बताये हैं।^{५२}

भक्तपरिज्ञामरण के दो भेद किये हैं— (१) सविचार (२) अविचार। भक्तपरिज्ञा का वर्णन करते हुए कहा है कि जो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट है, उसकी मुक्ति नहीं होती।^{५३} सम्यग् दर्शन से युक्त व्यक्ति ही मुक्ति का अधिकारी है। क्योंकि जहाँ सम्यक्त्व है वहाँ ज्ञानादि गुणों की प्रतिष्ठा है। इसमें मन को बन्दर की तरह बताया है; जैसे बन्दर कुछ समय के लिए भी शान्त नहीं बैठ सकता, वैसे मन भी विचारशून्य नहीं हो सकता। अतः मन को वश में

५२ 'त अङ्गुलुजोऽपि अमरणस्मेहिं वनिअं विविह ।

भक्तपरिज्ञा इगिणि पाओषगमं च धीरोहिं ॥'

- भक्तपरिज्ञा गाथा ६ ।

५३ 'दंसगभदो भदो दंसगभदुस नत्थि निक्वाणं ।

सिञ्जति वरणतथिया दंसगरथिया न सिञ्जति।'

- भक्तपरिज्ञा गाथा ६६ ।

करना चाहिए। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह का पालन मन को वश में करने का अमोघ उपाय है।

अन्त में बताया है कि भक्तपरिज्ञा के समय वेदना को शान्त भाव से सहन करना चाहिए। नमस्कार महामंत्र के ध्यानपूर्वक प्रतिज्ञा का पूर्ण पालन करना चाहिए।

भक्तपरिज्ञा का जघन्य साधक निम्न देवलोको में उत्पन्न होता है। मध्यम साधक अच्युत कल्प में जन्म ग्रहण करता है। उत्कृष्ट साधक सर्वार्थसिद्ध विमान या सिद्धपद को प्राप्त करता है।

५. तंदुलवैचारिक

प्रस्तुत प्रकरण का नाम तंदुलवैचारिक है। तंदुल का अर्थ चावल होता है, सौ वर्ष का वृद्ध पुरुष एक दिन में जितने तन्दुल (चावल) खाता है उनकी संख्या को उपलक्षित कर इस ग्रन्थ का नामकरण हुआ है।^{१४} प्रस्तुत ग्रन्थ के इस लाक्षणिक नामकरण का आशय विद्वानों के लिए अन्वेषणीय है।

इसमें मुख्यतः मानवजीवन के विविध पक्षों यथा गर्भावस्था, मानवीय शरीर की संरचना, उसकी शतायु के दस विभाग, उनमें होने वाली शारीरिक स्थितियां तथा उसके आहार आदि के विषय में विशद विवेचन किया गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में नारी स्वभाव की निन्दा करते समय उसके व्युत्पत्तिपरक अनेक नामों की चर्चा की है जैसे नारी के पर्यायवाची प्रमदा शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कहा है; 'पूरिसे मत्ते करति ति पमयाओं' अर्थात् पुरुष को कामोन्मत्त बनाने के कारण नारी प्रमदा कहलाती है।

महिला शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की गई है 'णणाविहेहिं कम्महिं सिप्पइयाएहिं पुरिसे मोहति ति महिलाओ' अर्थात् अनेक प्रकार की शिल्प आदि कलाओं द्वारा पुरुष को मोहित करने के कारण वह महिला कही जाती है।

१४ 'तंदुलानां वर्षतापुष्क प्रतिदिन भोजनानां संख्याविचारोन्मत्ततां तंदुलवैचारिक' - अभिषयानरामेन्द्रकोश; कतुयं पान पृष्ठ २१६-८।

नारी शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कहा है: 'नारीसमा न नराणं अरीओ ति नारीओ अर्थात् नारी के समान पुरुष का कोई शत्रु नहीं है। अतः स्त्रियों का एक नाम नारी भी है।

इसी प्रकार इस ग्रन्थ में स्त्री के पर्यायवाची रामा, अंगना आदि शब्दों की भी सटीक व्युत्पत्ति की गई है।

अन्त में बताया गया है कि यह शरीर जन्म, जरा, मरण एवं वेदनाओं से भरा हुआ है। एक प्रकार का शकट (गाड़ी) है अतः ऐसी गति करनी चाहिए जिससे दुःखों से मुक्ति प्राप्त हो सके।⁶⁶

इस प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थ का मुख्य प्रतिपाद्य 'अशुचिभावना' है। इसमें की गई नारी-स्वभाव की निन्दा का सम्बन्ध नारी से न जोड़कर 'वासना' से जोड़ना समीचीन प्रतीत होता है। यहां नारी को वासना का प्रतीक माना है।

इसमें वर्णित गर्भविषयक चर्चा की तुलना आधुनिक जीव-विज्ञान के साथ की गई है।⁶⁶

६. संस्तारक

जैन साधना-पद्धति में संस्तारक का अत्यधिक महत्त्व है। इसका सामान्य अर्थ तो बिस्तर या शय्या है। किन्तु यह जैनपरम्परा का पारिभाषिक शब्द है, जिसका तात्पर्य जीवन के अंतिम समय में आत्मनिरीक्षण द्वारा मन को समभाव में स्थिर रखना है। ममत्व का त्याग, पूर्वकृत दुष्कृत्यों की आलोचना, निस्पृहवृत्ति एवं निर्द्वन्द्व चेतना की साधना करते हुए मृत्यु को मंगलमय बनाना ही संथारा है।

प्रशस्त संथारे का महत्त्व बताते हुए ग्रन्थ में लिखा है कि जैसे पर्वतों में मेरु, समुद्रों में स्वयंभूरमण और तारों में चन्द्र श्रेष्ठ हैं, वैसे सुविहितों में संथारा सर्वोत्तम है।⁶⁷

५५ 'एयं सगढसरीरं जाङ्गलमरणवेयणाबहुलं।

तह घत्तह कउं जे अह मुष्कह सव्वदुक्खाणं।'

- तंदुलवैचारिक गाथा १३६ ।

५६ 'प्रकीर्णकसाहित्य : मनन और नीमासा', पृष्ठ २२४ ।

५७ 'मैरुव्य पद्वयाणं, संयंभूरमणुव्वकेव उवहीणं ।

वंदो इव ताराणं, तह संथारो सुविहियाणं।'

- संस्तारक प्रकीर्णक गाथा ३०।

इसमें अर्णिकापुत्र, सुकोशल ऋषि, अवन्तिकार्तिकार्य, चाणक्य, अमृतघोष, चिलातीपुत्र, गजसुकुमाल आदि संधारा ग्रहण करने वाली आत्माओं का संक्षेप में परिचय दिया गया है। साथ ही इनके उपसर्गविजय की प्रशंसा भी की गई है।

संधारे का साधक सभी प्राणियों से मैत्रीभाव स्थापित कर अपने अपराधों की क्षमायाचना करता है। वह उपार्जित कर्मों का क्षय करता हुआ तीसरे भव में मोक्ष को प्राप्त करता है।

कुल मिलाकर इसमें भी समाधिमरण की प्रक्रिया का विस्तृत विवेचन किया गया है। इसमें १२३ गाथाएँ हैं। इसके रचयिता कौन थे, यह अन्वेषणीय है। आर्य गुणचन्द्र ने इस पर अवचूरि लिखी है।

७. गच्छाचार .

इसमें गच्छ अर्थात् संघ या समुदाय में रहने वाले साधु साध्वियों के आचार का वर्णन है। इसके अनुसार जिस गच्छ में दान, शील, तप और भाव इन चार प्रकार के धर्मों का आचरण करने वाले गीतार्थ मुनि अधिक हों, वही सुगच्छ है।

इसमें गच्छ के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए लिखा है कि गच्छ महान प्रभावशाली है। उसमें रहने से महान् निर्जरा होती है। संघीय जीवन में सारणा, वारणा और प्रेरणा के द्वारा साधक के पुराने दोष नष्ट हो जाते हैं और नूतन दोषों की उत्पत्ति नहीं होती।

इसमें गुरु शिष्य दोनों एक दूसरे के 'आत्महितैषी' बनें, इसके लिए भी प्रेरणा दी गई है।^{१६}

अन्त में श्रमणियों की शयनभर्यादा का वर्णन किया है और श्रमण को श्रमणियों से अति परिचय रखने एवं उनके स्पर्श करने का निषेध किया गया है।

१६ 'जीहए वित्तिहलो न भइओ, सारण जहिं नविया।
इहेणवि ताबंतो, स भइओ सारणा जत्वा।।
सीसीअवि वेरिओ सो उ, ओ गुहं नवि बोहर।
एमायपइराचवं, सामायासीविराहया।'

इसमें १३७ गाथायें हैं। यह प्रकीर्णक महानिशीथ बृहत्कल्प एवं व्यवहार सूत्रों के आधार पर लिखा गया है।^{१९}

इस प्रकार इस प्रकीर्णक में जैन संघ व्यवस्था का चित्रण किया गया है।

८. गणिविज्जा (गणिविद्या)

गणिविज्जा-गणित विद्या - यह ज्योतिष का एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें ८२ गाथायें हैं। इसकी शैली गद्यात्मक है। इसमें नौ विषयों का विवेचन है-

१. दिवस	२. तिथि	३. नक्षत्र
४. करण	५. ग्रहदिवस	६. मुहूर्त
७. शकुन	८. लग्न	९. निमित्त

दिवस से तिथि, तिथि से नक्षत्र, नक्षत्र से करण, करण से ग्रहदिवस, ग्रहदिवस से मुहूर्त, मुहूर्त से शकुन, शकुन से लग्न और लग्न से निमित्त बलवान होता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में दीक्षा, विहार, अध्ययन, लोच, आचार्य आदि पद के लिये शुभाशुभ तिथियों व नक्षत्रों का वर्णन किया गया है। साथ ही करण, शकुन आदि का भी वर्णन किया गया है।

९. देवेन्द्रस्तव

इसमें बत्तीस देवेन्द्रों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। इसमें ३०७ गाथायें हैं।

ग्रन्थ के प्रारम्भ में किसी श्रावक ने देवेन्द्रों से पूजित ऋषभ आदि चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति की है। उसकी पत्नी ने उससे ३२ इन्द्रों के स्वरूप के बारे में जानना चाहा। तब वह सर्वप्रथम भवनवासीदेवों का वर्णन करता है। किन्तु इसके साथ ही आठ प्रकार के व्यंतरदेवों एवं पांच प्रकार के ज्योतिषदेवों की स्थिति, ऋद्धि आदि का भी वर्णन है। वैमानिक, ग्रैवेयक और अनुत्तर विमानवासी देवों की लेश्या, अवगाहना, आहार, श्वासोच्छ्वास आदि पर भी इसमें प्रकाश डाला है।

अन्त में ईषत्प्राग्भारा अर्थात् सिद्धशिला का वर्णन किया गया है। सिद्धों, जिनेन्द्रदेवों की महिमा का वर्णन किया गया है।

१९ 'महानिशीथकथाओ, व्यवहारओ तर्हेव या। साह्यवाहणिअट्टए, गच्छयारं समुद्धिअं।'

- गच्छयाउत्कीर्णक गाथा १३५।

१०. मरणसमाधि

मरणसमाधि प्रकरण का अपर नाम मरणविमक्ति है। इसमें ६६३ गाथायें हैं। यह अन्य सभी प्रकीर्णकों से बड़ा है।

इसकी रचना आठ प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर हुई है। वे निम्न हैं -

- | | | |
|--------------------|----------------|---------------------|
| १. मरणविमक्ति | २. मरणविशोधि | ३. मरणसमाधि |
| ४. संलेखनाश्रुत | ५. भक्तपरिज्ञा | ६. आतुरप्रत्याख्यान |
| ७. महाप्रत्याख्यान | ८. आराधनापताका | |

इसमें समाधिमरण के कारणभूत चौदह द्वार बताये हैं-

- | | | |
|---------------|-----------------|-------------|
| १. आलोचना | २. संलेखना | ३. क्षमापना |
| ४. काल | ५. उत्सर्ग | ६. उद्ग्रास |
| ७. संधारा | ८. निसर्ग | ९. वैराग्य |
| १०. मोक्ष | ११. ध्यान विशेष | १२. लेश्या |
| १३. सम्यक्त्व | १४. पादपोषगमन | |

आलोचना निःशल्य होनी चाहिए यह बताते हुए आलोचना के दस दोष बताए हैं -

- | | | |
|-------------|------------|------------|
| १. आकम्पन | २. अनुमानन | ३. दृष्ट |
| ४. बादर | ५. सूक्ष्म | ६. छन्न |
| ७. शब्दाकुल | ८. बहुजन | ९. अव्यक्त |
| १०. तत्सेवी | | |

आलोचकों को इन दोषों का त्याग कर निष्कपट साधना करनी चाहिए और बारह प्रकार के तप की आराधना करनी चाहिए।

इसमें संलेखना के आभ्यन्तर और बाह्य दो प्रकार बताए गए हैं।^{६०} कषायों को कृश करना आभ्यन्तर संलेखना है। काया को कृश करना बाह्य संलेखना है। साथ ही इसमें संलेखना की प्रक्रिया पर भी प्रकाश डाला गया है और पण्डित मरण का विवेचन करते हुए परीषह जयी, पादपोषगमन संधारा करने

६० 'संलेखना य पुत्रिण अभिन्तरिय य बाहिय वेवा।
अभिन्तरिय कसए, बाहिरिय वेद य सतीरे।'

वाले, सिद्धगतिगामी आत्माओं के भी दृष्टान्त दिये गये हैं। अन्त में अनित्य, अशरण आदि भावनाओं पर भी प्रकाश डाला गया है।⁶¹

इन दस प्रकीर्णकों में कुछ आचार्यों ने अन्य दो प्रकीर्णकों को छोड़कर उनके स्थान पर चन्द्रवेध्यक और वीरस्तव प्रकीर्णक को भी सम्मिलित किया है, अतः इन दोनों का भी यहां उल्लेख किया जा रहा है—

चन्द्रवेध्यक

चन्द्रवेध्यक (चन्द्रवेज्जय) प्रकीर्णक में राधावेध की उपमा देते हुए साधक को अप्रमत्त रहने का उद्बोधन दिया गया है। जैसे सुसज्जित राधावेध करने वाला व्यक्ति अल्प प्रमादवश राधावेध नहीं कर सकता, उसी प्रकार जीवन की अन्तिम घड़ियों में किञ्चित् मात्र भी प्रमाद करने वाला साधक सिद्धि का वरण नहीं कर पाता। अतः आत्मार्थी को सदा सर्वत्र अप्रमत्त होकर विचरण करना चाहिए।

प्रस्तुत प्रकीर्णक में विनय, आचार्यगुण, शिष्यगुण, विनयनिग्रहगुण, ज्ञानगुण, चरणगुण एवं मरणगुण— इन सात विषयों पर विस्तार से विवेचन किया गया है। इसमें १७५ गाथायें हैं।

वीरस्तव

इस प्रकीर्णक में प्रभु महावीर की स्तवना होने से इसका नाम वीरस्तव रखा गया है। इसमें प्रभु महावीर के अनेक नामों का उल्लेख किया गया है। इसमें ४३ गाथायें हैं। २६ नामों का अलग-अलग अन्वयार्थ भी दिया गया है। प्रभु महावीर के छब्बीस नाम निम्न हैं—

१. अरूह २. अरिहंत ३. अरहंत ४. देव ५. जिन ६. वीर
७. परमकारुणिक ८. सर्वज्ञ ९. सर्वदर्शी १०. पारंग ११. त्रिकालविद् १२. नाथ
१३. वीतराग १४. केवली १५. त्रिभुवनगुरु १६. सर्व १७. त्रिभुवनवरिष्ठ
१८. भगवन् १९. तीर्थंकर २०. शक्रनमस्कृत २१. जिनेन्द्र २२. वर्धमान २३. हरि
२४. हर २५. कमलासन और २६. बुद्ध

६१ 'मरणसमाधि' गाथा ५७२ से ६३८।

इसमें अरिहंत के तीन, अरहंत के चार तथा भगवान के दो अन्वयार्थ किये गये हैं। शेष नामों के एक-एक अन्वयार्थ किये गये हैं।

अन्य प्रकीर्णक

इन प्रकीर्णकों के अतिरिक्त अन्य अनेक प्रकीर्णक हैं। उनमें से कुछ के नाम निम्न हैं—

तिथ्योगाली, अजीवकल्प, सिद्धपाहुड (सिद्धिप्राभृत), आराहणपहाया (आराधनापताका), दीवसायरपण्णति (द्वीपसागरप्रज्ञप्ति), जोइसकरंडक (ज्योतिष्करंडक), अंगविज्जा (अंगविद्या), तिहिपइण्णग, सारावलि, पज्जंताराहण (पर्यन्ताराधना), जीवविहिति (जीवविभक्ति), कवचप्रकरण, जोणिपाहुड आदि।

इन प्रकीर्णकों में विशेषतया जीवन शोधन की कला का वर्णन किया गया है। कुछ ग्रन्थों में ज्योतिष, निमित्त आदि विषयों पर भी विचार किया गया है। विस्तारभय से हमने यहां इन सब की विषयवस्तु का विवेचन नहीं किया है।

१.७ जैन आगमों में उत्तराध्ययनसूत्र का स्थान

उत्तराध्ययनसूत्र (उत्तरज्झयणाणि) अर्धभागधी साहित्य का एक प्राचीनतम ग्रन्थ है। नन्दीसूत्र के वर्गीकरण के अनुसार उत्तराध्ययनसूत्र को अंगबाह्य, आशयक-व्यतिस्ति कालिक सूत्रों में प्रथम स्थान प्राप्त है।⁶² वर्तमान में प्रचलित आगमों के वर्गीकरण के अन्तर्गत इसका स्थान मूल आगमों में है। दिगम्बरपरम्परा में बारह अंग एवं चौदह अंग-बाह्य आगम माने गये हैं। उसमें अंगबाह्य के अन्तर्गत उत्तराध्ययनसूत्र का आठवां स्थान है।

श्वेताम्बर मूर्तिपूजक सम्प्रदाय में ग्यारह अंग, बारह उपांग, छः छेद, चार मूल, दो चूलिका एवं दस प्रकीर्णक माने गये हैं। उसमें उत्तराध्ययनसूत्र का नाम मूल आगमों में मिलता है। श्वेताम्बर जैनपरम्परा के अमूर्तिपूजक सम्प्रदाय अर्थात् स्थानकवासी एवं तेरांथी बत्तीस आगम मानते हैं, परन्तु वे भी उत्तराध्ययनसूत्र को तो मूल आगम के रूप में ही स्वीकार करते हैं।

६२ 'नन्दीसूत्र' ७८

- ('नवसुताणि' लाटनू पृष्ठ २६७)।

आचार्य उमास्वाति के तत्त्वार्थभाष्य में अंगबाह्य ग्रन्थों में सामायिक आदि छः आवश्यक ग्रन्थों का उल्लेख है और उसके बाद दशवैकालिक, उत्तराध्ययनसूत्र, आचारदशा, कल्प, व्यवहार, निशीथ और ऋषिभाषित का उल्लेख है।^{६३}

उत्तराध्ययनसूत्र जैनधर्म दर्शन एवं साधना की सर्वांगीण व्याख्या प्रस्तुत करता है। यही कारण है कि हिन्दु धर्म-ग्रन्थों में जो स्थान गीता का है, बौद्धधर्म ग्रन्थों में 'धम्मपद' का है, वही स्थान जैन आगमों में उत्तराध्ययनसूत्र का है। यह जैनसिद्धान्तों एवं जैनसाधनापद्धति का प्रतिनिधि ग्रन्थ है। जैन दर्शन का कोई भी प्रमुख सिद्धान्त या विचार ऐसा नहीं है जो उत्तराध्ययनसूत्र में उल्लिखित न हो। इसमें सामाजिक शिष्टाचार, आध्यात्मिक-तत्त्वज्ञान और वैराग्य को सिंचित करने वाले सभी मूल तत्त्व उपस्थित हैं। यही कारण है कि इसे मूल आगम कहा जाता है।

जैनागम साहित्य में उत्तराध्ययनसूत्र के महत्त्व को जानने हेतु सर्वप्रथम उपसंहार के रूप में संपूर्ण आगम-वाङ्मय की संक्षिप्त परिक्रमा अपेक्षित है।

अंगसाहित्य में 'आचारांगसूत्र' आचारप्रधान है; 'सूत्रकृतांग' दर्शन प्रधान है; 'स्थानांग' एवं 'समवायांग' जैन शब्दकोश की तरह हैं; 'भगवतीसूत्र' जैन दर्शन एवं खगोल-भूगोल सम्बन्धी गंभीर सिद्धान्तों का वर्णन करता है। 'ज्ञाताधर्मकथांग' 'उपासकदशांग', 'अन्तगडदशांग' एवं 'अनुत्तरोपपातिकदशांग' में वैराग्यवर्धक कथाओं का संकलन है। 'प्रश्नव्याकरणसूत्र' का उपलब्ध संस्करण बन्धन और मुक्ति के मूल हेतु आस्रव एवं संवर की चर्चा करता है, तो 'विपाकसूत्र' शुभाशुभ कर्मों के फल विपाक की कथाओं के माध्यम से चर्चा करता है। 'दृष्टिवाद' यद्यपि जैनदर्शन, कर्मसिद्धान्त एवं आचार सम्बन्धी मौलिक प्रश्नों की चर्चा करता था, किन्तु आज वह अनुपलब्ध है।

उपांग आगमों में 'औपपातिकसूत्र' में मुख्यतः स्वर्ग (देवलोक) एवं नरक में जन्म ग्रहण करने वालों का वर्णन है; 'राजप्रश्नीय' में राजापसेनीय (प्रसेनजित) की कथा है; 'जीवाजीवविभक्ति' में जीव-अजीव का विश्लेषण है; 'प्रज्ञापना' जीव एवं अजीव के सम्बन्ध रूप मन, भाषा, कर्म आदि की चर्चा करता है। 'सूर्यप्रज्ञप्ति' तथा 'चन्द्रप्रज्ञप्ति' ज्योतिष-विद्या प्रधान ग्रन्थ है। 'जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति' जंबूद्वीप का वर्णन

६३ 'तत्त्वार्थभाष्य' अ. १ सू. २० (पृष्ठ १५)।

करती है, इसका मुख्य विषय भूगोल है और 'निरयावतिका' के पांचों अंग वैराग्यवासित कथा प्रधान हैं।

छेदसूत्रों में प्रायश्चित्त विधि का वर्णन है तो मूलसूत्रों में 'दशवैकालिक', 'आवश्यक', 'पिण्डनिर्युक्ति' और 'ओघनिर्युक्ति' आदि में मुख्यतः मुनि आचार का वर्णन है। चूलिकासूत्रों के अन्तर्गत 'नन्दीसूत्र' में पांचज्ञान का एवं 'अनुयोग-द्वार' में विभिन्न निक्षेपों एवं अनुयोगों का विवेचन है।

प्रकीर्णकों में 'चतुःशरण' में चार शरण अर्हत, सिद्ध, साधु एवं धर्म तथा 'आतुरप्रत्याख्यान', 'महाप्रत्याख्यान', 'भक्तपरिज्ञा' 'संस्तारक' एवं 'मरणसमाधि' में समाधिमरण का वर्णन है, 'तंदुलवैचारिक' एवं 'चन्द्रवेध्यक' मुख्यतः साधनापरक हैं। 'गच्छाचार' में गच्छ/संघ के नियम/अनुशासन का; 'गणिविद्या' में मुख्यतः ज्योतिष का एवं 'देवेन्द्रस्तव' में देवों की ऋद्धि का वर्णन किया गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जहां प्रत्येक आगम मुख्यतः एक विषय प्रधान है, वहीं 'उत्तराध्ययनसूत्र' बहुविध विषयों का सरस, सुबोध एवं सारगर्भित संग्रह है। इसमें धर्म, आचार, तत्त्वज्ञान, उपदेश, इतिहास आदि अनेक पहलुओं पर प्रकाश डाला गया है। संक्षेप में कहें तो जैनदर्शन की दार्शनिक एवं आचार सम्बन्धी मान्यताओं को समझने के लिए यह एक ही शास्त्र पर्याप्त है। इसके सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन अग्रिम अध्याय में किया गया है।

अध्याय - २

उत्तराध्ययनसूत्र :
एक परिचय



उत्तराध्ययनसूत्र : एक परिवय

भारतीय चिन्तन किसी भी व्यक्ति, वस्तु, स्थान या ग्रन्थ के नाम की सार्थकता पर अधिक बल देता है। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो यहां प्रायः व्यक्ति आदि के गुण-धर्म तथा ग्रन्थ की विषय-वस्तु या शैली के आधार पर ही उनका नामकरण किया जाता है। अतः हमें अपने शोध कार्य हेतु चयनित ग्रन्थ उत्तराध्ययनसूत्र के नामकरण पर भी विचार करना होगा कि इसके नामकरण की सार्थकता किस रूप में है ?

उत्तराध्ययनसूत्र शब्द उत्तर और अध्ययन इन दो शब्दों के संयोजन से बना है। विभिन्न समासों के आधार पर उत्तराध्ययनसूत्र शब्द का विश्लेषण निम्न प्रकार से किया जा सकता है—

1. उत्तरकाले पठनीयानि, अध्ययनानि यानि तानि उत्तराध्ययनानि;
2. उत्तरकाले उक्तानि प्रवेदितानि अध्ययनानि यस्मिन् सः उत्तराध्ययनः;
3. उत्तरकाले रचितानि अध्ययनानि उत्तराध्ययनानि;
4. उत्तराणि प्रधानानि अध्ययनानि यस्य/यस्मिन् तत्/सः उत्तराध्ययनम्—उत्तराध्ययनः;
5. उत्तररूपाणि अध्ययनानि उत्तराध्ययनानि;
6. उत्तरस्य कश्चित् ग्रन्थस्य उत्तरभागरूपाणि अध्ययनानि यस्य तत् उत्तराध्ययनम् ।

बहुव्रीहि, कर्मधारय, तत्पुरुष आदि समासों के आधार पर व्याख्या करने से उत्तराध्ययनसूत्र के निम्न अर्थ फलित होते हैं —

1. उत्तरकाल में पढ़े जाने वाले अध्ययनः;
2. उत्तरकाल में प्रवेदित (कहे जाने वाले) अध्ययनः;
3. उत्तरकाल में रचित अध्ययनः;
4. श्रेष्ठ धर्म के प्रतिपादक अध्ययनः;
5. उत्तर अर्थात् समाधानपरक अध्ययनः;
6. किसी ग्रन्थ के उत्तरभाग रूप अध्ययनम् ।

2.1 उत्तराध्ययनसूत्र के नामकरण के सन्दर्भ में विभिन्न अवधारणायें

उत्तराध्ययनसूत्र के नामकरण के विषय में विद्वानों ने अनेक दृष्टि से विचार किया है। इसके नामकरण में इस ग्रन्थ की ऐतिहासिकता भी सन्निहित है। अतः इस पर विचार करना आवश्यक है।

'उत्तराध्ययनसूत्र' शब्द उत्तर और अध्ययन इन दो शब्दों से बना है। उत्तर शब्द अनेकार्थक है। विद्वानों के द्वारा उत्तर शब्द की व्याख्या निम्न तीन रूपों में की गई है - (१) उत्कृष्ट या श्रेष्ठ (२) प्रश्नों या जिज्ञासाओं का समाधान अर्थात् उत्तर और (३) परवर्ती। 'अध्ययन' शब्द का सामान्य अर्थ पढ़ना है, किन्तु इसके भी निम्न पारिभाषिक अर्थ किये गये हैं-

'उत्तराध्ययननिर्युक्ति' के अनुसार जो आत्मा को स्वभाव की ओर ले जाने में सहायक हो तथा उपचित कर्मों के अपचय अर्थात् क्षय तथा नवीन कर्मों के असंचय का कारण हो वह अध्ययन है।^१ अध्ययन शब्द की यह व्याख्या निरोध अनुयोगद्वारसूत्र में भी उपलब्ध होती है।^२

'विशेषावश्यकभाष्य' के अनुसार जिससे बोधि, संयम और मोक्ष का 'अधिक' अर्थात् विशिष्ट 'अयन' अर्थात् लाभ होता है, वह अध्ययन है।^३

'स्थानांगसूत्र' की टीका में जो विशेष रूप से पढ़ा जाता है, अथवा स्मृत या ज्ञात किया जाता है, उसे 'अध्ययन' कहा गया है।^४

'सूर्यप्रज्ञप्ति' की टीका के अनुसार जिनसे जाना जाता है, वे अध्ययन हैं।^५

अध्ययन शब्द के उपर्युक्त सभी अर्थ यद्यपि 'उत्तराध्ययनसूत्र' के अध्ययन शब्द से सम्बन्ध रखते हैं, फिर भी 'उत्तराध्ययनसूत्र' में प्रयुक्त अध्ययन शब्द का मुख्य अर्थ परिच्छेद प्रकरण या अध्याय ही अधिक समीचीन प्रतीत होता है। इसके प्रत्येक परिच्छेद के लिए 'अध्ययन' शब्द का ही प्रयोग किया गया है।

१ 'अन्धपण्यणं, कम्मणं अवचओ उवचिखणं ।

अणुयचओ व पथाणं, तन्हा अन्धपणपिच्छंते।'

- उत्तराध्ययननिर्युक्ति गाथा ६ (निर्युक्ति तत्रह पृष्ठ ३६५) ।

२ 'अनुयौगद्वार सूत्र ६३५

- ('नवसुत्ताणि', लाडनं पृष्ठ ४१०) ।

३ 'जेण सुहपज्ञयणं, अन्धप्याणपणमहियं भवणं वा ।

बोहस्स संजमस्स द, मोक्खस्स व तो तयन्धणं ॥'

- विशेषावश्यकभाष्य गाथा ६६०- पृष्ठ ३८६ ।

४ 'अधीयते वा पदुयते आधिक्येन सम्यते न्यते वा तदित्यध्ययनम्'

- स्थानांग टीका -पत्र ५ (उद्धृत -निरुक्त कोश पृष्ठ ६)।

५ 'अधीयन्ते ज्ञायन्ते यैस्तान्धयपनानि ।'

- सूर्यप्रज्ञप्ति टीका पत्र १४६ (उद्धृत -निरुक्तकोश पृष्ठ ६)

संक्षेप में ऐसे प्रकरण जो आध्यात्मिक प्रगति की दिशा में ले जाते हैं, अध्ययन कहलाते हैं। अब हम उत्तर शब्द के साथ अध्ययन शब्द के समन्वय पर विचार करेंगे।

श्रेष्ठ अर्थ वाचक 'उत्तर' शब्द के साथ 'अध्ययन' शब्द को जोड़ने पर उत्तराध्ययनसूत्र का अर्थ होगा - श्रेष्ठ, आध्यात्मिक अथवा लोकोत्तर धर्म का प्रतिपादक अध्ययन 'उत्तराध्ययनसूत्र' है। इस सन्दर्भ में 'अभिधानराजनेन्द्रकोश' में कहा गया है कि परम्परा से विनयश्रुत आदि छत्तीस अध्ययनों को प्रधान या श्रेष्ठ कहा गया है। अतः इनका संकलन जिसमें हो वह उत्तराध्ययनसूत्र है।^६ अन्य अपेक्षा से पैंतालीस आगमों में यदि आचारांग को छोड़ दिया जाये तो जैनदर्शन के मूलभूत सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने वाला यह श्रेष्ठ आगम है, अतः इसे उत्तराध्ययनसूत्र कहा जाता है। इस प्रकार यह श्रेष्ठ अर्थ वाचक 'उत्तर' शब्द का प्रयोग इस आगम के लिये सार्थक है।

उत्तर शब्द का समाधान अर्थ करने पर उत्तराध्ययनसूत्र की विषयवस्तु के साथ उत्तर शब्द की पूर्ण संगति नहीं बैठती क्योंकि उत्तराध्ययनसूत्र का २, ६, १६, २३, २६ आदि कुछ अध्ययन प्रश्नोत्तर रूप या संवाद रूप हैं। शेष अध्ययनों में दृष्टान्त, कथानक, घटनाक्रम आदि हैं, यह सब समाधान वाचक उत्तराध्ययनसूत्र में कैसे समाहित हो सकता है ?

कल्पसूत्र में उल्लेख है कि भगवान महावीर ने अपने अन्तिम समय में अपृष्ट - बिना पूछे हुए प्रश्नों अर्थात् मानव की सहज जिज्ञासाओं का समाधान अर्थात् उत्तर छत्तीस अध्ययनों में दिया है। अतः अपृष्ट प्रश्नों के उत्तर रूप होने से इस देशना/उपदेश का नाम उत्तराध्ययनसूत्र हो गया।^७ 'कल्पसूत्र' की इस बात की पुष्टि स्वयं उत्तराध्ययनसूत्र के छत्तीसवें अध्ययन की निम्न अन्तिम पंक्तियों से भी होती है- ज्ञातकुल में उत्पन्न वर्द्धमान स्वामी छत्तीस उत्तराध्ययनसूत्रों का प्रज्ञापन या प्रकाशन कर परिनिर्वाण को प्राप्त हुए।^८ उत्तराध्ययनसूत्र के टीकाकार ने भी इस

६ अभिधानराजनेन्द्रकोश, द्वितीय भाग, पृष्ठ ७६४।

७ 'तेषु कस्मिन् तेषु समएण पणपनं अञ्जयणाइ कत्ताणफलविवाणाइ पणपनं अञ्जयणाइ पावफलविवाणाइ क्खीसं अपुहु वागरणाइ वापरिणा पहणं नामञ्जयणं विभावेभावे विभावेभावे कलणए विहङ्कते समुज्जाइ छिन्नाइजरतरणबणणे सिद्धे, बुद्धे, मुने अंतगडे परि निवुडे।' - कल्पसूत्र (मूल) - (महावीर चरित्र सूत्र ११७ पत्र ३६)।

८ 'इ पाउकरे बुद्धे, नाएए परिनिवुए।

छत्तीस उत्तरज्जाए, भवसिद्धीयसंए ॥'

- उत्तराध्ययनसूत्र ३६/२६८।

तथ्य का समर्थन किया है।⁹ अपृष्ट व्याकरण की चर्चा हेमचन्द्राचार्य ने 'त्रिशष्टिशलाकाचरित्र' में भी की है,¹⁰ किन्तु उत्तराध्ययनसूत्र के नामकरण के सन्दर्भ में की गई यह कल्पना तर्कसंगत प्रतीत नहीं होती है, क्योंकि साहित्यिक दृष्टि से 'उत्तर' शब्द प्रश्नसापेक्ष है। प्रश्न पूछे बिना जो कुछ कहा जाये उसे व्याख्यान, विवेचन, विश्लेषण, विवरण, निरूपण आदि तो कहा जा सकता है, परन्तु उसे उत्तर कैसे कहा जा सकता है ? वस्तुतः 'कल्पसूत्र' एवं 'त्रिशष्टिशलाकाचरित्र' दोनों में वागरण या व्याकरण शब्द का प्रयोग किया गया है, जिसका अर्थ विश्लेषण ही है। अतः यहां 'उत्तर' शब्द का व्याख्यान प्रकाशन अधिक तर्कसंगत लगता है। इस प्रकार भगवान महावीर द्वारा अन्तिम समय में किया गया तत्त्वों का प्रकाशन उत्तराध्ययनसूत्र है।

पश्चात्पूर्वी अर्थ के वाचक उत्तर शब्द के आधार पर संयोजित उत्तराध्ययनसूत्र शब्द की अन्य व्याख्यायें इस प्रकार हैं : निर्युक्तिकार के अनुसार आचारांग के पश्चात् जिन अध्ययनों का अध्ययन किया जाता था, वे अध्ययन उत्तराध्ययनसूत्र कहलाते थे। चूंकि उत्तराध्ययनसूत्र का अध्ययन आचारांग के पश्चात् अथवा परवर्ती काल में दशवैकालिक के पश्चात् किया जाने लगा, अतः इसका नाम उत्तराध्ययनसूत्र हो गया। सामान्यतया विद्वानों ने उत्तराध्ययनसूत्र की व्याख्या इसी आधार पर की है कि जिन अध्ययनों का अध्ययन आचारांग अथवा दशवैकालिक के पश्चात् किया जाता है, वे उत्तराध्ययनसूत्र हैं।

डॉ. सागरमल जैन के अनुसार इसकी रचना 'प्रश्नव्याकरणसूत्र' के ऋषिभाषित अध्ययनों को छोड़कर शेष महावीरभाषित एवं आचार्यभाषित उत्तर अध्ययनों से हुई है, अतः यह उत्तराध्ययनसूत्र कहा जाता है।¹¹ परम्परागत दृष्टि से यह माना जाता है कि उत्तराध्ययनसूत्र का उपदेश भगवान महावीर ने निर्वाण प्राप्ति के पूर्व अर्थात् अन्तिम समय में दिया था। 'समवायांगसूत्र' में यह भी निर्देश है कि ५५ पापफलविपाक और ५५ पुण्यफलविपाक रूप ११० अध्ययनों का प्रवचन करते हुए भगवान महावीर परिनिर्वाण को उपलब्ध हुए।¹² इस आधार पर डॉ. सागरमल जैन ने यह निष्कर्ष निकाला कि ऋषिभाषित के ४५, उत्तराध्ययनसूत्र के ३६, ज्ञाताधर्मकथांग के १६ एवं विपाकसूत्र के १० अध्ययनों का योग ११० होता है। यद्यपि डॉ. साहब की

९ उत्तराध्ययनसूत्र टीका पत्र ३४८३।

१० त्रिशष्टिशलाकाचरित्र पर्व १० सर्ग १३ पाया २२४

११ व्यक्तिगत चर्चा के आधार पर

१२ समवायांग, ५५/४

- शान्थाचार्य :

- (उद्धृत जैनगणविज्ञान पृष्ठ १३०)।

- (अंगमुत्पत्ति, लाडलू, खण्ड प्रथम, पृष्ठ ८८६)।

यह विचारणा परम्परागत दृष्टि से स्थानांग^{१३} में उल्लिखित प्रश्नव्याकरण की विषयवस्तु एवं उसके परिवर्तन की दृष्टि से पूर्णतः सामंजस्य रखती है; फिर भी इसमें निहित सार्थकता विद्वानों के लिए विचारणीय है। हम यह भी देखते हैं कि ग्रन्थों के परवर्ती भागविशेष को उत्तर कहा जाता है; यथा उत्तरकाण्ड, उत्तररामचरितमानस, उत्तरपुराण आदि। क्या इस आधार पर प्रश्नव्याकरण के उत्तर अध्ययनों का नामकरण तो उत्तराध्ययनसूत्र नहीं हुआ, यह भी चिन्तनीय है।

'उत्तराध्ययनसूत्र' को प्रभु महावीर की अन्तिम देशना मानने पर एक प्रश्न स्वामाविक रूप से उठता है कि जब यह इतना महत्वपूर्ण आगम है तो इसे अंग आगम के अन्तर्गत क्यों नहीं रखा गया है। इस प्रश्न का सन्तोषजनक समाधान डॉ. सागरमल जैन के लेख 'प्रश्नव्याकरणसूत्र' की प्राचीन विषय वस्तु में उपलब्ध हो जाता है।^{१४} डॉ. साहब के अनुसार उत्तराध्ययनसूत्र, दसवें अंग आगम 'प्रश्नव्याकरण' का ही अंश है।

आगमवेत्ता विद्वत्जन भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि 'प्रश्नव्याकरणसूत्र' की विषयवस्तु समय समय पर बदलती रही है। अतः डॉ. साहब ने स्थानांग एवं समवायांग के उल्लेखों के आधार पर यह सिद्ध किया है कि प्रथम संस्करण में प्रत्येकबुद्धभाषित, आचार्यभाषित और महावीरभाषित के नाम से जो सामग्री थी, उसमें प्रत्येकबुद्धभाषित या ऋषिभाषित सामग्री आज ऋषिभाषित में तथा आचार्यभाषित एवं महावीरभाषित उपदेश उत्तराध्ययनसूत्र में बहुत कुछ सुरक्षित है।

आगमसाहित्य में नवीन सामग्री को जोड़ने एवं आगमसाहित्य से सामग्री लेकर नवीन ग्रन्थों के निर्माण के प्रयास जैनपरम्परा में होते रहे हैं, इसके अनेक उदाहरण हैं यथा— दशवैकालिकसूत्र, कल्पसूत्र, निशीथ आदि। इसी तरह डॉ. सागरमल जैन ने उत्तराध्ययनसूत्र को भी प्रश्नव्याकरणसूत्र का अंश माना है। साथ ही उन्होंने निम्न प्रमाण भी दिये हैं — सर्वप्रथम उत्तराध्ययनसूत्र नाम ही इस तथ्य को प्रकट करता है कि यह किसी ग्रन्थ के उत्तर अध्ययनों से बना हुआ ग्रन्थ है। इसका तात्पर्य यह है कि उत्तराध्ययनसूत्र की विषय वस्तु पूर्व में किसी ग्रन्थ की उत्तरवर्ती सामग्री रही होगी। इस सन्दर्भ में दूसरा महत्वपूर्ण प्रमाण यह है कि 'उत्तराध्ययननिर्युक्ति' में इस बात का स्पष्ट रूप से उल्लेख है कि उत्तराध्ययनसूत्र

१३ स्थानांगसूत्र - १०/११६

- (अंगमुलाधि, ताडनं, खण्ड प्रथम, पृष्ठ ८१५)

१४ 'प्रश्नव्याकरणसूत्र की प्राचीन विषयवस्तु की खोज' - डॉ. सागरमल जैन - 'डॉ. सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ' पृष्ठ ७५।

का उद्भव अंग-साहित्य से हुआ है और इसमें जिनभाषित एवं प्रत्येकबुद्धभाषित संवाद हैं।¹⁵ अब यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि वह अंग ग्रन्थ कौनसा था जिससे उत्तराध्ययनसूत्र के ये भाग लिये गये हैं। यद्यपि निर्युक्तिकार ने उत्तराध्ययनसूत्र के परीषद अध्ययन को दृष्टिवाद से उद्धृत बतलाया है,¹⁶ किन्तु शेष अध्ययन कहां से लिए गये हैं इसका कोई उल्लेख उन्होंने नहीं किया है। इसकी सामग्री उसी ग्रन्थ से ली जा सकती है जिसमें आचार्यभाषित, महावीरभाषित और प्रत्येकबुद्धभाषित विषयवस्तु हो। नन्दी¹⁷ एवं समवायांग¹⁸ में प्रश्नव्याकरण के पैतालि स अध्ययनों का उल्लेख है। अतः डॉ. सागरमल जैन के अनुसार प्रश्नव्याकरण से पहले महावीरभाषित एवं आचार्यभाषित सामग्री को उत्तराध्ययनसूत्र के नाम से अलग किया गया; फिर प्रत्येक बुद्धभाषित पैतालि स अध्ययनों को ऋषिभाषितसूत्र के नाम से अलग किया गया होगा। चूंकि उत्तराध्ययनसूत्र की सामग्री प्रत्येकबुद्धभाषित पैतालि स अध्ययन, जो ऋषिभाषित में हैं, के बाद की थी अतः इसे उत्तराध्ययनसूत्र नाम दिया गया।

उपर्युक्त विवेचना परम्परागत मान्यता के साथ पूर्णतया समन्वय रखती है और उत्तराध्ययनसूत्र की प्राचीनता तथा प्रामाणिकता को सिद्ध भी करती है।

दिगम्बरपरम्परा में उत्तराध्ययनसूत्र शब्द की व्याख्या निम्न रूप से प्राप्त होती है—

आचार्य वीरसेन (वि. नौवीं शताब्दी) ने षट्खंडागम की ध्वलावृत्ति में लिखा है -- 'उत्तराध्ययनसूत्र उत्तरपदों का वर्णन करता है'।¹⁹ यहां उत्तर शब्द 'समाधान' का सूचक है। आचार्य शुभचन्द्र (वि. १६वीं शताब्दी) ने अंगपण्णति में उत्तराध्ययनसूत्र के दो अर्थ किये हैं²⁰ --

- (१) किसी ग्रन्थ के पश्चात् पढ़े जाने वाले अध्ययन और
- (२) प्रश्नों का उत्तर देने वाले अध्ययन ।

१५ 'अंगपत्रक जिषभासिय, य पतेयबुद्धसंवाय ।' - उत्तराध्ययननिर्युक्ति गाथा ४ (निर्युक्तिसंग्रह पृष्ठ ३६५)।

१६ उत्तराध्ययननिर्युक्ति गाथा ६६, पृष्ठ ३७१।

१७ नन्दीसूत्र, ६०

१८ समवायांग, प्रकीर्णक समवाय सूत्र ६८

१९ 'उत्तराध्ययन उत्तरपदाणि वर्णेइ'

२० 'उत्तराणि अहिण्णति उत्तराध्ययनं पदं जिषिदेहि'

- (नवसुत्ताणि, लाडनू, पृष्ठ २७३)।

- (अंगसुत्ताणि, लाडनू, खण्ड प्रथम पृष्ठ ६२१)।

- धवलाटीका पृष्ठ ६७ - (उद्धृत 'उत्तराध्ययनानि' द्वितीयभाग, भूमिक पृष्ठ १२ - आचार्य तुलसी, लाडनू)

- अंगपण्णति ३/२५, २६ (उद्धृत - वही)।

हमारी मान्यता में उत्तरकाल वाची अर्थ अधिक तर्कसंगत प्रतीत होता है, क्योंकि यह अर्थ सम्पूर्ण ग्रन्थ के साथ व्याप्त है; जबकि द्वितीय अर्थ प्रश्नों के उत्तर रूप अध्ययन, उत्तराध्ययनसूत्र के कुछ ही अध्ययनों के साथ संगति रखता है सभी अध्ययनों के साथ नहीं।

प्रो. ल्यूमेन (Prof. Leuman) ने उत्तराध्ययनसूत्र का सीधा शाब्दिक अर्थ परवर्ती अध्ययन किया है। उनके अनुसार इन अध्ययनों की रचना अंगआगम के पश्चात् उत्तरकाल में हुई है। अतः ये उत्तराध्ययनसूत्र के नाम से विभ्रुत हुए²¹ प्रो. ल्यूमेन की यह कल्पना तथ्य संगत है; क्योंकि भाषाशास्त्रियों के अनुसार उत्तराध्ययनसूत्र की भाषा भी आचारांग आदि के समान ही प्राचीन है। अतः आचारांग आदि अंग आगमों के पश्चात् इसकी रचना को मानना निराधार नहीं है।

२.२ उत्तराध्ययनसूत्र मूलसूत्र है, क्यों ?

उत्तराध्ययनसूत्र को मूलसूत्रों के अन्तर्गत वर्गीकृत किया गया है। किन्तु इसके मूलसूत्र के रूप में वर्गीकृत किये जाने का कोई प्राचीन उल्लेख उपलब्ध नहीं होता है; न ही इसका व्याख्या साहित्य में मूलसूत्र कहे जाने का कोई आधार प्राप्त होता है। फिर भी लगभग तेरहवीं शती से इसे मूलसूत्रों में वर्गीकृत किये जाने की परम्परा है। इस सन्दर्भ में विद्वानों ने मूल शब्द की अनेक अनुमानिक व्याख्यायें भी की हैं -

पाश्चात्य विद्वानों की मान्यता

जैन आगम साहित्य पर पाश्चात्य दार्शनिकों ने गवेषणापूर्ण कार्य किये हैं। यद्यपि उनके निष्कर्ष की प्रामाणिकता पर विचार करना स्वतन्त्र चिन्तन का विषय है। फिर भी उनके प्रयत्न एवं उत्साह अवश्य प्रशंसनीय हैं। उत्तराध्ययनसूत्र आदि मूलसूत्रों को 'मूल' कहने का आधार क्या है ? इस पर पाश्चात्य दार्शनिकों ने अनेक प्रकार से चिन्तन किया है।

२१ उद्धृत - 'जैनपद्योक्षण'; पृष्ठ १३० - मुनि नगराज जी।

डॉ. सार्पण्टियर,²² डॉ. ग्यारिनो²³ तथा प्रो. पटवर्धन²⁴ की मान्यता है कि इन सूत्रों में भगवान महावीर के मूल शब्दों का संग्रह है। अतः ये मूलसूत्र कहलाते हैं। इन विद्वानों की उपर्युक्त मान्यता का आधार सम्भवतः उत्तराध्ययनसूत्र के छत्तीसवें अध्ययन की अन्तिम गाथा है, जिसमें कहा गया है कि भगवान महावीर छत्तीस अध्ययनों का वर्णन करके निर्वाण को प्राप्त हुए। किन्तु यह मान्यता तर्कसंगत प्रतीत नहीं होती क्योंकि विद्वानों के शोधपरक अध्ययन ने यह सिद्ध कर दिया है कि आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध में भगवान महावीर के मूलवचनों का संकलन है। इस प्रकार यदि किसी आगम को मूलसंज्ञा देने का आधार प्रभु महावीर के मूल शब्दों का संकलन है तो आचारांगसूत्र की भी मूलसूत्र के अन्तर्गत गणना की जानी चाहिए। जबकि मूलसूत्रों में दशवैकालिक आर्यशय्यभय की रचना है तथा पिण्डनिर्युक्ति एवं ओघनिर्युक्ति आचार्य भद्रबाहु (प्रथम या द्वितीय) की अथवा मतान्तर से आर्यभद्र की रचनाएं हैं। अतः इन तीनों मूलसूत्रों के साथ भी पारचात्य विद्वानों की पूर्वोक्त मान्यता लेशमात्रभी संगति नहीं रखती क्योंकि इसमें भगवान महावीर के मूलवचनों का अभाव है। प्रो. विन्टरनिट्स के अनुसार इन्हें मूलसूत्र माने जाने का कारण इन पर लिखा गया विपुल व्याख्या साहित्य है। अर्थात् मूलसूत्रों पर अनेक टीकायें लिखी गई हैं। अतः टीकाओं से मूलसूत्र का पार्थक्य बतलाने के लिए इन्हें 'मूलसूत्र' कहा गया है।²⁵ किन्तु प्रो.विन्टरनिट्स महोदय की यह बात सारे मूलसूत्रों के साथ संगत प्रतीत नहीं होती। केवल टीकाओं से भेद बतलाने के लिए यदि मूलसूत्र संज्ञा दी गई होती तो पिण्डनिर्युक्ति एवं ओघनिर्युक्ति जो वस्तुतः टीकायें ही हैं, उन्हें मूलसूत्र कहने का क्या औचित्य है ?

22 In the Buddhist work Mahavyutpatti 245, 1265 mula grantha seems to mean original text i.e. the words of Budha himself consequently there can be no doubt whatsoever that the Jains too may have used mula in the sense of original text and perhaps not so much in opposition to the later abridgments and commentaries as merely to denote the actual words of Mahavira himself. -उत्तराध्ययनसूत्र, भूमिका पृष्ठ ३२, उद्धृत उत्तराध्ययनसूत्र भाग द्वितीय, पृष्ठ ८, आचार्य कुलती।

23 The word Mulasutra is translated as "trates originaux".

- 'द रिलिजियन द जैन' पृष्ठ ७६ (उद्धृत - वही पृष्ठ ८)

24 We find however the word Mula often used in the sense 'original text' and it is but reasonable to hold that the word Mula appearing in the expression Mulasutra has got the same sense. Thus the term Mulasutra would mean the original text i.e. 'the text of Mahavira'.

- 'यशकिञ्चलिकसूत्र' : ९ पृष्ठ (उद्धृत - वही पृष्ठ ८)

25 'ए हिन्दू ऑफ इण्डियन लिटरेचर' भाग २

- विन्टरनिट्स (उद्धृत - वही पृष्ठ ७)

आचार्य तुलसी^{२६} आचार्य देवेन्द्रमुनि^{२७} डॉ. शुब्रिंग^{२८} आदि का अभिमत है कि इनमें मुनि के मूलगुणों अर्थात् महाव्रत, समिति, गुप्ति आदि का निरूपण है; इस दृष्टि से इन्हें मूलसूत्र की संज्ञा दी गई है। डॉ. सुदर्शनलाल जैन भी इस मत से सहमत हैं।^{२९}

अन्य अपेक्षा से मूलगुण रूप, दर्शन, ज्ञान, चारित्र एवं तप का पोषण करने वाले शास्त्रों को भी मूलसूत्र कहा गया है यथा नन्दीसूत्र ज्ञान के स्वरूप आदि का विवेचन करता है। अतः यह ज्ञानगुण का प्रकाशक है। अनुयोगद्वार में वर्णित 'नयनिक्षेप' यथार्थ स्वरूप को समझने एवं समझाने में प्रधान कारण है। सापेक्ष वस्तुतत्त्व को समझना ही सम्यग्दर्शन है। अतः अनुयोगद्वार सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति का साधन है। दशवैकालिकसूत्र सर्वविरति रूप चारित्र की प्रेरणा से ओतप्रोत है। अतः चारित्रधर्म का प्रकाशक है।

उत्तराध्ययनसूत्र का प्रारम्भ विनयरूप आभ्यन्तर तप से हुआ है। तीसवें अध्ययन में तप का व्यापक निरूपण है। पुनः अठाईसवें एवं छत्तीसवें अध्ययन में संलेखना आदि के सन्दर्भ में, तप का वर्णन है, अतः इसमें तप की प्रधानता है।

यह मान्यता इसलिये समीचीन प्रतीत नहीं होती है कि इन्हें मूलसूत्र कहने का आधार यदि मूलगुणों का उपदेश है तो सम्पूर्ण आगम साहित्य ही अध्यात्म एवं वैराग्य प्रधान है। अतः वे सभी मूलसूत्र कहलाने चाहिए। पुनश्च मूलगुणों की प्रधानता की अपेक्षा से भी विचार किया जाय तो आचारांगसूत्र तो आचारप्रधान ही है। अतः उसकी गणना भी मूलसूत्रों के अन्तर्गत होनी चाहिए।

उत्तराध्ययनसूत्र को मूलसूत्र मानने का एक आधार श्रुतपुरुष की कल्पना भी है। चूर्णिकालीन श्रुतपुरुष के मूलस्थान (चरण स्थान) में आचारांग एवं सूत्रकृतांग थे। किन्तु उत्तराकालीन श्रुतपुरुष के 'मूलस्थान' में दशवैकालिक और उत्तराध्ययनसूत्र आ गये। इन्हें मूल मानने का यह भी एक सम्भावित हेतु माना गया है। फिर भी यह प्रश्न तो बना ही रहेगा कि आवश्यक, पिण्डनिर्युक्ति एवं ओघनिर्युक्ति को मूलसूत्र मानने का आधार क्या है ?

२६ उत्तराध्ययनसूत्र भूमिका पृष्ठ ८

२७ उत्तराध्ययनसूत्र भूमिका पृष्ठ २१

२८ स्ववैकालिकसूत्र भूमिका पृष्ठ ३

२९ 'उत्तराध्ययनसूत्र : एक परिशीलन' - पृष्ठ १४

- आचार्य तुलसी ।

- आचार्य देवेन्द्रमुनि ।

- (उद्धृत - उत्तराध्ययनसूत्र भूमिका आद्यर्ध तुलसी पृष्ठ ८)

- डॉ. सुदर्शनलाल जैन ।

इस प्रकार हमारी मान्यता में उत्तराध्ययनसूत्र को मूलसूत्र मानने का सर्वाधिक श्रेष्ठ एवं समीचीन कारण यह प्रतीत होता है कि यह आगम श्रमण जीवन की मूलभूत आधार-संहिता को प्रस्तुत करता है। अतः मूलसूत्र अन्य हैं, यह मान्यता सभी मूल आगमों के साथ संगति भी रखती है।

२.३ उत्तराध्ययनसूत्र के उपदेष्टा या रचयिता के सम्बन्ध में विभिन्न अवधारणायें

प्रत्येक कृति का कोई न कोई कर्ता अवश्य होता है, अतः यह प्रश्न उठना स्वभाविक है कि वस्तुतः 'उत्तराध्ययनसूत्र' का कर्ता कौन है ?

समवायांगसूत्र में 'छत्तीस उत्तरज्झयणा',^{३०} नन्दीसूत्र में 'छत्तीस उत्तरज्झयणाई'^{३१} एवं स्वयं उत्तराध्ययनसूत्र की अन्तिम गाथा में 'छत्तीस उत्तरज्झाए',^{३२} ऐसे इसके बहुवचनात्मक नाम प्राप्त होते हैं। निर्युक्ति में भी उत्तराध्ययनसूत्र के बहुवचनात्मक नाम का ही प्रयोग मिलता है।^{३३} इसी प्रकार चूर्णिकार ने यद्यपि उत्तराध्ययनसूत्र को छत्तीस अध्ययनों का एक श्रुतस्कन्ध अर्थात् एक ग्रन्थ स्वीकार किया है। फिर भी उन्होंने इसका नाम तो बहुवचनात्मक ही माना है।^{३४}

इस प्रकार उत्तराध्ययनसूत्र का बहुवचनात्मक नाम इसे एक कर्ता की कृति या रचना मानने में सन्देह उत्पन्न करता है। इससे यह भी अनुमान लगाया जाता है कि उत्तराध्ययनसूत्र अनेक कर्ताओं की कृतियों/अध्ययनों से उद्भूत एक संकलित ग्रन्थ है। इस तथ्य की पुष्टि निर्युक्तिकार द्वारा कृत उत्तराध्ययनसूत्र के कर्तृत्व विभाजन से होती है, जो निम्न प्रकार हैं^{३५} -

१. अंगप्रभव (अंग आगमों से संकलित);
२. जिनभाषित;
३. प्रत्येकबुद्धभाषित; और

३० 'समवायांगसूत्र', समवाय ३६ - ('अंगसुत्ताणि', लाडनू खण्ड प्रथम, पृष्ठ २२२)।
 ३१ 'नन्दीसूत्र : सूत्र' ७८ - ('नवसुत्ताणि' पृष्ठ २६७, लाडनू)।
 ३२ 'उत्तराध्ययनसूत्र' ३६ / २६८।
 ३३ 'उत्तराध्ययननिर्युक्ति' भाषा ४ - निर्युक्ति संग्रह पृष्ठ ३६५।
 ३४ 'एतेषां चैव छत्तीसाए उत्तरज्झयणां समुत्पत्तामितिसुभागेण उत्तरज्झयणाभावसुत्तस्संबोधेति लब्धे, ताणि पुण क्त्वां उत्तरज्झयणाणि इमेहि नामोहिं अनुगतव्वाणि।' - उत्तराध्ययनसूत्र घूर्णि पत्र ८।
 ३५ उत्तराध्ययननिर्युक्ति भाषा ४ - निर्युक्तिसंग्रह पृष्ठ ३६५।

४. संवाद समुत्थित ।

निर्युक्तिकार के अनुसार उत्तराध्ययनसूत्र का दूसरा 'परीषह' अध्ययन अंग प्रभव है। यह कर्म-प्रवाद पूर्व के सतरहवें प्रामृत से उद्धृत है।^{३६} घुर्णिकार^{३७} एवं वृहदवृत्तिकार^{३८} (शान्त्याचार्य) के अनुसार दसवां 'द्रुमपत्रक' नामक अध्ययन जिनभाषित, आठवां 'कापिलीय' अध्ययन प्रत्येकबुद्धभाषित तथा नवमां एवं तैतीसवां 'नमिराजर्षि' एवं 'केशीगौतमीय' ये दो अध्ययन संवादात्मक हैं।

यह भी मान्यता है कि 'विनयश्रुत', 'परीषह विभक्ति', 'असंस्कृत', 'अकाम-मरणीय', 'क्षुल्लकनिर्ग्रन्थिय', 'बहुश्रुतपूजा' जैसे कुछ अध्ययन महावीरभाषित हैं। 'केशीगौतमीय' तथा 'खलुंकीय' आदि कुछ अध्ययन आचार्यभाषित हैं तथा 'नमि-प्रव्रज्या', 'कापिलीय' एवं 'संजयीय' आदि अध्ययन प्रत्येकबुद्धों के संवाद रूप हैं।^{३९} इस विभाजन का आधार 'प्रश्नव्याकरणसूत्र' की प्राचीन विषयवस्तु के सन्दर्भ में स्थानांग एवं समवायांग के निर्देश तथा निर्युक्तिकार द्वारा उत्तराध्ययनसूत्र के कुछ अध्ययनों को अंगप्रभव मानना है। उनकी यह मान्यता है कि प्रश्नव्याकरण की प्राचीन विषयवस्तु के आधार पर ही वर्तमान में उपलब्ध 'ऋषिभाषित' की एवं उत्तराध्ययनसूत्र की विषयवस्तु बनी है फिर भी सभी अध्ययनों को इन आंधारों पर वर्गीकृत करना कठिन है। उदाहरण के रूप में इसके अठारहवें 'संजयीय' अध्ययन को एक ओर प्रत्येकबुद्धभाषित कहा जाता है, किन्तु उसकी २४वीं गाथा में आये 'बुद्ध' शब्द का अर्थ प्रत्येकबुद्ध और महावीर दोनों ही किया जाता है। इस प्रकार यह कहना कठिन है कि कौन-सा अध्ययन किसके द्वारा भाषित है। अतः समुच्चय रूप में यही मानना उचित है कि उत्तराध्ययनसूत्र में प्रत्येकबुद्धभाषित महावीरभाषित और आचार्यभाषित तथा अंगों से संकलित अंश हैं। इस प्रकार उत्तराध्ययनसूत्र को एक कर्तृक नहीं मानकर एक संग्रह-ग्रन्थ ही मानना होगा। फिर भी यह प्रश्न तो बना ही रहता है कि इसका संग्रह या संकलन किसने किया ? प्राचीन काल में संग्राहक या संकलनकर्ता कहीं भी अपना नाम निर्देश नहीं करते थे। अब इस सम्बन्ध में यही मानकर संतोष करना होगा कि उत्तराध्ययनसूत्र के अनेक कर्ता हैं और इसके संकलनकर्ता कोई पूर्वधर आचार्य रहे होंगे।

३६ 'कल्पवृक्षपुत्रे, सतरसे पाहुर्षिं न सुतं ।

सगयं सोदाहरणं, तं सेव इहपि नाययं ॥'

- उत्तराध्ययननिर्युक्ति गाथा ६६ (निर्युक्तिसंग्रह पृष्ठ ३७१) ।

३७ 'विनयासिया जहा दुमपत्रप्रदि, धतेयबुद्धभासियापि जहा क्रयित्तिग्घदि, संवाओ जहा गमिपदग्घज्ज केसियोममेज्जं च ।'

- उत्तराध्ययनसूत्र पत्र ७ ।

३८ उत्तराध्ययनसूत्र की शान्त्यध्याय कृत टीका पत्र ५ ।

३९ 'प्रश्नव्याकरण की प्राचीनविषयवस्तु की खोज'

- डॉ. सागरमल जैन, 'जैन विद्या के आयाम' खण्ड ६ ।

क्या उत्तराध्ययनसूत्र, आचार्य भद्रबाहु द्वारा रचित है ?

कतिपय आचार्यों की यह अवधारणा रही है कि उत्तराध्ययनसूत्र के संकलनकर्ता आचार्य भद्रबाहु हैं। आचार्य आत्माराम जी ने उत्तराध्ययनसूत्र की भूमिका में तथा मुनि नगराजजी ने 'आगम और त्रिपिटक' में तथा 'जैनागमदिग्दर्शन' में यह उल्लेख किया है कि कुछ विद्वानों ने उत्तराध्ययनसूत्र के रचयिता आचार्य भद्रबाहु को माना है। इसके साथ ही आचार्य आत्माराम जी एवं मुनि नगराज जी दोनों ने विस्तार से इसका खण्डन भी किया है कि आचार्य भद्रबाहु उत्तराध्ययनसूत्र के व्याख्याता या प्रवक्ता हो सकते हैं, किन्तु उसके रचयिता नहीं। यहां हम उक्त दोनों विद्वानों के मंतव्यों को अविकल रूप से प्रस्तुत कर रहे हैं - सर्वप्रथम हम आचार्य आत्माराम जी के मंतव्य को उनके उत्तराध्ययनसूत्र की भूमिका के आधार पर प्रस्तुत कर रहे हैं, वे लिखते हैं कि-

'कितने एक विचारक सज्जनों का मत है कि उत्तराध्ययनसूत्र भी भद्रबाहुस्वामी की कृति है, इसीलिये इसका दूसरा नाम 'भद्रबाहुव' देखने में आता है। यथा- 'भद्रबाहुना प्रोक्तानि भद्रबाहुवानि उत्तराध्ययनानि' अर्थात् भद्रबाहु प्रोक्त होने से उत्तराध्ययनसूत्र को 'भद्रबाहुव' कहते हैं। अतः इस कल्पना के लिये कि उत्तराध्ययनसूत्र भद्रबाहु स्वामी की कृति है, यह पूर्वोक्त प्रमाण अधिक बलवान् है। इस प्रमाण से उत्तराध्ययनसूत्र का भद्रबाहुस्वामी द्वारा रचा जाना अनायास ही सिद्ध हो जाता है। परन्तु जरा गम्भीरतापूर्वक विचार करने से उक्त कथन में कुछ भी सार प्रतीत नहीं होता। कारण कि 'प्रोक्त' और 'कृत' ये दोनों शब्द समान नहीं, किन्तु भिन्न-भिन्न अर्थ के वाचक हैं। इनमें प्रोक्त का अर्थ तो व्याख्यात और अध्यापित है तथा कृत का अर्थ नवीन रचना है। इसलिये भद्रबाहु प्रोक्त का अर्थ भद्रबाहु की कृति या रचना विशेष नहीं, किन्तु उसके द्वारा प्रचारित होना अर्थ है। तात्पर्य यह कि भद्रबाहु स्वामी ने उत्तराध्ययनसूत्र की रचना नहीं की, किन्तु व्याख्यान और अध्यापन द्वारा जनता में इसका पर्याप्त रूप से प्रचार किया। उनके द्वारा किये जाने वाले विशिष्ट प्रचार के कारण ही यह उत्तराध्ययनसूत्र उनके नाम से विख्यात हो गया। इसलिये भद्रबाहुस्वामी उत्तराध्ययनसूत्र के प्रचारक मात्र थे, न कि रचयिता। इस बात को शाकटायन व्याकरण के (प्रकर्षेण व्याख्यातमध्यापितं वा प्रोक्तं तस्मिन् ट इति तृतीयान्ताद् यथाविहितं प्रत्ययो भवति। भद्रबाहुना प्रोक्तानि भद्रबाहुवानि उत्तराध्ययनानि।) 'ट' प्रोक्ते ३।१।६६ सूत्र की वृत्ति में आचार्य यक्षवर्मा ने और हैमव्यकरण के (प्रकर्षेण व्याख्यातमध्यापितं वा प्रोक्तं नतु कृतम्। तत्र कृत इत्येव गतत्वात् तस्मिन्नर्थे हेनेति तृतीयान्तात्त्राम्नो यथाविहितं प्रत्यया भवन्ति। भद्रबाहुना प्रोक्तानि भद्रबाहुवानि उत्तराध्ययनानि गणधरप्रत्येकबुद्धादिभिः कृतानि तेन व्याख्यातानीत्यर्थः।) 'तेन प्रोक्ते ६।३।१८' सूत्र की बृहदवृत्ति में आचार्य हेमचन्द्र ने विशेष रूप से स्पष्ट कर दिया है, अर्थात् इन

दोनों आचार्यों ने प्रोक्त शब्द का अर्थ विशेष रूप से व्याख्यान और अध्यापन ही किया है। इसके अतिरिक्त 'तेन प्रोक्तम् ४।३।१०' इस पाणिनीय सूत्र (तेन प्रोक्तम् ४।३।१० पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयम्। तेन प्रोक्तम्-प्रकर्षणोक्तं प्रोक्तमित्युच्यते, नतु कृतम्। कृते ग्रन्थे इत्यनेन गतार्थत्वात्। प्रोक्तमिति-स्वयमन्येन कृतं, व्याकरणमध्यापनेनार्थव्याख्यानेन वा प्रकाशितमित्यर्थः)। की व्याख्या में तत्त्वबोधिनीकार दण्डी ने भी प्रोक्त शब्द का ऊपर की भांति ही अर्थ किया है। तात्पर्य 'यह कि किसी के कहे हुए को कहना- अध्यापन और व्याख्यान द्वारा प्रकाशित करना, उसका नाम 'प्रोक्त' है, और नवीन रचना कृति कहलाती है। इसलिये भद्रबाहु स्वामी उत्तराध्ययनसूत्र के कर्ता, नहीं, किन्तु व्याख्याता कहे जाते हैं। यदि भद्रबाहु स्वामी इसके कर्ता होते तो उन्होंने निर्युक्ति में उत्तराध्ययनसूत्र के विषय में जो यह लिखा है कि उसके कुछ अध्ययन तो पूर्व से उद्भूत है और कुछ जिन-भाषित तथा कई एक प्रत्येकबुद्धादि रचित हैं इत्यादि, सो किस प्रकार से संगत होगा? इसलिये उत्तराध्ययनसूत्र को श्री भद्रबाहु स्वामी की कृति-रचना कहना व मानना किसी प्रकार से उचित प्रतीत नहीं होता।"

इस प्रकार आचार्य आत्माराम जी के अनुसार आचार्य भद्रबाहु उत्तराध्ययनसूत्र के कर्ता नहीं माने जा सकते हैं। इसी तथ्य को प्रकारान्तर से मुनि नगराज जी ने अपने ग्रन्थ 'आगम और त्रिपिटक एक अनुशीलन (द्वितीयभाग)' तथा 'जैनगमदिग्दर्शन' में प्रस्तुत किया है। पूर्वोक्त दोनों पुस्तकों का विवरण अक्षरशः समान है। अतः हम यहां 'आगम और त्रिपिटक' वाले मंतव्य को अविकल समान रूप से प्रस्तुत कर रहे हैं। वे लिखते हैं कि-

"भद्रबाहुना प्रोक्तानि भद्रबाह्वानि उत्तराध्ययनानि-

इस प्रकार का भी उल्लेख प्राप्त होता है, जिससे कुछ विद्वान् सोचते हैं कि उत्तराध्ययनसूत्र के रचयिता आचार्य भद्रबाहु हैं। सबसे पहले विचारणीय यह है कि उत्तराध्ययनसूत्र की निर्युक्ति के लेखक भद्रबाहु हैं। जैसा कि पूर्व सूचित किया गया है, वे उत्तराध्ययनसूत्र की रचना में अंग-प्रभवता, जिन-भाषितता, प्रत्येक बुद्ध-प्रतिपादितता, संवाद-निष्पन्नता आदि कई प्रकार के उपपादक हेतुओं का आख्यान करते हैं। उपर्युक्त कथन में भद्रबाहुना के साथ प्रोक्तानि क्रिया-पद प्रयुक्त हुआ है। प्रोक्तानि का अर्थ रचितानि नहीं होता। प्रकर्षण उक्तानि-प्रोक्तानि के अनुसार उसका अर्थ विशेष रूप से व्याख्यात, विवेचित या अध्यापित होता है। शाकटायन (ट : प्रोक्ते ३।१।६६ - शाकटायन) और सिद्धहैमशब्दानुशासन (तेन प्रोक्ते ६।३।१८ - सिद्धहैमशब्दानुशासन) आदि व्याकरणों में यही आशय स्पष्ट किया गया है। इस विवेचन के अनुसार आचार्य भद्रबाहु उत्तराध्ययनसूत्र के प्रकृत व्याख्याता, प्रवक्ता या प्राध्यपयिता हो सकते हैं, रचयिता नहीं।"

इस प्रकार उनका भी निष्कर्ष यही है कि आचार्य भद्रबाहु चाहे उत्तराध्ययनसूत्र के व्याख्याता या प्रवक्ता हों किन्तु रचयिता नहीं हैं।

हम उक्त दोनों विद्वानों के मतव्य से इस सीमा तक सहमत हैं कि उत्तराध्ययनसूत्र के रचयिता आचार्य भद्रबाहु (प्रथम) नहीं हैं, किन्तु हमारी दृष्टि में इसके संकलनकर्ता के रूप में आचार्य भद्रबाहु को स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं है, क्योंकि यदि उत्तराध्ययनसूत्र एक संकलन ग्रन्थ है तो हमें इसके संकलनकर्ता के रूप में किसी न किसी आचार्य को स्वीकार करना होगा। पुनः जब हम यह मानते हैं कि उत्तराध्ययनसूत्र के कुछ अध्ययन बारहवें अंग दृष्टिवाद या पूर्व साहित्य से उद्भूत हैं तो ऐसी स्थिति में हमें यह भी मानना होगा कि इसके संकलनकर्ता कोई न कोई पूर्वधर आचार्य होने चाहिये। चूंकि आचार्य भद्रबाहु को अन्तिम श्रुतकेवलि या पूर्वधर माना जाता है; अतः उनको उत्तराध्ययनसूत्र के संकलनकर्ता स्वीकार करने में सैद्धान्तिक रूप से कोई आपत्ति नहीं आती। पुनः हम यह देखते हैं कि उत्तराध्ययनसूत्र के इकतीसवें अध्ययन में दशा, कल्प एवं व्यवहार का निर्देश है और इनके कर्ता आचार्य भद्रबाहु (प्रथम) को निर्विवाद रूप से स्वीकार किया गया है। अतः हमें यह मानना होगा कि उत्तराध्ययनसूत्र के संकलनकर्ता आचार्य भद्रबाहु के पूर्ववर्ती पूर्वधर आचार्य न होकर या तो स्वयं भद्रबाहु हैं या उनके परवर्ती अन्य कोई आचार्य हैं। लेकिन यह भी स्पष्ट है कि उनके बाद पूर्वी की परम्परा अविच्छिन्न न रह सकी। अतः हम इस बात को निश्चितरूप से स्वीकार कर सकते हैं कि उत्तराध्ययनसूत्र के संकलनकर्ता आचार्य भद्रबाहु (प्रथम) हैं। आचार्य आत्माराम जी एवं मुनि नगराज जी दोनों ने यद्यपि 'भद्रबाहुना प्रोक्तानि भद्रबाह्वानि उत्तराध्ययनानि' इस पूर्वाचार्यों के वचन को उल्लिखित किया है। किन्तु उन्होंने कहीं भी यह संकेत नहीं दिया है कि यह कथन कहां से उद्भूत है। हमने उत्तराध्ययनसूत्र की हमारे पास उपलब्ध जो टीका थी उसमें उक्त वाक्य को खोजने का प्रयास किया, किन्तु हमें उपलब्ध नहीं हो सका। सम्भवतः यह कथन किसी पूर्वाचार्य की टीका अथवा अन्य कृति में अवश्य रहा होगा। यदि इसका सम्पूर्ण सन्दर्भ ज्ञात हो जाता तो शायद इस समस्या के निराकरण में हमें पर्याप्त सहयोग मिल जाता पर उपर्युक्त चर्चा के आधार पर हम यह अवश्य कह सकते हैं कि चाहे उत्तराध्ययनसूत्र के विभिन्न अध्ययन भगवान् महावीर, अन्य प्रत्येक बुद्धों एवं आचार्यों की कृतियां हों और चाहे उन्हें पूर्व साहित्य से उद्भूत किया गया हो, किन्तु यह मानने में कोई कठिनाई नहीं है कि इसके संकलनकर्ता आचार्य भद्रबाहु रहे हों। फिर भी इस सन्दर्भ में

अधिक ठोस साक्ष्यों के खोज की आवश्यकता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है।

२.४ उत्तराध्ययनसूत्र का काल निर्धारण

उत्तराध्ययनसूत्र एक प्राचीन आगम ग्रन्थ है। कुछ विद्वानों की दृष्टि में यह एक संकलन ग्रन्थ है, फिर भी इसकी प्राचीनता अस्तिदिग्ध है, जो भाषा शैली, विषयवस्तु आदि अनेक तथ्यों से भी प्रामाणित होती है। इस सम्बन्ध में इतना अवश्य है कि उत्तराध्ययनसूत्र के सभी अध्ययनों के संकलन को हम एक काल का संकलन नहीं कह सकते हैं। निम्न कुछ तथ्य हैं जिनके प्रकाश में उत्तराध्ययनसूत्र का काल निर्णय किया जा सकता है—

१. नन्दीसूत्र के अनुसार अंगबाह्य कालिकग्रन्थों में 'उत्तराध्ययनसूत्र' का नाम सर्वप्रथम प्राप्त होता है, तथा तत्त्वार्थसूत्र के स्वोपज्ञभाष्य में स्वयं आचार्य उमास्वाति ने उत्तराध्ययनसूत्र का निर्देश किया है। इससे इतना निश्चित हो जाता है कि ईसा की चौथी-पांचवीं शताब्दी पूर्व उत्तराध्ययनसूत्र का अस्तित्व था।

२. दशवैकालिकसूत्र में उत्तराध्ययनसूत्र की अनेक गाथायें, विषय तथा कथायें उपलब्ध हैं।^{१०} दशवैकालिक में वर्णित राजीमती और रथनेमि की संक्षिप्त कथा का विस्तृत वर्णन हमें उत्तराध्ययनसूत्र के बाइसवें अध्ययन में प्राप्त होता है। यह तथ्य उत्तराध्ययनसूत्र को दशवैकालिकसूत्र से पूर्व का प्रामाणित करता है और दशवैकालिक का रचना काल महावीर निर्वाण की प्रथम शताब्दी है। अतः उत्तराध्ययनसूत्र का यह अध्ययन तो इसके भी पूर्व का अर्थात् वीर निर्वाण की प्रथम शती का होना चाहिए।

३. उत्तराध्ययनसूत्र में द्विविध से लेकर पंचविध मोक्षमार्ग की चर्चा उपलब्ध होती है। इससे यह ज्ञात होता है कि उस काल तक मोक्षमार्ग की निश्चित संख्या का निर्णय नहीं हुआ था। तत्त्वार्थसूत्र में स्पष्टतः त्रिविध मोक्षमार्ग की चर्चा उपलब्ध होती है, अतः उत्तराध्ययनसूत्र को चौथी शताब्दी से पूर्व का माना जा सकता है।

^{१०} (क) दशवैकालिकसूत्र २/७, ८, ९, १० एवं ११।

(ख) उत्तराध्ययनसूत्र के प्रथम 'विनयश्रुत' अध्ययन एवं दशवैकालिक के नवम अध्ययन 'विनय समाधि' तथा उत्तराध्ययनसूत्र के बाइसवें अध्ययन एवं दशवैकालिक के द्वितीय अध्ययन आदि में विषय वस्तु की समानता उपलब्ध होती है।

४. उत्तराध्ययनसूत्र के अठाईसवें अध्ययन में वर्णित द्रव्य गुण पर्याय की परिभाषा पर न्याय-वैशेषिकसूत्रों का प्रभाव परिलक्षित होता है। इस आधार पर इतना तो मानना होगा कि कम से कम यह अध्ययन वैशेषिकसूत्र के बाद का है। वैशेषिक सूत्र का रचनाकाल विद्वानों ने ई. पूर्व दूसरी / तीसरी शताब्दी माना है।

इस आधार पर उत्तराध्ययनसूत्र के परवर्ती अध्ययनों का रचनाकाल वैशेषिकसूत्र के आसपास अर्थात् ई. पू. दूसरी/तीसरी शती का माना जा सकता है।

५. उत्तराध्ययनसूत्र के छब्बीसवें अध्ययन में छाया, नक्षत्र आदि के द्वार समय निर्णय की प्रक्रिया का विवेचन उपलब्ध होता है। सूर्यप्रज्ञप्ति, जिसका समय विद्वानों ने ई. पू. भी माना है, उसमें भी नक्षत्र द्वारा काल निर्णय का वर्णन प्राप्त होत है। अतः इस साक्ष्य से भी उत्तराध्ययनसूत्र का समय ई. पू. के आसपास का माना जा सकता है।

६. उत्तराध्ययनसूत्र में गुणस्थानक सिद्धान्त का अभाव है। इससे भी यह तो निश्चित किया जा सकता है कि इसका संकलन कम से कम गुणस्थानक सिद्धान्त के अस्तित्व में आने अर्थात् ईसा की पांचवीं शती से पूर्व अवश्य हो चुका होगा।

७. उत्तराध्ययनसूत्र में परिभाषात्मक वर्णन का अभाव है। इसमें कर्म, लेश्या आदि प्रत्ययों की परवर्ती ग्रन्थों के समान परिभाषा प्राप्त नहीं होती है। यह भी इसके प्राचीन ग्रन्थ होने का प्रमाण है, क्योंकि प्राचीन ग्रन्थों में प्रायः परिभाषात्मक शैली का अभाव होता है।

८. उत्तराध्ययनसूत्र के इकतीसवें अध्ययन में दशाश्रुतस्कन्ध आदि छेद सूत्रों का उल्लेख आता है और छेदसूत्रों के रचनाकार आचार्य भद्रबाहु (ई.पू. तीसरी शताब्दी) हैं। अतः उत्तराध्ययनसूत्र का यह अध्ययन ई. पू. तीसरी शताब्दी के बाद का मानना होगा।

९. भाषा की दृष्टि से विचार करने पर उत्तराध्ययनसूत्र के सभी अध्ययनों को एक काल की रचना नहीं माना जा सकता है। इसमें एक और प्राचीन अर्धमागधी प्राकृत के शब्दों/रूपों का प्रयोग मिलता है, तो दूसरी ओर इसमें अर्वाचीन महाराष्ट्री प्राकृत शब्द-रूप भी उपलब्ध होते हैं।

उत्तराध्ययनसूत्र दिगम्बर, श्वेताम्बर एवं यापनीय तीनों सम्प्रदायों द्वारा मान्य था। अतः इसका अस्तित्व संघभेद से पूर्व अर्थात् ईसा की प्रथम शती के पूर्व ही निश्चित होता है।

उपर्युक्त साक्ष्यों के आधार पर हम उत्तराध्ययनसूत्र के अध्ययनों को एक काल की रचना तो नहीं कह सकते हैं पर इसके संकलनकर्ता के रूप में यदि अन्तिम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु को स्वीकार किया जाये तो इसका संकलनकाल ई. पू. तीसरी शताब्दी के लगभग माना जा सकता है। उत्तराध्ययनसूत्र की विषयवस्तु का अध्ययन करने से हमें ऐसा कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता है जो इसके संकलनकाल को ईसा की प्रथम शती के बाद का सिद्ध कर सके। अतः उत्तराध्ययनसूत्र के विभिन्न अध्ययनों के संकलनकाल को ईस्वी पूर्व का ही मानना होगा।

2.5 उत्तराध्ययनसूत्र की भाषा

वेदों की भाषा 'संस्कृत', त्रिपिटक की भाषा 'पालि' तथा जैन आगमों की भाषा 'प्राकृत' है। वस्तुतः प्राकृत अपने मूल रूप में भाषा न होकर बोलचाल रही है। अतः प्राकृत कोई एक भाषा न होकर भाषा समूह का नाम है।

हेमचन्द्र आदि आचार्यों ने प्राकृत के अनेक रूपों का उल्लेख किया है, जैसे मागधी, अर्धमागधी, पालि, शौरसेनी, जैनशौरसेनी, महाराष्ट्री, जैनमहाराष्ट्री, पैशाचीचूलिका, पैशाची, ब्राह्मण और ढक्की। आगे चलकर इन प्राकृत भाषाओं से ही विभिन्न अपभ्रंश और अद्यतन अनेक भाषाओं का विकास हुआ है। अतः ये प्राकृत ही हिन्दी, राजस्थानी, गुजराती, मराठी, बंगला, उड़ीसा आदि सभी भारतीय भाषाओं की पूर्वजा हैं। नमि साधु (ग्यारहवीं शताब्दी) ने प्राकृत की व्याख्या करते हुए लिखा है— प्राकृत, व्याकरण आदि के संस्कार से निरपेक्ष, समस्त जगत के प्राणियों का सहज वचन व्यापार रूप भाषा है। प्राकृत का अर्थ प्राकृत = पूर्वकृत अथवा आदि भाषा है। वह बालकों, महिलाओं आदि के लिए सहज तथा बोधगम्य है और सब भाषाओं का मूल है।

श्रमण संस्कृति की मूलभाषा को आर्ष प्राकृत कहा जाता है। आर्ष प्राकृत के दो भेद हैं —

(१) पालि प्राकृत (२) अर्धमागधी प्राकृत

बौद्ध ग्रन्थ पालि भाषा में हैं तथा जैन आगम अर्धमागधी भाषा में निबद्ध हैं।

तीर्थंकर अर्धमागधी भाषा में बोलते थे। अर्धमागधी उस समय की जन सामान्य की भाषा थी। क्षेत्र की दृष्टि से अर्धमागधी उस भाषा का नाम है जो अष्ट मगध में अर्थात् मगध के पश्चिमी भाग में बोली जाती थी।

जैन आगमों में प्रयुक्त अर्धमागधी भाषा में मागधी के अतिरिक्त अन्य बोलियों के शब्दरूप तथा मागधी से भिन्न लक्षण भी पाये जाते हैं। अतः जैन आगमों की भाषा मागधी न कहलाकर अर्धमागधी कहलाती है।⁴¹

अर्धमागधी में व्यंजनों के लोप की प्रवृत्ति अल्प होती है। उसके क्रिया रूपों में 'ति' प्रत्यय यथावत् रहता है और प्रथमा विभक्ति में 'ओ' के स्थान पर 'ए' का प्रयोग होता है।

२.७.१ उत्तराध्ययनसूत्र की मूल भाषा : अर्धमागधी

जहां तक हमारे शोधग्रन्थ उत्तराध्ययनसूत्र का प्रश्न है, यह महाराष्ट्री प्रभावित अर्धमागधी भाषा का ग्रन्थ है। वस्तुतः वर्तमान में उपलब्ध आगम ग्रन्थों की भाषा प्रायः महाराष्ट्री प्रभावित प्राकृत ही है। यहां यह विचारणीय है कि उत्तराध्ययनसूत्र की भाषा पर महाराष्ट्री भाषा का प्रभाव क्यों व कैसे पड़ा ?

२.७.२ उत्तराध्ययनसूत्र पर महाराष्ट्री प्राकृत का प्रभाव क्यों व कैसे ?

उत्तराध्ययनसूत्र ही नहीं प्रत्युत् वर्तमान में उपलब्ध सभी आगम ग्रन्थ प्रायः महाराष्ट्रीप्राकृत से प्रभावित हैं। आगमों के इस भाषा परिवर्तन के अनेक कारण हैं -

(१) वैदिकसंस्कृति शब्दप्रधान तथा श्रमणसंस्कृति अर्थप्रधान रही है अर्थात् वैदिकपरम्परा में अर्थ की अपेक्षा शब्द एवं ध्वनि को अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है। आज भी अनेक वेदपाठी ब्राह्मण ऐसे हैं, जो वेदमंत्रों के उच्चारण, लय आदि के विषय में निष्णात हैं, किन्तु वे उनके अर्थों को नहीं जानते हैं। यही कारण

४१ 'अर्धमागधी आगम साहित्य : एक विमर्श' - डॉ. सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ' पृष्ठ ३०।

है कि वेद शब्दशः सुरक्षित रह सके। इसके विपरीत जैनपरम्परा में अर्थ या तात्पर्य की प्रधानता रही, शब्द की नहीं। चूँकि जैनाचार्यों का मुख्य प्रयास यही रहा कि शास्त्रों के शब्द-रूप में चाहे परिवर्तन हो जाये पर अर्थ में परिवर्तन नहीं होना चाहिए। अतः जैनागमों में भाषात्मक परिवर्तन होते चले गये।

(२) आगम साहित्य में भाषा परिवर्तन का एक कारण यह भी था कि भ्रमण संघ में विभिन्न देशों के भ्रमण सम्मिलित थे। उनका उच्चारण अपनी-अपनी प्रादेशिक बोलियों से प्रभावित था। अतः आगमपाठ के उच्चारण में भी भिन्नता आ गई।

(३) जैनभ्रमण भ्रमणशील होते हैं। भ्रमणशीलता के कारण उनकी भाषा पर क्षेत्रीय बोली एवं भाषा का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। अतः साधुवृन्दों द्वारा स्मृति के आधार पर सुरक्षित आगमों में भी भाषा परिवर्तन हुए।

(४) प्राचीन समय में कागज का प्रचलन नहीं था। अतः ग्रन्थ भोजपत्रों या ताड़पत्रों पर लिखे जाते थे। इन पत्रों पर ग्रन्थ लिखना, लिखवाना या इन्हें सुरक्षित रखना जैन साधुओं के अहिंसा एवं अपरिग्रह सिद्धान्त के विरुद्ध था। लगभग ई. सन् की पाँचवीं शती तक लेखनकार्य को पापप्रवृत्ति माना जाता था। अतः वीर निर्वाण के लगभग हजार वर्ष तक जैनसाहित्य श्रुत-परम्परा पर ही आधारित रहा। वह गुरु-शिष्य परम्परा के द्वारा मौखिक रूप में ही सुरक्षित रहा। इस प्रकार सुदीर्घ काल तक मौखिक रहने के कारण भी आगमसाहित्य की भाषा में परिवर्तन आना स्वाभाविक था।

(५) आगमों की भाषा परिवर्तन का एक कारण लिपिकारों की असावधानी या उन पर उनके क्षेत्र की भाषा का प्रभाव रहा है। अतः लिपिकार ग्रन्थ लिखते समय अपनी प्रादेशिक बोली से प्रभावित होकर शब्दों में परिवर्तन कर देते थे— यथा मूल पाठ में प्रयुक्त गच्छति शब्द के स्थान पर प्रचलित शब्द गच्छई को लिख देना।

(६) आगमों की भाषा परिवर्तन का विशेष कारण आगमों के सम्पादक भी रहे हैं। सम्पादकों ने अपने युग एवं क्षेत्र के अनुरूप आगमों के पाठों में व्यापक रूप से परिवर्तन किया। यही कारण है कि मथुरा में संकलित एवं सम्पादित आगमों पर शौरसेनी का प्रभाव तथा वल्लभी में सम्पादित आगमों पर महाराष्ट्री का प्रभाव

परिलक्षित होता है। इस प्रकार आगमों का सम्पादन विभिन्न कालों एवं देशों में होने के कारण भी आगमों की भाषा में परिवर्तन हुआ।

उपर्युक्त सभी कारण यद्यपि उत्तराध्ययनसूत्र के भाषा परिवर्तन को समझने में सहायक हैं फिर भी उत्तराध्ययनसूत्र पर महाराष्ट्री प्राकृत के प्रभाव का एक विशेष कारण यह भी रहा है कि उत्तराध्ययनसूत्र एवं दशवैकालिकसूत्र ये दोनों आगम प्राचीन होते हुए भी इनके स्वाध्याय का प्रचलन सर्वाधिक रहा है। अतः इन पर देश एवं काल की भाषाओं का अधिक प्रभाव पड़ा। उत्तराध्ययनसूत्र के स्वाध्याय के प्रचलन का एक सबल साक्ष्य यह भी है कि इस आगम पर सर्वाधिक व्याख्यासाहित्य लिखा गया है; किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि उत्तराध्ययनसूत्र का अर्धमागधी रूप पूर्णतः परिवर्तित हो गया है। आज भी उत्तराध्ययनसूत्र में जहाँ एक ओर महाराष्ट्री प्राकृत से प्रभावित शब्दरूप उपलब्ध होते हैं, वहीं इसमें प्राचीन अर्धमागधी के शब्द रूप भी बहुलता से उपलब्ध होते हैं। इस सन्दर्भ में कुछ शब्द उदाहरणार्थ प्रस्तुत किये जा रहे हैं —

अर्धमागधी	महाराष्ट्री
असंयुक्त 'क' का 'ग' होता है पावगं (६।८) कुमारगा (१४।११) लोगो (१४।२२)	'क' का लोप होकर उसके स्थान पर 'ग' श्रुति होती है यथा — अज्झावयाणं (१२।१६) तियं (३१।४)
असंयुक्त 'ग' का लोप नहीं होता है काममोगोसु (१४।६) सगरो (१८।३५)	'ग' का लोप होकर उसके स्थान पर 'य' श्रुति होती है यथा— भोए (१४।३७), दुय (३१।६)
मध्यवर्ती 'त' यथावत बना रहता है— चितिए (२।४४), अंतिए (७।१२)	'त' का लोप हो जाता है। उसके स्थान पर या तो अन्तिम स्वर शेष रहता है या 'य' श्रुति होती है— वियोहिए (६।१७), हिंसइ, हवइ
प्रथमा में एकारान्त प्रयोग होता है— कयरे (१२।६) धीरे (१५।३)	प्रथमा के एकवचन में ओकारान्त प्रयोग होता है —संभूओ, चित्तो (१३।२) संजओ (१८।१०)

२.६ उत्तराध्ययनसूत्र की शैली

शैली से तात्पर्य किसी भी विधि, पद्धति, तरीका, ढंग, प्रणाली आदि से है, अंग्रेजी भाषा में शैली के लिए स्टाइल शब्द का प्रयोग होता है। साहित्य के क्षेत्र में भाषा के माध्यम से विचारों को प्रस्तुत करने की प्रणाली को शैली कहा जाता है।

जैन आगम साहित्य में मुख्यतः गद्य, पद्य और चंपू इन तीन शैलियों का प्रयोग हुआ है। उत्तराध्ययनसूत्र की शैली गद्यात्मक एवं पद्यात्मक दोनों है, फिर भी इसमें पद्य शैली की प्रधानता है। इसकी शैली सरल, सहज, सरस एवं प्रवाहमयी है। इसके कुछ अध्ययनों में प्रश्नोत्तर शैली एवं रहस्यात्मक शैली का भी प्रयोग मिलता है। इसमें विलिखित सामासिक शब्दावली का प्रायः अभाव पाया जाता है, विशेष सन्दर्भों में इसका कलात्मक सौष्टव अनुपमेय है। अनेक प्रसंगों में, यथा — नमिप्रव्रज्या आदि अध्ययनों में संवादात्मक शैली में भी विषय का प्रतिपादन किया गया है।

शैली के सम्बन्ध में उत्तराध्ययनसूत्र की सबसे प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें गम्भीर एवं गूढ़ सिद्धान्तों का भी उपमाओं एवं दृष्टान्तों के माध्यम से सरलीकरण कर दिया गया है। उपमाओं की बहुलता देखकर ही विण्टरनिट्स आदि विद्वानों ने इसे 'श्रमणकाव्य ग्रन्थ' कहा है।

२.६.१ उपदेशात्मक उपमा या दृष्टान्तों के द्वारा विषय का सरलीकरण

उत्तराध्ययनसूत्र में वैराग्योत्पादक उपमाओं की बहुलता है। जैसे— मनुष्य जीवन की तुलना पके हुए द्रुम-पत्र तथा कुश की नोक पर स्थित ओसबिन्दु से की गई है।^{४२} इसी प्रकार कामभोगों को किम्पाक फल के समान बतलाया है जो देखने और खाने में तो मनोहर एवं मधुर होते हैं, किन्तु अन्ततः घातक (मृत्युरूप) होते हैं।^{४३} इसी प्रकार कामभोग भोगकाल में सुखद प्रतीत होते हैं, किन्तु इनका परिणाम अत्यन्त दारुण (दुःखरूप) होता है— इस बात को खुजली के उदाहरण से समझाया गया है।

४२ (अ) 'द्रुमपत्रे पंडुरे जहा, निवड्डं राइगणाण अच्चा ।

एवं मनुष्याण जीविणं, समसं गोयम मा पमावए ।।'

(ब) 'कुसुमे जह ओसबिन्दुए, दोवें चिट्ठइ तन्वमाणए ।'

४३ 'जहा य किंपाकफला मनोरमा, रसेण वण्णेण य भुञ्जमाणा ।

ते खुइइए जीविय पच्चमाणा, एओवमा कामगुणा विवाणे'

- उत्तराध्ययनसूत्र १०/१ ।

- वही १०/२ ।

- वही ३२/२० ।

इस प्रकार उत्तराध्ययनसूत्र में और भी अनेक उपमाओं एवं दृष्टान्तों का प्रयोग किया गया है पर विस्तारभय से हम उनकी चर्चा यहां करना नहीं चाहते हैं।

२.६.२ प्रतीकात्मक रूपक

उत्तराध्ययनसूत्र में प्रतीकात्मक रूपकों के द्वारा भी आध्यात्मिक व्याख्यायें प्रस्तुत की गई हैं। जिनमें से कुछ को उदाहरणार्थ प्रस्तुत किया जा रहा है -

इसके नौवें अध्ययन में श्रद्धा को नगर, तप - संयम को अर्गला, क्षमा को प्राकार (परकोटा); पराक्रम को धनुष; इर्यापथ को प्रत्यंचा तथा धृति को उसकी मूठ का प्रतीक बतलाया गया है।⁴⁴

बारहवें हरिकेशीय अध्ययन में तप को ज्योति; जीव को ज्योतिस्थान; मन, वचन और काया (योग) को करछी; शरीर को कण्डे; कर्म को ईधन तथा संयम की प्रवृत्ति को शान्तिपाठ का प्रतीक बतलाया गया है।⁴⁵

तेईसवें अध्ययन में कहा गया है कि कषाय अग्नि है तथा श्रुत, शील एवं तप जल है।⁴⁶ साथ ही धर्म को द्वीप, गति एवं उत्तम शरण बताया गया है।⁴⁷

इस प्रकार इसमें अन्य अनेक प्रतीकात्मक रूपक प्रस्तुत किये गये हैं, किन्तु हमारा शोध विषय दार्शनिक है इसलिये यहां उन सभी की चर्चा करना अप्रासंगिक होगा।

२.६.३ कथा एवं संवाद

४४ 'सखं नगरं किञ्चा, तव संवरमण्डलं ।

खीतिं निउपवाग्वरं, तिमुलं दुष्पयंसव' ।

- उत्तराध्ययनसूत्र ६/२० ।

४५ 'तवो जोई जीवो जोइवणं, जोया सुया सरीरं करिसणं ।

कम्य एखा संजयजोगसंती, होम हुनामी इतिणं पसत्वं ॥'

- वही १२/४४ ।

४६ 'कसाया अण्णो बुत्ता, सुयसीस्तवो जलं ।

सुयवाराभिहया संता, भिन्ना हु न इहति मे ॥'

- वही २३/५३ ।

४७ 'धम्मो दीवो पइहा य, गई सरणमुत्तमं ।'

- वही २३/६२ ।

उत्तराध्ययनसूत्र में दार्शनिक एवं सैद्धान्तिक विषयों को कथा एवं संवाद के द्वारा रोचक ढंग से प्रस्तुत किया गया है।

इसके नौवें अध्ययन में इन्द्र एवं नमिराजर्षि के बीच वैराग्यमय संवाद वर्णित है। बारहवें अध्ययन में हरिकेशीमुनि एवं ब्राह्मणों के मध्य हुए संवाद में यज्ञ की आध्यात्मिक व्याख्या प्रस्तुत की गई है। तेरहवें अध्ययन में चित्र एवं सम्भूति का वैराग्योत्पादक वार्तालाप संकलित है। चौदहवें अध्ययन में भृगुपुरोहित एवं उनके पुत्रों तथा पत्नी के मध्य आत्मविषयक संवाद है तथा इसी में इषुकार राजा एवं उनकी पत्नी के मध्य कर्त्तव्य विषय के संवाद का वर्णन है। अठारहवें अध्ययन में संजय राजर्षि एवं क्षत्रिय मुनि की दार्शनिक चर्चा तथा ऐतिहासिक राजर्षि परम्परा का वर्णन है। उन्नीसवें अध्ययन में मृगापुत्र एवं उनके माता-पिता के बीच हुए संवाद में मुनि आचार का सुन्दर प्रतिपादन किया गया है। बीसवें अध्ययन में अनाथी मुनि एवं राजा श्रेणिक का अनाथ-सनाथ विषयक संवाद है। इक्कीसवें अध्ययन में समुद्रपाल मुनि की कथा का उल्लेख है। बाइसवें अध्ययन में राजीमती एवं स्थनेमि का वैराग्यमय आख्यान है। तेइसवें अध्ययन में केशीश्रमण एवं गौतमस्वामी के मध्य हुआ महत्वपूर्ण सिद्धान्त विषयक संवाद है। पच्चीसवें अध्ययन में जयघोष एवं विजयघोष के मध्य हुआ ब्राह्मण संस्कृति विषयक संवाद है तथा सत्ताइसवें अध्ययन में गार्ग्याचार्य की कथा है।

इस प्रकार उत्तराध्ययनसूत्र के अनेक अध्ययन कथायें एवं संवाद प्रधान हैं। इसके अतिरिक्त कई अन्तर्कथा-गर्भित गाथायें भी इसमें हैं, जिसके आधार पर टीकाकारों ने विपुल कथा साहित्य का निर्माण किया है।

२.६.४ पुनरुक्ति और उसका कारण

प्राचीन धर्मग्रन्थों में प्रायः पुनरुक्ति पाई जाती है। ये पुनरुक्तियाँ केवल पदों या वाक्यों की ही नहीं होती, वरन् कभी-कभी तो आंशिक परिवर्तन के साथ पूरी की पूरी गाथा या परिच्छेद की भी होती है।

वेदों और त्रिपिटक में भी पुनरुक्ति का प्रयोग व्यापक रूप से उपलब्ध होता है। वैदिक घनपाठ, जापपाठ आदि में मात्र क्रम परिवर्तन के साथ उन्हीं पदों की पुनरुक्ति होती है। पुनरुक्ति के मुख्यतः दो कारण हो सकते हैं -

(१) प्राचीन काल में ज्ञान श्रुत परम्परा पर आधारित था। गुरु-शिष्य परम्परा से अध्ययन मौखिक ही होता था। शास्त्र को स्मृति में सुरक्षित रखने में पुनरुक्ति पूर्ण सहायक होती थी। पुनरुक्ति के कारण शास्त्र को स्मृति में रखने में सहायता होती थी।

(२) पुनरुक्तियां कहीं-कहीं विषय के स्पष्टीकरण में अत्यन्त सहायक होती हैं।

उत्तराध्ययनसूत्र में अनेक स्थलों पर पुनरुक्तियां प्राप्त होती हैं। उनमें से कुछ निम्नलिखित हैं -

पच्चीसवें यज्ञीय अध्ययन में 'तं वयं ब्रूमं माहणं' (२५।१६ से २६ व ३४) तथा दसवें 'द्रुमपत्रक' अध्ययन में 'समयं गोयम मा पमायए' यह गाथापद चरण प्रत्येक गाथा में ज्यों का त्यों पुनरुक्त है।

'जे भिक्खु जयई निच्चं से न अच्छइ मण्डले' यह अर्ध-गाथा इकतीसवें अध्ययन में पुनरुक्त है। इसी प्रकार -

'एयमद्वं निसामित्ता हेऊकारण- चोइओ।
तओ नमि रायरिसिं, देविन्दो इणमब्बी।'

यह गाथा नौवें अध्ययन में नमिराजर्षि एवं इन्द्र के सन्दर्भ में १६ बार प्रयुक्त हुई है। इसी प्रकार मात्र एक पद के परिवर्तन के साथ ३६वें अध्ययन में अनेक गाथायें पुनरुक्त हैं। सन्दर्भ की भिन्नता के कारण अर्धभेद होने पर भी अनेक गाथाओं में शब्दशः पुनरावृत्ति है। कहीं-कहीं जैसे दूसरे और सोलहवें अध्ययन में एक ही विषय को पहले गद्य रूप में प्रतिपादित कर फिर उसे पद्यरूप में प्रस्तुत किया गया है। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि इन सभी पुनरुक्तियों का मूल प्रयोजन विषय को सुविधापूर्ण रूप से स्मृति में बनाये रखना था।

२.७ उत्तराध्ययनसूत्र के विभिन्न अध्ययन एवं उनकी विषय-वस्तु

उत्तराध्ययनसूत्र जैन धर्म दर्शन का प्रतिनिधि ग्रन्थ है, विषय विवेचन की अपेक्षा से यह ग्रन्थ अत्यन्त समृद्ध है। यद्यपि यह एक अध्यात्मप्रधान ग्रन्थ है, फिर भी इसमें प्रसंगानुरूप सामाजिक, सांस्कृतिक, दार्शनिक, राजनैतिक, आर्थिक

आदि अनेक विषयों का व्यवस्थित प्रतिपादन किया गया है जिन्हें हम उत्तराध्ययनसूत्र के छत्तीस अध्ययनों की विषय वस्तु की चर्चा के प्रसंग में देख सकते हैं।

उत्तराध्ययनसूत्र के इन छत्तीस ही अध्ययनों की विषयवस्तु भिन्न-भिन्न है। हम यहां क्रमशः उनका संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करेंगे।

१. **विनय** : उत्तराध्ययनसूत्र के प्रथम अध्ययन का नाम 'विनयश्रुत' है। 'विनय' का सामान्य अर्थ विनम्रता है, किन्तु प्रस्तुत अध्ययन में 'विनय' विनम्रता के साथ-साथ मुनि-आचार का भी प्रतिपादक है, इसीलिए इस अध्ययन में विनय के दोनों अर्थों (विनम्रता एवं आचार) को आधार बनाकर तत्त्वों का प्रतिपादन किया गया है।

सर्वप्रथम इसमें विनीत और अविनीत के लक्षणों की चर्चा करते हुए यह बताया गया है कि विनीत शिष्य ज्ञान प्राप्त करके संसार के जन्म मरण के चक्र से मुक्त हो जाता है और अविनीत ज्ञान के अभाव में संसार में ही परिभ्रमण करता रहता है। इसी क्रम में आगे यह भी बताया गया है कि विनीत शिष्य को अपने गुरुजनों के प्रति किस प्रकार से व्यवहार करना चाहिए। तत्पश्चात् मुनि के सामान्य विनय की चर्चा करते हुए इसमें भिक्षा सम्बन्धी नियमों एवं आचार, व्यवहार की चर्चा की गई है। अतः यह अध्ययन न केवल विनीत और अविनीत शिष्य के व्यवहार सम्बन्धी लक्षणों की चर्चा करता है, अपितु मुनि आचार की एक सामान्य सामायारी भी प्रस्तुत करता है। आध्यात्मिक दृष्टि से इस अध्ययन में यह बताया गया है कि आत्मा पर विजय प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है, किन्तु आत्मा की दुष्प्रवृत्तियों पर विजय प्राप्त करना साधना का अपरिहार्य अंग है, क्योंकि जो आत्मविजेता होता है वह इस लोक और परलोक में सुखी होता है। इस प्रकार इस अध्ययन में आत्मविजेता होने का अपूर्व संदेश भी दिया गया है।

२. **परीषह** : उत्तराध्ययनसूत्र के परीषह नामक द्वितीय अध्ययन में मुनि के बाईस परीषहों का वर्णन है। निर्युक्तिकार के अनुसार यह अध्ययन 'कर्मप्रवाद' पूर्व के सत्रहवें प्राभृत से उद्धृत है। 'परीषह' वस्तुतः साधना मार्ग में आने वाली कठिनाईयाँ हैं, किन्तु परीषह साधना में बाधक नहीं वरन् उपकारक ही होते हैं। यह समझकर साधक उन्हें शान्त भाव से सहन करते हैं; उद्विग्न नहीं होते हैं। प्रस्तुत अध्ययन में परीषहों के विवेचन के रूप में मुनिचर्या का बहुत ही सूक्ष्म निरूपण हुआ है। इस अध्ययन में निरूपित २२ परीषह निम्न हैं -

- | | | | |
|------------|------------|----------|------------|
| (१) क्षुधा | (२) पिपासा | (३) शीत | (४) उष्ण |
| (५) दश-मशक | (६) अचेल | (७) अरति | (८) स्त्री |

(६) चर्चा	(१०) निषद्या	(११) शय्या	(१२) आक्रोश
(१३) वध	(१४) याचना	(१५) अलाम	(१६) रोग
(१७) तृणस्पर्श	(१८) जल्ल (मल)	(१९) सत्कार-पुरस्कार	
(२०) प्रज्ञा	(२१) अज्ञान	(२२) दर्शन	

इस अध्ययन की विशेषता यह है कि इसमें बड़े मनोवैज्ञानिक ढंग से परीषहों पर विजय प्राप्त करने के उपाय बतलाये गये हैं। इन परीषहों की विस्तृत चर्चा प्रस्तुत ग्रन्थ के दसवें अध्याय 'उत्तराध्ययनसूत्र' में प्रतिपादित श्रमणाचार' में द्रष्टव्य है।

३. **चतुरंगीय** : प्रस्तुत अध्ययन में - (१) मनुष्यत्व; (२) धर्मश्रवण; (३) श्रद्धा और (४) संयम में पुरुषार्थ - इन चार अंगों की दुर्लभता का प्रतिपादन किया गया है।^{४६} इस आधार पर इसका नाम चतुरंगीय रखा गया है। पूर्वोक्त चारों अंगों में से किसी एक अंग की प्राप्ति भी जीवन में दुर्लभ है तो चारों अंगों की एक साथ प्राप्ति हो जाना तो अति दुर्लभ है। इसी दुर्लभता का दिग्दर्शन प्रस्तुत अध्ययन में किया गया है; जो संक्षेप में इस प्रकार है -

(१) **मनुष्यत्व** - जैनदर्शन के अनुसार परमात्मा बनने की योग्यता मात्र मनुष्य में है। तिर्यच जगत में यदि कहीं आंशिक सुसंस्कार उपलब्ध होते हैं। वे उनके पूर्वजीवन के सुसंस्कारों का ही सुपरिणाम है। देव जीवन अति सुख के कारण भोग विलास में इतना लिप्त होता है कि वहां तप-त्याग एवं विरक्ति की संभावना नहीं बत होती है। तथा दुःख वेदना एवं यातना से प्रतिपल पीडित होने के कारण नारक जीवों में धर्मासाधना सर्वथा असंभव है। अतः एक मात्र मनुष्य जीवन ही ऐसा जीवन है जहां आध्यात्मिक विकास संभव हो सकता है। यहां मनुष्य जीवन की प्राप्ति से अर्थ है मानवता सम्यन् मनुष्य जीवन पाना। मनुष्यत्व के लिये आत्मसजगता, विवेकशीलता एवं संयम इन तीन गुणों का होना आवश्यक है, जिन्हें जैन शब्दावली में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चरित्र कहा जाता है।

(२) **श्रुति** - दूसरा दुर्लभ अंग श्रुति है। श्रुति का अर्थ है सद्धर्म श्रवण। सद्धर्म के श्रवण से ही मनुष्य को हेय, ज्ञेय एवं उपादेय का बोध होता है। मनुष्य शरीर प्राप्त हो जाने पर भी श्रुति अर्थात् सद्धर्म का श्रवण अति दुर्लभ है। दुर्लभ मनुष्य जीवन प्राप्त हो जाने पर भी धर्म सुनने का अवसर मिलना महा दुर्लभ

४६ 'चत्वारि परमंगणि, दुल्लहाणीह जंतुणो ।

माणुसत्तं सुईं सत्था, संजममि य वीरिवं ॥'

- उत्तराध्ययनसूत्र ३/१ ।

है। इसमें कई विघ्न उपस्थित हो जाते हैं। उत्तराध्ययनसूत्र निर्युक्तिकार ने धर्म श्रवण में आने वाले निम्न तेरह विघ्नों का वर्णन किया है— आलस्य, मोह, अज्ञान, अहं, क्रोध, प्रमाद, कृपणता, भय, शोक, अज्ञान, व्याक्षेप, कुतूहल और रमण।⁴⁹

(३) श्रद्धा — इस तृतीय अंग की दुर्लभता का निरूपण करते हुए प्रस्तुत अध्ययन में कहा गया है — 'आहच्य सवणं लद्धं सद्धा परम दुल्लहा' अर्थात् धर्म श्रवण करके भी उस पर श्रद्धा होना परम दुर्लभ है। श्रद्धा आध्यात्मिक जीवन की विकास यात्रा का मूल आधार है। बहुत कुछ सुन लेने या जान लेने पर भी तत्त्व श्रद्धा का होना अति दुर्लभ होता है।

(४) संयम में पुरुषार्थ — जिनवचन के प्रति श्रद्धा हो जाने पर भी तदनुरूप आचरण परम दुर्लभ है। सभी व्यक्ति उसमें पराक्रम या पुरुषार्थ नहीं कर पाते हैं। जो जाना है, जिस पर श्रद्धा है— उसके अनुसार आचरण करना परम दुर्लभातिदुर्लभ है।

इस प्रकार प्रस्तुत अध्ययन में चार अंगों की दुर्लभता का चित्रण करके कर्मों से मुक्त होने की प्रेरणा दी गई है। साथ ही इसमें धर्म के अधिकारी कौन हैं इसका निरूपण करते हुए बताया है कि धर्म का उद्भव स्थान सरल एवं शुद्ध हृदय है। इस प्रकार सरलता / सहजता मोक्ष प्राप्ति की प्रथम अनिवार्यता है। इस अध्ययन की अन्तिम गाथाओं में बताया है कि इन चारों अंगों को प्राप्त कर जीव देवगति में जाता है और वहां से आयुष्य पूर्ण कर दस अंगों वाली भोग सामग्री युक्त मनुष्य भव को प्राप्त होता है और पुनः इन चार अंगों के माध्यम से शेष कर्मों को निर्जसित कर मुक्ति का वरण कर लेता है।

४. असंस्कृत : उत्तराध्ययनसूत्र के चतुर्थ अध्ययन का नाम समवायांगसूत्र⁵⁰ के अनुसार 'असंस्कृत' एवं उत्तराध्ययननिर्युक्ति⁵¹ के अनुसार 'असंस्कृत' तथा 'प्रमादाप्रमाद' हैं। समवायांग का नामकरण इसकी प्रथम गाथा के प्रथम शब्द पर आधारित है तथा निर्युक्तिकार के द्वारा प्रदत्त प्रमादाप्रमाद नाम इस अध्ययन की विषयवस्तु है।

४६ 'असंस्कृत' मोह, अज्ञान, अहं, क्रोध, भय, शोक, अज्ञान, व्याक्षेप, कुतूहल, रमण ॥'

४७ 'असंस्कृत' मोह, अज्ञान, अहं, क्रोध, भय, शोक, अज्ञान, व्याक्षेप, कुतूहल, रमण ॥'

४८ समवायांग ३६/१।

४९ उत्तराध्ययननिर्युक्ति गाथा १३, १८१

- उत्तराध्ययननिर्युक्ति गाथा १६०, निर्युक्तिसंग्रह पृष्ठ ३८०।

- अंगमुत्तानि, ताडनं, खण्ड प्रथम पृष्ठ ८८२।

- निर्युक्तिसंग्रह पृष्ठ ३६६, ३८२।

इस अध्ययन में प्रमाद से निवृत्त होने की और अप्रमत्त रहने की सोदाहरण प्रेरणा दी गई है। इसमें यह बताया गया है कि प्रमाद क्या है एवं उससे बचने के उपाय क्या हैं ? इसके साथ ही इसमें अप्रमत्तता की साधना के साधक तत्त्वों का भी सुन्दर निरूपण किया गया है।

प्रस्तुत अध्ययन जीवन जीने का सम्यक् दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है और जीवन एवं जगत के सम्बन्ध में मिथ्या मान्यताओं का निरसन करता है।

इसमें बताया गया है कि जीवन असंस्कृत है अर्थात् इसे सांघा/जोड़ा नहीं जा सकता है। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो इसे छोटा-बड़ा नहीं किया जा सकता है, क्योंकि आयुष्य रूपी डोर टूट जाने पर उसे पुनः जोड़ा नहीं जा सकता। अतः किंचित् भी प्रमाद नहीं करना चाहिये।⁵²

कुछ लोगों की मान्यता है कि धर्म करने का समय वृद्धावस्था है। इसके निरसन में कहा गया है कि धर्म करने के लिए सब काल उपयुक्त है और जीवन भर अप्रमत्त/सजग रहने पर ही अन्तिम समय में धर्म का पालन करना सम्भव है।

इसी प्रकार धन को शश्वन्मानने वालों के लिये कहा है कि धन त्राण नहीं दे सकता है⁵³ अर्थात् धन दुःखों से मुक्ति नहीं दिला सकता। व्यक्ति को अपने द्वारा अर्जित कर्मों का फल स्वयं ही भोगना पड़ता है। अन्य व्यक्ति उन कर्मों के फल में सहभागी नहीं होते हैं।⁵⁴

अन्त में यह बताया गया है कि छन्द अर्थात् इच्छाओं के निरोध में ही मुक्ति है। अतः प्रलोभन की परिस्थिति में व्यक्ति को सदा जागृत रहना चाहिये।⁵⁵ इस प्रकार इसका मूल प्रतिपाद्य आत्म-सजगता की अपरिहार्यता एवं जीवन के प्रति सन्तुलित एवं स्वस्थ दृष्टिकोण अपनाना है।⁵⁶

५. अकाममरणीय : प्रस्तुत अध्ययन का प्रचलित नाम अकाममरणीय है तथा नियुक्तिकार के अनुसार इसका नाम 'मरणविभतीर्द' / मरणविभक्ति है।⁵⁷

५२ 'असंख्यं जीविय मा पमापर, जरोवर्णीयस्स हु नत्थि ताणं ।

एवं विद्यावाहिं जणे पमत्ते, क्खु विहिंसा अज्जाव गच्छिंति ॥११॥'

५३ 'विनेण ताणं न लोने पमत्ते'

५४ 'कम्मस्स ते तस्स उ वेय्यकत्ते, न बंधवा बंधवय ज्जेत्ति ।'

५५ 'छंदं निरोहेण उयेद्दं मोक्खं'

५६ 'मन्दा य फसा बहु-तोहणिज्जा, तहप्यारेसु मयं न कुप्फा'

५७ उत्तराध्ययननियुक्ति गाथा २०६

- उत्तराध्ययनसूत्र ४/१ ।

- उत्तराध्ययनसूत्र ४/५ ।

- वही ४/४ ।

- वही ४/८ ।

- वही ४/१२ ।

- (नियुक्तिसंग्रह पृष्ठ ३८५) ।

जीवन यात्रा के दो छोर हैं - (१) जन्म एवं (२) मृत्यु । जीवन जीना एक कला है, किन्तु मरना तो उससे भी बड़ी कला है। जो मृत्यु की कला नहीं जानते हैं उन्हें इस संसार चक्र में बार-बार जन्म-मरण करना पड़ता है। अतः प्रस्तुत अध्ययन में जीवों के दोनों प्रकार के मरण - अकाममरण एवं सकाममरण के स्वरूप और उनके परिणामों का विवेचन किया गया है।

अकाममरण विवेकरहित होता है तथा सकाममरण विवेकपूर्वक होता है। अकाममरण में विषय-वासना या कषाय की प्रबलता होती है, जबकि सकाममरण में विषय वासना एवं कषाय का अभाव होता है।

प्रस्तुत अध्ययन में सकाममरण के अधिकारी की चर्चा करते हुए कहा गया है कि व्यक्ति चाहे साधु वेशधारी हो अथवा जटाधारी, वल्कलधारी, गेरुए वस्त्रधारी, नग्न, मुण्डित एवं भिक्षाजीवी हो इससे उनकी मृत्यु नहीं सुधर सकती। क्योंकि मात्र वेश एवं क्रियाकाण्ड ही दुर्गति के निवारक नहीं हैं वरन् जो व्रतधारी हैं, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र की आराधना में रत हैं चाहे वे गृहस्थ हों या साधु, सार्धकमरण / समाधिमरण को प्राप्त होते हैं।^{६०}

इस अध्ययन के उपसंहार में कहा गया है कि साधक सकाममरण एवं अकाममरण के स्वरूप एवं परिणाम को जानकर सकाममरण की अपेक्षा करना चाहिये। संयमी, ज्ञानी एवं समाधिस्थ का सकाममरण होता है और असंयमी, आत्मघाती एवं अज्ञानी का अकाममरण होता है। प्रस्तुत अध्ययन की अन्तिम गाथा में समाधिमरण के तीन प्रकार बताये गये हैं- (१) भक्तपरिज्ञा (२) इगिनी और (३) पादोपगमन।

प्रस्तुत अध्ययन में जिस समाधिमरण की चर्चा की गई है वह आत्महत्या नहीं है। इसका स्पष्टीकरण शोधप्रबन्ध के आठवें अध्याय में द्रष्टव्य है।

६. **कुल्लक निर्ग्रन्थीय** : प्रस्तुत अध्ययन का नाम कुल्लक निर्ग्रन्थीय है। इसमें १८ गाथायें हैं। 'निर्ग्रन्थ' शब्द जैनदर्शन का प्राचीन शब्द है। प्राचीन समय में जैनधर्म निर्ग्रन्थधर्म के नाम से प्रचलित था।

ग्रन्थ का मूल अर्थ गांठ है। इसके दो प्रकार हैं -

(१) स्थूलग्रन्थी और (२) सूक्ष्मग्रन्थी । वस्तुओं का संग्रह करना स्थूलग्रन्थी है एवं उनके प्रति आसक्ति/मूर्छा का होना सूक्ष्मग्रन्थी है। इस अध्ययन में श्रमण को इन दोनों ग्रन्थियों का परित्याग कर साधना पथ पर अग्रसर होने की प्रेरणा दी है।

इसमें अविद्या / अज्ञान को दुःख का कारण बतलाया है, साथ ही यह भी बताया है कि मात्र शाब्दिक ज्ञान या सैद्धान्तिक ज्ञान दुःख मुक्ति का कारण नहीं बन सकता, क्योंकि जो ज्ञान आचरण या व्यवहार में नहीं उतरता है, वह व्यर्थ है, भारभूत है। इसी अध्ययन में सत्य की खोज स्वयं के द्वारा करने एवं प्राणीमात्र के साथ मैत्रीभाव रखने की प्रेरणा दी गई है। परिजन एवं धन-सम्पत्ति आदि साधन जीव की रक्षा करने में असमर्थ हैं। इसका सुन्दर चित्रण भी प्रस्तुत किया गया है।

इस अध्ययन की अन्तिम गाथा का पाठान्तर उत्तराध्ययनचूर्णि एवं उसकी बृहद्वृत्तिटीका में उपलब्ध होता है। यथा-

एवं से उदाहु अरिहा, पासै पुरिसादाणीए।

भगवं वेसालिए . बुद्धे परिणिवुए ।।⁵⁹

टीकाकार ने उपर्युक्त गाथा में प्रयुक्त पुरुषादाणीय, पास एवं शब्द का सम्बन्ध भगवान महावीर से जोड़ा है। वे लिखते हैं 'समस्तभावान् केवलालोकेनावलोक्य इति पश्यः' अर्थात् जो केवलज्ञान के आलोक में समस्त जगत को देखता है वह 'पास' है तथा पुरुषादानीय का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखा है कि तीर्थंकर प्रायः 'पुरुष' होते हैं तथा 'आदानीय' का अर्थ ग्रहण करने योग्य ज्ञानादि गुण हैं। इस प्रकार जो पुरुष ज्ञानादि गुण को ग्रहण करे वह पुरुषादानीय है। इस अपेक्षा से ये दोनों शब्द भगवान महावीर के विशेषण मान लिये गये हैं। युवाचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार यह गाथा सम्भवतः भगवान पार्श्वनाथ की परम्परा की है क्योंकि पुरुषादानीय भगवान पार्श्वनाथ का सुप्रसिद्ध विशेषण है।⁶⁰ अतः उसके साथ प्रयुक्त 'पास' शब्द का अर्थ पार्श्व ही होना चाहिये। यद्यपि पाठान्तर की गाथा में 'वेसालिए' विशेषण का अधिक सम्बन्ध भगवान महावीर से है पर चूर्णिकार ने 'वेसालिए' शब्द की जो व्याख्या

५६ (क) उत्तराध्ययनचूर्णि पत्र १५७ ।

(ख) उत्तराध्ययनसूत्र टीका पत्र २७० ।

६० उत्तराध्ययनगणि, द्वितीय भाग पृष्ठ १७३

- शान्त्याचार्य ।

- युवाचार्य महाप्रज्ञ ।

की है उसके अनुसार यह पार्श्वनाथ का विशेषण भी हो सकता है,⁶¹ किन्तु जिस प्रकार पुरुषादानीय पार्श्व का विशेषण है; उस प्रकार 'वैशालिक' महावीर का विशेषण है। संभव है कि यह गाथा दो अलग गाथाओं के चरणों को जोड़ कर कल्पित की गई हो या मूल गाथा में 'कौसलीय' शब्द रहा हो जो बाद में किसी प्रकार बदलकर वैशालीय हो गया हो।

७. **उरभ्रीय** : उत्तराध्ययनसूत्र के सातवें अध्ययन का नाम समवायांग एवं उत्तराध्ययननिर्युक्ति में उरभ्रीय/औरभ्रीय है, किन्तु अनुयोगद्वार में इसका 'एलइज्ज' नाम प्राप्त होता है,⁶² जिसका कारण प्रस्तुत अध्ययन की प्रथम गाथा में प्रयुक्त 'एलयं' शब्द होना चाहिए। वस्तुतः उरभ्र एवं एलक दोनों ही शब्द बकरे के पर्यायवाची हैं। इसमें ३० गाथायें हैं। इस अध्ययन में दृष्टान्तों के माध्यम से विषय का स्पष्टीकरण किया गया है -

सर्वप्रथम रसलोलुपता महादुःखदायी है, इसका प्रतिपादन करते हुए मेमने के दृष्टान्त द्वारा इसमें यह बताया गया है कि जो ऐन्द्रिक विषय सुखों में आसक्त होकर हिंसा करते हैं, झूठ बोलते हैं, लूटपाट एवं चोरी करते हैं, स्त्रियों में आसक्त रहते हैं, मांस मदिरा का सेवन करते हैं, दूसरों का शोषण करते हैं महारम्भ एवं महापरिग्रह में रत रहते हैं; वे जीव जैसे मेमना मेहमान के लिये अपेक्षित होता है अर्थात् मेहमान के आने पर वह मरणांतक कष्ट प्राप्त करता है, वैसे ही पूर्वोक्त पापकर्मों में लिप्त जीव नरक में भयंकर कष्टों को प्राप्त करते हैं।

आगे चलकर इसमें दो दृष्टान्तों के माध्यम से अल्पकालीन सुख के पीछे शाश्वत सुख को नहीं खोने की शिक्षा दी गई है।

एक व्यक्ति ने बड़ी मेहनत से एक हजार काषार्पण एकत्रित किये। उन्हें लेकर वह अपने गांव लौट रहा था। उसने रास्ते में कहीं कुछ सौदा किया और आगे चल दिया। कुछ रास्ता तय करने पर उसने जब हिसाब जोड़ा तो ज्ञात हुआ कि व्यापारी ने एक कांकिणी कम दी है। वह अपने हजार काषार्पण वहीं जंगल में छुपाकर कांकिणी लेने के लिये पुनः वापस गया। कांकिणी लेकर वह वापस वहां आया जहां उसने एक हजार काषार्पण छुपाकर रखे थे। लेकिन वहां काषार्पण नहीं मिले क्योंकि उन्हें रखते समय किसी ने देख लिया था। वह उन्हें पीछे से चुराकर ले गया। इस प्रकार वह एक कांकिणी के पीछे हजार काषार्पण गवां बैठा।

६१ उत्तराध्ययनसूत्र पत्र १५७।

६२ अनुयोगद्वारसूत्र ३२२,

- नवसुताभि, लाहौर, पृष्ठ ३५०।

दूसरे उदाहरण में यह बताया गया है कि एक रूग्ण राजा को चिकित्सक ने आम खाने का निषेध किया था। लेकिन एक दिन राजा जंगल में गया। वहाँ मीठे-मीठे आमों की सुगन्ध से वह मुग्ध हो गया और मंत्री के मना करने पर भी राजा ने आम खा लिया। परिणामतः वह मृत्यु को प्राप्त हुआ।

सूत्रकार उपर्युक्त उदाहरणों द्वारा यह बताते हैं कि मनुष्य जीवन में प्राप्त होने वाले सुख तो कुश के अग्रभाग पर टिके हुए ओस के जल कण की तरह हैं और दिव्यसुख सागर की विशाल जलराशि के समान हैं। देवताओं के काम भोगों के समक्ष मनुष्य के कामभोग तुच्छ एवं अल्पकालीन हैं। अतः इनमें आसक्त नहीं होना चाहिये। जो व्यक्ति क्षणिक सुखों के पीछे विपुल सुखों को त्याग देता है वह उस मूर्ख के समान है जो मूल पूंजी ही खो बैठता है यथा -

एक पिता ने अपने तीन पुत्रों को पूंजी देकर व्यापार के लिए भेजा। उनमें से एक व्यापार में बहुत धन कमाकर लौटा। दूसरा जितनी मूल पूंजी लेकर गया था उतनी वापस लेकर आया और तीसरा अपने पास की पूंजी को गवांकर आया।

इस प्रकार मनुष्यगति को पुनः प्राप्त कर लेना मूल पूंजी सुरक्षित रखने के समान है। अपने सदाचरण से देवगति प्राप्त करना मूलधन की वृद्धि करना है और विषयवासना वश नरक या तिर्यग्गति प्राप्त करना मूलधन को गंवाना या नष्ट करना है।

मनुष्यगति मूल पूंजी है। देवगति उसका लाभ और नरक तथा तिर्यग्गति मूल को खोना है।^{६३}

उपसंहार में कहा गया है कि अज्ञानी जीव अधर्म के लिये धर्म का त्याग कर नरक में जाते हैं एवं धीर, विवेकी, ज्ञानी पुरुष अधर्म का त्याग कर देवगति को प्राप्त करते हैं। अतः मुनि को बालभाव त्यागकर ज्ञानियों के मार्ग का अनुसरण करना चाहिये।

८. कापिलीय : प्रस्तुत अध्ययन का नाम कापिलीय है। कपिलमुनि द्वारा उपदिष्ट होने के कारण इस अध्ययन का नाम कापिलीय पड़ा है। इसमें २० गाथायें हैं। पूर्वावस्था में कपिल ब्राह्मण था। एक बार वह एक दासी में अनुरक्त हो गया और

६३ 'मनुसंस्तं भवे मूलं, लभते देवगई भवे।

मूलच्छेपेण जीवामं, नरगतिरिक्खत्तमं बुद्धं ॥'

- उत्तराध्ययनसूत्र ७/१६ ।

उसे उपहार देने की भावना से आधी रात को धनसेठ के घर खाना हो गया। वह धनसेठ प्रातः काल सर्वप्रथम बधाई देने वाले को दो माशा सोना देता था। लेकिन आधी रात को नगरी में धूमते हुए कपिल को जब रक्षकों ने देखा तो चोर समझकर उसे पकड़ लिया और राजा के समक्ष उपस्थित किया।

राजा ने कपिल से अर्धरात्रि में भ्रमण का कारण पूछा। कपिल ने सरल एवं स्पष्ट रूप से सारी बात बता दी। राजा कपिल की स्पष्टवादिता से प्रभावित हो उठा और बोला कि वत्स मैं तुम पर प्रसन्न हूँ। मांगों तुम्हें क्या चाहिये ? कपिल ने कहा कि सोचकर मांगूंगा और वह सोचने लगा। क्या मांगू ? दो माशा सोने से क्या होगा ? सौ...हजार...लाख...करोड़ माशा मांग लूँ । ऐसा सोचते-सोचते लोभ की पराकाष्ठा यहां तक पहुंच गई कि कपिल का मन पूरा राज्य मांगने को तैयार हो गया फिर भी प्राप्ति की चाह बनी रही। अन्ततोगत्या उसके चिन्तन की दिशा बदल गयी। मन में विरक्ति आ गई। उसने सोचा कि लाम के साथ-साथ लोभ बढ़ता जाता है और लोभ से उद्विग्नता बढ़ती है। सच्ची शान्ति तो सन्तोष और निर्लोभ वृत्ति में है। यह सोचकर कपिल ने संयम स्वीकार कर लिया। मुनि बनने के पश्चात् उन्होंने ५०० चोरों को जो प्रतिबोध दिया उस उपदेश का संकलन इस अध्ययन में किया गया है।

प्रस्तुत अध्ययन का मूल प्रतिपाद्य है कि वास्तविक सुख इच्छाओं की पूर्ति में नहीं वरन् इच्छाओं की निवृत्ति में है। अतः व्यक्ति को लोभ पर विजय प्राप्त करनी चाहिये।

६. नमिप्रव्रज्या : नमिराजा की प्रव्रज्या का विवरण होने से इस अध्ययन का नाम नमिप्रव्रज्या रखा गया है। इस अध्ययन में ६२ गाथायें हैं। यहां ये नमिराजा कौन थे ? इस पर संक्षेप में विचार करना प्रसंगोचित है।

मालवदेश के सुदर्शनपुर नगर में मणिरथ राजा राज्य करता था। उसका छोटा भाई युगबाहु था। मदनरेखा युगबाहु की पत्नी थी। मदनरेखा पर आसक्त हो जाने के कारण मणिरथ ने युगबाहु को मार डाला। मदनरेखा उस समय गर्भवती थी, उसने जंगल में एक पुत्र को जन्म दिया। उस शिशु को मिथिला के राजा पदमरथ ले गये और उसका नाम नमि रख दिया। कुछ वर्षों के बाद राजा पदमरथ ने नमि को राजा बना दिया और स्वयं ने दीक्षा ले ली।

एक बार राजा नमि दाहज्वर से पीड़ित हो गये। दाहज्वर के उपचार के लिये चन्दन के लेप की आवश्यकता हुई। रानियां स्वयं चन्दन घिसने लगीं। चन्दन घिसते समय हाथों के फंकणों के परस्पर टकराने से तीव्र आवाज होने लगी।

वह शोर राजा के लिये असहनीय हो गया । अतः रानियों ने सौभाग्य सूचक एक एक कंकण को छोड़कर शेष सभी उतार दिये। आवाज बंद हो गयी। अकेला कंकण आवाज कैसे करता ?

इस घटना ने नमिराजा को चिन्तन की गहराईयों में उतार दिया कि जहां अनेक हैं वहां संघर्ष है, दुःख है, पीडा है। जहां एक है वहां पूर्ण शान्ति है। धन, परिवार की भीड़ में सुख नहीं, सुख तो आत्मभाव में संयम में है और राजा ने संयम लेने का संकल्प कर लिया। अकस्मात् नमिराजा को प्रव्रजित होते देख इन्द्र उनकी परीक्षा के लिये ब्राह्मण का रूप बनाकर आया और अनेक प्रश्नों से नमि राजा को विचलित करने का प्रयास करने लगा। इस प्रकार प्रस्तुत अध्ययन नमि राजर्षि एवं इन्द्र के बीच हुए संवाद का सुन्दर संकलन है।

इन्द्र नमि राजर्षि को राज्योचित कर्म की प्रेरणा देता है। प्रत्युत्तर में राजा आत्मधर्म की बात करते हुए संसार की असारता एवं भेद विज्ञान की चर्चा करते हैं। इन्द्र कहते हैं कि राजन् आप प्राप्त सुख का त्यागकर अप्राप्त सुख के लिये प्रयास कर रहे हैं, यह कैसे उचित है ? राजा कहते हैं -- विषयों में सुख नहीं है, कामभोग शल्य है, विष है एवं दुर्गतिदायक है। पुनश्च इन्द्र कहता है आप अनेक राजाओं को वश में करके फिर दीक्षा लेना। इसका उत्तर देते हुए नमिराजा कहते हैं— आत्मविजय ही परमविजय है। दस लाख योद्धाओं को जीतने की अपेक्षा स्वयं की आत्मा को जीतना श्रेयस्कर है क्योंकि एक आत्मा को जीत लेने पर ये सब जीत लिये जाते हैं।^{६४}

इन्द्र ने जब राजा को अपराधियों को दण्ड देकर नगर की सुरक्षा करने की प्रेरणा दी तब राजा ने कहा -- प्रामाणिकतापूर्वक न्याय कर पाना कठिन है अनेक बार अपराधी मुक्त हो जाते हैं और निरपराधी पकड़े जाते हैं ।

इसी प्रकार प्रस्तुत अध्ययन में नमिराजर्षि ने आध्यात्मिक दृष्टि से अनेक तथ्यों का प्रतिपादन किया है । जैसे— दान से तप—संयम श्रेष्ठ है। क्योंकि दान में जो भी दिया जाता है वह 'पर' है और 'पर' का 'पर' को दान करने में कथ विशेषता है, यह कथन कि इस अपेक्षा से कहा गया कि सन्यास आश्रम सर्वश्रेष्ठ आश्रम है। सन्तोष त्याग में है भोग में नहीं।

६४ 'जो सहस्रं सहस्राणं, संगमे दुज्जए जिने ।
एवं जिणेज्ज अन्धेषु, एस से परमे ज्जो ॥'
'पच्चिदियाणि कोरे, माणं मायं तहेव तोहं व ।
दुज्जायं धेव अप्पानं, सव्वं अप्पे जिए जिणं ॥'

इस प्रकार इस अध्ययन में इन्द्र नमिराजा को अनेक प्रकार के कर्तव्यों की याद दिलाकर उन्हें विचलित करना चाहते हैं पर नमिराजर्षि प्रत्युत्तर में आत्मधर्म और आत्मकर्तव्य की सुन्दर, सटीक एवं सार्थक विवेचना करते हैं। यह अध्ययन अत्यन्त वैराग्योत्पादक एवं आध्यात्मिक प्रेरणा से युक्त है।

१०. द्रुमपत्रक : प्रस्तुत अध्ययन का नाम द्रुमपत्रक है क्योंकि इस अध्ययन में वृक्ष के जीर्ण पत्ते का उदाहरण देकर जीवन की क्षणभंगुरता का बोध कराया है।

इस अध्ययन की प्रत्येक गाथा के अन्त में गौतमस्वामी को सम्बोधित करते हुए प्रमाद त्याग की प्रेरणा दी गई है। यद्यपि यह सम्बोधन गौतमस्वामी को दिया गया है, परन्तु इसमें दिया गया उद्बोधन सभी के लिए है।

इसमें जीव की विभिन्न गतियों में परिभ्रमण की स्थिति का वर्णन किया गया है। तत्पश्चात् मनुष्यजीवन, धर्मश्रवण, उस पर श्रद्धा और संयम में पुरुषार्थ की दुर्लभता का उल्लेख किया गया है। अन्त में शिथिल होते हुए शरीर और इन्द्रियों की दशा का चित्रणकर व्यक्ति को सदैव अप्रमत्त रहकर धर्मसाधना करने की प्रेरणा दी गई है।

इस अध्ययन की शैली से यह प्रतीत होता है कि इसमें भगवान् महावीर के वचनों का शब्दशः संकलन किया गया है। उत्तराध्ययनसूत्र की प्राचीनता भी इस अध्ययन से सिद्ध होती है। अतः यह अध्ययन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

११. बहुश्रुतपूजा : इस अध्ययन में 'बहुश्रुत' अर्थात् ज्ञानी की विशेषताओं का वर्णन किया गया है। अतः इसका 'बहुश्रुतपूजा' नाम सार्थक है। इसमें ३२ गाथायें हैं।

सर्वप्रथम अबहुश्रुत का वर्णन करते हुए इसमें कहा गया है कि विद्याहीन तो अबहुश्रुत है ही, साथ ही जो विद्यावान् होकर भी अहंकारी, असंयमी एवं आसक्त है, वह भी अबहुश्रुत है। तत्पश्चात् इसमें शिक्षा प्राप्ति में बाधक एवं साधक बातों का वर्णन किया है।^{६६} अविनीत एवं सुविनीत के लक्षणों का

६६ 'अहं पंचाहिं ठापेहिं, जेहिं सिक्खा न लब्धई ।

पंथा कोहा पमाएण, रोगेणा ऽ तस्सएण य ॥

अहं अइहिं ठापेहिं, सिक्खासीते ति दुच्चइ ।

अहसिरे सया दंते, न य मम्ममुदाहरे ॥

नासीले नं विसीले, न सिया अइतोतए ।

अकोरणे सच्चए, सिक्खासीते ति दुच्चइ ॥'

- उत्तराध्ययनसूत्र ११/३, ४ एवं ५ ।

निरूपण करते हुए इसमें बहुश्रुत को अनेक उपमाओं से उपमित किया गया है, जो प्रस्तुत हैं—

शंख में रखे हुए दूध की तरह निर्मल, देशीय कन्धक अश्व की तरह शीलसम्पन्न, शूरवीर योद्धा की तरह पराक्रमी, हाथी की तरह अपराजेय, यूथाधिपति वृषभ की तरह गणप्रमुख, सिंह की तरह साहसी, वासुदेव की तरह बलशाली, चौदह रत्नों से सम्पन्न चक्रवर्ती की तरह चौदह पूर्वधर इन्द्र की तरह ऐश्वर्यशाली, सूर्य की तरह तेजस्वी, चन्द्र की तरह सौम्य, अनेकविध धन धान्य से समृद्ध कोष्ठागार की तरह ज्ञान से परिपूर्ण, जम्बूद्वीप, सीता नदी एवं मेरुपर्वत के समान श्रेष्ठ रत्नों से पूर्ण स्वयंभूरमण समुद्र की तरह अक्षय ज्ञान रूपी रत्न से परिपूर्ण ऐसे विशाल एवं गभीर हृदय वाले बहुश्रुत होते हैं। इस अध्ययन के अन्त में ज्ञानार्जन के निम्न दो प्रयोजन बतलाये हैं —

(१) स्वयं की मुक्ति के लिए ।

(२) दूसरों को मोक्षपथ पर अग्रसर करने के लिए ।

इस प्रकार प्रस्तुत अध्ययन साधना के क्षेत्र में ज्ञान और ज्ञानी के विशिष्ट महत्त्व को प्रतिष्ठित करता है।

१२. हरिकेशीय : प्रस्तुत अध्ययन का नाम 'हरिकेशीय' है । इसमें हरिकेशबल नामक साधु का वृत्तान्त है। इसमें ४७ गाथायें हैं। हरिकेशबल मुनि चाण्डाल कूल में जन्मे थे। फिर भी उन्होंने संयम स्वीकार किया । कठोर साधना के द्वारा उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि साधना के क्षेत्र में जाति का कुछ भी महत्त्व नहीं, महत्त्व है तप और त्याग का ।

हरिकेशबल के वचन की एक घटना है जिसने उसके समूचे जीवन को बदल डाला । एक दिन की बात है उसने देखा कि कुछ बालक एक ओर खेल रहे हैं इतने में वहां एक सर्प आ निकला । लोकों ने तत्काल उसे मार दिया । थोड़ी देर में एक अलसिया नाग निकला । लोकों ने उसे निर्विष समझ कर यों ही छोड़ दिया । इस घटना से हरिकेशबल को सोचने के लिए बाध्य कर दिया । उसने इस पर चिन्तन किया और यह निष्कर्ष निकाला कि प्राणी अपनी क्रूरता के कारण मारा जाता है और अपनी सौम्यता के कारण बच जाता है । इसी प्रकार व्यक्ति अपने ही अवगुणों से अपमानित एवं अपने ही सदगुणों से सम्मानित होता है। इस प्रकार के शुभ चिन्तन से हरिकेश को जाति स्मरण ज्ञान हो गया और वह मुनि बन गया। उनके आध्यात्मिक विकास में जाति अवरोध नहीं डाल सकी। वस्तुतः गुणों का सम्बन्ध व्यक्ति के आध्यात्मिक जागरण के साथ है। उत्थान हो या पतन, विनाश हो या विकास सब के लिये व्यक्ति का स्वयं का आचरण ही उत्तरदायी है, जाति या कूल नहीं।

एक बार हरिकेश मुनि एक यक्ष मन्दिर में ध्यानस्थ खड़े थे। वहाँ राजकुमारी भद्रा का आगमन हुआ। मुनि के कृश एवं कुरूप काया को देखकर उसका मन घृणा से भर गया। उसने मुनि पर थूक दिया। मुनि के इस अपमान को यक्ष सहन नहीं कर सका। उसने राजकुमारी को भयंकर रोग से पीड़ित कर दिया। राजा ने अनेक उपाय किये पर रोग का निदान नहीं हो सका। तब यक्ष ने कहा कि यदि यह मुनि के साथ विवाह करे तो स्वरथ हो सकती है। बात मान कर, राजा ने मुनि के समक्ष राजकुमारी के साथ विवाह करने का प्रस्ताव रखा। मुनि ने कहा कि वे तो विरक्त हैं। विवाह की बात वे कदापि स्वीकार नहीं कर सकते।

आखिर, राजा ने यह सोचकर कि ब्राह्मण भी ऋषि का रूप होते हैं। भद्रा का विवाह राजपुरोहित रूद्रदेव के साथ कर दिया।

इधर हरिकेशबल मुनि एक माह के उपवास के पश्चात् भिक्षा की खोज में निकले और उसी यज्ञ मण्डप में आ पहुँचे जहाँ पुरोहित रूद्रदेव यज्ञ करवा रहा था। वहाँ ब्राह्मणों ने मुनि को अनेक प्रकार से अपमानित किया। तब राजकुमारी भद्रा ने आकर सभी को समझाया कि ये मुनि जितेन्द्रिय हैं, महान् साधक हैं। इनका अपमान मत करो क्योंकि मुनि का अपमान करना नखों से पर्वत खोदने, दांतों से लोहे के चने चबाने, और पावों से अग्नि पर चलने के समान हानिकारक है।^{६६} राजकुमारी की प्रेरणा से सभी ब्राह्मणों ने मुनि से क्षमा मांगी और मुनि को भिक्षा दी। पश्चात् मुनि ने ब्राह्मणों को प्रतिबोध दिया। मुनि ने हिंसात्मक यज्ञ की निरर्थकता सिद्ध कर वास्तविक आध्यात्मिक यज्ञ के स्वरूप का प्रतिपादन किया। प्रस्तुत अध्ययन में मुनि के यज्ञशाला में प्रवेश के बाद के प्रसंग का वर्णन है।

इसमें आध्यात्मिक यज्ञोचित सामग्री का विशद वर्णन किया गया है^{६७} और उपसंहार में यह भी बताया है कि आध्यात्मिक यज्ञ ही वास्तव में मुक्ति का साधन/कारण है।

संक्षेप में इस अध्ययन के मुख्य विषय निम्न हैं -

- | | |
|----------------------|------------------------|
| (१) दान के अधिकारी | (गाथा १२-१८) |
| (२) जातिवाद | (गाथा ३६) |
| (३) आध्यात्मिक यज्ञ | (गाथा ३८, ३९, ४२ व ४४) |
| (४) आध्यात्मिक स्नान | (गाथा ४५, ४६ व ४७) |

६६ 'गिरि नहीं छेड़ छणह, अवं दंतोहि रकयह ।

जायतेय पारुहि हणह, जे भिक्षुं अवमन्नह ॥'

- उत्तराध्ययनसूत्र १२/२२, २३ व २६ ।

६७ 'तले जोइ जीओ जोइटाण, जांगा सुपा सरीरं करिसंग ।

कम्पे एहा संजमजोग सन्ती, होमं हुणामी इमिणं पसलं ॥

धम्मे हरए बंधे सन्तितिल्ले, अण्णविल्ले अत्तपसल्ले लेत्ते ।

जहिंति णम्हओ धिम्मत्ते विसुद्धो, सुसीइमुओ पज्जहामि वेत्तं ॥' - उत्तराध्ययनसूत्र १२/४५ व ४६ ।

इस प्रकार इस अध्ययन का निष्कर्ष यह है कि बाह्य शुद्धि की अपेक्षा आन्तरिक शुद्धि ही श्रेष्ठ है। जाति या कुल की कोई महत्ता नहीं है, महत्ता है व्यक्ति के चरित्र बल की।

१३. चित्र-संभूतीय : इस 'चित्रसंभूतीय' अध्ययन में चित्र एवं सम्भूत दोनों भ्राताओं के पारस्परिक संवाद का संकलन है। इसमें ३५ गाथायें हैं।

ब्रह्मदत्त की उत्पत्ति से अध्ययन का प्रारम्भ होता है। चित्र और सम्भूत पूर्व भव में भाई-भाई थे। चित्र का जीव पुरिमताल नगर के सेठ का पुत्र हुआ और मुनि बना। सम्भूत का जीव ब्रह्म राजा का पुत्र ब्रह्मदत्त बना। छठी व सातवीं गाथा में इनके पूर्व जन्मों का उल्लेख है। इनके पूर्व के पांच भवों का विस्तृत विवेचन नेमिचन्द्राचार्य कृत उत्तराध्ययनसूत्र की टीका में मिलता है।

प्रस्तुत अध्ययन में चित्र मुनि ब्रह्मदत्त को संसार की असारता का बोध कराकर संयम ग्रहण करने की प्रेरणा देते हैं। परन्तु भोगों में अत्यन्त आसक्त ब्रह्मदत्त संयम के लिए तैयार नहीं होता है। तब मुनि गृहस्थधर्म पालन करने की प्रेरणा देते हैं, किन्तु ब्रह्मदत्त पर उसका भी कोई प्रभाव नहीं होता है। तब मुनि सोचते हैं कि मूर्खों को उपदेश देना व्यर्थ है।

अन्तिम गाथा में यह बताया गया है कि आत्म साधना के द्वारा चित्र मुनि मुक्ति को प्राप्त होते हैं एवं भोगासक्ति के कारण ब्रह्मदत्त सातवीं नरक में उत्पन्न होता है।

१४. इषुकारीय : प्रस्तुत अध्ययन का नाम इषुकारीय है। इसमें वर्णित नगर एवं राजा दोनों का नाम इषुकार है। अतः इस अध्ययन का नाम इषुकार रखा गया है। इसमें ५३ गाथायें हैं।

इस अध्ययन के आरम्भ में बताया गया कि राजपुरोहित के दो पुत्रों को निर्ग्रन्थ मुनि के दर्शन से पूर्वजन्म का स्मरण हो आया इससे उन्हें वैराग्य उत्पन्न हो गया और उन्होंने संयम लेने का निर्णय कर लिया। इस हेतु अपने पिता से अनुमति मांगी पर पिता ने पुत्रों को सन्यासमार्ग से विचलित करने के लिए अनेक प्रकार से समझाया, किन्तु पुत्रों के संसार की नश्वरता को सिद्ध करने

वालें तर्कों ने पिता को निरूत्तर कर दिया।⁶⁶ इसपर पिता ने उन्हें संयम ग्रहण करने की अनुमति ही नहीं दी अपितु उनके साथ अपनी पत्नी सहित स्वयं भी दीक्षा ग्रहण करने के लिए तत्पर हो गये। इधर जब राजा को ज्ञात हुआ कि राजपुरोहित सपरिवार दीक्षा लेने जा रहे हैं तो राजा ने उनकी विपुल सम्पदा को अपने राजकोष में मंगवाने का निर्णय लिया; किन्तु रानी कमलावती ने पुरोहित द्वारा त्यक्त सम्पदा को अधिगृहीत करना वमित भोजन को ग्रहण करने के समान बताकर राजा को उसके कर्तव्य का बोध कराया, साथ ही उसने संसार के काम भोगों की नश्वरता और दुःखरूपता का चित्रण भी प्रस्तुत किया। फलतः पुरोहित दम्पति और उनके दोनों पुत्रों के साथ राजा रानी भी दीक्षित होने के लिए तत्पर हो गए। इस प्रकार प्रस्तुत अध्ययन मुख्य रूप से वैसाग्यपूर्ण उपदेशों से परिपूर्ण है। इसमें वैदिकपरम्परा की उस अवधारणा की समीक्षा भी की गई है जिसके अनुसार यह माना जाता है कि पुत्र के अभाव में सद्गति नहीं होती। बौद्ध साहित्य के हस्तिपाल जातक में भी यह कथा कुछ परिवर्तित रूप में उपलब्ध होती है।⁶⁹ इस अध्ययन पर प्रो. के. आर. नार्मन ने एक शोधपरक आलेख प्रस्तुत किया है।⁷⁰

१५. समिक्षुक : इस अध्ययन में भिक्षु के लक्षणों का निरूपण किया गया है। अतः इसका नाम समिक्षुक है। इस अध्ययन में १६ गाथायें हैं।

इसमें संवेग, निर्वेद, विनय, विवेक, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, क्षमा, शान्ति, सरलता, संयम, निर्लोभता, निर्भयता, परीषह विजय आदि भिक्षु के गुणों का वर्णन किया गया है। आगे इसमें कहा गया है कि भिक्षु वही होता है जो अहिंसक एवं संयमी जीवन जीता है तथा भिक्षाचर्या से अपना निर्वाह करता है। भिक्षु अकेला होता है। उसका न कोई मित्र होता है न कोई शत्रु। वह सभी सम्बन्धों से विमुक्त होता है। वह जितेन्द्रिय होता है और अपनी आध्यात्मिक साधना से प्राप्त शक्ति का उपयोग बाह्य कीर्ति-प्रसिद्धि के लिए नहीं करता है।⁷¹

६८ (क) 'मच्छुणा ऋषीहओ लोगे, जराए परिवारिओ ।'

- उत्तराध्ययनसूत्र १४/२३ ।

(ख) 'जा जा वच्चइ रवणी, न सा पडिनियतई ।'

अहम्म च कुणभाषस्स, संपत्ता जन्ति राइओ ॥'

- वही १४/२४ ।

(ग) जाया य पुत्ता न हवति ताणं

- वही १४ । १३

६९ हस्तिपाल जातक ५०६

- उद्धृत उत्तराध्ययनणि पृष्ठ ३२८, युवाचार्य महाप्रज्ञ ।

७० Uttarajjhayana Sutta XIV Usuyarijjam

- Aspects of Jainology Vol. III Page 16 (English Section) - K.R. Norman

७१ 'असिपवीवी अगिहे अभिने, निइन्दिये सबओ विप्पुक्के ।'

अणुक्कताई तहुअपपववडी, वेच्चा गिह एणचरे स भिव्वू ॥'

- उत्तराध्ययनसूत्र १५/१६ ।

इसमें यह भी बताया गया है कि जो इच्छित वस्तु मिलने पर प्रसन्न नहीं होता है एवं न मिलने पर अप्रसन्न नहीं होता, वह भिक्षु है। इस प्रकार प्रस्तुत अध्ययन में मुनि के अनेक लक्षणों का विवेचन किया गया है।

१६. ब्रह्मचर्यसमाधिस्थान : इसमें ब्रह्मचर्य के पालन में हेतुभूत समाधि स्थानों का निरूपण किया गया है। अतः इस अध्ययन का नाम 'ब्रह्मचर्यसमाधिस्थान' है। यह अध्ययन गद्य पद्यात्मक है। इसमें बताये गए ब्रह्मचर्यसमाधि के दस स्थान हैं -

- (१) निग्रन्थ (ब्रह्मचारी) स्त्री, पशु एवं नपुंसक से युक्त स्थान पर निवास नहीं करे;
- (२) केवल स्त्रियों के बीच कथा वार्ता न करे;
- (३) स्त्रियों के साथ एक आसन पर नहीं बैठे;
- (४) स्त्रियों की ओर दृष्टि गड़ाकर नहीं देखे;
- (५) स्त्रियों के दुराशय से किये जाने वाले गायन, रोदन, हास्य, विलाप आदि का श्रवण न करे;
- (६) पूर्व क्रीड़ाओं का स्मरण न करे;
- (७) अतिगरिष्ट आहार न करे;
- (८) मात्रा से अधिक भोजन एवं पानी ग्रहण न करे;
- (९) शरीर की साज-सज्जा या विभूषा नहीं करे; और
- (१०) इन्द्रियों के विषय-शब्द, रस, रूप, गन्ध एवं स्पर्श में आसक्त न बने।

इस प्रकार इस अध्ययन में मनोवैज्ञानिक रूप से ब्रह्मचर्य की सुरक्षा की शिक्षा दी गई है और यह बताया गया है कि स्त्रीसम्पर्क, कामकथा, स्त्री पुरुष का एक आसन पर बैठना, पूर्व क्रीड़ा का स्मरण करना, सरस गरिष्ट एवं अति मात्रा में आहार करना, शरीर की विभूषा करना एवं इन्द्रियों के विषयों में आसक्ति रखना ब्रह्मचर्य की साधना में विघ्नकारक है।

इस अध्ययन के उपसंहार में यह बताया गया है कि ब्रह्मचर्यधर्म ध्रुव, नित्य, शाश्वत एवं अर्हत् द्वारा प्ररूपित है तथा इसके पालन द्वारा अनेक जीव मुक्त हुए हैं, हो रहे हैं एवं होंगे।^{१२} इस प्रकार यह अध्ययन ब्रह्मचर्यधर्म की सुरक्षा का मुख्य प्रेरणास्रोत है।

१७. पाप-श्रमणीय : इस अध्ययन में पाप-श्रमण के स्वरूप का वर्णन है। अतः इस अध्ययन का नाम 'पावसमणिज्ज' रखा गया है। इसमें २१ गाथायें हैं।

७२ 'एस धम्मं सुवे निजए, सासए जिगवेसिए ।
सिक्का सिज्जाति चाणेण, सिग्गिंससिती तहावरे ॥'

श्रमण के दो प्रकार होते हैं - (१) श्रेष्ठश्रमण (२) पापश्रमण।

श्रेष्ठ श्रमण वे हैं जो सम्यग् ज्ञान, सम्यग् दर्शन, सम्यक् चरित्र, तप और वीर्य का पालन करने वाले होते हैं एवं जो ज्ञान आदि पंच आचारों का सम्यक् प्रकार से पालन नहीं करता है तथा अकरणीय कार्यों को करता है वह पापश्रमण है। पुनश्च जो संयम ग्रहण करने के पश्चात् प्रमत्त, अनाचारी हो जाते हैं, वे पापश्रमण हैं। आगम के अनुसार 'जे सीहत्ताएणिकखंतो, सियालताए विहरन्ति' अर्थात् जो सिंह की तरह शूरीवीरता से संयम को स्वीकार करता है किन्तु शृगाल की तरह पालन करता है, वह पाप श्रमण है तथा जो विवेकरहित है, अपना अमूल्य समय संयमसाधना एवं स्वाध्याय में न लगाकर खाने, पीने व सोने में बर्बाद करता है, समय पर प्रतिलेखन, प्रतिक्रमण तथा रत्नाधिक की सेवा-शुश्रूषा आदि नहीं करता है, वह पाप श्रमण है।

इस अध्ययन से हमें यह बोध होता है कि साधना की ऊंचाइयों को प्राप्त करना तो कठिन है ही, किन्तु उन ऊंचाइयों पर पहुंचकर वहां स्थिर रहना, पतित नहीं होना कठिनतम है। जो साधक कठिन परिस्थितियों में विचलित नहीं होता है, वही श्रेष्ठ है। श्रमण का अर्थ केवल देश परिवर्तन करना नहीं, जीवन परिवर्तन करना है और जो अपनी वृत्तियों में परिवर्तन कर लेता है, उन्हें भोग मार्ग से त्याग मार्ग की ओर मोड़ देता है, वही श्रमण है और जो पुनः भोग मार्ग की ओर आकृष्ट हो जाता है वही पापश्रमण है।

इस प्रकार प्रस्तुत अध्ययन में (१) पापश्रमण (दोषपूर्ण जीवन जीने वाले मुनि) का स्वरूप; (२) संयमजीवन से दूर करने वाले दोषों एवं (३) उन दोषों को दूर करने वाले उपायों पर प्रकाश डाला गया है।

१८. संजयीय : प्रस्तुत अध्ययन का नाम 'संजइज्ज' है। इसमें ५४ गाथायें हैं। इसमें राजा संजय के गृहस्थ जीवन की एक घटना के पश्चात् शिकारी जीवन एवं तत्पश्चात् उसके संयमी जीवन की स्थिति का दिग्दर्शन कराया गया है। यह एक शिकारी राजा के हृदय परिवर्तन एवं उनके शुद्ध संयम पालन की कथा है।

कापिल्य नगर का राजा 'संजय' था। वह एक बार शिकार खेलने केशर उद्यान में गया। वहां उसने हिरणों का शिकार किया। इतने में राजा की दृष्टि वहां ध्यानस्थ खड़े गर्दभालि मुनि पर पड़ी। राजा भयभीत हो गया। वह मुनि के पास गया और हाथ जोड़कर उनसे क्षमा मांगी। ध्यान पूर्ण होने पर मुनि

ने राजा से कहा कि - राजन्! डरो मत, मेरी ओर से तुम्हें अभय है पर तुम भी अभयदाता बनो। इस अनित्य जीवलोक में तुम क्यों हिंसा में आसक्त बन रहे हो? मुनि ने राजा को जीवन की नश्वरता, ज्ञाति सम्बन्धों की असारता एवं कर्म-फलों की निश्चितता का बोध भी कराया।⁷³ गर्दभालि मुनि के इस उद्बोधन से विरक्त होकर राजा संजय साधु बन गया और साधना में लीन हो गया।

एक दिन संजयमुनि का एक क्षत्रियमुनि के साथ वार्तालाप होता है। जिसमें दोनों मुनियों के बीच हुई संक्षिप्त दार्शनिक चर्चा में भगवान महावीर के युग में प्रचलित दर्शन की चार प्रमुख धाराओं - क्रियावाद, अक्रियावाद, विनयवाद एवं अज्ञानवाद का उल्लेख उपलब्ध होता है।

आगे इसमें भरत, सगर, मघवा, सनत्कुमार, शान्तिनाथ (सोलहवें तीर्थंकर), कुन्थुनाथ (सत्रहवें तीर्थंकर), अरनाथ (अठारहवें तीर्थंकर), महापदम, हरिषेण एवं जय आदि दस चक्रवर्ती एवं दशार्ण, करकण्डु, द्विमुख, नमि, नगति, उदायन, काशीराज, विजय एवं महाबल राजाओं के संयम स्वीकार करने का उल्लेख है।

इस प्रकार यह अध्ययन राजर्षियों की ऐतिहासिक परम्परा को प्रस्तुत करता है। अन्त में इस अध्ययन में अनेकान्तवाद एवं अनाग्रह दृष्टि के विकास की प्रेरणा देकर संयम भावना को पुष्ट किया गया है।

१६. मृगापुत्रीय : प्रस्तुत अध्ययन का नाम समवायांगसूत्र⁷⁴ के अनुसार मियचारिया - मृगचारिका एवं निर्युक्तिकार⁷⁵ के अनुसार मृगचारिका एवं मिगपुत्तिज्ज-मृगापुत्रीय दोनों है। इसमें प्रथम नाम विषय एवं द्वितीय नाम व्यक्ति पर आधारित है। मृगारानी से उत्पन्न पुत्र से सम्बन्धित होने से यह अध्ययन मृगापुत्रीय नाम से विश्रुत है। मृग की तरह स्वतंत्र एवं स्वाश्रित साधुचर्या का वर्णन इसमें होने से यह अध्ययन मृगचारिका कहलाया। इसमें ६८ गाथायें हैं।

सुग्रीव नगर में बलभद्र राजा राज्य करते थे। उनकी रानी मृगावती के पुत्र का नाम बलश्री था, लेकिन उसका लोकप्रसिद्ध नाम मृगापुत्र था।

७३ 'जीवियं चैव स्वं च, विष्णुसंपायसंघतं।

अथ तं मुञ्चसी यत्, पैचत्थं नावकुञ्जसे ॥'

७४ समवायांग ३६/१;

७५ उत्तराध्ययननिर्युक्ति गाथा १५, ४०८

- उत्तराध्ययनसूत्र १८/१३।

- (अंगसुत्तापि, ताडनू खण्ड प्रथम पृष्ठ ८८२)।

- (निर्युक्तिसंग्रह पृष्ठ ३६६, ४०४)।

एक बार मृगापुत्र अपनी पत्नियों के साथ गवाक्ष में बैठा था। इतने में उसकी दृष्टि एक निर्ग्रन्थ मुनि पर पड़ी। मृगापुत्र मुनि को अनिमेष देखते हुए सोचने लगा कि मैंने ऐसा रूप पहले कहीं देखा है। चिन्तन की गहराई में उतरते हुए मृगापुत्र के अध्यवसाय शुद्ध होते गए और उसे जाति-स्मरण ज्ञान प्रकट हो गया जिससे उसे पूर्वजन्म में स्वयं द्वारा स्वीकृत संयम का स्मरण हो आया और उसका मन विरक्त हो गया।

मृगापुत्र अपने माता-पिता के पास आया और बोला कि मैं प्रब्रज्या लेना चाहता हूँ। अतः आप मुझे आज्ञा प्रदान करें। माता-पिता पुत्र को अनेक प्रकार से समझाते हैं एवं संयम जीवन की कठोरता का दिग्दर्शन कराते हुए कहते हैं कि साधु-जीवन नंगे पैर तलवार पर चलने तथा लोहे के चने चबाने के समान अत्यन्त कष्टप्रद है और बेटा, तुम सुकोमल हो, अतः सन्यास ग्रहण मत करो।

उत्तर में मृगापुत्र नरक की दारुण वेदना का चित्रण प्रस्तुत करता है। तब माता-पिता कहते हैं कि पुत्र तुम्हारा कथन ठीक है परन्तु चिकित्सा न करवाना संयम-जीवन का सब से बड़ा दुःख है।

मृगापुत्र कहते हैं कि जंगल में पशुओं के रूप होने पर कौन उनकी चिकित्सा एवं सेवा-शुश्रूषा करता है ?⁷⁶ वैसे ही मैं मृग-चारिका सदृश्य जीवन बिताऊंगा। अन्त में मृगापुत्र की दृढ़ता एवं वैराग्य भावना से प्रभावित होकर माता-पिता ने मृगापुत्र को संयम स्वीकार करने की अनुमति दे दी। मृगापुत्र मुनि बन गये और शुद्ध संयम का पालन कर शुद्ध, बुद्ध एवं मुक्त हो गये।

इस प्रकार प्रस्तुत अध्ययन में मृगापुत्र एवं उनके माता-पिता के मध्य हुए प्रेरणास्यद संवाद का सुन्दर संकलन है।

२०. महानिर्ग्रन्थीय : महानिर्ग्रन्थीय उत्तराध्ययनसूत्र का बीसवां अध्ययन है। जैन साधुओं का प्राचीन नाम निर्ग्रन्थ है। आचार्य उमास्वाति ने लिखा है- 'जो कर्मग्रन्थी खोलने का प्रयास करता है, वह निर्ग्रन्थ है।'⁷⁷ प्रस्तुत अध्ययन में महानिर्ग्रन्थ अनाधीमुनि और राजा श्रेणिक के बीच अनाथ और सनाथ के संदर्भ में हुआ संवाद संकलित है। अतः इस अध्ययन का नाम महानिर्ग्रन्थीय रखा गया है। इसमें ६० गाथायें हैं।

७६ उत्तराध्ययनसूत्र - १६/७६;

७७ 'ग्रन्थ कर्मादिव्यं, निध्यादितितुष्टयोगेश्वर ।

तन्मयसौश्रुतं, संपतते यः सः निर्ग्रन्थः ॥'

- प्रज्ञापरिचय, भाग १ गाथा १४२ पृष्ठ ३०० (महेसाणा)।

अनाथीमुनि जब 'मण्डिकुक्षि' उद्यान में ध्यानस्थ थे तब वहां भगध सम्राट श्रेणिक का आगमन हुआ। मुनि के दमकते चेहरे और उभरते यौवन से राजा श्रेणिक विस्मय विमुग्ध होकर सोचने लगा - 'यह सौन्दर्य, यह यौवन तो भोग के लिए है, योग के लिए नहीं।' राजा मुनि के निकट गया। ध्यान पूरा होने पर राजा ने मुनि को वन्दना की और बोला: 'हे मुनि ! आपका युवावस्था में गृह त्याग कर सन्यासी बनने का कारण क्या है ? मुनि बोले : 'राजन् ! मैं अनाथ था, मेरा कोई नाथ नहीं था, इसलिए मैं साधु बन गया। मुनि की बात सुनकर श्रेणिक बोले कि यह बात है तो चलो मैं आपका नाथ बनता हूँ। आप मेरे साथ चले और सुखपूर्वक सांसारिक भोगों का आनन्द लें। मुनि बोले 'राजन्, तुम स्वयं अनाथ हो और जो स्वयं अपना नाथ नहीं है वह भला दूसरों का नाथ कैसे हो सकता है?' यह सुनकर राजा श्रेणिक गहन आश्चर्य में पड़ गये। वे बोले : मैं, अपार ऐश्वर्य का स्वामी, भगध सम्राट हूँ। मैं अनाथ कैसे हो सकता हूँ ?

मुनि राजा के आश्चर्य को दूर करते हुए बोले : ' हे राजन् ! आप अनाथ और सनाथ की सही परिभाषा नहीं जानते हो। धन, सम्पत्ति और ऐश्वर्य होने मात्र से कोई सनाथ नहीं होता क्योंकि मैं भी अपने पिता का प्रिय पुत्र था। घर में अपार धन-सम्पदा थी। परिवार में मां, भाई, बहन, पत्नी और परिजन सभी थे। किन्तु एक बार जब मैं व्याधिग्रस्त हुआ - आंखों में उत्पन्न तीव्र वेदना से त्रस्त एवं पीड़ित होने लगा, तो मुझे उस वेदना से कोई बचा नहीं सका। बड़े-बड़े चिकित्सक मुझे स्वस्थ नहीं कर सके। अपार ऐश्वर्य भी मेरी पीड़ा को मिटा नहीं सका। परिवारजन आंसू बहा-बहा कर रह गये परन्तु कोई भी मुझे पीड़ा से मुक्त न कर सका। यही मेरी अनाथता थी।'

राजन् ! अन्त में मैंने संकल्प कर लिया कि यदि इस पीड़ा से मुक्त हो जाऊँ तो मुनि बन जाऊँगा। इस संकल्प का विशिष्ट प्रभाव हुआ। रात बीतने के साथ-साथ मेरा रोग शान्त होता चला गया और प्रातःकाल होते ही मैं मुनि बन गया। मैंने सच्ची सनाथता को उपलब्ध कर लिया, क्योंकि मैं अपना तथा दूसरों (त्रस और स्थावर जीवों) - का नाथ हो गया। मैंने आत्मा पर शासन किया, यह ही मेरी सनाथता है।'

मुनि के मार्मिक वचनों से राजा के ज्ञान चक्षु खुल गए। वे बोले कि 'महर्षि, आप ही सही अर्थों में सनाथ एवं सबान्धव हैं। मैं आपसे धर्म का अनुशासन चाहता हूँ।' इस प्रकार राजा भी जिनधर्म में अनुरक्त हो गया। प्रस्तुत अध्ययन में

आत्मकर्तृत्व की चर्चा भी उपलब्ध होती है^{१८} और साथ ही इसमें बाह्य आडम्बर-बाहरी दिखावे रूप धर्म को निष्फल बताते हुए मुनि के शुद्ध धर्म की प्ररूपणा भी की गई है।

२१. समुद्रपालीय : इस अध्ययन में समुद्रपाल के जन्म, बाल्यकाल, युवावस्था, वैराग्य, आदर्श साधुजीवन एवं सिद्धिगमन का वर्णन है। अतः इसका नाम समुद्रपालीय है। इसमें २४ गाथायें हैं।

चम्पानगरी में पालित नाम का एक श्रावक रहता था। एक बार वह जलमार्ग से व्यापार के लिए रवाना हुआ और पिहुण्ड नगर पहुंचा। वहां किसी सम्पन्न सेठ ने अपनी पुत्री का विवाह उस पालित श्रावक से कर दिया। कुछ समय पश्चात् उसने अपनी गर्भवती पत्नी के साथ स्वदेश की ओर प्रस्थान किया। पत्नी ने जहाज में ही एक पुत्र को जन्म दिया। समुद्र में जन्म लेने से उसका नाम समुद्रपाल रखा गया।

समुद्रपाल बड़ा हुआ। उसका विवाह कर दिया गया। एक बार उसने राजमार्ग पर एक भयंकर अपराधी को वध के लिए ले जाते हुए देखा। उसे विद्रूप वेशभूषा में गंधी पर बिठा कर नगर में घुमाया जा रहा था। यह देखकर समुद्रपाल सोचने लगा कि अच्छे कर्मों का फल अच्छा एवं बुरे कर्मों का फल बुरा होता है। कृत कर्मों को भोगे बिना छुटकारा नहीं है। ये विचार करते करते उसका मन संवेग एवं वैराग्य से भर गया और माता-पिता की अनुमति प्राप्त कर वह अनगर बन गया।

उपर्युक्त घटना के उल्लेख के बाद इस अध्ययन में साधु के आचार सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण बातों का निरूपण किया गया है, यथा- साधु प्रिय एवं अप्रिय दोनों परिस्थितियों में अपने मन को सन्तुलित रखे। व्यर्थ की बातों से अलग रहे। देश-काल-परिस्थिति को ध्यान में रखकर विचरण करे। विवेक एवं संयमपूर्वक जीवनयात्रा सम्पन्न करे। अन्त में इसमें विशुद्ध संयम के पालन के द्वारा समुद्रपाल के सिद्ध, बुद्ध एवं मुक्त होने का उल्लेख किया गया है।

२२. रथनेमीय : प्रस्तुत अध्ययन का नाम - रथनेमीय है। यह नाम बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ परमात्मा के लघुभ्राता रथनेमि से सम्बन्धित है। इसमें ५१ गाथायें हैं।

१८ 'अप्य क्त्वा विकृता य, दुःखाय य सुखाय य ।
अप्य पितृपितृं च, दुष्पाण्डियं सुपाण्डिओ ॥'

- उत्तरायणसूत्र २०/३७ ।

प्रस्तुत अध्ययन में हृदय-परिवर्तन के दो विशिष्ट मार्मिक प्रसंगों का वर्णन किया गया है। प्रारम्भ में पशुओं की करुण पुकार से नेमिकुमार के हृदय-परिवर्तन एवं उत्तरार्ध में राजीमती के उद्बोधन द्वारा रथनेमि के हृदय-परिवर्तन का वर्णन है।

शोरियपुर नगर में द्वैध राज्य प्रणाली थी। राजा वसुदेव एवं राजा समुद्रविजय वहाँ राज्य करते थे। वसुदेव राजा के राम (बलदेव) एवं केशव (कृष्ण) दो पुत्र थे। समुद्रविजय राजा के अरिष्टनेमि, रथनेमि, सत्यनेमि एवं दृढनेमि ये चार पुत्र थे।

अरिष्टनेमि का विवाह राजा उग्रसेन की पुत्री राजीमती के साथ निश्चित हुआ था। अरिष्टनेमि विशाल बारात के साथ विवाहमण्डप के निकट पहुँचे। उन्हें पशुओं का करुण क्रन्दन सुनाई दिया। वे सारथी से पूछने लगे : 'ये पशु क्यों विलाप कर रहे हैं ?' सारथी ने कहा : 'कुमार ! आपके विवाह में आयोजित भोज के लिये इन पशुओं को मारने के लिये बंद कर रखा है।'

अरिष्टनेमि विचार करने लगे अरे ! मेरे विवाह के लिए यह कैसी घोर हिंसा!! निरपराध एवं निर्दोष जीवों के प्राण लेने में कैसा आनन्द!! नहीं-नहीं, मुझे अब आगे नहीं बढ़ना है। यह निर्णय कर उन्होंने तुरन्त सारथी को रथ वापस मोड़ने का आदेश दे दिया और वे भोगी बनने के क्षणों में महायोगी बन गए। उन्होंने संयम स्वीकार कर लिया।

राजीमती को जब यह बात विदित हुई, वह मूर्छित हो गई। लेकिन होश में आते ही सम्मल गई। उसका मन विरक्त हो गया और उसने भी अरिष्टनेमि के मार्ग का अनुसरण किया। दीक्षित हो गई। उस समय श्रीकृष्ण ने राजीमती को यह महत्त्वपूर्ण आशीर्वाद दिया : 'हे कन्ये! इस घोर संसार को शीघ्र पार कर।'

एक बार साध्वी राजीमती अरिष्टनेमि प्रभु का वन्दन करने के लिये रैवतक पर्वत पर जा रही थी कि अचानक वर्षा आरम्भ हुई। राजीमती ने एक गुफा में प्रवेश किया और अपने गीले वस्त्र सुखाने लगी। उसी गुफा में कायोत्सर्ग ध्यान स्थित मुनि रथनेमि की दृष्टि बिजली के चमकने पर राजीमती की कंचन काया पर पड़ी। रथनेमि का मन विचलित हो गया और उन्होंने राजीमती से कहा कि हम भोग भोगकर दोनों वृद्धावस्था में संयम ले लेंगे। राजीमती ने रथनेमि को संयम में पुनः स्थित करने हेतु विषभोगों का दारुण विपाक एवं व्रतभंग के फल का निरूपण

किया।^{१९} राजीमती के वैराग्योत्पादक वचनों से रथनेमि पुनः संयम में दृढ़ हो गए और अन्त में रथनेमि एवं राजीमती दोनों शुद्ध संयम का पालन करके सिद्धि को प्राप्त हुए। इसमें वर्णित राजीमती के उद्बोधन ने इस तथ्य को प्रस्तुत किया है कि नारी वासना की दासी नहीं, किन्तु वैराग्य की प्रेरणा स्रोत है।

२३. केशी-गौतमीय : तेईसवें अध्ययन का नाम केशी-गौतमीय है। इसमें तेईसवें तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ के शिष्य केशीश्रमण और प्रभु महावीर के प्रथम शिष्य गौतमस्वामी का संवाद है। इसकी ८६ गाथायें हैं।

केशीश्रमण और गौतमस्वामी का अपने-अपने शिष्य परिवार सहित एक ही समय में श्रावस्ती नगरी में समागम हुआ। दोनों आचार्यों के शिष्यों को एक दूसरे को देखकर विचार आया कि एक ही लक्ष्य की प्राप्ति हेतु साधनारत होते हुए भी हमारे आचार व्यवहार में यह विभिन्नता क्यों हैं ? शिष्यों की शंका के निवारण के लिए दोनों आचार्य परस्पर मिलने का विचार करते हैं। ज्येष्ठ कुल की मर्यादा रखते हुए गौतमस्वामी अपने शिष्यपरिवार सहित केशीश्रमण के पास जाते हैं। केशीश्रमण गौतमस्वामी का योग्य आदर सत्कार करते हैं। पश्चात् उनसे अनेक प्रश्न पूछते हैं। गौतमस्वामी उनका उत्तर देते हुए कहते हैं कि हमारा मूल लक्ष्य तो एक ही है, इसमें कोई सन्देह नहीं। किन्तु आचरण की जो विविधता है, उसका कारण मनुष्यों की स्वभावगत भिन्नता एवं कालगत परिवर्तन है। तीर्थंकर ऋषभदेव के समय के मुनि ऋजु-जड़ होते थे। द्वितीय तीर्थंकर अजितनाथ से तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ तक मध्यकालीन बार्हस्पतीय तीर्थंकरों के साधु सरल एवं प्राज्ञ होते थे, किन्तु भगवान् महावीर के काल के साधु वक्र-जड़ होते हैं। इस कारण से प्रभु पार्श्वनाथ और महावीरस्वामी की आचार व्यवस्था में वैविध्य है। जहां पार्श्वनाथ की आचार व्यवस्था चातुर्यामिरूप एवं सचेत है, वहां भगवान् महावीरस्वामी की आचार व्यवस्था पंचमहाव्रत रूप एवं अचेत है।^{२०} जहां पार्श्वनाथ की आचार व्यवस्था में दोष लगने पर ही प्रतिक्रमण करने का विधान है, वहां भगवान् महावीर की धर्म व्यवस्था में प्रतिक्रमण अनिवार्यतः करना होता है। केशीश्रमण

१९ 'जइ तं कइसि भाव, जा जा दिखसि नारिओ।

वापथिओ व्व हओ, अट्ठिअण्ण प्रविससि ॥'

- उत्तराध्ययनसूत्र २२/४५।

२० 'अचेत्तगो य जो धम्मो, जो इणो संतत्तरो।

देसिओ दद्धमाणेण, पासेण य महाजत्ता ॥'

- वही २३/२६।

आध्यात्मिक साधना सम्बन्धी और भी अनेक प्रश्न करते हैं उनके उत्तर में गौतमस्वामी आत्म विजय एवं आत्मानुशासन की प्रक्रिया, कषायविजय एवं इन्द्रियविजय के उपाय, तृष्णा की दुःखरूपता, चंचल मन को एकाग्र करने के लिए धर्मशिक्षा की आवश्यकता, धर्म की विशिष्टता, साधना में शरीर की उपयोगिता आदि का सम्यक् प्रकार से विवेचन करते हैं।

इसमें विशेष रूप से चतुर्याम एवं अचेल धर्म की समन्वय दृष्टि से चर्चा की गई है। इस अध्ययन की यह चर्चा वर्तमानकालिक साम्प्रदायिक मतभेदों को सुलझाने में समन्वय-सूत्र का कार्य कर सकती है। इस प्रकार प्रस्तुत अध्ययन अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है।

२४. प्रवचनमाता : प्रस्तुत अध्ययन का नाम समवायांग सूत्र^१ के अनुसार 'समिद्धयो-समितीय' एवं उत्तराध्ययननिर्युक्ति^२ के अनुसार 'प्रवचनमाता' है। यद्यपि दोनों का तात्पर्य एक है, क्योंकि समितियां प्रवचनमाता में अन्तर्भूत ही हैं। इसमें २७ गाथायें हैं।

इस अध्ययन में पांच समितियों एवं तीन गुप्तियों का विवेचन है। इन दोनों का समन्वित नाम अष्टप्रवचनमाता है। मां अपनी संतान को सतत् सन्मार्ग पर चलाने एवं उन्मार्ग से बचने की प्रेरणा देती है। वैसे ही प्रवचनमाता मां की तरह साधक के संयम की देखभाल करती है।

समिति का अर्थ सम्यक् प्रवृत्ति एवं गुप्ति का अर्थ अशुभ से निवृत्ति है। सम्यक् प्रकार से गमनागमन, भाषण/वचन, आहार की एषणा, उपकरणों का आदान (ग्रहण), निक्षेप एवं मल-मूत्र का उत्सर्ग करना समिति है तथा मन, वचन एवं काया का गोपन या नियन्त्रण गुप्ति है।^३

अष्टप्रवचनमाता मुनि की जीवन-व्यवस्था की नींव है। अतः यह अध्ययन विशेष महत्त्वपूर्ण है। समिति-गुप्ति का विस्तृत वर्णन इसी ग्रन्थ के १०वें अध्याय 'उत्तराध्ययनसूत्र में प्रतिपादित श्रमणाचार' में किया गया है।

१ सपवायांग - ३६/१

२ उत्तराध्ययननिर्युक्ति गाथा ४६० (निर्युक्तिसंग्रह पृष्ठ ४१०)

३ 'इरियाभासेसणादणे, उच्चारे समिद्धे इय ।

मणगुत्ती वयगुत्ती, कषयगुत्ती य अहमा ॥'

- अंगसुत्ताणि लाडन, खण्ड प्रथम पृष्ठ ८२२ ।

- उत्तराध्ययनसूत्र २४/२।

२५. **यज्ञीय** : पच्चीसवें अध्ययन का नाम 'जन्मइज्जं-यज्ञीय' है। इसमें ४५ गाथायें हैं। जिसमें मुख्यतः वास्तविक यज्ञ क्या है ? एवं सच्चा ब्राह्मण कौन है ? इसका विवेचन किया गया है।

वाराणसी नगरी में जयघोष एवं विजयघोष नामक दो भाई रहते थे। एक बार जयघोष गंगा नदी में स्नान के लिए गया। वहां उसने देखा कि एक सर्प मेंढक को निगल रहा था। इतने में एक कुरुर पक्षी आया। उसने सर्प को पकड़ लिया। मेंढक सर्प का भक्ष्य बन रहा था एवं सर्प कुरुर का। यह देखकर जयघोष का मन विरक्त हो गया और वह मुनि बन गया।

एक बार जयघोष वाराणसी में भिक्षा के लिये निकले। वे भ्रमण करते हुए विजयघोष के यज्ञ-मण्डप में पहुंच गये, किन्तु विजयघोष ने उन्हें भिक्षा देने से मना कर दिया। विजयघोष के मना करने पर भी मुनि शान्त रहे। यथार्थ में वे तो भिक्षा के निमित्त विजयघोष को सत्य का बोध कराने आये थे। अतः उन्होंने यज्ञ का अहिंसक/आध्यात्मिक स्वरूप प्रतिपादित किया तथा ब्राह्मणोचित कर्तव्य का दिग्दर्शन भी कराया।

अन्त में 'मुनि ने गीले एवं सूखे मिट्टी के गोले का दृष्टान्त देकर विजयघोष को आसक्त एवं अनासक्त जीव का स्वरूप समझाया,^{६६} जिसे सुनकर विजयघोष ने संयम स्वीकार कर लिया।

इस प्रकार प्रस्तुत अध्ययन में जातिवाद के खण्डन के साथ कर्मकाण्ड से मुक्त धर्म अर्थात् सत्यधर्म का निरूपण किया गया है।

२६. **सामाचारी** : 'सामाचारी' उत्तराध्ययनसूत्र का छब्बीसवां अध्ययन है। इसमें ५३ गाथायें हैं।

जैनपरम्परा में मुनि की आचारसंहिता को सामाचारी कहा जाता है। यह आचार दो प्रकार का है— व्रतात्मक एवं व्यवहारात्मक। पंचमहाव्रत रूप आचार व्रतात्मक सामाचारी है तथा परस्परानुग्रह रूप आचार व्यवहारात्मक सामाचारी है।

प्रस्तुत अध्ययन में व्यवहारात्मक सामाचारी का व्यापक रूप से वर्णन किया गया है। जिसमें साधक के परस्पर व्यवहार एवं कर्तव्य का संकेत है, जैसे मुनि कार्यदश कहीं बाहर जाएं तो गुरुजनों को सूचना देकर जाएं, पुनः वापिस

लौटकर आये तब अपने आगमन की सूचना दें । अपने हर कार्य के लिए गुरु से अनुमति लें । गुरु या अन्य संघीय साधु की आहार आदि सेवा करें। भूल या प्रमाद से आसेवित दोषों को स्वीकार करें, गुरु के आने पर खड़े होकर उनका सम्मान करें तथा ज्ञानीजन या तपस्वीजन से ज्ञान एवं तप की शिक्षा लेने को सदैव तत्पर रहें ।

तत्पश्चात् मुनि की दिनचर्या का समय के क्रम से विधान किया गया है। मुनि दिन के प्रथम प्रहर में स्वाध्याय, दूसरे में ध्यान, तीसरे में भिक्षाचर्या एवं चौथे में पुनः स्वाध्याय करें। मुनि रात्रि के प्रथम प्रहर में स्वाध्याय, दूसरे में ध्यान, तीसरे में निद्रा और चौथे में पुनः स्वाध्याय करें। अन्त में प्रहर का निर्धारण नक्षत्र के माध्यम से किस प्रकार होता है इसकी विधि तथा मुनि की प्रतिलेखन विधि का भी विशद वर्णन किया गया है।

इस प्रकार यह अध्ययन साधक की दिव्य साधना का सम्यक् निरूपण करता है साथ ही कालमान की अनुपम विधि को भी प्रस्तुत करता है।

२७. खलुंकीय : उत्तराध्ययनसूत्र का सत्तावीसवां अध्ययन खलुंकीय है। खलुंका अर्थ है— दुष्ट बैल। इस अध्ययन में दुष्ट बैल के उदाहरण के माध्यम से अविनीत शिष्य द्वारा गुरु को दिये जाने वाले दुःखों का चित्रण किया गया है। इसमें ११ गाथायें हैं।

अनुशासन एवं विनय, ये साधक जीवन के अनिवार्य अंग हैं। अनुशासनहीन एवं अविनीत शिष्य गुरुजनों के लिये अत्यन्त कष्टकारक होते हैं। इसे स्पष्ट करने हेतु इसमें गार्ग्याचार्य का उदाहरण दिया गया है । आचार्य गार्ग्य एक विशिष्ट योग्य गुरु थे, किन्तु उनके शिष्य उदण्ड, अविनीत और स्वच्छन्द थे। अपने शिष्यों के अभद्र व्यवहार से आचार्य की समत्व-साधना में विघ्न आने लगा। अतः वे अपने शिष्यों को छोड़कर एकाकी चल दिये।

इस प्रकार इस अध्ययन में उदाहरण सहित यह प्रेरणा दी गई है कि साधक को उन संयोगों एवं परिस्थितियों से सदा बचते रहना चाहिये जिनसे उनकी स्वयं की आत्मसमाधि भंग होती हो।

२८. मोक्षमार्ग-गति : अट्ठाइसवें अध्ययन का नाम 'मोक्षमार्ग-गति'—'मोक्षमार्ग-गति' है। 'मोक्ष' साध्य है 'मार्ग' उसे पाने का साधन या उपाय है और

उसमें 'गति' या प्रगति करना साधक का पुरुषार्थ है। इस अध्ययन में ३६ गाथाएँ हैं।^{८५}

इसमें मोक्ष प्राप्ति के चार साधन बताये गए हैं : सम्यक्ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप। वर्तमान में त्रिविध मोक्ष मार्ग की मान्यता प्रचलित है। जिसमें तप को चारित्र में समाहित कर लिया जाता है।

सर्वप्रथम इसमें मोक्ष प्राप्ति के प्रथम साधन ज्ञान के निम्न पांच प्रकारों का विवेचन किया गया है— मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यव और केवल। ज्ञान का विषय ज्ञेय (वस्तु-तत्त्व) कहलाता है। ज्ञेय द्रव्य, गुण एवं पर्याय रूप होता है। धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव ये छः द्रव्य हैं। अतः प्रस्तुत अध्ययन में इन षट्द्रव्यों तथा उनके गुण-पर्यायों का संक्षिप्त विवेचन है। फिर मोक्ष प्राप्ति के दूसरे साधन दर्शन का वर्णन है। यहां दर्शन शब्द मुख्यतः श्रद्धापरक अर्थ में स्वीकृत है। श्रद्धा का विषय नवतत्त्व है। ये नवतत्त्व — जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष हैं। नव तत्त्वों के निर्देश के पश्चात् प्रस्तुत अध्ययन में सम्यक्त्व के दस प्रकारों एवं आठ अंगों की चर्चा की गई है। आगे इसमें बताया है कि मोक्ष प्राप्ति का तीसरा साधन चारित्र — आचार है। उसके पांच प्रकार हैं —

- | | |
|------------------------------|--------------------------------|
| (१) सामायिक चारित्र; | (२) छेदोपस्थापनीय चारित्र; |
| (३) परिहार विशुद्धि चारित्र; | (४) सूक्ष्मसम्पराय चारित्र एवं |
| (५) यथाख्यात चारित्र । | |

अन्त में मोक्ष प्राप्ति के चतुर्थ साधन तप के बाह्य एवं आभ्यन्तर दो भेदों का उल्लेख है। तत्पश्चात् इन दोनों के छः छः विभेद का निर्देश है। इन १२ विभेदों की विस्तृत चर्चा 'तपोमार्गगति' नामक ३०वें अध्ययन में की गई है।

इसमें अनुभूतिरूप दर्शन की प्राथमिकता का वर्णन करते हुए कहा है कि दर्शन के बिना ज्ञान नहीं होता है।^{८६} ज्ञान के बिना चारित्र नहीं होता है। ज्ञातव्य है कि उत्तराध्ययनसूत्र में अनुभूतिरूप अर्थ की अपेक्षा से दर्शन को प्रथम स्थान में तथा श्रद्धारूप अर्थ की अपेक्षा से उसे द्वितीय स्थान में रखा गया है।

अन्त में चतुर्विध साधनों का फल बतलाते हुए कहा है — जीव ज्ञान से पदार्थ को जानता है, दर्शन से श्रद्धा करता है; चारित्र से आत्मा का नियंत्रण करता

८५ 'नामं च दर्शनं धेव, धरितं च तपो तदा ।

एस मग्गो ति पन्नतो, विभेहिं वरदसिहि ॥'

८६ उत्तराध्ययनसूत्र २८/३० ।

- उत्तराध्ययनसूत्र २८/२ ।

है और तप से शुद्ध होता है।⁸⁷ इस प्रकार इस अध्ययन में आध्यात्मिक एवं दार्शनिक दोनों ही पक्षों का सुन्दर समन्वय किया गया है।

२६. सम्यक्त्व पराक्रम : उत्तराध्ययनसूत्र का २६वाँ अध्ययन 'सम्यक्त्वपराक्रम' नामक है। कतिपय आचार्य इस अध्ययन को 'वीतरागश्रुत' या 'अप्रमादश्रुत' भी कहते हैं। ऐसा निर्युक्तिकार का अभिमत है।⁸⁸ इसकी ७४ गाथाओं में जैन धर्म-दर्शन के ७३ विषयों को परिभाषित कर उनके परिणामों की चर्चा की गई है। यह अध्ययन गद्यात्मक है।

पराक्रम अर्थात् पुरुषार्थ सामर्थ्य या क्षमता वैसे तो ये जीव मात्र में विद्यमान है। परन्तु उसे किस दिशा में नियोजित करना चाहिये, इसकी विवेचना इस अध्ययन में की गई है। यह विवेचन प्रश्नोत्तर शैली में है और प्रत्येक विषय के अर्थ को स्पष्ट करते हुए उसकी साधना के परिणाम का विवरण प्रस्तुत करता है। इसके विवेच्य विषय निम्न हैं -

(१) संवेद	(२) निर्वेद	(३) धर्मश्रद्धा
(४) गुरु एवं साधर्मिक शुश्रूषा	(५) आलोचना	(६) निन्दा
(७) गर्हा	(८) सामायिक	(९) चतुर्विंशतिस्तव
(१०) वन्दना	(११) प्रतिक्रमण	(१२) कायोत्सर्ग
(१३) प्रत्याख्यान	(१४) स्तव-स्तुति मंगल	(१५) काल प्रतिलेखना
(१६) प्रायश्चित्त	(१७) क्षमापना	(१८) स्वाध्याय
(१९) वाचना	(२०) प्रतिप्रच्छना	(२१) परावर्तना
(२२) अनुप्रेक्षा	(२३) धर्मकथा	(२४) श्रुत आराधना
(२५) मन की एकाग्रता	(२६) संयम	(२७) तप
(२८) व्यवदान विशुद्धि (कर्मविशुद्धि)	(२९) सुखशात	(३०) अप्रतिबद्धता
(३१) विविक्त शयनासनसेवन	(३२) विनिवर्तना	(३३) संभोगप्रत्याख्यान
(३४) उपधि प्रत्याख्यान	(३५) आहार प्रत्याख्यान	(३६) कषाय प्रत्याख्यान
(३७) योग प्रत्याख्यान	(३८) शरीर प्रत्याख्यान	(३९) सहाय प्रत्याख्यान
(४०) भक्त प्रत्याख्यान	(४१) सद्भाव प्रत्याख्यान (पूर्णसंवर)	
(४२) प्रतिरूपता	(४३) वैयावृत्य	(४४) सर्वगुण सम्पन्नता
(४५) वीतरागता	(४६) क्षमा	(४७) मुक्ति (निर्लोभता)
(४८) आर्जव-ऋजुता	(४९) मार्दव-मृदुता	(५०) भावसत्य
(५१) करणसत्य	(५२) योगसत्य	(५३) मनोगुप्ति
(५४) वचनगुप्ति	(५५) कायगुप्ति	(५६) मनः समाधारणा

८७ उत्तराध्ययनसूत्र २८/३५ ।

८८ 'आयोगपरत्वेयं, सम्भक्तपरत्कर्मति अन्वयणं ।

गुणं तु अध्वनाय, एते पुण वीतरागसुर्यं ॥'

- उत्तराध्ययननिर्युक्ति गाथा ५०४ (निर्युक्तिसंग्रह पृष्ठ ४१५)।

(५७) वाक् समाधारणा	(५८) काय समाधारणा	(५९) ज्ञान सम्पन्नता
(६०) दर्शन सम्पन्नता	(६१) चारित्र सम्पन्नता	(६२) श्रोत्र इन्द्रियनिग्रह
(६३) चक्षु इन्द्रियनिग्रह	(६४) घ्राण इन्द्रियनिग्रह	
(६५) जिह्वा/रसना इन्द्रियनिग्रह	(६६) स्पर्श इन्द्रियनिग्रह	(६७) क्रोध विजय
(६८) मानविजय	(६९) माया/कपट विजय	(७०) लोभ विजय
(७१) प्रेय-द्वेष-मिथ्यादर्शन विजय	(७२) शैलेशी	(७३) अकर्मता।

इस प्रकार जैन दर्शन की साधना एवं उसके परिणामों का सम्यक् विवेचन इस अध्ययन में किया गया है।

३०. तपोमार्गगति : इस 'तवमग्गई' - तपोमार्गगति नामक अध्ययन में ३७ गाथायें हैं।

प्रस्तुत अध्ययन में तप का विस्तृत निरूपण किया गया है। तप एक दिव्य रसायन है। यह शरीर और आत्मा के यौगिक भाव /अभेद बुद्धि को नष्ट कर आत्मा को अपने शुद्ध स्वरूप का बोध कराता है।^{११} अनादि अनन्तकाल के संस्कारों से आत्मा की शरीर के प्रति प्रगाढ़ आसक्ति हो गई है। उसे तोड़े बिना मुक्ति नहीं हो सकती। तप उसे तोड़ने का सशक्त साधन या अचूक उपाय है। इसमें तप के मुख्यतः दो भेद प्रतिपादित किये हैं— (१) बाह्य और (२) आभ्यन्तर।

पुनश्च बाह्य एवं आभ्यन्तर दोनों तप के छः छः भेद किये गये हैं। बाह्य तप के निम्न प्रकार हैं -

- | | | |
|------------------|-------------------------|-----------------------------------|
| (१) अनशन; | (२) अवमोदरिका (उणोदरी); | (३) भिक्षाचर्या (वृत्ति निक्षेप); |
| (४) रस परित्याग; | (५) कायक्लेश और | (६) प्रतिसंलीनता । |

आभ्यन्तर तप के निम्न छः प्रकार हैं :-

- | | | |
|-------------------|------------|-----------------------------|
| (१) प्रायश्चित्त, | (२) विनय; | (३) वैयावृत्य; |
| (४) स्वाध्याय; | (५) ध्यान; | (६) व्युत्सर्ग (कायोत्सर्ग) |

इस प्रकार इसमें तप के विवेचन के साथ यह उल्लेख किया है कि तप पूर्वकृत कर्मों को निर्जरित /क्षय करने का श्रेष्ठ साधन है।

३१. चरणविधि : श्रमणों की चारित्रविधि का वर्णन होने से इस अध्ययन का नाम 'चरणविही' (चरणविधि) रखा गया है। इसमें २१ गाथायें हैं।

चारित्र साधुजीवन का मेरूदण्ड है। चारित्र का प्रारम्भ संयम की साधना से होता है। उसके लिए करणीय /उपादेय एवं अकरणीय / हेय का विचार करना आवश्यक होता है। इन्हीं का उल्लेख इस अध्ययन में समाहित है। साथ ही कुछ जानने योग्य/ज्ञेय विषय जैसे देवताओं के पन्द्रह एवं चौबीस प्रकारों का भी वर्णन किया गया है।

इस अध्ययन में एक से लेकर तैंतीस संख्या तक अनेक विषयों का वर्णन हुआ है।

चारित्र में सम्यक् प्रवृत्ति के लिये पांच महाव्रत, पांच समिति, दशविध श्रमणधर्म, सम्यक्तप, परिषहजय आदि का नामोल्लेख किया गया है।

चारित्र-विमुख करने वाले भावों से निवृत्ति के लिये असंयम, राग-द्वेष, बन्धन, विराधना, अशुभलेश्या, मदस्थान, क्रियास्थान, कषाय, अशुभक्रियायें, शबलदोष, पापश्रुत प्रसंग, मोहस्थान एवं आशातना आदि का सांकेतिक वर्णन है। इस प्रकार यह अध्ययन हमें असंयम से निवृत्ति एवं संयम में प्रवृत्ति की प्रेरणा देकर आत्मजागृति की दिशा में अग्रसर करता है।^{१०}

३२. प्रमादस्थान : प्रस्तुत अध्ययन का नाम 'प्रमाद-स्थान' है। उत्तराध्ययननिर्युक्ति में इसका नाम 'अप्रमादस्थान' भी मिलता है।^{११} वस्तुतः इन दोनों ही नामों की संगति है क्योंकि इसमें प्रमाद के स्थानों का वर्णन कर अप्रमत्त होने की प्रेरणा दी गई है। इस प्रकार इस अध्ययन में वर्णित विषय की अपेक्षा से इसका नाम 'प्रमादस्थान' उचित प्रतीत होता है तथा इस अध्ययन में निहित प्रेरणा की अपेक्षा से इसका नाम 'अप्रमादस्थान' युक्तियुक्त है। इस अध्ययन में १११ गाथायें हैं।

सर्वप्रथम इसमें मुक्ति के उपायों तथा साधना में आने वाली साधक एवं बाधक परिस्थितियों का वर्णन किया गया है। तत्पश्चात् १० से ६६ तक गाथाओं में पांचों इन्द्रियों और मन के विषयों में राग-द्वेष करने के परिणामों तथा उनके उत्पादन, संरक्षण, व्यय एवं वियोग में होने वाले दुःखों एवं दोषों (हिंसा, असत्य, दम्भ, चोरी, अब्रह्मचर्य एवं परिग्रह) का विस्तृत वर्णन है। साथ ही इसमें यह भी बतलाया गया है कि ये विषय आसक्त व्यक्ति के कर्म-बन्ध (दुःख) का कारण होते हैं। वीतरागी आत्मा इनसे अप्रभावित रहती है। काम-भोग अपने आप में न राग

६० 'एगओ विरई कुण्णा, एगओ य पवत्तण ।
असंजमे नियत्तिं ष, संगमे य पवत्तण ॥'
६१ उत्तराध्ययननिर्युक्ति १११

- उत्तराध्ययनसूत्र ३१/२ ।
- (निर्युक्तिसंग्रह पृष्ठ ४१५) ।

उत्पन्न करते हैं न ही द्वेष उत्पन्न करते हैं, अपितु इनमें आसक्त व्यक्ति अपने राग द्वेष के कारण बन्धन में आकर दुःखी होता है।^{६२} वस्तुतः विरक्ति ही एक ऐसा तत्त्व है जिसके कारण मनोज्ञ एवं अमनोज्ञ ऐन्द्रिक विषयों के प्रति रागद्वेष तथा संकल्प-विकल्प जाग्रत नहीं होते ।

फलतः ऐसा अनासक्त या विरक्त व्यक्ति शीघ्र ही कर्म बन्धनों को नष्ट कर केवलज्ञान एवं अन्त में मुक्ति का वरण कर लेता है ।

३३. **कर्मप्रकृति** : तैत्तिरीयों अध्ययन में कर्म-प्रकृतियों का निरूपण है। अतः यह अध्ययन 'कम्मपयडी' (कर्मप्रकृति) के नाम से विश्रुत है। यह २५ गाथाओं में संकलित है।

'कर्म' भारतीयदर्शन का परिचित शब्द है। जैन, बौद्ध और वैदिक - सभी परम्परायें कर्मसिद्धान्त को स्वीकार करती हैं। कर्म को वेदान्ती 'अविद्या', बौद्ध 'वासना', सांख्य - योग क्लेश एवं न्याय-वैशेषिक 'अदृष्ट' के रूप में स्वीकार करते हैं।

जैनदर्शन की कर्म व्यवस्था बड़ी वैज्ञानिक है। जैनदर्शन कर्म को स्वतन्त्र पुद्गल तत्त्व के रूप में स्वीकार करता है। जीव जब शुभ या अशुभ प्रवृत्ति करता है, तब वह अपनी प्रवृत्ति से पुद्गल तत्त्वों को आकर्षित करता है। वे आकर्षित पुद्गल कण आत्मा के साथ विशिष्ट रूप से बंध जाते हैं। उन्हें कर्म कहा जाता है।

इस अध्ययन में कर्म-बन्ध के चार प्रकार- प्रकृति, स्थिति, अनुभाग एवं प्रदेश का वर्णन किया गया है।

कर्म की मूल प्रकृतियां आठ हैं^{६३} -

- | | | |
|--------------------|---|--|
| (१) ज्ञानावरण कर्म | - | ज्ञान गुण को आवृत करने वाले पुद्गल; |
| (२) दर्शनावरण कर्म | - | दर्शन गुण को आवृत करने वाले पुद्गल; |
| (३) वेदनीय कर्म | - | सुख दुःख के कारणरूप पुद्गल; |
| (४) मोहनीय कर्म | - | दृष्टिकोण एवं चारित्र/आचरण में विकार उत्पन्न करने वाले पुद्गल; |
| (५) आयु कर्म | - | जीवन काल का निर्धारण करने वाले पुद्गल; |
| (६) नाम कर्म | - | शरीर आदि विविध रूपों की प्राप्ति के कारण भूत पुद्गल; |
| (७) गोत्र कर्म | - | उच्च नीच गोत्र की प्राप्ति के साधन भूत पुद्गल; और |

६२ 'एषिदियत्वा य मगस्स अत्था, दुक्खस्स हेउं मणुपस्स राणिणो ।

ते वेद वोये पि क्खाइ दुल्लखं, न वीयरगस्स करेति किंछि ॥'

- उत्तराध्ययनसूत्र ३२/१०० ।

६३ उत्तराध्ययनसूत्र ३३/२, ३ ।

(८) अन्तराय कर्म - उपलब्धि में बाधक होने वाले पुद्गल ।

इन आठ कर्मों की अवान्तर प्रकृतियाँ निम्न हैं -

ज्ञानावरण कर्म की पांच, दर्शनावरण की नौ, वेदनीय की दो, मोहनीय की अड्डाईस, आयुष्य की चार, नाम कर्म की बयालीस, गोत्र कर्म की दो एवं अन्तराय कर्म की पांच । इनकी विस्तृत विवेचना 'उत्तराध्ययनसूत्र' में प्रतिपादित कर्म मीमांसा नामक छठे अध्याय में की गई है ।

३४. लेश्याध्ययन : उत्तराध्ययनसूत्र के चौतीसवें अध्ययन का नाम 'लेशज्ज्ञयणः' है। इसका अधिकृत विषय 'लेश्या' (शुभाशुभ मनोवृत्तियाँ) हैं। यह अध्ययन ६१ गाथाओं में निबद्ध है।

'लेश्या' जैनपरम्परा का पारिभाषिक शब्द है। जैन विचारकों के अनुसार जो आत्मा को कर्मों से लिप्त करती है अथवा जिसके द्वारा आत्मा कर्मों से लिप्त होती है, वह लेश्या है। इस प्रकार लेश्या शुभाशुभ कर्मों के विपाक एवं बन्ध का हेतु है।

जैनागमों में लेश्या के दो प्रकार बतलाये हैं -

(१) द्रव्यलेश्या और (२) भावलेश्या ।

व्यक्ति की मनोवर्गणा के वर्ण एवं आणविक आभामण्डल को द्रव्य लेश्या/पौद्गलिक लेश्या और विचार को भावलेश्या/मानसिक परिणाम कहा जाता है। ज्ञातव्य है कि द्रव्यलेश्या भावलेश्या का हेतु एवं परिणाम है।

प्रस्तुत अध्ययन में मुख्यतः द्रव्यलेश्या का विश्लेषण किया गया है। अतः इसमें इनके वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श आदि का भी उल्लेख हुआ है। यह मानव की मनोभूमिका का एक रेखा चित्र खींचता है। आज के विज्ञान ने भी मानव मरिातष्क में स्फुरित होने वाले विचारों के चित्र लिए हैं, जिनमें विभिन्न रंग उभरे हैं।

लेश्या का विस्तृत विवेचन 'उत्तराध्ययनसूत्र' में प्रतिपादित मनोविज्ञान नामक तेरहवें अध्याय में किया गया है।

प्रस्तुत अध्ययन में छः प्रकार की लेश्याओं का वर्णन है - जिसमें कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या को अधर्मलेश्या एवं तेजोलेश्या, पद्मलेश्या एवं शुक्ललेश्या को धर्मलेश्या कहा गया है।^{१४}

३५. अनगार-मार्ग-गति : प्रस्तुत अध्ययन का नाम - 'अणगारमगगार्ह' अनगार-मार्ग-गति है। इसमें मुख्यतः शान्त या अनाकुल जीवन शैली एवं समाधि-मरण की कला का सुविवेचन किया गया है। इक्कीस गाथाओं के इस लघुकाय अध्ययन में अनेक महत्त्वपूर्ण आचार-विधियों की प्ररूपणा हुई है।

इस अध्ययन का मुख्य विषय 'संग' निवृत्ति की प्रेरणा है। संग का अर्थ लिप्तता या आसक्ति है। उसके निम्न अंग बतलाए गये हैं -

- | | |
|---------------------------------|-------------------------|
| (१) हिंसा; | (२) असत्य; |
| (३) चौर्य; | (४) अब्रह्म सेवन; |
| (५) इच्छा काम; | (६) लोभ; |
| (७) संसक्त स्थान; | (८) गृह निर्माण; |
| (९) अन्नपाक; | (१०) धनार्जन की वृत्ति; |
| (११) प्रतिबद्ध भिक्षा; | (१२) स्वाद वृत्ति; |
| (१३) पूजा प्रसिद्धि की अभिलाषा। | |

इसमें आसक्त व्यक्ति हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य, परिग्रह, लोभ आदि दुष्कर्म में प्रवृत्त होता है।

अन्त में इसमें मुनि को अपनी आयु पूर्ण होने की अनुभूति होने पर आहारत्यागपूर्वक समाधिमरण की प्रेरणा दी है एवं यह बतलाया गया है कि अनासक्त-अनाश्रव एवं वीतराग आत्मा पूर्णतः शुद्ध होकर आत्मस्थ हो जाती है।^{१५}

३६. जीवाजीवविभक्ति : जीवाजीवविभक्ति उत्तराध्ययनसूत्र का अन्तिम अध्ययन है यह २६८ गाथाओं में आबद्ध है। इसमें मुख्यतः जीव-अजीव के विभागों का द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव की अपेक्षा से निरूपण किया गया है।

१४ 'किंवा नीला वरुण, तिनि वि एवाओ अहमलेसाओ ।
एवाहि तिहि वि जीओ, दुग्इ उववज्जई बहुसो ॥
तेज एव सुक्ख, तिनि वि एवाओ धम्मलेसाओ ।
एवाहि तिहि वि जीओ, सुग्इ उववज्जई बहुसो ॥'

- उत्तराध्ययनसूत्र ३४/५६ एवं ५७ ।

१५ 'निष्पूरैरुण आहार, कलधमे उवट्टिए ।
जीरुण मापुसं बोदि, पणुदुखे विमुच्चई ॥
निम्मणे निरुक्खरो, वीयरओ अणासवो ।
संपतो केवत्तं नाणं, सासयं परिणिकुए ॥'

- वही ३५/२० एवं २१ ।

संसार में जीव और अजीव ये दो ही मूल तत्त्व हैं।^{६६} शेष सात तत्त्व इन्हीं दो तत्त्वों के संयोग या वियोग की अवस्थाओं को सूचित करते हैं। जीव का अजीव से यह संयोग प्रवाह रूप से या जीव सामान्य की अपेक्षा से अनादि-अनन्त है, तथा जीव विशेष की अपेक्षा से सादि-सान्त है। जीव अजीव का यह संयोग ही संसारी जीवन का मूल है, परिभ्रमण का कारण है एवं इस संयोग से विमुक्त होना ही मोक्ष है।

प्रस्तुत अध्ययन में सर्वप्रथम जीव-अजीव के आधार पर 'लोक' एवं 'अलोक' को परिभाषित किया गया है। तत्पश्चात् अजीव तत्त्व के रूपी-अरूपी ऐसे दो भेद किये हैं, पुनः अरूपी अर्थात् धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय एवं काल के दस तथा रूपी अर्थात् पुद्गलास्तिकाय के चार भेद किये गये हैं। फिर पुद्गल का वर्णादि की अपेक्षा से वर्णन करने के बाद जीव के दो भेद सिद्ध एवं संसारी किये हैं। सिद्धों के विस्तार, स्वरूप आदि का यहां विस्तृत वर्णन किया गया है। तदनन्तर संसारी जीव के दो भेद- त्रस एवं स्थावर का उल्लेख करके पंचेन्द्रिय त्रस जीवों-नारक, तिर्यच, मनुष्य और देवों के भेद-प्रभेद तथा उनकी भव-स्थिति का भी विवरण प्रस्तुत किया गया है।

इस अन्तिम अध्ययन का उपसंहार अत्यन्त प्रेरणास्पद है। जिसमें दुर्लभबोधि, सुलभबोधि, बालमरण, पण्डितमरण एवं कन्दर्पभावना, कित्त्विकभावना, आसुरीभावना आदि का संक्षिप्त रूप से वर्णन किया गया है।^{६७} यह अध्ययन एक प्रकार से जैन दर्शन एवं आचार का सार/निचोड प्रतीत होता है।

२.८ उत्तराध्ययनसूत्र का व्याख्यासाहित्य

भारतीय वाङ्मय में नये ग्रन्थों की रचना के साथ-साथ पूर्वाचार्यों द्वारा रचित ग्रन्थों के रहस्य का उद्घाटन करने के लिये उस पर व्याख्यात्मकसाहित्य लिखा गया। जैन आगम ग्रन्थों पर भी प्राकृत, संस्कृत आदि भाषाओं में अनेक व्याख्याग्रन्थ लिखे गये, जो जैनसाहित्य के महत्त्वपूर्ण अंग हैं।

६६ 'जीव केव अजीवा य, एस लोए विवाहिए ।

अजीव-देसमागसे, अलोए से विवाहिए ॥'

६७ उत्तराध्ययनसूत्र ३६/२५१ से २६८ ।

- उत्तराध्ययनसूत्र ३६/२ ।

व्याख्यासाहित्य ग्रन्थगत आशय को समझने में अत्यन्त सहायक होता है, साथ ही इसके द्वारा ग्रन्थ के अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्यों का तत्कालीन सन्दर्भों में स्पष्टीकरण भी प्राप्त होता है।

व्याख्यासाहित्य के निर्माण के मुख्य निम्न प्रयोजन हैं - १. पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या करना २. देशकालगत परिवर्तनशील परिस्थितियों में उन पारिभाषिक शब्दों के प्रसंगानुरूप अभीष्ट अर्थ की प्रस्तुति करना ३. उन सिद्धान्तों के परिपालन हेतु उत्सर्ग एवं अपवाद सम्बन्धी व्यवस्था देना और ४. उन सिद्धान्तों को युक्तिसंगत सिद्ध करना।

जैन आगमिक व्याख्यासाहित्य युगानुकूल प्रचलित अनेक भाषाओं में लिखा गया है। जैसे प्राकृत, प्राकृतमिश्रितसंस्कृत, पुरानी मरुगुर्जर, हिन्दी, गुजराती, अंग्रेजी आदि।

व्याख्यासाहित्य का क्रम निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, टीका, विवरण, टब्बा, मरुगुर्जर और आधुनिक भाषाओं में लिखी गई व्याख्यायें हैं। निर्युक्तियाँ मुख्यतः पारिभाषिक शब्दों की व्याख्यायें तथा आगम की विषयवस्तु का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करती हैं। भाष्यों में शब्दार्थ के साथ विभिन्न सन्दर्भों में उसके विभिन्न अर्थों और सम्बन्धित विषयों का विश्लेषण है। चूर्णियाँ एवं टीकाओं में आगम में प्रस्तुत विषय के भावार्थ का विवेचन करने के साथ-साथ तत्सम्बन्धी उत्सर्ग, अपवाद आदि नियमों की चर्चा भी की गई है।

इनके अतिरिक्त आगमिक विषयों का संक्षेप में परिचय देने वाली संग्रहणियाँ भी अतिप्राचीन हैं। संग्रहणीसूत्र का उल्लेख 'पाक्षिक-सूत्र' में मिलता है।^{११} आधुनिक युग में आगमिक व्याख्यासाहित्य की रचना हिन्दी, अंग्रेजी, गुजराती आदि भाषाओं में भी हो रही है।

इस प्रकार व्याख्यासाहित्य का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है, किन्तु यहां हमें हमारे शोधग्रन्थ उत्तराध्ययनसूत्र से सम्बन्धित व्याख्यासाहित्य का विवेचन ही अभीष्ट है। अतः हम क्रमशः उसका वर्णन करेंगे।

२.८.१ निर्युक्तिसाहित्य और उत्तराध्ययननिर्युक्ति

निर्युक्ति, आगमों के पारिभाषिक शब्दों के अर्थों को विभिन्न नयों एवं निक्षेपों द्वारा स्पष्ट करने की प्राचीनतम विद्या है। जिस प्रकार वैदिक शब्दों की व्याख्या के लिए सर्वप्रथम निरुक्त लिखे गये, सम्भवतः उस प्रकार जैनपरम्परा में आगमों के पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या के लिए सर्वप्रथम निर्युक्तियाँ लिखने का कार्य हुआ।

निर्युक्ति का कार्य सूत्र में निबद्ध अर्थ का सयुक्ति प्रतिपादन करना है। निर्युक्ति की व्याख्या शैली निक्षेप पद्धति पर आधारित है। इस पद्धति में किसी भी पद के अनेक सम्भावित अर्थ करके उनमें से अप्रस्तुत अर्थ का निराकरण कर प्रस्तुत अर्थ को ग्रहण किया जाता है। यह जैन न्यायशास्त्र की महत्त्वपूर्ण शैली है। दूसरे शब्दों में निक्षेप पद्धति द्वारा शब्दों के अर्थ का प्रासंगिक निर्णय करना निर्युक्ति है।

निर्युक्ति का प्रयोजन प्रतिपादित करते हुए आवश्यकनिर्युक्ति में कहा गया है: 'प्रत्येक शब्द अनेकार्थक होता है। उनमें से यथा प्रसंग कौनसा अर्थ उपयुक्त है और भगवान महावीर के उपदेश के समय कौनसे अर्थ का किस शब्द से सम्बद्ध रहा है आदि बातों पर दृष्टि रखते हुए समीचीन अर्थ का निर्णय करना तथा उस अर्थ का मूल के साथ सम्बन्ध स्थापित करना निर्युक्ति का प्रयोजन है।'^{९९}

निर्युक्ति के रचनाकाल एवं रचयिता के विषय में परम्परागत अवधारणा यह है कि आचार्य भद्रबाहु (प्रथम) ने ई. पू. तृतीय शती में इनकी रचना की, किन्तु कुछ विद्वान इन्हें भद्रबाहु द्वितीय की रचना मानते हैं। उनका काल विक्रम संवत् की सातवीं शती माना जाता है। इस प्रकार निर्युक्तियों के रचयिता के सम्बन्ध में विद्वानों में अनेक मान्यतायें हैं। डॉ. सागरमल जैन ने अपने लेख 'निर्युक्तिसाहित्य : एक पुनर्चिन्तन' में इस पर तर्क संगत एवं व्यापक विचार किया है। उन्होंने निर्युक्तियों को आर्यभद्र की रचना माना है, जिनका काल विक्रम की तीसरी शती के लगभग है।^{१००}

९९ 'निष्कृता ते आत्मा, जं बद्धा तेष षोड् षिष्कृती ।

तद्वि य इच्छयेद्, विपासिं सुनपरिवाडी ॥'

१०० 'डॉ. सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ' पृष्ठ ४६ ।

- आवश्यकनिर्युक्ति गाथा २८ (निर्युक्तिसंग्रह पृष्ठ ६) ।

उत्तराध्ययननिर्युक्ति

यह उत्तराध्ययनसूत्र के प्राप्त व्याख्याग्रन्थों में सर्वाधिक प्राचीन है। इसमें ५५७ गाथायें हैं जिनमें उत्तर, अध्ययन, श्रुत, स्कंध, संयोग, गलि, आकीर्ण, परिषह, एकक, चतुरक, अंग, संयम, प्रमाद, संस्कृत, करण, उरभ्र, कपिल, नमि, बहुश्रुत, पूजा, प्रवचन, साम, मोक्ष, चरण, विधि, मरण आदि परिभाषिक पदों की निक्षेपपूर्वक व्याख्या की गई है। साथ ही विवेच्य विषय से सम्बन्धित शिक्षाप्रद कथानकों की भी सूचना है। जिस प्रकार 'अंग' शब्द की निर्युक्ति करते हुए गंधांग, औषधांग, मधांग, आतोधांग, शरीरांग और युद्धांग के भेद प्रभेदों का भी उल्लेख किया गया है; उसी प्रकार अन्य शब्दों की निर्युक्ति करते हुए उनके भी भेद प्रभेदों की चर्चा हुई है। उदाहरणार्थ मरण की व्याख्या में सत्रह प्रकार के मरणों का उल्लेख किया गया है, जो प्रायः समवायांगसूत्र के समरूप ही है।

इस प्रकार इस निर्युक्ति में अनेक महत्त्वपूर्ण सूचनायें उपलब्ध हैं। अतः यह उत्तराध्ययनसूत्र के उत्तरवर्ती व्याख्यासाहित्य का आधार है।

२८२ भाष्य साहित्य और उत्तराध्ययन भाष्य

निर्युक्ति में परिभाषिक शब्दों का जो संक्षिप्त रूप मिलता है उसे अधिक स्पष्ट करने हेतु भाष्यों की रचना हुई। इनकी भाषा प्राकृत एवं शैली पद्यात्मक है।

प्रत्येक आगम पर जैसे निर्युक्तियाँ नहीं लिखी गईं, वैसे ही प्रत्येक निर्युक्ति पर भाष्य भी नहीं लिखे गये हैं। कुछ भाष्य निर्युक्तियों पर हैं तो कुछ मूलसूत्रों पर लिखे गये हैं। निम्न आगमग्रन्थों पर भाष्य लिखे गये हैं— १. आवश्यक २. दशवैकालिक ३. उत्तराध्ययनसूत्र ४. बृहत्कल्प ५. पंचकल्प ६. व्यवहार ७. निशीथ ८. जीतकल्प ९. ओघनिर्युक्ति और १०. पिण्डनिर्युक्ति।

उत्तराध्ययन भाष्य बहुत छोटा था। उसमें कुल ४५ गाथायें थीं। वर्तमान में यह स्वतन्त्र रूप में उपलब्ध नहीं है, किन्तु उसकी अनेक गाथायें निर्युक्ति में समाहित हो चुकी हैं।

2.8.3 चूर्णिसाहित्य और उत्तराध्ययनचूर्णि

जैन आगमों की 'प्राकृत' अथवा 'संस्कृत-मिश्रित-प्राकृत' गद्यात्मक व्याख्यायें 'चूर्णि' कहलाती हैं। इनमें नन्दीचूर्णि, अनुयोगद्वारचूर्णि, ओघनिर्युक्तिचूर्णि, आवश्यकचूर्णि, दशद्वैकालिकचूर्णि, उत्तराध्ययनचूर्णि, आचारांगचूर्णि, सूत्रकृतांगचूर्णि, निशीथविशेषचूर्णि, दशाश्रुतस्कन्धचूर्णि एवं जीतकल्पचूर्णि प्राकृत में ही हैं।

उत्तराध्ययनचूर्णि

उत्तराध्ययनचूर्णि के रचयिता जिनदासगणि (वि. सातवीं शताब्दी) हैं। यह संस्कृत मिश्रित प्राकृत भाषा में लिखी गई है। इसमें संयोग, पुद्गल, बन्ध, संस्थान, विनय, अनुशासन, परीषह, धर्मविघ्न, मरण, निर्ग्रन्थपंचक, भयसप्तक, ज्ञानक्रियैकान्त आदि विषयों पर सोदाहरण प्रकाश डाला गया है। स्त्रीपरीषह का विवेचन करते हुए आचार्य ने नारी स्वभाव की आलोचना भी की है। साथ ही इसमें कई शब्दों की विशिष्ट व्युत्पत्तियाँ भी की गई हैं।¹⁰¹

इस प्रकार आगमिक विषयों के अतिरिक्त इस चूर्णि से तत्कालीन समाज और संस्कृति का परिचय भी प्राप्त होता है।

2.7.4 उत्तराध्ययनसूत्र की संस्कृत टीकायें

आगम के आशय को स्पष्ट, स्पष्टतर एवं सुबोध बनाने के लिए जैन आचार्य एवं मनीषी सतत् प्रयत्नशील रहे हैं। फलतः निर्युक्तियों, भाष्यों तथा चूर्णियों की रचना के पश्चात् टीकाओं की रचना का क्रम चला।

टीकाओं के लिए आचार्यों ने विभिन्न नामों का प्रयोग किया है। यथा टीका, वृत्ति, विवृत्ति, विवरण, व्याख्या, वार्तिक, दीपिका, अवचूरि, पजिका, टिप्पण, पर्यायस्तबक, पीठिका आदि।

१०१ 'वृत्तः इति बोध, परतः क्लमतीति पराक्रमः परं वा क्लमति दस्यते एभिरेति दन्ताः ।' - उत्तराध्ययनचूर्णि पत्र २०८ ।

टीकाओं की भाषा मुख्यतः संस्कृत रही है। इन टीकाओं के कारण जैन साहित्य का काफी विस्तार हुआ। टीकाओं के माध्यम से टीकाकारों की विशिष्ट प्रतिभा का दर्शन होता है।

विद्वान् टीकाकारों ने मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक, साहित्यिक, सामाजिक आदि अनेक पहलुओं का विस्तृत विवेचन किया है। प्रत्येक आगम-ग्रन्थ पर कम से कम एक टीका तो अवश्य लिखी गई थी पर आज उनमें से कुछ ही उपलब्ध हैं।

वर्तमान में उत्तराध्ययनसूत्र की पांच टीकायें उपलब्ध होती हैं। वे हैं शान्त्याचार्य की 'शिष्यहितावृत्ति', नेमिचंद्राचार्य की 'सुखबोधा' टीका, लक्ष्मीवल्लभगणि की 'दीपिका' टीका, कमलसयंम उपाध्याय की 'सर्वाथसिद्धि' टीका तथा भावविजयगणि की उत्तराध्ययनसूत्र वृत्ति। उत्तराध्ययनसूत्र की प्रकाशित टीकाओं का संक्षिप्त परिचय आगे दिया जा रहा है।

शान्त्याचार्य कृत टीका

वादिवेताल शान्तिसूरिकृत उत्तराध्ययनसूत्र की टीका का नाम शिष्यहितावृत्ति है। इसका अपर नाम बृहद्वृत्ति है। इसमें प्राकृत कथानकों एवं उद्धरणों की बहुलता होने से यह 'पाइयटीका' के नाम से भी प्रसिद्ध है। यह टीका भाषा, शैली तथा सामग्री आदि की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इसमें मूलसूत्र तथा निर्युक्ति आदि की गाथाओं को उद्धृत किया गया है। विद्वानों की मान्यता है कि इसमें कहीं कहीं भाष्य की गाथायें भी उद्धृत हैं। उत्तराध्ययनसूत्र की उपलब्ध टीकाओं में यह प्राचीनतम है; इसका रचनाकाल विक्रम संवत् १०६७ है।

इसमें सर्वप्रथम मंगलाचरण के साथ परम्परागत मंगल विषयक चर्चा की गई है। तदनन्तर प्रत्येक अध्ययन और उसकी निर्युक्ति का विवेचन किया गया है।

प्रथम अध्ययन की व्याख्या में नय का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए आचार्य सिद्धसेन के सन्मतितर्कप्रकरण की एक गाथा भी उद्धृत की गई है। जिसका अर्थ है— तीर्थंकरों के वचनों का व्याख्यान करने के लिए मूल दो नय हैं, 'द्रव्यार्थिक नय' और 'पर्यायार्थिक नय' शेष नय इन्हीं का विस्तार है।

उत्तराध्ययनसूत्र की यह टीका सर्वाधिक प्रचलित और महत्वपूर्ण है। यह टीका १६००० गाथा परिमाण है।

नेमिचंद्राचार्य कृत टीका

बृहद्गच्छीय नेमिचंद्रसूरि का दूसरा नाम 'देवेन्द्रगणि' भी मिलता है। लेकिन इनका प्रचलित नाम नेमिचंद्रसूरि है। इन्होंने वि. सं. ११२६ में उत्तराध्ययनसूत्र पर टीका लिखी, जिसका नाम सुखबोधा टीका है। यह टीका शान्त्याचार्य की शिष्यहिता टीका के आधार पर लिखी गई है। इस बात को स्वयं वृत्तिकार ने स्वीकार किया है। सरल एवं सुबोध होने से इसका नाम 'सुखबोधा' रखा गया है। यह १२००० गाथा परिमाण है।

इसमें प्रारम्भ में वृत्तिकार ने तीर्थंकर, सिद्ध, सर्वसाधु एवं श्रुतदेवता का नमस्कार रूप मंगलाचरण किया है। इसकी प्रशस्ति में वृत्तिकार ने स्वयं के नाम के साथ गच्छ, गुरु एवं गुरुभ्राता का परिचय भी दिया है तथा टीका के रचना काल एवं स्थान का भी उल्लेख किया है।

लक्ष्मीवल्लभगणिविहित टीका

लक्ष्मीवल्लभगणि ने उत्तराध्ययनसूत्र पर 'दीपिका' टीका लिखी है। इसकी भाषा सरल एवं बोधगम्य है। इसका रचनाकाल वि. सं. १५५२ है। इसमें टीकाकार ने पूर्वाचार्यों के मतों को उद्धृत करते हुए कहीं-कहीं उनसे अपने मत-भेद वैभिन्य का भी प्रतिपादन किया है। इसका ग्रन्थाग्र १६२५५ गाथा परिमाण है।

कमलसंयमोपाध्याय कृत टीका

कमलसंयम उपाध्याय ने उत्तराध्ययनसूत्र पर 'सवार्थसिद्धि' नामक टीका की रचना की। इसका समय वि. सं. १५४४ है। इस टीका का आधार शिष्यहिता एवं सुखबोधा टीका ही है। इसका ग्रन्थाग्र १३५७७ गाथा परिमाण है।

भावविजयगणिकृत टीका

भावविजयगणि आचार्य विमलसूरि के शिष्य थे। इन्होंने वि. सं. १६८६ में उत्तराध्ययनसूत्र पर टीका लिखी है। इसका ग्रन्थमान १६२५५ गाथा परिमाण है। यह मुख्यतः शात्पाचार्य की टीका पर आधारित है। यह पद्यात्मक है तथा इसकी भाषा सरल एवं सुबोध है। मूल गाथाओं की संक्षिप्त व्याख्या देखने के लिए यह अत्यन्त उपयोगी टीका है।

उल्लेखित व्याख्या ग्रन्थों के अतिरिक्त उत्तराध्ययनसूत्र की और भी अनेक टीकायें हैं जो वर्तमान में प्रायः अप्रकाशित हैं। हम उनकी संक्षिप्त सूची, नाम, कर्ता तथा रचनाकाल के विवरण सहित नीचे प्रस्तुत कर रहे हैं -

टीका के नाम	टीका के कर्ता	रचनाकाल
१. अवचूरि	ज्ञानसागरसूरि	१५४१ वि.सं.
२. दीपिका	उदयसागरसूरि	१५४६ वि.सं.
३. लघुवृत्ति	खरतरतपोरत्नवाचक	१५५० वि.सं.
४. वृत्ति	कीर्तिवल्लभ	१५५२ वि.सं.
५. वृत्ति	दिनयहंस	१५६७-८१ वि.सं.
६. बालवबोध	कमललाम	१६ वीं शताब्दी
७. दीपिका	हर्षकुल	१६ वीं शताब्दी
८. टीका	अजितदेवसूरि	१६२८ वि.सं.
९. वृत्तिटीका	हर्षनन्दनगणि	१७११ वि.सं.
१०. बालावबोध	मानविजय	१७४१ वि.सं.
११. मकरंदटीका	धर्ममंदिर उपाध्याय	१७५० वि.सं.

इनके अतिरिक्त भी कुछ वृत्तियां, टीकायें, दीपिकायें तथा अवचूरियां भी उपलब्ध होती हैं। जिनमें से कुछेक कर्त्ताओं के नाम नहीं हैं तो कुछेक के रचनाकाल का उल्लेख नहीं है। उनका विवरण नीचे दिया जा रहा है।

टीका का नाम	टीका के कर्ता	रचनाकाल
१. अवचूरि	अजितदेवसूरि	अनुपलब्ध
२. टीका-दीपिका	माणिक्यशेखरसूरि	"
३. वृत्ति	शान्तिभद्राचार्य	"
४. टीका	मुनिचन्द्रसूरि	"
५. अवचूरि	ज्ञानशीलगणि	"
६. बालावबोध	समरचन्द्रसूरि	"
७. अवचूरि	वि.सं. १४६१
८. चूर्णि	गुणशेखरसूरि	अनुपलब्ध
९. टीका	अमरदेवसूरि	अनुपलब्ध
१०. दीपिका	वि.सं. १६३७

११.	वृत्ति--दीपिका	अनुपलब्ध
१२.	दीपिका	वि.सं. १६४३
१३.	टब्बा	आदिचन्द्र/रायचन्द्र	अनुपलब्ध
१४.	टब्बा	पार्वचन्द्र, धर्मसिंह	१८ वीं शती
१५.	वृत्ति	मतिकीर्ति के शिष्य	अनुपलब्ध
१६.	भाषापद्य सार	ब्रह्मऋषि	वि.सं. १५६६

2.7.6 उत्तराध्ययनसूत्र की हिन्दी/अंग्रेजी व्याख्यायें एवम् टीकायें

वर्तमान में हिन्दी, अंग्रेजी एवं गुजराती अनुवाद के साथ भी उत्तराध्ययनसूत्र के अनेक संस्करण प्रकाशित हुए हैं। जिनका संक्षिप्त परिचय निम्न तालिका द्वारा प्रस्तुत किया जा रहा है।

अनुवादक	प्रकाशक	प्रकाशनवर्ष
आचार्य आत्मारामजी महाराज	जैन शास्त्रमाला कार्यालय, लाहोर	१९३६-४२
घासीलालजी संस्कृत टीका एवं हिन्दी-गुजराती अनुवाद	जैनशास्त्रोद्धार समिति, राजकोट	१९५६-६१
आचार्य महाप्रज्ञ (हिन्दी)	विश्वभारती संस्था, लाडनू	वि.सं. १९६३
युवाचार्य मधुकरमुनि	श्री आगमप्रकाशन समिति, ब्यावर	सन् १९८४
मुनि अमोलक ऋषिजी	जैनशास्त्रोद्धार मुद्रणालय, हैदराबाद	वि.सं. २४४६
मुनि सौभाग्यचन्द्रजी	श्वे. स्था. जैन कांफ्रेंस, मुम्बई	वि.सं. १९६२
आचार्य हस्तीमलजी महाराज	सम्यक्ज्ञान प्रचारक मंडल, जयपुर	सन् १९८६
साध्वी चंदना, दर्शनाचार्य	वीरायतन प्रकाशन, जैन भवन, आगरा	सन् १९७२
रतनलालजी डोसी	श्री अ.भा. साधु, जैन संस्कृति संघ, सैलाना	वि.सं. २४८८
घेवरचंदजी बाठिया	सेठिया जैन ग्रंथमाला, बीकानेर	सन १९५३
जर्मन जेकोबी (अंग्रेजी)	सेक्रेट बुक्स ऑफ द ईस्ट भाग ४५	सन १८६५
जार्ज शार्पेण्टियर (अंग्रेजी प्रस्तावना एवं टिप्पणी सहित)		सन् १८२२

2.7.7 उत्तराध्ययनसूत्र सम्बन्धी शोध प्रबन्ध एवं शोध आलेख

डॉ. सुदर्शनलाल जैन का शोधग्रन्थ उत्तराध्ययनसूत्र एक परिशीलन, डॉ. महेन्द्रनाथसिंह का शोधप्रबन्ध 'धम्मपद और उत्तराध्ययनसूत्र का एक तुलनात्मक अध्ययन' तथा आचार्य महाप्रज्ञ का शोधग्रन्थ 'उत्तराध्ययनसूत्र एक अनुशीलन' भी प्रकाशित हुए हैं। इनके अतिरिक्त भी उत्तराध्ययनसूत्र पर अनेक शोध-आलेख एवं सामान्य लेख भी प्रकाशित होते रहे हैं।

इस प्रकार उत्तराध्ययनसूत्र से सम्बन्धित विपुल व्याख्या साहित्य इसकी महत्ता एवं लोकप्रियता का परिचायक है; फिर भी उत्तराध्ययनसूत्र के दार्शनिक पक्ष को समग्र रूप से व्याख्यायित करने वाले ग्रन्थ का अभाव ही था। प्रस्तुत शोध ग्रन्थ में हमने इसी दिशा में एक प्रयास किया है।

अध्याय - ३

उत्तराध्ययनसूत्र में प्रतिपादित
ज्ञानमीमांसीय अवधारणायें



उत्तराध्ययनसूत्र में प्रतिपादित ज्ञानमीमांसीय अवधारणायें

दार्शनिक - चिन्तन के क्षेत्र में ज्ञानमीमांसा का प्रथम स्थान है; क्योंकि ज्ञान के अभाव में दार्शनिक-चिन्तन सम्भव नहीं है। यही कारण है कि पाश्चात्य विचारकों ने दर्शन का अर्थ ही 'ज्ञानानुराग' किया है। दर्शन को आंग्लभाषा में फिलॉसॉफी (Philosophy) कहा जाता है। यह शब्द फिलॉस (Philos) एवं सॉफिया (Sophia) इन दो यूनानी शब्दों के संयोजन से बना है। फिलॉस शब्द का अर्थ 'अनुराग' और सॉफिया का अर्थ 'ज्ञान' है। अतः फिलॉसॉफी (Philosophy) का अर्थ 'ज्ञानानुराग' होता है।

ज्ञानानुराग दर्शन (Philosophy) को एक व्यापक अर्थ में प्रस्तुत करता है। यही कारण है कि ज्ञान और विज्ञान की सभी शाखा - प्रशाखाओं को दर्शन का ही अंग माना जाता था, किन्तु जैसे-जैसे ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में प्रगति हुई उसकी प्रत्येक शाखा ने अपना स्वतन्त्र स्थान बनाया, अतः दर्शन का क्षेत्र सीमित होता गया और विज्ञान आदि दर्शन से स्वतन्त्र हो गये। वर्तमान में दर्शन की मुख्य शाखाओं के रूप में ज्ञानमीमांसा, तत्त्वमीमांसा और आचारमीमांसा को ही समाहित किया जाता है।

प्रत्येक दर्शन का एक ज्ञानमीमांसीय पक्ष होता है। उसके आधार पर ही तत्त्वमीमांसा और आचारमीमांसा अवस्थित रहती हैं। अतः ज्ञानमीमांसा दर्शन (Philosophy) का अधिष्ठान है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पाश्चात्य तथा भारतीय दोनों ही दर्शनों में ज्ञानमीमांसा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। ज्ञानमीमांसा के अन्तर्गत ज्ञान के स्वरूप, ज्ञान के प्रकार, ज्ञानप्राप्ति के साधन, ज्ञान की प्रामाणिकता-अप्रामाणिकता की कसौटी आदि की चर्चा की जाती है।

ज्ञान का स्वरूप या परिभाषा

ज्ञान के प्रत्यय को परिभाषित करना असम्भव नहीं, किन्तु कठिन अवश्य है। हमारे शोधग्रन्थ 'उत्तराध्ययनसूत्र' में ज्ञान के पांच प्रकारों का उल्लेख अवश्य मिलता है। परन्तु उसमें हमें ज्ञान की परिभाषा एवं स्वरूप का स्पष्टतः कोई वर्णन प्राप्त नहीं होता है। तथापि, उत्तराध्ययनसूत्र की टीकाओं में ज्ञान की व्युत्पत्तिपरक, परिभाषा अवश्य प्राप्त होती है।

ज्ञान शब्द की व्युत्पत्ति अनेक प्रकार से की गई है, जिसमें ज्ञान को कर्ता (जाननेवाला), करण (साधन), और अधिकरण के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

१. जानाति इति ज्ञानम् अर्थात् जो जानता है, वह ज्ञान है। यहां जानने की क्रिया का कर्ता 'ज्ञान' है। इसमें क्रिया एवं कर्ता में अभेदोपचार करके ज्ञान का अर्थ 'आत्मा' भी किया गया है।

२. ज्ञायते अबुध्यते वस्तुतत्त्वमिति ज्ञानम् अर्थात् आत्मा जिसके द्वारा वस्तुतत्त्व को जानता है, वह ज्ञान है। ज्ञान की यह परिभाषा उत्तराध्ययनसूत्र की टीका में उपलब्ध होती है।^१ यह ज्ञान की करणमूलक व्युत्पत्ति है।

३. ज्ञायते अस्मिन्निति ज्ञानमात्मा अर्थात् जिसमें जाना जाता है वह ज्ञान है, वही आत्मा है। यह ज्ञान की अधिकरणमूलक व्युत्पत्ति है। यहां परिणाम (ज्ञान) और परिणामी (आत्मा) में अभेदोपचार किया गया है, आचारांगसूत्र में भी ज्ञान की यही परिभाषा उपलब्ध होती है। उसमें कहा गया है कि 'जो आत्मा है, वह विज्ञाता है जो विज्ञाता है वह आत्मा है।'^२

उत्तराध्ययनसूत्र में प्रतिपादित ज्ञानमीमांसा

उत्तराध्ययनसूत्र में चतुर्विध मोक्षमार्ग की चर्चा के सन्दर्भ में ज्ञान को साधना का आवश्यक अंग माना गया है। मात्र यही नहीं इसकी कुछ गाथाओं में तो स्पष्ट रूप से ज्ञान को मोक्ष मार्ग की साधना का प्रथम सोपान

१ तस्य पंचविहं नाम, सुयं आपिनिबोधियं ।

ओहीनाणं तदयं, मगनाणं च केवलं ॥

२ उत्तराध्ययनसूत्र टीका पत्र - ११५

३ 'जे आया से विष्णाय, जे विष्णाय से आया'

- उत्तराध्ययनसूत्र २८ । ४

- (ज्ञानसाधयं) ।

- आचारांग १/५/५/१०४ (अंगमुक्ताणि, लाङ्गुं, खण्ड १, पृष्ठ ४५)।

माना गया है।^४ दशवैकालिकसूत्र में भी कहा गया है कि साधना के क्षेत्र में ज्ञान का प्रथम स्थान है, ज्ञान के अभाव में साधना सम्भव नहीं।^५ उत्तराध्ययनसूत्र की जिन गाथाओं में ज्ञान को प्रथम स्थान दिया गया है वह भी सम्भवतः इसी अपेक्षा से है। इसके अद्वाइसवें अध्ययन की प्रथम, दूसरी, तीसरी, ग्यारहवीं और पैंतीसवीं गाथाओं में ज्ञान को दर्शन, चारित्र और तप की अपेक्षा प्रथम स्थान दिया गया है। मात्र पच्चीसवीं और तीसवीं गाथा में 'दर्शन' को प्रथम और 'ज्ञान' को उसके बाद स्थान दिया गया है। किन्तु तीसवीं गाथा में जहां दर्शन शब्द को ज्ञान से पूर्व रखा गया है, वहां 'दर्शन' का आशय 'सम्यग्दर्शन' या 'श्रद्धा' न होकर 'अनुभूति' है, क्योंकि ज्ञान के लिए अनुभूति अपरिहार्य होती है। अतः इस दृष्टि से ज्ञान से पूर्व 'दर्शन' को रखना समुचित है; किन्तु जब हम 'दर्शन' का अर्थ 'श्रद्धा' करते हैं तो उसका स्थान ज्ञान के बाद ही होगा अन्यथा वह 'श्रद्धा' ज्ञान के अभाव में अंधश्रद्धा होगी। सही अर्थ में ज्ञान के अभाव में श्रद्धा सम्भव ही नहीं होती। इस आधार पर पैंतीसवीं गाथा में यह कहा गया है कि ज्ञान से तत्त्व को जाने एवं दर्शन से उस पर श्रद्धा रखे।^६ इससे यह स्पष्ट हो जाता है यदि हम 'दर्शन' शब्द का अर्थ 'अनुभूति' न लेकर 'तत्त्वश्रद्धा' लेते हैं तो उत्तराध्ययनसूत्रकार का स्पष्ट अभिमत है कि श्रद्धापरक अर्थ में 'दर्शन' का स्थान 'ज्ञान' के पश्चात् ही होगा।

इस तथ्य की पुष्टि इस आधार पर भी होती है कि उत्तराध्ययनसूत्र के उनतीसवें अध्ययन में 'ज्ञान-सम्पन्नता' के बाद ही 'दर्शन-सम्पन्नता' का क्रम रखा गया है।^७ अतः उत्तराध्ययनसूत्र में उपलब्ध सन्दर्भों के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि जहां दर्शन शब्द को श्रद्धापरक अर्थ में लिया गया है वहां उसका क्रम ज्ञान के बाद है और जहां दर्शन शब्द अनुभूति के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है वहां उसे ज्ञान से पूर्व रखा गया है। उत्तराध्ययनसूत्र में दर्शन को प्राथमिकता देने वाली मात्र दो ही गाथायें हैं। जबकि ज्ञान को प्राथमिकता देने वाली अनेक गाथायें हैं।

४ (क) 'आचरंतेन सत्त्वान् ।'

- उत्तराध्ययनसूत्र २८/१ ।

(ख) 'ज्ञानं च संतप्य वेद'

- उत्तराध्ययनसूत्र २८/२, ३, ११ ।

(ग) 'ज्ञानेनं ज्ञानार्थं भावे, दसनेन य सहृहे ।'

- उत्तराध्ययनसूत्र २८/३५ ।

५ 'अर्थं नानं सजो दक, एषं चिद्दृक् सत्त्व संजए ।

अन्नामी किं कसी ? कि वा नादिद् देय पावर्ग ।'

- दशवैकालिक ४/१० ।

६ 'ज्ञानेनं ज्ञानार्थं भावे, दसनेन य सहृहे ।

कीतेन निरीग्ध, तवेण परिस्सुग्ध ॥'

- उत्तराध्ययनसूत्र २८/३५ ।

७ उत्तराध्ययनसूत्र २६/६० एवं ६१ ।

ज्ञान की महत्ता को प्रतिपादित करते हुए उत्तराध्ययनसूत्र के उनतीसवें अध्ययन में यह पूछा गया है कि 'श्रुत' अर्थात् ज्ञान की आराधना से जीव को क्या प्राप्त होता है ? इसके प्रत्युत्तर में कहा गया है कि 'श्रुत' की आराधना से अज्ञान का क्षय/नाश होता है और अज्ञान के क्षय होने से जीव राग-द्वेष एवं इच्छाओं के द्वारा उत्पन्न होने वाले संक्लेशों से पीड़ित नहीं होता^१ पुनः उसी अध्ययन के साठवें सूत्र में ज्ञान की महत्ता को स्थापित करते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार ससूत्र अर्थात् धागे में पिरोई हुई सूई गिर जाने पर भी गुम नहीं होती पुनः शीघ्र प्राप्त हो जाती है, उसी प्रकार ससूत्र अर्थात् ज्ञान सहित जीव संसार में विनष्ट नहीं होता। ज्ञान के माध्यम से वह विनय, चरित्र, तप आदि को सम्पादित कर स्वसिद्धान्त और परसिद्धान्त में निष्णात बन जाता है और उसके फलस्वरूप मोक्षमार्ग का सम्यक् प्रकार से ज्ञाता होता है।^१ मात्र यही नहीं उत्तराध्ययनसूत्र में तो यहां तक कहा गया है कि ज्ञान के माध्यम से ही आत्मा को एकान्त सुखरूप 'मोक्ष' की प्राप्ति होती है। उसमें कहा गया है कि सम्पूर्ण ज्ञान का प्रकाश, अज्ञान और मोह का विवर्जन कर देता है; परिणामस्वरूप राग द्वेषरूप जो अज्ञान या मोह है वह नष्ट हो जाता है।^{१०} अब हम अग्रिम पृष्ठों में ज्ञान के पांच प्रकार एवं उनके स्वरूप की चर्चा प्रस्तुत करेंगे।

3.1 पंचज्ञानवाद

जैनदर्शन में ज्ञान के निम्न पांच प्रकारों का उल्लेख मिलता है -

१. श्रुतज्ञान (आगमज्ञान); २. आभिनिबोधिकज्ञान (इन्द्रिय एवं मनोजन्मज्ञान) या मतिज्ञान; ३. अवधिज्ञान (मर्यादित रूपी पदार्थ विषयक आत्मिक ज्ञान); ४. मनःपर्यवज्ञान (मन की पर्यायों को जानने वाला ज्ञान) और ५. केवलज्ञान (परिपूर्ण एवं सुविशुद्ध ज्ञान)।

१ उत्तराध्ययनसूत्र २६/२५ ।

६ 'जहा सुई ससुता पठिया वि न विणत्सइ ।

तहा जीवे ससुते, संसारे न विणत्सइ ॥'

नाम-विणयतव-धरित्तजोगे संपाउणइ, ससमय-परसमयसंघायणिज्जे भवइ ।

- उत्तराध्ययनसूत्र - २६ / ६० ।

१० 'नापत्स सब्बस्स, पपासणाए,

अन्नाणामोहस्स विवज्जणाए ।

रागस्स दोसस्स य संखएणं,

एणंतसोपखं समुदेइ मोक्खं ॥'

- उत्तराध्ययनसूत्र ३२/२ ।

यहां ज्ञातव्य है कि साधारणतः जैनदर्शन के अन्तर्गत पंचज्ञान का वर्णन मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यव और केवल इस क्रम में मिलता है अर्थात् मतिज्ञान का क्रम श्रुतज्ञान से पूर्व होता है, परन्तु उत्तराध्ययनसूत्र में श्रुतज्ञान के बाद अभिनिबोधिक (मतिज्ञान) का उल्लेख हुआ है। पुनः इसी ग्रन्थ के तैत्तीसर्वे अध्ययन की चौथी गाथा में भी यही क्रम प्राप्त होता है - श्रुतज्ञानावरण, अभिनिबोधिकज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्यवज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण। इस सन्दर्भ में उत्तराध्ययनसूत्र टीकाकारों का अभिमत है कि शेष सभी ज्ञानों (मति, अवधि, मनःपर्यव और केवल) के स्वरूप का ज्ञान 'श्रुतज्ञान' के माध्यम से होता है अतः इसकी प्रधानता दिखलाने के लिये इसे पूर्व में रखा गया है।¹¹ अनुयोगद्वार में भी कहा गया है कि अन्य चारों ही ज्ञान स्थापनीय हैं अर्थात् उनका स्वतः सम्प्रेषण नहीं होता है। वे मात्र अनुभूति रूप होते हैं अभिव्यक्ति रूप नहीं; किन्तु पांचों ज्ञानों में श्रुतज्ञान ही एक ऐसा ज्ञान है जिसके माध्यम से उसका स्वयं का एवं अन्य चारों ज्ञानों का सम्प्रेषण सम्भव होता है।¹²

आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार छंद-योजना की अपेक्षा से भी क्रम-परिवर्तन सम्भावित है।¹³ आचार्यश्री की यह टिप्पणी इसलिए युक्तिसंगत नहीं लगती कि इनके क्रम परिवर्तन से छंद में कोई दोष नहीं आता है, क्योंकि दोनों शब्द एक ही चरण में हैं।

मतिज्ञान मूलतः विमर्शात्मक या चिन्तनपरक होता है और चिन्तन भाषा के अभाव में सम्भव नहीं होता। अतः श्रुतज्ञान (भाषिक ज्ञान) मतिज्ञान के लिए आवश्यक है। यद्यपि सामान्यतः 'मतिपूर्वकं श्रुतं' कहकर उमास्वाति आदि आचार्यों ने मतिज्ञान को श्रुतज्ञान के पूर्व रखा है, किन्तु नन्दीसूत्र में मतिज्ञान का एक प्रकार श्रुतनिश्चित भी माना गया है और श्रुतनिश्चित मतिज्ञान श्रुतज्ञानपूर्वक ही होता है। अतः उत्तराध्ययनसूत्र का यह क्रम किसी अपेक्षा से युक्तिसंगत प्रतीत होता है।¹⁴

११ 'शेषज्ञानानामपि स्वरूपज्ञानं प्रायः श्रुताधीनमिति तस्य प्राधान्याध्यापनार्थं पूर्वं तदुपादानमिति'

- उत्तराध्ययनसूत्र टीका (आगमपंचांगी क्रमः ४१/५) पत्र २७६४; २७६८; २७८२ एवं २७८५ ।

१२ अनुयोगद्वारसूत्र - २

- (नवसुताधि, लाहौर, पृष्ठ २६१) ।

१३ 'उत्तराध्ययनसूत्र'

- युवाचार्य महाप्रज्ञ, द्वितीय भाग पृष्ठ १४० ।

१४ व्यक्तिगत चर्चा के आधार पर ।

इस प्रकार पांच ज्ञानों में श्रुतज्ञान ही सम्प्रेषणीय है, उसके द्वारा जिनशासन की परम्परा चलती है। अन्य ज्ञानों में विचारों एवं भावों का आदान-प्रदान नहीं हो सकता। श्रुतज्ञान के द्वारा ही ज्ञान का आदान-प्रदान किया जा सकता है। ये कुछ कारण श्रुतज्ञान की प्राथमिकता के आधार हो सकते हैं।

उपर्युक्त पंचज्ञानों में पूर्व के दो ज्ञान (श्रुत एवं मति) इन्द्रिय और मन की सहायता से होने वाले ज्ञान हैं एवं शेष तीन ज्ञान (अवधि, मनःपर्यव और केवल) अतीन्द्रिय अर्थात् आत्मिक ज्ञान हैं। यद्यपि उत्तराध्ययनसूत्र में इनके स्वरूप आदि पर विशेष चर्चा नहीं की गई है फिर भी इसमें हमें पंचज्ञानवाद के सम्बन्ध में कुछ संकेत अवश्य उपलब्ध होते हैं। उत्तराध्ययनसूत्र के तैवीसवें अध्ययन में जहां आर्य केशीश्रमण को अवधिज्ञान और श्रुतज्ञान का धारक बताया गया है वहां आर्य गौतम को बारह अंगों का वेत्ता कहा गया है।¹⁵ यद्यपि श्रुतज्ञान का धारक होना और बारह अंगों का वेत्ता होना एक ही अर्थ का द्योतक है, अतः पूर्वोक्त दोनों श्रमणों के लिये भिन्न-भिन्न विशेषणों का प्रयोग विमर्शनीय है। प्रभु पार्श्व की परम्परा पूर्वविदों की परम्परा है जबकि प्रभु महावीर की परम्परा अंगविदों की परम्परा है। यही कारण है कि इसमें जहां केशीश्रमण को श्रुतज्ञान का धारक कहा वहीं गौतम गणधर को अंगों का वेत्ता कहा गया है।

उत्तराध्ययनसूत्र के अष्टावीसवें अध्ययन में पंचज्ञानों का स्पष्ट निर्देश है। पुनः इसके उनतीसवें अध्ययन में श्रुतज्ञान के महत्त्व एवं स्वाध्याय के सम्बन्ध में विशेष चर्चा हुई है।¹⁶ यहां ज्ञातव्य है कि उत्तराध्ययनसूत्र के सभी टीकाकारों ने पंचज्ञानों के स्वरूप पर प्रकाश डाला है। इन सब के आधार पर हम यहां कमशः पांचों ज्ञान के स्वरूप का संक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत कर रहे हैं।

१. श्रुतज्ञान

श्रुतज्ञान का सामान्य अर्थ संकेतजन्य शब्दज्ञान या भाषायीज्ञान है। वस्तुतः ध्वनि-संकेतों द्वारा होने वाला अर्थबोध अथवा ज्ञान श्रुतज्ञान है, परन्तु सम्यक् श्रुतज्ञान तो आप्तपुरुषों द्वारा उपदिष्ट आगमों का ज्ञान है। आप्तपुरुष द्वारा उपदिष्ट आगम के मुख्यतः दो प्रकार माने गये हैं - अंग और अंगबाह्य। अतः श्रुतज्ञान भी

¹⁵ उत्तराध्ययनसूत्र - २३/३ एवं ६।

¹⁶ उत्तराध्ययनसूत्र - २६/१६, २५ व ६०।

मुख्यतः दो प्रकार का माना गया है— १. अंगप्रविष्ट और २. अनंगप्रविष्ट। इसकी पुष्टि उत्तराध्ययनसूत्र के अट्टावीसवें अध्ययन की इक्कीसवीं गाथा से होती है।^{१७} आचार्य उमास्वाति ने 'तत्त्वार्थसूत्र' में श्रुतज्ञान के प्रथम दो भेद और फिर उनके द्वादश एवं अनेक भेदों का निरूपण किया है।^{१८} इसमें दो भेद, अंग और अंगबाह्य ग्रन्थों के आधार पर किये गये हैं।

अंगग्रन्थों की संख्या बारह होने से अंगविषयक श्रुतज्ञान बारह प्रकार एवं अंगबाह्य ग्रन्थों की संख्या अनेक होने से अंगबाह्य श्रुतज्ञान अनेक प्रकार का कहा गया है। श्रुतज्ञान का महत्त्व उत्तराध्ययनसूत्र के 'बहुश्रुत' नामक अध्ययन में प्रतिपादित किया गया है।

२. मति/आभिनिबोधिक ज्ञान

इन्द्रिय एवं मन की सहायता से होने वाला ज्ञान आभिनिबोधिक ज्ञान है। उत्तराध्ययनसूत्र के टीकाकार शान्त्याचार्य के अनुसार, जिसके द्वारा योग्य देश एवं काल में अवस्थित वस्तु का निश्चयात्मक बोध होता है, वह आभिनिबोधिक ज्ञान है।^{१९}

नन्दीसूत्र में ईहा, अपोह, विमर्श, मार्गणा, गवेषणा, संज्ञा, स्मृति, मति, प्रज्ञा एवं बुद्धि को आभिनिबोधिक ज्ञान का पर्यायवाची माना गया है^{२०} तथा इसके श्रुतनिश्चित एवं अश्रुतनिश्चित ऐसे दो भेद किये गये हैं।^{२१}

तत्त्वार्थसूत्र में भी मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता एवं आभिनिबोध को एकार्थक माना गया है।^{२२} इसमें अवग्रहरूप जो इन्द्रियबोध है वह अश्रुतनिश्चित है और विमर्श, चिन्ता आदि रूप जो मतिज्ञान है वह श्रुतनिश्चित है; क्योंकि भांषा पर आधारित है।

१७ 'अंगेण बाहिरंग व, सो तुतस्व ति नायवो ॥' - उत्तराध्ययनसूत्र २८/२१।

१८ तत्त्वार्थसूत्र - १/२०।

१९ उत्तराध्ययनसूत्र टीका पत्र - ५५७

२० नन्दीसूत्र - ५४/६

२१ नन्दीसूत्र - ३७

२२ तत्त्वार्थसूत्र १/१३।

- (शान्त्याचार्य)।

- (वदसुतापि, ताडनू, पृष्ठ २६३)।

- (वदसुतापि, ताडनू, पृष्ठ २६८)।

३. अवधिज्ञान

सीमित क्षेत्र में रहे हुए रूपीद्रव्य अर्थात् पौद्गलिक संरचनाओं का आत्मा के द्वारा होने वाला ज्ञान अवधिज्ञान है।^{२३} यह मूर्त द्रव्यों का अतीन्द्रिय या साक्षात् ज्ञान है किन्तु द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव की मर्यादा या सीमा विशेष से बंधा हुआ है। अतः इसे अवधिज्ञान कहा जाता है।

अवधिज्ञान के दो प्रकार हैं - १. भवप्रत्यय और २. गुणप्रत्यय।

१. **भवप्रत्यय** : यह जन्मजात होता है। देवलोक एवं नरक में होने वाला अवधिज्ञान भवप्रत्यय अवधिज्ञान है क्योंकि देवगति एवं नरकगति के जीवों में जन्म से ही यह ज्ञान होता है।

२. **गुणप्रत्यय** : वर्तमान जीवन में विशिष्ट साधना के आधार पर उपलब्ध होने वाला अवधिज्ञान गुणप्रत्यय अवधिज्ञान है। यह संज्ञी मनुष्य एवं तिर्यच को ही होता है।

गुणप्रत्यय अवधिज्ञान के निम्न छः प्रकार हैं-

(१) **अनुगामी** : जो व्यक्ति के साथ साथ गमन करे, जैसे सूर्य के साथ प्रकाश, चन्द्रमा के साथ चांदनी गमन करती है। जहां अवधिज्ञानी जाये वहां उसके साथ उसका अवधिज्ञान भी रहता है तो वह अनुगामी अवधिज्ञान कहलाता है।

(२) **अननुगामी** : जो व्यक्ति के साथ साथ नहीं चलता है पर जिस स्थान पर ज्ञान उत्पन्न हुआ है उस स्थान पर स्थित होने तक ही रहता है अर्थात् जो अवधिज्ञान उत्पत्ति क्षेत्र में ही रहता है उससे अतिरिक्त नहीं, वह अननुगामी अवधिज्ञान है। यह ज्ञान क्षेत्र रूप बाह्य निमित्त से होता है, अतएव अवधिज्ञानी जब अन्यत्र जाता है तो क्षेत्र-रूप निमित्त के नहीं रहने से वह ज्ञान भी लुप्त हो जाता है।

(३) **वर्धमान** : उत्पत्तिकाल के बाद जिस ज्ञान का क्षेत्र क्रमशः बढ़ता रहता है वह वर्द्धमान अवधिज्ञान होता है। जैसे अग्नि को ज्यों ज्यों ईंधन मिलता जाता है, वह प्रज्वलित होती जाती है। उसी प्रकार ज्यों ज्यों परिणामों में विशुद्धि आती जाती है, अवधिज्ञान भी क्षेत्र, विषय, आदि की अपेक्षा से वृद्धि को प्राप्त होता जाता है। यह वर्द्धमान अवधिज्ञान है।

(४) **हीयमान** : परिणामों में सकलितता आ जाने के कारण जो अवधिज्ञान क्षेत्र एवं विषय की अपेक्षा क्रमशः हीन, हीनतर एवं हीनतम होता जाता है वह अवधिज्ञान हीयमान अवधिज्ञान कहलाता है।

(५) **प्रतिपाती** : जो अवधिज्ञान उत्पन्न होने के बाद पुनः चला जाय या नष्ट हो जाय; वह प्रतिपाती अवधिज्ञान कहलाता है।

(६) **अप्रतिपाती** : जो अवधिज्ञान उत्पन्न होने के बाद जीवनपर्यन्त बना रहे अथवा केवलज्ञान की प्राप्ति तक बना रहे वह अप्रतिपाती अवधिज्ञान होता है।

४. मनःपर्यवज्ञान

मन की पर्यायों को साक्षात् करने वाला ज्ञान मनःपर्यवज्ञान कहलाता है।^{२४} मनोवर्गणा के पुद्गलों से जो मानसप्रत्यय निर्मित होते हैं उनको जानने की सामर्थ्य मनःपर्यवज्ञान में होती है।

मनःपर्यवज्ञान का विषय भी मूर्त है; क्योंकि मनोवर्गणायें, जिनसे मानसिक प्रत्यय बनते हैं, वे पौद्गलिक या मूर्त हैं। मनोवर्गणाओं से निर्मित मनोभावों को जानने की शक्ति मनःपर्यवज्ञान है अर्थात् मन में जिस वस्तु का विचार आता है और उससे जो मानस-प्रतिबिंब बनता है, उस प्रतिबिंब का ज्ञान मनःपर्यवज्ञान है। मनःपर्यवज्ञान भी दो प्रकार के होते हैं --

(अ) **ऋजुमति**-- अपने विषय का सामान्य रूप से प्रत्यक्ष करने वाला मनःपर्यवज्ञान ऋजुमति मनःपर्यवज्ञान कहलाता है।

(ब) **विपुलमति**-- अपने विषय का सूक्ष्म रूप से प्रत्यक्ष करने वाला ज्ञान विपुलमति मनःपर्यवज्ञान कहलाता है। ऋजुमति मनःपर्यवज्ञानी की अपेक्षा विपुलमति मनःपर्यवज्ञानी का ज्ञान विपुलतर एवं विशुद्धतर होता है।

ऋजुमति मनःपर्यवज्ञान प्रतिपाती है अर्थात् आकर पुनः जा सकता है; किन्तु विपुलमति मनःपर्यवज्ञान अप्रतिपाती है अर्थात् विलुप्त नहीं होता है।^{२५} विपुलमति मनःपर्यवज्ञानी केवलज्ञानी होकर तद्भव मोक्षगामी होते हैं। यहां ध्यातव्य है कि आधुनिक मनोवैज्ञानिक मनःपर्यवज्ञानी नहीं हैं, क्योंकि जहां मनःपर्यवज्ञानी

२४ उन्नराध्ययनसूत्र टीका पृ - ५५७

२५ 'विशुद्धप्रतिपत्त्या तद्विशेषः'

- (शान्त्यावर्ष)

- तत्त्वार्थसूत्र १/२५।

दूसरों के मनोगत भावों को साक्षात्/प्रत्यक्ष जानता है वहीं मनोवैज्ञानिक हाव - भाव आदि संकेतों के माध्यम से दूसरों के मनोगत भावों का अनुमान लगाता है। अनुमानित ज्ञान में सम्भावित सत्य होता है प्रमाणित नहीं। पुनश्च मनोवैज्ञानिक मिथ्या-दृष्टि भी हो सकता है; जबकि मनःपर्यवज्ञानी निश्चित रूप से सम्यक्-दृष्टि और संयमी ही होता है।

५. केवलज्ञान

उत्तराध्ययनसूत्र की टीका के अनुसार केवलज्ञान एकमात्र (केवल) विशुद्ध, सकल (सम्पूर्ण), असाधारण और अनन्त होता है।^{२६}

इसे एक कहने का तात्पर्य यह है कि केवलज्ञान के प्रकट हो जाने पर शेष चारों ज्ञानों का महत्त्व नहिवत् हो जाता है। जैसे सूर्य के प्रकाश में तारों के प्रकाश का कोई अर्थ नहीं रह जाता; उसी प्रकार केवलज्ञान के होने पर अन्य चार ज्ञानों की कोई उपयोगिता नहीं रह जाती है।

केवलज्ञान का विषय त्रिकालवर्ती समस्त द्रव्य तथा उनकी समस्त पर्यायें हैं। यह ज्ञान प्रकट होने के बाद कभी नष्ट नहीं होता है।

प्रमाणवाद

प्रमाण की परिभाषा :

'प्रमाण' की परिभाषा के सन्दर्भ में मुख्यतः दो दृष्टिकोण प्रस्तुत होते हैं। कुछ दार्शनिकों का मानना है - 'प्रमा करणं प्रमाणं' अर्थात् यथार्थ ज्ञान का ज्ञेय कारण है, वह प्रमाण है^{२७} अथवा 'प्रमीयतेऽनेन प्रमाणं' जिनके द्वारा ज्ञान होता है वे प्रमाण हैं। इस प्रकार इन परिभाषाओं में ज्ञान के साधन या करण ही प्रमाण माने गये हैं।^{२८} नैयायिक 'प्रमा' के साधकतम कारण इन्द्रियों और सन्निकर्ष को मानते हैं उनके अनुसार अर्थोपलब्धि का हेतु प्रमाण है।^{२९} जैन एवं बौद्ध दार्शनिक ज्ञान को प्रमाण का साधकतम कारण मानते हैं, सन्निकर्ष को नहीं। जैनदर्शन सम्म

२६ 'केवलमेकमकतुषं सकलसाधारणमनन्तं च ज्ञानमिति प्रक्रमः' - उत्तराध्ययनसूत्र टीका (शान्दयाचार्य) पत्र - ५५७।

२७ तर्कभाषा, पृष्ठ ११।

२८ न्यायभाष्य १.१.३।

२९ 'अर्थोपलब्धि हेतुः प्रमाणम्'

- (उद्धृत तर्कभाषा, पृष्ठ ११)।

- न्यायवार्तिक (उद्धृत जैन न्याय का विकास पृष्ठ ८२)।

प्रमाण की परिभाषा में 'ज्ञान' शब्द का प्रयोग किया गया है। उसमें ज्ञान को ही प्रमाण माना गया है।^{३०}

जैन दार्शनिकों के अनुसार जो जानता है वह ज्ञान प्रमाण है। अथवा 'स्व' और 'पर' को जानने वाला ज्ञान ही प्रमाण है।^{३१} इस परिभाषा का विशेष स्पष्टीकरण आचार्य सिद्धसेन के 'न्यायावतार' में मिलता है। वे लिखते हैं कि जो स्व-पर प्रकाशक और बाधाविवर्जित ज्ञान है, वही प्रमाण है।^{३२}

सभी भारतीय दर्शन प्रमाण की संख्या के विषय में एकमत नहीं हैं, चार्वाकदर्शन एकमात्र 'प्रत्यक्ष' को ही स्वीकार करता है। बौद्ध और वैशेषिकदर्शन प्रत्यक्ष एवं अनुमान इन दो प्रमाणों को मानते हैं। सांख्यदर्शन द्वारा प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम (शब्द) ये तीन प्रमाण स्वीकृत हैं। न्यायदर्शन प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम और उपमान इस प्रमाण चतुष्टयी को मान्यता देता है। मीमांसादर्शन का प्रभाकर सम्प्रदाय उपर्युक्त चार प्रमाण सहित 'अर्थापत्ति' को भी प्रमाण मानता है। इस प्रकार वह पांच प्रमाण मानता है, जबकि मीमांसादर्शन का भाट्टसम्प्रदाय और वेदान्त उपर्युक्त पांचों प्रमाणों के अतिरिक्त 'अभाव' को भी प्रमाण के रूप में स्वीकार करते हैं। महर्षि चरक ने 'युक्ति' सहित सात और पौराणिकों ने 'ऐतिह्य' सहित आठ प्रमाण माने हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय-दार्शनिक प्रस्थानों में प्रमाणों की संख्या को लेकर भिन्न भिन्न दृष्टिकोण प्रचलित रहे हैं। इसे निम्न सारणी से समझा जा सकता है :

दर्शन	प्रमाण-संख्या
१. चार्वाकदर्शन	प्रत्यक्ष;
२. बौद्ध, वैशेषिक	प्रत्यक्ष और अनुमान;
३. सांख्यदर्शन	प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द;
४. न्यायदर्शन	प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द और उपमान;
५. मीमांसादर्शन का प्रभाकरसम्प्रदाय	प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान और अर्थापत्ति;
६. मीमांसादर्शन का भाट्टसम्प्रदाय और वेदान्त	प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति, और अभाव;

३० (क) 'ज्ञायते यत् तत् प्रमाण'

(ख) 'तत् (ज्ञानं) प्रमाण'

३१ 'स्वरदब्धत्वात् ज्ञानं प्रमाण'

३२ 'प्रमाणं स्वपठ्यासि ज्ञानं, बाधविवर्जितम्' - न्यायावतार १।

- प्रमाणनयतत्त्वलोक टीका १/१।

- तत्त्वार्थसूत्र १/१०।

- प्रमाणनयतत्त्वलोक।

७. महर्षि चरक	प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति, अभाव और युक्ति;
८. पौराणिकमत	प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति, अभाव, युक्ति और एतिहाय ।

जहां तक जैनदर्शन का प्रश्न है, उसमें प्रमाणों की संख्या को लेकर विभिन्न मत दृष्टिगोचर होते हैं। आचार्य उमास्वाति ने 'प्रत्यक्ष' और 'परसेक्ष' ऐसे दो प्रमाणों की चर्चा की है^{३३} जबकि 'स्थानांगसूत्र' की आगमिक परम्परा का अनुसरण करते हुए प्राचीन जैनदार्शनिक सिद्धसेनदिवाकर ने प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम ऐसे तीन प्रमाण माने हैं^{३४} और स्थानांग में हेतु और भगवतीसूत्र में प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम और उपमान ऐसे चार प्रमाण मिलते हैं,^{३५} जबकि अकलंक के काल से जैन दार्शनिक निम्न छः प्रमाण मानने लगे हैं— १. प्रत्यक्ष २. स्मृति ३. प्रत्यभिज्ञा ४. ऊहा (तर्क) ५. अनुमान और ६. आगम। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन दार्शनिकों ने प्रमाणों की संख्या को लेकर कालक्रम में भिन्न-भिन्न मत प्रस्तुत किये हैं; फिर भी स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, और ऊहा (तर्क) को प्रमाण मानने की जैनों की अपनी मौलिक परम्परा है।

जैनदर्शन में प्रमाणवाद

जैनपरम्परा में प्राचीन काल में 'ज्ञानवाद' और 'प्रमाणवाद' अलग अलग नहीं थे। आचार्य उमास्वाति ने ज्ञान को ही प्रमाण माना था। जैनदर्शन में पंचज्ञान की अन्वयण अति प्राचीन काल से चली आ रही थी। उसकी प्राचीनता कम से कम प्रभु पार्श्वनाथ के काल तक अर्थात् ई. पू. आठवीं शती तक जाती है। जहां तक जैनदर्शन में प्रमाण चर्चा का प्रश्न है, आचार्य उमास्वाति के काल तक अर्थात् ईसा की तीसरी शती से उसके संकेत मिलने लगते हैं। उत्तराध्ययनसूत्र में विविध स्थलों पर 'पंचज्ञानवाद' के तो अनेक सन्दर्भ उपलब्ध होते हैं। किन्तु प्रमाण शब्द के नामोल्लेख के सिवाय इसमें उसकी चर्चा का प्रायः अभाव है। इसके

३३ तत्त्वार्थसूत्र १/११ एवं १२ ।

३४ देखिये - आगमयुग का जैनदर्शन पृष्ठ १३८ ।

३५ (क) 'अहम् हेतु कडक्किहे पण्णते तं जहा पक्कख्खे, अनुमाने ओवम्मे, आगमे'

(ख) 'पमाने कडक्किहे पण्णते तं जहा, पक्कख्खे, अनुमाने, ओवमाने आगमे'

- स्थानांग ४/५०४ (अंगसुत्ताणि, लाडनं, खण्ड १, पृष्ठ ६६०) ।

- भगवती ५/४/६७ (अंगसुत्ताणि, लाडनं, खण्ड २, पृष्ठ २०४)।

अट्टाईसवें अध्ययन में 'प्रमाण' शब्द का उल्लेख किया गया है। यहाँ 'विस्ताररूचि-सम्यग्दर्शन' की चर्चा के अन्तर्गत वस्तु तत्त्व के जानने के साधन के रूप में प्रमाण और नय का उल्लेख हुआ है।^{३६} इस आधार पर विद्वानों ने इस अध्ययन की प्राचीनता पर भी सन्देह किया है, किन्तु उत्तराध्ययनसूत्र के अतिरिक्त स्थानांग, भगवती, नन्दीसूत्र और अनुयोगद्वार में चार, तीन और दो प्रमाणों की चर्चा उपलब्ध होती है।^{३७} यहाँ यह ज्ञातव्य है कि भगवती में जहाँ प्रमाण के नाम से प्रत्यक्ष, अनुमान, औपम्य और आगम ऐसे चार प्रमाणों की चर्चा मिलती है, वहीं स्थानांग में हेतु के नाम से इन्हीं चार प्रमाणों और व्यवसाय के नाम से 'औपम्य' को छोड़कर शेष तीन प्रमाणों की चर्चा मिलती है; किन्तु नन्दीसूत्र में प्रत्यक्ष और परोक्ष के नाम से दो प्रमाणों की चर्चा उपलब्ध होती है। आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र में इन्हीं दो प्रमाणों की चर्चा की है।^{३८}

जैनदर्शन में प्रमाणचर्चा का विकास

पं. सुखलालजी ने जैनदर्शन के ऐतिहासिक विकास को तीन भागों में विभाजित किया है - १. आगमयुग; २. संस्कृतिप्रवेश या अनेकान्तस्थापनयुग और ३. न्यायप्रमाणस्थापन युग।^{३९} पं. दत्तसुखभाई मालवणिया के अनुसार इसके चार विभाग किये गये हैं- १. आगमयुग; २. अनेकान्तस्थापनयुग; ३. प्रमाणस्थापनयुग और ४. नव्यन्याययुग।^{४०} इस विभागीकरण के आधार पर हम प्रमाणमीमांसा की विकास यात्रा की चर्चा करेंगे।

३६ 'द्वयान सव्यपाय, सव्यपमापेहि जस उवत्तहा ।

सव्वाहि नयविहीहि य, विव्वास्इ ति नाप्यो ॥'

३७ (क) स्थानांग ३/३६५, ४/५०४

(ख) भगवती ५/४/६७

(ग) नन्दीसूत्र ३

(घ) अनुयोगद्वार ६१५

३८ तत्त्वार्थसूत्र १/११ एवं १२ ।

३९ 'दर्शन और चिन्तन' खण्ड १, पृष्ठ ३६२

४० 'आगम युग और जैनदर्शन' पृष्ठ २८१

- उत्तराध्ययनसूत्र २८/२४ ।

- लाङ्गु, पृष्ठ क्रमशः ५७७, ६६० ।

- (अंगसुत्ताणि, लाङ्गु, खण्ड २, पृष्ठ २०४) ।

- (नवसुत्ताणि, लाङ्गु, पृष्ठ ३८६) ।

- (नवसुत्ताणि, लाङ्गु, पृष्ठ २४१) ।

- पं. सुखलालजी ।

- पं. दत्तसुख मालवणिया ।

आगमयुग :

सामान्यतः यह माना जाता है कि आगमयुग में प्रमाणचर्चा का अभाव था, किन्तु इस मान्यता पर पुनर्विचार की आवश्यकता है; क्योंकि जैनदर्शन में प्रमाण की परिभाषा में सर्वप्रथम आचार्य उमास्वाति ने 'पंचज्ञानों' को प्रमाण कहा है; इस परिप्रेक्ष्य में आगमों का अनुशीलन करने पर ज्ञात होता है कि 'नन्दीसूत्र' में पांच ज्ञानों का विस्तृत वर्णन है । यद्यपि 'नन्दीसूत्र' अपेक्षाकृत परवर्ती है, किन्तु उसके पूर्व उत्तराध्ययनसूत्र, स्थानांग, भगवती, राजप्रश्नीय आदि आगमों में भी आभिनिबोधिक (मति) ज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान का निरूपण किया गया है।^१ कालान्तर में यही ज्ञानवाद जैनदर्शन की स्वतन्त्र प्रमाणमीमांसा का आधार बना ।

केवल पंचज्ञानवाद ही नहीं आगमों में तो स्वतन्त्र रूप से भी 'प्रमाण' का उल्लेख मिलता है। भगवतीसूत्र, स्थानांगसूत्र, एवं अनुयोगद्वारसूत्र में प्रमाण के तीन एवं चार प्रकार नाम सहित प्रतिपादित किये गये हैं; जिसका निर्देश पूर्व में किया जा चुका है।

उत्तराध्ययनसूत्र में भी विस्ताररुचि सम्यक्त्व का लक्षण 'नय एवं प्रमाण से जानना' किया गया है। यहां प्रमाण शब्द का बहुवचन के रूप में प्रयोग यह सिद्ध करता है कि उस काल में जैनों को एकाधिक प्रमाण मान्य थे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आगम-ग्रन्थों में ज्ञान के अर्थ में प्रमाण की तथा कुछ स्थलों पर स्वतन्त्र रूप से प्रमाण की चर्चा उपलब्ध होती है। यद्यपि विद्वानों की दृष्टि में यह विवाद का विषय बना हुआ है कि प्रमाणों की चर्चा करने वाले आगमों के ये अंश प्राचीन स्तर के हैं अथवा वल्लभीवाचना के काल में उनमें प्रक्षिप्त किये गये हैं। फिर भी इतना निश्चित है कि 'ज्ञानवाद' जैनों का अपना मौलिक सिद्धान्त है, जबकि जैनदर्शन में 'प्रमाणवाद' की चर्चा का विकास अन्य दर्शनों के प्रभाव के कारण हुआ है। यद्यपि इसमें भी जैनाचार्यों ने अपनी दार्शनिक सूझ एवं मौलिकता का परिचय दिया है। स्मृति, तर्क आदि प्रमाणों की स्वीकृति और

४१ (क) उत्तराध्ययनसूत्र २८/४

(ख) स्थानांग ५/१८

(ग) भगवती ८/२/६७

(घ) राजप्रश्नीय ७३६

- (अंगसुत्ताणि, लाडनू, खण्ड १, पृष्ठ ७१४);

- (अंगसुत्ताणि, लाडनू, खण्ड २, पृष्ठ ३३२);

- (उर्वंगसुत्ताणि, लाडनू, खण्ड १, पृष्ठ १८२);

उनका प्रतिस्थापन प्रमाणचर्चा के प्रसंग में जैन दार्शनिकों की मौलिक सूझ का परिचायक है; यद्यपि यह परवर्ती घटना है। आगमयुग का प्रमाणवाद मुख्यतः सांख्य और न्यायवैशेषिक दर्शन से प्रभावित रहा है।

अनेकान्त युग :

अनेकान्त युग भी प्रमाणविषयक साहित्य से समृद्ध रहा है! आचार्य उमास्वाति (द्वितीय/तृतीय शताब्दी) ने 'तत्त्वार्थसूत्र' में मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान को प्रमाण कहकर फिर प्रमाण के प्रत्यक्ष एवं परोक्ष ऐसे दो भाग किये हैं; जिसमें प्रत्यक्ष के अन्तर्गत अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान तथा परोक्ष के अन्तर्गत मतिज्ञान और श्रुतज्ञान को वर्गीकृत किया गया है।

आचार्य उमास्वाति ने अनुमान प्रमाण का स्पष्ट उल्लेख तो नहीं किया है, किन्तु अनुमान के पक्ष, हेतु एवं उदाहरण इन तीनों अवयवों के आधार पर सूत्र रचना की है^{१२} यथा -

पक्ष	-	मतिश्रुतावधयो विपर्यश्च
हेतु	-	सदसतोरविशेषाद्यदृच्छोपलब्धे;
उदाहरण	-	उन्मत्तवत्

आचार्य उमास्वाति ने मतिज्ञान को परोक्षज्ञान ही माना था। पुनः उसके पर्यायवाची नामों में चिन्ता, विमर्श आदि का समावेश भी किया था, जो वस्तुतः अनुमान से सम्बन्धित ही प्रतीत होते हैं।

आचार्य उमास्वाति ज्ञानवाद और प्रमाणवाद के सन्दर्भ में वस्तुतः तो आगमिक परम्परा का ही अनुसरण करते हैं। अतः वे मुख्यतः आगमयुग के दार्शनिक हैं। उनके पश्चात् सिद्धसेन दिवाकर से अनेकान्त व्यवस्थायुग का प्रारम्भ होता है।

आचार्य सिद्धसेन (विक्रम की चतुर्थ-पंचम शती) द्वारा रचित 'सम्मतितर्क' का मुख्य प्रतिपाद्य अनेकान्तवाद है, फिर भी प्रमाणव्यवस्था के सन्दर्भ में उन्होंने एक द्वात्रिंशिका 'न्यायावतार' के नाम से निर्मित की है। इसमें आगमानुसार सांख्यदर्शन के समरूप प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम (शब्द) इन तीन प्रमाणों की चर्चा जैन दृष्टि से की है। जैनप्रमाणशास्त्र का प्रारम्भ इसी कृति से माना जाता है।

^{१२} तत्त्वार्थसूत्र १/३३ एवं ३३।

प्रमाणव्यवस्थायुग :

जैनदर्शन में आगमयुग से अनेकान्तयुग में सरकती हुई 'प्रमाणमीमांसा' शनैः शनैः विकसित होती चली गई तथा प्रमाणव्यवस्थायुग में उसने स्पष्टतः व्यवस्थित रूप प्राप्त कर लिया।

इस युग में जब अन्य सभी दार्शनिक इन्द्रिय एवं मनोजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष मान रहे थे, तब जैनदार्शनिकों ने स्वमान्यता को सुरक्षित रखते हुए प्रत्यक्ष को दो भागों में विभाजित कर दिया - १. सांख्यवहारिकप्रत्यक्ष एवं २. पारमार्थिकप्रत्यक्ष। सांख्यवहारिकप्रत्यक्ष के अन्तर्गत इन्द्रिय एवं मनोजन्य ज्ञान को स्वीकार किया गया तथा आत्मसापेक्ष या अतीन्द्रियजन्य ज्ञान को पारमार्थिकप्रत्यक्ष के रूप में स्वीकार किया गया। विद्वानों का मत है कि इस मान्यता का आधार 'नन्दीसूत्र' है; क्योंकि 'नन्दीसूत्र' में प्रत्यक्ष के दो भेद किये गये हैं; यद्यपि नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष को मानसिकप्रत्यक्ष न मानकर आत्मिकप्रत्यक्ष ही माना गया है। इन्द्रियजन्य एवं मनोजन्यज्ञान को सांख्यवहारिकप्रत्यक्ष नाम देने का श्रेय जिनमद्रगणि क्षमाश्रमण (सातवीं शती) को है। वस्तुतः जैनदर्शन में प्रमाणव्यवस्था का प्रारम्भ आचार्य अकलंक देव (आठवीं शती) से ही होता है। आचार्य अकलंक देव के पश्चात् विद्यानन्द, सिद्धर्षि, अनन्तवीर्य, वादिराजसूरि, अभयदेवसूरि, वादिदेवसूरि, प्रभाचंद्र, माणिक्यनन्दि, हेमचंद्र आदि अनेक आचार्यों ने प्रमाणशास्त्र पर अनेक स्वतन्त्र ग्रन्थों एवं टीकाओं की रचना के द्वारा प्रमाणमीमांसा के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

नव्यन्याययुग :

न्यायदर्शन के क्षेत्र में जब तेरहवीं शती में आचार्य गंगेश द्वारा नव्यन्याय की शैली विकसित हुई तो उसके प्रभाव से जैनन्याय के क्षेत्र में भी नव्यन्याय शैली का प्रयोग हुआ। नव्यन्याय के निरूपण में उपाध्याय यशोविजयजी (सत्रहवीं शती) का महत्त्वपूर्ण योगदान है। इनके ग्रन्थ- 'जैनतर्कभाषा', 'ज्ञानबिन्दु', 'अष्टसहस्रीतात्पर्यविवरण' और 'शास्त्रवार्तासमुच्चयटीका' में नव्यन्याय शैली का विशिष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। पं. विमलदास की कृति 'सप्तभंगीतरंगिणी' भी नव्यन्याय शैली पर ही आधारित है।

इस प्रकार जैनदर्शन में प्रमाणमीमांसा सम्बन्धी चर्चा आगमयुग से लेकर सभी कालों में उपलब्ध होती है। यह सब विस्तृत विवेचन का विषय है। चूँकि प्रस्तुत शोधग्रन्थ का विषय उत्तराध्ययनसूत्र तक सीमित है जिसमें प्रमाण शब्द के

उल्लेख के अतिरिक्त प्रमाणविषयक चर्चा का अभाव है। उत्तराध्ययनसूत्र के टीकाकारों ने भी 'सर्वप्रमाणैः' प्रत्यक्षादि कहकर इसकी संक्षिप्त व्याख्या की है।^{४३} मात्र लक्ष्मीवल्लभगणि (वि.सं. १५५२) ने इस प्रसंग में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम इन चार प्रमाणों का नाम निर्देश किया है,^{४४} जो भगवती, समवायांग आदि आगमों तथा न्यायदर्शन में मान्य हैं। प्रस्तुत विवेच्य ग्रन्थ उत्तराध्ययनसूत्र मूल और उसकी टीकाओं में इन प्रमाणों के नामोल्लेख के अतिरिक्त कोई चर्चा उपलब्ध नहीं होती है, अतः हम भी अपनी इस प्रमाणचर्चा को यहीं विराम देते हैं।

४३ उत्तराध्ययनसूत्र टीका पत्र २७६०, २७६४, २७६६ व २८०६ - (आगमपंचांगी क्रम ४१/५)।

४४ 'सर्वप्रमाणैः' प्रत्यक्षानुमानोपमानावमैश्व'।

- उत्तराध्ययनसूत्र टीका

(लक्ष्मीवल्लभगणी, आगमपंचांगी) पत्र - २८०५।

अध्याय - ४

उत्तराध्ययनसूत्र में प्रतिपादित
तत्त्वमीमांसीय अवधारणायें



उत्तराध्ययनसूत्र में प्रतिपादित तत्त्वमीमांसीय अवधारणार्थे

तत्त्वमीमांसा दार्शनिक-चिन्तन का एक प्रमुख अंग है, वस्तुतः जीवन एवं जगत के सम्बन्ध में जानने की जिज्ञासा ने दर्शन को जन्म दिया है। तत्त्वमीमांसा का कार्य विश्व के स्वरूप तथा उसके मूलभूत घटकों या घटकों की व्याख्या करना है। विभिन्न दर्शनों में विश्व के मूलभूत घटकों को द्रव्य, सत्, पदार्थ, तत्त्व आदि नामों से पुकारा गया है। जैनग्रन्थ बृहदनयचक्र में सत्, तत्त्व, परमार्थ, द्रव्य, स्वभाव, परापर, ध्येय, शुद्ध और परम इन सभी को एकार्थक या पर्यायवाची माना गया है।¹

जहां तक हमारे शोधग्रन्थ के आधार उत्तराध्ययनसूत्र का प्रश्न है, इसमें विश्व के मूलभूत घटकों के सम्बन्ध में पांच अस्तिकायों, षट्द्रव्यों एवं नवतत्त्वों का निर्देश मिलता है। फिर भी इसके मुख्य विवेच्य विषय षट्द्रव्य और नवतत्त्व रहे हैं, क्योंकि षट्द्रव्यों की अवधारणा में पंचास्तिकायों का भी समावेश है। अतः उत्तराध्ययनसूत्र में पांच अस्तिकायों का निर्देश होते हुए भी उनका विवेचन षट्द्रव्यों की अवधारणा के साथ ही किया गया है। पंचास्तिकाय की अवधारणा जैन तत्त्वमीमांसा की मौलिक एवं प्राचीन अवधारणा है और षट्द्रव्यों की अवधारणा का विकास उसी से हुआ है, अतः सर्वप्रथम हम उसी का विवेचन करेंगे।

४.१ पंचास्तिकाय की अवधारणा

'अस्तिकाय' शब्द जैनपरम्परा का पारिभाषिक एवं प्राचीन शब्द है। प्राचीन स्तर के आगम साहित्य में इसका प्रयोग प्रचुर मात्रा में किया गया है। यह

¹ 'तत्त्वं तत्र परमं द्रव्यसंज्ञय तत्रैव परमपरं ।

केनं भुवं परमं एयंनं भुति अभिहणा ॥'

- बृहदनयचक्र ४११ (उक्तं द्रव्यानुयोग, भाग १, भूमिका, पृष्ठ २६-३०. सागरमत जैन) ।

शब्द विश्व-व्यवस्था के सन्दर्भ में व्यवहृत हुआ है। ऋषिभाषित और भगवती में लोक को पंचास्तिकाय रूप कहा गया है।^२

उत्तराध्ययनसूत्र के अद्वावीसवें अध्ययन में अस्तिकायधर्म तथा छतीसवें अध्ययन में विभिन्न अस्तिकायों का विवेचन है।^३ इसके अतिरिक्त सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग आदि आगमों में भी 'अस्तिकाय' के उल्लेख प्राप्त होते हैं।^४

'अस्तिकाय' शब्द 'अस्ति' एवं 'काय' इन दो शब्दों के संयोजन से निष्पन्न हुआ है। स्थानांग एवं भगवती की वृत्ति में अस्तिकाय को निम्न दो प्रकार से व्याख्यायित किया गया है^५ -

(१) 'अस्ति' शब्द को निपातनात् सिद्ध मानकर उसे सत्ता का वाचक माना है। इसमें अस्ति का अर्थ जो 'थे', 'हैं' और 'होंगे' तथा 'काय' का अर्थ 'प्रदेशों का समूह' किया गया है, इस प्रकार त्रैकालिक अस्तित्ववान् प्रदेश-समूह अस्तिकाय है।

(२) 'अस्ति' का अर्थ 'प्रदेश' एवं 'काय' का अर्थ 'राशि' या 'समूह' किया गया है, इस प्रकार प्रदेशों की समूहरूप संरचना को अस्तिकाय कहा गया है।

सिद्धसेनगणि ने तत्त्वार्थभाष्य की टीका में अस्तिकाय शब्द की नवीन व्याख्या प्रस्तुत की है। उन्होंने 'अस्ति' का अर्थ 'ध्रौव्य' तथा 'काय' का अर्थ परिवर्तन है अस्तिकाय शब्द को उन्होंने उत्पाद एवं व्यय का वाचक माना है।^६ इस प्रकार 'अस्तिकाय' शब्द वस्तु की उत्पाद, व्यय एवं ध्रौव्यात्मकता को प्रकट करता है।

सामान्यतः प्रदेशप्रचयत्व को 'अस्तिकाय' कहा जाता है अर्थात् जिन तत्त्वों का लोक में विस्तार या प्रदेश प्रचयत्व होता है, वे अस्तिकाय कहलाते हैं।

अस्तिकाय शब्द का सामान्य अर्थ करने पर अस्ति शब्द सत्ता या अस्तित्व का एवं काय शब्द शरीर का वाचक प्रतीत होता है। इस प्रकार जो शरीर रूप से अस्तित्ववान् है वे अस्तिकाय हैं। ज्ञातव्य है कि यहां 'काय' शब्द एक

२ भगवती २/१०/१२४

- (अंगसुतापि, लाडनू, खण्ड १, पृष्ठ १११)।

३ (क) उत्तराध्ययनसूत्र - २८/२७;

(ख) उत्तराध्ययनसूत्र - २६/४।

४ (क) सूत्रकृतांग २/१/२७

- (अंगसुतापि लाडनू, खण्ड १, पृष्ठ ३५६);

(ख) स्थानांग ४/६६ एवं १००

- (अंगसुतापि लाडनू, खण्ड १, पृष्ठ ६०५);

(ग) समवायांग ५/१८

- (अंगसुतापि लाडनू, खण्ड १, पृष्ठ-८२३)।

५ देखिए पत्राचार (एम. ए. पूर्वार्ध, लाडनू)।

६ देखिए आर्हतीदृष्टि, पृष्ठ ६०

- समीचीन मंगलप्रश्ना।

विशिष्ट अर्थ का सूचक है। 'पंचास्तिकाय' की टीका में कहा गया है 'कायत्वमाख्ये सावयवत्वं अर्थात् अवयवयुक्त द्रव्य 'काय' है।'

अस्तिकाय के प्रसंग में 'कायत्व' का एक अर्थ विस्तारयुक्त होना भी है अर्थात् जो द्रव्य विस्तारवान हैं वे अस्तिकाय हैं तथा जो द्रव्य विस्तार रहित हैं वे अनस्तिकाय हैं। प्रस्तुत प्रसंग में विस्तार से तात्पर्य है कि जो द्रव्य अवयवी हैं वे अस्तिकाय हैं और जो द्रव्य निरवयवी हैं, वे अनस्तिकाय हैं।^१

अवयवी द्रव्य से तात्पर्य उन द्रव्यों से है, जिनमें स्कन्ध, देश और प्रदेश अर्थात् विभिन्न अंशों की कल्पना की जा सकती है। 'विस्तारवान द्रव्य अस्तिकाय है' यह परिभाषा धर्म, अधर्म, आकाश एवं परमाणु को छोड़कर अन्य पुद्गल द्रव्य में तो घट जाती है पर परमाणुरूप पुद्गल द्रव्य निरंश होने से यह परिभाषा वहां अव्याप्त है। पुद्गल के ही एक प्रकार परमाणु — पुद्गल में परिभाषा घटित न होने से अस्तिकाय की यह परिभाषा दूषित प्रतीत होती है क्योंकि निरवयव द्रव्य का विस्तार असंभव होने से परमाणु अस्तिकाय नहीं माना जायेगा। इसका समाधान यह है कि परमाणु भी स्कन्धरूप से परिणत होकर सावयवत्व को प्राप्त होता है। अतः उपचार से परमाणु को भी अस्तिकाय माना जा सकता है। यहां यह ज्ञातव्य है कि यह विस्तार दो प्रकार का होता है — (१) ऊर्ध्वप्रचय और (२) तिर्यक्प्रचय

जैनपरम्परा के अनुसार काल में मात्र ऊर्ध्वरेखीय विस्तार है, उसमें बहु आयामी विस्तार नहीं है। इसलिये उसे अनस्तिकाय माना गया है। जैनदार्शनिकों ने केवल उन्हीं द्रव्यों को अस्तिकाय कहा है जो बहुआयामी विस्तारवान हैं। सामान्य भाषा में यदि हम कहें तो जिसमें लम्बाई, चौड़ाई एवं मोटाई ये तीनों आयाम हों, वे बहुआयामी विस्तारवाले द्रव्य हैं और इन्हें ही अस्तिकाय द्रव्य कहा गया है। एक अन्य दृष्टि से जो द्रव्य स्कन्धरूप में परिणत होने की सामर्थ्य रखते हैं वे ही अस्तिकाय हैं। यहां यह ज्ञातव्य है कि जैनपरम्परा के अनुसार काल में स्कन्धरूप परिणत होने की सामर्थ्य नहीं है, उसका प्रत्येक कालाणु अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है, अतः उसे अस्तिकाय नहीं माना जा सकता है।

^१ पंचास्तिकाय, भाग ५ (टीका पृष्ठ २५)।

^२ 'द्रव्यानुषंगे' - भाग १, भूमिका, पृष्ठ ३३

इस प्रकार धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय एवं जीवास्तिकाय ये पांच अस्तिकाय कहलाते हैं। कालान्तर में इन्हीं पांच अस्तिकाय के साथ 'काल' को स्वतन्त्र द्रव्य के रूप में स्वीकार कर लेने पर षट्द्रव्य की अवधारणा विकसित हुई। षट्द्रव्य के अन्तर्गत पांच अस्तिकायों का समावेश हो जाता है, अतः हम यहां पंचास्तिकाय की विवेचना न करके षट्द्रव्य की विवेचना करेंगे।

4.2 षट्द्रव्यों की अवधारणा

उत्तराध्ययनसूत्र में तत्त्वमीमांसा के अन्तर्गत मुख्यतः षट्द्रव्यों एवं नवतत्त्वों का विवेचन किया गया है। यद्यपि उसमें पंचास्तिकाय का उल्लेख हुआ है, किन्तु उन अस्तिकायों की विवेचना षट्द्रव्यों की अवधारणा के अन्तर्गत की गई है। जैसा कि पूर्व में उल्लिखित है कि पंचास्तिकाय की अवधारणा में काल को स्वतन्त्र द्रव्य मानकर षट्द्रव्य की अवधारणा विकसित हुई। उत्तराध्ययनसूत्र स्पष्टतः काल को स्वतन्त्र द्रव्य मानकर चलता है, अतः इसमें पंचास्तिकाय के स्थान पर षट्द्रव्य की अवधारणा प्रमुख रही है।

जैनदर्शन में काल की स्वतन्त्र द्रव्य के रूप में स्वीकृति तत्त्वार्थभाष्य के समय अर्थात् लगभग तीसरी शती तक विवादास्पद रही है और यह विवाद विशेषावश्यकभाष्य के काल (सातवीं शती) तक भी प्रचलित रहा है। प्रारम्भ में काल को जीव एवं अजीव की पर्याय मात्र माना जाता था। कालान्तर में उसे स्वतन्त्र द्रव्य के रूप में स्वीकार कर लिया गया। इस प्रकार षट्द्रव्यों की अवधारणा अस्तित्व में आई। कुछ विद्वानों के अनुसार जैनदर्शन में पंचास्तिकाय की अवधारणा के स्थान पर षट्द्रव्यों की अवधारणा के विकास में भारतीय दर्शन की अन्य परम्पराओं का प्रभाव भी देखा जाता है।

षट्द्रव्यों की चर्चा करने से पूर्व यह विचार कर लेना आवश्यक है कि विश्व के मूलभूत घटकों के सम्बन्ध में भारतीय और पाश्चात्य

विचारकों की अवधारणा क्या है और जैनदर्शन की षट्द्रव्य की अवधारणा किससे कितना सामीप्य रखती है ।

4.3 विविध दर्शनों में द्रव्य की अवधारणा

वेदान्तदर्शन

वेदान्तदर्शन के अनुसार इस विश्व में जो कुछ है, वह एकमेव अद्वितीय ब्रह्म ही है तथा वह सत् एवं कूटस्थ नित्य है। इन दार्शनिकों का उद्घोष है 'एकं सत् विप्रा बंधुधा वदन्ति' अर्थात् सत् (परमतत्त्व) एक है, किन्तु विप्र (विद्वान्) उसे अनेक रूपों से कहते हैं। अतः वे एकमात्र ब्रह्म को ही सृष्टि के मूल घटक के रूप में स्वीकार करते हैं (सर्वं खलु इदम् ब्रह्म)। उनके अनुसार जगत एक प्रतीति मात्र है, किन्तु उसका अधिष्ठान ब्रह्म ही है।

बौद्धदर्शन

बौद्धदर्शन के अनुसार विश्व के मूल घटक एक नहीं अनेक हैं, वे क्षणिक हैं तथा उत्पाद व्यय धर्मात्मक हैं। उनकी दृष्टि में जगत एक प्रवाह या धारा है जिसमें सभी कुछ क्षणिक एवं परिवर्तनशील है। अतः बौद्ध परम्परा के अनुसार द्रव्य अनित्य है। वे अर्थक्रियाकारित्व या सन्तति के आधार पर विश्व की व्याख्या करते हैं।

न्याय-वैशेषिक दर्शन

न्याय-वैशेषिकदर्शन बहुतत्त्ववादी दर्शन है, इसमें विश्व के मूलभूत घटक के लिए 'द्रव्य' शब्द का प्रयोग किया है। वैशेषिकदर्शन के अनुसार द्रव्य वह है जो गुण तथा कर्म का आश्रय एवं उसका समवायी कारण हो। इसमें नौ द्रव्यों की स्वतन्त्र सत्ता मानी गयी है। जिसमें पृथ्वी, जल, तेज एवं वायु को अनित्य द्रव्य और आकाश, दिक्, आत्मा, मन एवं काल को नित्य द्रव्य माना है। इन नौ द्रव्यों का समावेश जैनदर्शन द्वारा मान्य षट्द्रव्यों के अन्तर्गत हो जाता है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आत्मा और मन जीवास्तिकाय या जीव के ही विभिन्न प्रकार हैं। यदि पृथ्वी, जल, तेज और वायु को अजीवतत्त्व माना जाय तो पुद्गल के अन्तर्गत तथा जीव

माना जाय तो ये जीवतत्त्व के अन्तर्गत समाविष्ट होंगे। दिक् और आकाश दोनों आकाश - रूप हैं तथा काल स्वतन्त्र द्रव्य है ही।

मीमांसादर्शन

मीमांसादर्शन द्रव्य को गुण एवं कर्म के आधार के रूप में स्वीकार करता है। कुमारिलभट्ट के अनुसार जिसमें क्रिया और गुण हो वह द्रव्य है। इस प्रकार स्वरूपतः मीमांसा दर्शन का द्रव्य जैनदर्शन से सामीप्य रखता है।

सारंध्यदर्शन

यह द्वैतवादी दर्शन है। इसके अनुसार मूलतत्त्व दो हैं - (१) प्रकृति और (२) पुरुष। इनसे उत्पन्न तत्त्व बुद्धि, अहंकार, पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां, पंचतन्मात्रा और पंचमहाभूत हैं। पुरुष शुद्ध चैतन्यरूप है। जो देशकाल आदि बन्धनों से मुक्त है; वह निर्गुण, निष्क्रिय एवं कूटस्थनित्य है। केवल द्रष्टा एवं भोक्ता है, कर्ता नहीं। प्रकृति जड़तत्त्व है, यह परिणामीनित्य है। समग्र दृश्यजगत् इस प्रकृति का ही परिणाम है, प्रकृति एवं पुरुष का संयोग सृष्टि है तथा प्रकृति और पुरुष का परस्पर वियोग मोक्ष है। इस प्रकार सारंध्यदर्शन में मूल दो तत्त्व तथा इन्हीं के विस्तार रूप पच्चीस तत्त्व माने गये हैं।

अरस्तू

यूनानी दार्शनिक अरस्तू विश्व के मूलभूत तत्त्वों के रूप में 'द्रव्य' एवं 'आकार' को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार जगत् इन दो तत्त्वों का ही विस्तार है, जैसे मेज का द्रव्य लकड़ी तथा स्वरूप मेज की आकृति है। इस प्रकार अरस्तू के अनुसार द्रव्य सभी वस्तुओं का मूल कारण है; अतः वह सबका आश्रय या अधिष्ठान है।

देकार्त

देकार्त द्वैतवादी दार्शनिक हैं। इनके अनुसार द्रव्य वह है, जिसकी स्वतन्त्र सत्ता है। देकार्त सापेक्ष एवं निरपेक्ष ऐसे दो द्रव्यों को स्वीकार करते हैं। ईश्वर निरपेक्ष द्रव्य है तथा चित्त और अचित्त सापेक्षद्रव्य हैं। चित्त एवं अचित्त द्रव्य परस्पर निरपेक्ष हैं पर ये दोनों ईश्वर पर आश्रित होने से सापेक्ष हैं।

स्पिनोजा

स्पिनोजा ईश्वर को एकमात्र परमद्रव्य मानते हैं। ये अद्वैतवादी दार्शनिक कहलाते हैं। इनके अनुसार द्रव्य स्वतन्त्र, निरपेक्ष, अद्वितीय, अपरिच्छिन्न तथा अपरिमित है। इसी प्रकार द्रव्य स्वतः सिद्ध है अर्थात् द्रव्य स्वयं अपना प्रमाण है, स्वसंवेद्य है। द्रव्य का यह स्वरूप स्पिनोजा के परमद्रव्य ईश्वर पर घटित होता है।

लाइबनिट्स

लाइबनिट्स के शब्दों में द्रव्य वह है जो स्वतन्त्र क्रियाशक्ति से सम्पन्न हो। वे द्रव्य की स्वतन्त्र सत्ता की अपेक्षा उसकी स्वतन्त्र क्रियाशक्ति पर विश्वास करते हैं। इस प्रकार लाइबनिट्स का द्रव्य शक्ति सम्पन्न सक्रिय एवं परिणामी है। इनके अनुसार चिदणु विश्व की अन्तिम अविभाज्य इकाई है।

लॉक

लॉक के अनुसार गुणों का आश्रय या आधार 'द्रव्य' कहलाता है। लॉक की यह परिभाषा उत्तराध्ययनसूत्र की द्रव्य की परिभाषा से समानता रखती है। द्रव्य के विषय में दार्शनिक लॉक की मान्यता है कि द्रव्य अज्ञेय है। वह गुणों के समान इन्द्रियानुभूति या प्रत्यक्ष का विषय नहीं है। अतः उसकी सत्ता अज्ञेय है।

द्रव्य सम्बन्धी इन विभिन्न दार्शनिक अवधारणाओं में जो अवधारणा जैनदर्शन के अधिक निकट है, वह न्यायवैशेषिकदर्शन की द्रव्य सम्बन्धी अवधारणा

है। यही कारण है कि कुछ विद्वान यह भी स्वीकार करते हैं कि जैनदर्शन में जो द्रव्य की अवधारणा का विकास हुआ है, वह न्यायवैशेषिकदर्शन से प्रभावित है। इस सम्बन्ध में हम अपनी ओर से कुछ निर्णय देने की अपेक्षा यही उचित समझते हैं कि सर्वप्रथम जैनदर्शन में द्रव्य सम्बन्धी जो विभिन्न परिभाषायें दी गई हैं उन पर सम्यक् एवं तुलनात्मक दृष्टि से विचार कर लिया जाये। क्योंकि इससे यथार्थ स्थिति स्वतः ही स्पष्ट हो जायेगी कि द्रव्य सम्बन्धी अवधारणा में कहां तक उसका अन्य दर्शनों से सामीप्य है और कहां उसका अपना मौलिक चिन्तन है।

4.4 जैनदर्शन में द्रव्य की अवधारणा

जैन साहित्य में 'द्रव्य' शब्द का प्रयोग अनेक सन्दर्भों में किया गया है। उदाहरणार्थ द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव आदि अनुयोगद्वारों या अपेक्षाओं के सन्दर्भ में; नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव आदि निक्षेपों के सन्दर्भ में; द्रव्यकर्म तथा भावकर्म के रूप में; कर्म-सिद्धान्त के सन्दर्भ में तथा द्रव्यार्थिक नय के रूप में ज्ञानमीमांसा के क्षेत्र में 'द्रव्य' शब्द का प्रयोग मिलता है। किन्तु प्रस्तुत प्रसंग में 'द्रव्य' शब्द की जो चर्चा अभिप्रेत है, वह विश्व के मूलभूत घटक के रूप में है।

उत्तराख्ययनसूत्र में द्रव्य शब्द का प्रयोग अनेक स्थलों पर किया गया है इसमें प्रयुक्त द्रव्य शब्द मुख्यतः मूलभूत घटक का ही वाचक है।

जैन साहित्य में प्राप्त 'द्रव्य' की परिभाषा को निम्न बिन्दुओं के माध्यम से व्याख्यायित किया जा सकता है -

(१) गुणआश्रयरूप द्रव्य

उत्तराख्ययनसूत्र में कहा गया है 'गुणानां आसवो द्रव्यो' अर्थात् गुणों का जो आश्रयस्थल है, वही द्रव्य है।^१ विश्व के मूलघटक के रूप में यह द्रव्य की प्राचीन परिभाषा है। यह परिभाषा वैशेषिकदर्शन से कथंचित् साम्य रखती है तथा द्रव्य और गुण में कथंचित् भेद का प्रतिपादन करती है।

१ उत्तराख्ययनसूत्र - २८/६।

(२) गुणसमुदायरूप द्रव्य

द्रव्य की एक परिभाषा 'गुणानां समुहो द्रव्यो' के रूप में की गई है। इसमें गुणों के समुदाय को द्रव्य कहा गया है। जैसे— मूल, स्कन्ध, शाखा और प्रशाखा आदि का समूह ही वृक्ष है, उसी प्रकार अस्तित्व, परिणामित्व, वस्तुत्व, ज्ञेयत्व आदि सामान्य गुणों तथा चेतना, गतिहेतुत्व आदि विशिष्ट गुणों का समूह ही द्रव्य है। यह परिभाषा आचार्य पूज्यपाद कृत 'तत्त्वार्थसूत्र' की 'सर्वार्थसिद्धि' टीका में उद्धृत है।¹⁰ डॉ. सागरमल जैन के अनुसार यह परिभाषा सम्भवतः किसी लुप्त या अनुपलब्ध आगम ग्रन्थ से यहाँ उद्धृत की गई है।

(३) गुणपर्यायवद् द्रव्य

उत्तराध्ययनसूत्र में द्रव्य को गुणों का आश्रय कहा गया है। किन्तु परवर्ती काल में आचार्य उमास्वाति ने 'गुणपर्यायवद् द्रव्यं' कहकर जैनदर्शन द्वारा मान्य भेदाभेदवाद को पुष्ट किया है।¹¹ इस परिभाषा में प्रयुक्त 'वत्' पद जहाँ द्रव्य, गुण एवं पर्याय में अभेद का प्रतिपादन करता है वहीं इसमें प्रयुक्त द्रव्य, गुण एवं पर्याय की भिन्न-भिन्न संज्ञा इनमें भिन्नता का प्रदर्शन करती है।

(४) सत् स्वरूपमय द्रव्य

आचार्य उमास्वाति ने द्रव्य के गुण पर्यायवत् लक्षण के साथ ही 'सत्' को भी द्रव्य का लक्षण माना है। इससे फलित होता है कि सत् या अस्तित्व ही द्रव्य का प्रमुख लक्षण है, इस परिभाषा में किया गया द्रव्य का लक्षण द्रव्य की कूटस्थ नित्यता या अपरिवर्तनशील अस्तित्व का ही द्योतक नहीं है क्योंकि सत् का लक्षण करते हुए आचार्य उमास्वाति ने कहा है— 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' अर्थात् 'सत्' उत्पाद व्यय के साथ-साथ ध्रौव्यात्मक भी है।¹² इस परिभाषा से 'सत्' को परिणामी नित्य माना गया है, जिसके कारण इसमें एकान्त नित्यवाद और

१० तत्त्वार्थसूत्र - ५/३८

११ तत्त्वार्थसूत्र - ५/३७ ।

१२ तत्त्वार्थसूत्र - ५/२६ ।

- (सर्वार्थसिद्धि टीका) ।

एकान्त अनित्यवाद दोनों का किंचित् भी अवकाश नहीं है। यह परिभाषा समन्वयात्मक दृष्टिकोण की परिचायक है; क्योंकि जहां वेदान्तदर्शन 'सत्' को कूटस्थनित्य तथा बौद्धदर्शन 'पदार्थ' को क्षणिक या अनित्य मानता है, न्यायवैशेषिक तथा सारव्यदर्शन कुछ तत्त्वों को नित्य तथा कुछ को अनित्य मानते हैं; वहीं आचार्य उमास्वाति द्वारा कृत 'सत्' की परिभाषा प्रत्येक द्रव्य में नित्यत्व एवं अनित्यत्व दोनों पक्षों को स्वीकार करती है।

विशेषावश्यकभाष्य' में 'द्रव्य' को अनेक रूप से व्याख्यायित किया गया है^{१३} -

- (१) जो पर्यायों को प्राप्त करता है;
- (२) जो पर्यायों का आधार है;
- (३) जो सत्ता का अवयव है;
- (४) जो सत्ता का विकार है;
- (५) जो गुणों का समुदाय है और
- (६) जिसमें भूत एवं भविष्यकालीन पर्यायों को प्राप्त करने की योग्यता है।

आचार्य हेमचन्द्र ने 'प्रमाणमीमांसा' की स्वोपज्ञवृत्ति में विभिन्न पर्यायों को प्राप्त होने वाले ध्रौव्यस्वभावी 'तत्त्व' को 'द्रव्य' कहा है।^{१४}

आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार जो अपरित्यक्त स्वभाव वाला है, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से युक्त तथा गुण पर्याय सहित है, वह 'द्रव्य' है।^{१५}

डॉ. सागरमल जैन के अनुसार 'विश्व के मूलभूत घटक जो अपने अस्तित्व के लिए किसी अन्य घटक पर आश्रित नहीं हैं तथा जो कभी भी अपने स्व-स्वरूप का परित्याग नहीं करते, वे 'सत्' या 'द्रव्य' कहलाते हैं।^{१६}

उपर्युक्त परिभाषाओं के परिप्रेक्ष्य में 'द्रव्य' का निम्न स्वरूप निर्धारित होता है - १. जो 'द्रव्य' गुणपर्याय से युक्त होता है। २. उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक है। ३. निराश्रित या स्वतन्त्र है। ४. विश्व का मूलभूत घटक है तथा ५. विभिन्न अवस्थाओं को प्राप्त करने पर भी अपने मूलस्वरूप का परित्याग नहीं करता है। वस्तुतः 'द्रव्य' को गुणपर्याय से युक्त कहना अथवा उत्पादव्यय ध्रौव्यात्मक कहना एक ही बात है; क्योंकि प्रत्येक द्रव्य के दो पक्ष होते हैं - १. नित्य (ध्रौव्य पक्ष) तथा

१३ विशेषावश्यक भाष्य भाषा २८।

१४ प्रमाणमीमांसा - स्वोपज्ञवृत्ति १/१/३०

१५ प्रवचनसार भाषा ६५ एवं ६६।

१६ 'द्रव्यानुयोग', भाग १, भूमिका, पृष्ठ २५

- (उद्धृत द्रव्यानुयोग, भाग १, पृष्ठ ५)।

- डॉ. सागरमल जैन।

२. अनित्य (उत्पाद-व्ययात्मक) पक्ष। द्रव्य के ये नित्य एवं अनित्य पक्ष ही गुण एवं पर्याय कहलाते हैं। नित्यपक्ष 'गुण' है और अनित्य पक्ष 'पर्याय' है।

इस प्रकार द्रव्य का स्वरूप नित्यानित्यधर्मा हुआ। स्वभाविक रूप से यह प्रश्न उठता है कि जो नित्य है वह अनित्य कैसे ? दो विरोधी धर्मों का एक साथ होना आखिर कैसे सम्भव है? इसके निराकरण हेतु आचार्य उमास्वाति द्वारा की गई 'नित्य' की व्याख्या विचारणीय है। उनके अनुसार जो अपने स्वभाव (जाति) से ध्युत या विलग न हो वह 'नित्य' है।" सभी 'द्रव्य' अपनी जाति में स्थित रहते हुए भी निमित्त के अनुसार परिवर्तन को प्राप्त होते हैं। दूसरे शब्दों में द्रव्य में परिणामन होता है फिर भी उसकी स्वरूप हानि नहीं होती। जैसे एक मृत्तिकापिण्ड पिण्डाकार को छोड़कर घट के आकार में परिवर्तित होता है पर मिट्टी का अस्तित्व दोनों अवस्था में सुरक्षित रहता है। यहां मिट्टी में उत्पाद (परिवर्तन) घट पर्याय की अपेक्षा से है, व्यय (विनाश) मृत्तिकापिण्ड की अपेक्षा से है और ध्रुवता दोनों में निहित मिट्टी की अपेक्षा से है अर्थात् प्रत्येक द्रव्य में परिवर्तन के साथ स्थिरता (Permanance with a change) है। यही जैनदर्शन का परिणामीनित्यवाद है, परिणामीनित्य में परिणाम का अर्थ अवस्थान्तर को प्राप्त होना है न कि अर्थान्तर को। अतः अवस्थान्तर को प्राप्त होने वाला नित्य परिणामीनित्य है। क्योंकि पर्याय या अवस्थाएँ ध्रुव अंश में ही उत्पन्न एवं नष्ट होती हैं। ध्रौव्य पक्ष के बिना पूर्ववर्ती एवं परवर्ती अवस्थाओं में कोई सम्बन्ध नहीं रह सकता है। इसी प्रकार ध्रौव्य के अभाव में यह प्रश्न, प्रश्न ही बना रहेगा कि आखिर किसका पर्याय परिवर्तन होता है या कौन परिवर्तित होता है ?

आज विज्ञान भी इस बात को स्वीकार करता है कि ऊर्जा की कुल राशि अचल (Constant) है अर्थात् विश्व में द्रव्य का परिमाण सदा समान रहता है। उसमें किंचित भी न्यूनाधिकता नहीं होती। यह व्यवहारिक जगत का अनुभूत सत्य है कि किसी विद्यमान सत्ता (द्रव्य) का सर्वथा नाश नहीं होता और न ही किसी नवीन सत्ता (द्रव्य) की उत्पत्ति होती है। दृश्य-जगत में अनुभूत 'उत्पाद-विनाश' रूपान्तरण मात्र है जैसे कोयला जलकर राख, कार्बनडाईआक्साइड के रूप में परिणत हो जाता है। इसी प्रकार बर्फ, जल के रूप में और जल बर्फ के रूप में परिवर्तित होता रहता है, पर मूल तत्त्व सदैव सुरक्षित रहता है।

वस्तुतः इन परिवर्तनों से गुजरते हुए अपने मूल स्वरूप या गुण को नहीं खोना ही द्रव्य का मूलभूत लक्षण है। द्रव्य शब्द की व्युत्पत्तिमूलक व्याख्या हमें बताती है (द्रवति इति द्रव्य)। 'अद्रुवत्, द्रवति, द्रोष्यति तांस्तान् पर्यायान् इति द्रव्यम्' अर्थात् जो भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को प्राप्त हुआ, हो रहा है और होगा वह द्रव्य है।

द्रव्य के दो मूलभूत घटक हैं— गुण और पर्याय आगे हम उत्तराध्ययनसूत्र के परिप्रेक्ष्य में इन पर चर्चा करेंगे।

४.५ गुण एवं पर्याय का स्वरूप

उत्तराध्ययनसूत्र में द्रव्य के दो प्रकार के स्वरूप प्रतिपादित किये गए हैं— गुण एवं पर्याय द्रव्य का नित्य या अपरिवर्तित धर्म गुण तथा परिवर्तित या अनित्य धर्म पर्याय कहलाता है।

गुण को परिभाषित करते हुए उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि जो द्रव्य के आश्रित रहते हैं वे 'गुण' हैं।^{१८} गुण की यह परिभाषा गुण के स्वलक्षण को सूचित नहीं करके मात्र उसकी द्रव्य सापेक्षता को बताती है। इससे यह ज्ञात होता है कि गुणों के गुण नहीं होते, इनकी पहचान द्रव्य (गुणी) के द्वारा ही होती है। परवर्तीकाल में आचार्य उमास्वाति ने भी गुण की परिभाषा देते हुए कहा है कि जो द्रव्य के आश्रित हों, परन्तु स्वयं निर्गुण हों वे गुण कहलाते हैं।^{१९} गुणों को निर्गुण नहीं मानने पर गुणों के गुण और फिर उनके गुण मानने पड़ेंगे इस प्रकार अनवस्था दोष उत्पन्न होगा।

वैशेषिकदर्शन में भी गुण को द्रव्याश्रित एवं निर्गुण माना गया है,^{२०} किन्तु उसमें द्रव्य एवं गुण का आश्रय आश्रयी भाव भेदपरक है। जबकि जैनदर्शन में द्रव्य एवं गुण का आश्रय आश्रयीभाव अभेदपरक है, जो द्रव्य एवं गुण में अन्वय व्यतिरेक रूप व्याप्ति का द्योतक है और पर्याय विशेष का आश्रय-आश्रयी भाव भेदपरक है, क्योंकि पर्यायविशेष द्रव्य में कभी होती है और कभी नहीं होती। किन्तु जिस द्रव्य का जो गुण या स्वलक्षण होता है वह उसमें नित्य सम्बन्ध से रहता है,

१८ 'गुणानां आसन्नो द्रव्यो'

- उत्तराध्ययनसूत्र २८/६।

१९ 'द्रव्याश्रय निर्गुणा गुणाः'

- तत्त्वार्थसूत्र ५/५०।

२० तर्कसंग्रह न्यायबोधिनी टीका पृष्ठ ५।

यह द्रव्य की विभिन्न पर्यायों में भी बना रहता है जैसे आत्मा का चेतना गुण नरक, तिर्य्य, मनुष्य, देव आदि सभी पर्यायों में बना रहता है।

आचार्य वादिदेवसूरि के अनुसार द्रव्य का सहभावी धर्म गुण कहलाता है। यहां सहभावी धर्म भी नित्य सम्बन्ध का ही परिचायक है। सदा साथ रहने वाला धर्म सहभावी धर्म है।^{२१}

उपर्युक्त सभी परिभाषाओं का समन्वय डॉ. सागरमल जैन ने निम्न परिभाषा में किया है -- 'द्रव्य का जो अविनाशी लक्षण है अथवा द्रव्य जिसका परित्याग नहीं कर सकता है, वही गुण है।'^{२२}

इस प्रकार जो द्रव्य के साथ अविच्छिन्न रूप से सतत सहभावी होकर रहे वह गुण कहलाता है।

गुण के प्रकार

गुण दो प्रकार के होते हैं -- (१) सामान्य और (२) विशेष

(१) सामान्य गुण

सभी द्रव्यों में सामान्य रूप से पाये जाने वाले गुण सामान्यगुण कहलाते हैं। ये द्रव्य 'सामान्य में अनिवार्यतः पाये जाते हैं अर्थात् किसी भी द्रव्य में इनका अभाव नहीं होता है। आगमों में निम्न छः प्रकार के सामान्यगुण प्रतिपादित किए गये हैं --

- | | | |
|---------------|------------------|-------------------|
| (१) अस्तित्व | (२) वस्तुत्व | (३) द्रव्यत्व |
| (४) प्रमेयत्व | (५) प्रदेशत्व और | (६) अगुरुलघुत्व । |

जिस गुण के कारण द्रव्य का कभी विनाश नहीं होता, वह अस्तित्व गुण कहलाता है। द्रव्य का किसी न किसी प्रकार की क्रिया करते रहना 'वस्तुत्व' गुण है अथवा अन्य अनेक पदार्थों से प्रभावित होने पर भी द्रव्य 'अपनेपन' का त्याग नहीं करता है वह उसका 'वस्तुत्व' गुण है। 'द्रव्यत्व' गुण वह है जिसके कारण द्रव्य गुण और पर्यायों को धारण करता है या द्रव्य का अवस्थान्तर में परिवर्तित होते रहना 'द्रव्यत्व' गुण है। यथार्थज्ञान का विषय प्रमेय कहलाता है अर्थात् जिस गुण के कारण द्रव्य ज्ञान द्वारा जाना जाता है, वह 'प्रमेयत्व' गुण है। जिस गुण के माध्यम

२१ 'गुणः सहभावी, धर्मो यथा-आत्मनि विज्ञानव्यक्ति शक्त्यादयः' - प्रमाणनयतत्त्वालोक ५/७ ।

२२ 'द्रव्यानुयोग' भाग १, भूमिक १४ ३८

- डॉ. सागरमल जैन ।

से विस्तरित या स्कन्धरूप द्रव्य अंशों में विभाजित किया जा सके, वह 'प्रदेशत्व' गुण है। जिस गुण के कारण द्रव्य में हलकेपन या भारीपन का अभाव होता है, वह 'अगुरुलघुत्व' है। अगुरुलघुत्व गुण पुद्गलास्तिकाय के सन्दर्भ में केवल परमाणु में घटित होता है स्कन्ध में नहीं।

इस प्रकार ये छः सामान्य गुण प्रत्येक द्रव्य में अन्तर्निहित होते हैं।

(2) विशेष गुण

द्रव्य के वे गुण जो सब द्रव्यों में समान रूप से प्राप्त नहीं होते हैं विशेष गुण कहलाते हैं। दूसरे शब्दों में वे विशेषतायें या लक्षण जिनके आधार पर एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य से पृथक् किया या समझा जा सकता है तथा दार्शनिक भाषा में द्रव्य में रहने वाला व्यावर्तकधर्म विशेष गुण कहलाते हैं — विशेष गुण प्रत्येक द्रव्य के अपने भिन्न-भिन्न हैं जिनकी विस्तृत चर्चा यहां स्वतन्त्र रूप से न करते हुए षड्द्रव्यों के विवेचनान्तर्गत करेंगे। यहां संक्षेप में उनके नाम प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

द्रव्य	विशेष गुण
जीव	उपयोग (ज्ञान-दर्शन)
पुद्गल	स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द
धर्म	गतिहेतुत्व
अधर्म	स्थितिहेतुत्व
आकाश	अवगाहनहेतुत्व
काल	वर्तनाहेतुत्व

इनके अतिरिक्त मूर्तत्व, अमूर्तत्व, चेतनत्व एवं अचेतनत्व आदि गुणों को सामान्य-विशेषात्मक माना गया है। वस्तुतः अपेक्षा भेद से ही इन्हें सामान्य एवं विशेषात्मक माना जा सकता है। जैसे चेतना को जीवों का सामान्य गुण माना जा सकता है क्योंकि वह व्यावर्तकधर्म से रहित है। इसे विशेष गुण भी कहा जा सकता है, क्योंकि यह सब द्रव्यों में समान रूप से नहीं पाया जाता है। मूर्तत्व एवं अमूर्तत्व तथा चेतनत्व एवं अचेतनत्व ये परस्पर विरोधी धर्म हैं। इन दोनों युग्मों में से एक-एक धर्म ही मिलेगा। अतः प्रत्येक द्रव्य में आठ ही सामान्य गुण पाये जा सकते हैं। दस नहीं।

अब हम अग्रिम-क्रम में द्रव्य के एक अन्य पहलू पर्याय का विवेचन करेंगे।

पर्याय

पर्याय जैनदर्शन का विशिष्ट शब्द है। गुण की तरह पर्याय भी द्रव्य का धर्म है। गुण निरन्तर द्रव्य के साथ रहता है, पर्याय बदलती रहती है। इस प्रकार द्रव्य का परिवर्तित धर्म पर्याय है; दूसरे शब्दों में द्रव्य में होने वाले विभिन्न परिवर्तन ही पर्याय हैं।

पर्याय को परिभाषित करते हुए उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि जो द्रव्य एवं गुण दोनों के आश्रित रहे वह पर्याय कहलाती है।²³

उत्तराध्ययनसूत्र सूत्र के टीकाकार शान्त्याचार्य के अनुसार 'जो समस्त द्रव्यों एवं समस्त गुणों में व्याप्त होती है वह पर्याय (पर्यव) कहलाती है।'²⁴

पर्याय के स्वरूप को अधिक स्पष्ट करते हुए न्यायालोक की 'तत्त्वप्रभावृत्ति' में कहा गया है 'जो उत्पन्न होती है, विपत्ति अर्थात् विनाश को प्राप्त होती है अथवा जो समग्र द्रव्यों में व्याप्त रहती है वह पर्याय या पर्यव है।'²⁵

आचार्य उमास्वाति ने पर्याय के लिए परिणाम शब्द का प्रयोग किया है। द्रव्य अपने मूलस्वभाव का त्याग किये बिना प्रति समय भिन्न-भिन्न अवस्था को प्राप्त होते रहते हैं। द्रव्यों के ये परिवर्तनशील परिणाम पर्याय कहलाते हैं।²⁶

इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य प्रति क्षण अवस्थान्तर या नूतन अवस्था को प्राप्त होता रहता है। द्रव्य की इस अवस्था को ही पर्याय कहा जाता है।

पर्याय के प्रकार

जहां तक पर्याय के प्रकारों की चर्चा का प्रश्न है उत्तराध्ययनसूत्र मूल एवं उसकी टीकाओं में हमें इनका कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता है।

आगमसाहित्य में प्रज्ञापनासूत्र के पर्यायपद में जीवपर्याय और अजीवपर्याय, ऐसे पर्याय के दो भेदों की चर्चा की गई है।²⁷ साथ ही इसमें जीवपर्याय एवं अजीवपर्याय की अनेक सम्भावित पर्यायों की भी विस्तार से विवेचना की गई है।

२३ 'तत्त्वज्ञानं पञ्चवाचं तु उपाजो अस्मिन् भवे ॥' - उत्तराध्ययनसूत्र २८/६।

२४ 'परि सर्वतः द्रव्येषु गुणेषु सर्वेष्वन्ति गच्छन्तीति पर्यवा' - उत्तराध्ययनसूत्र टीका (शान्त्याचार्य) पत्र ५५०।

२५ न्यायालोक - तत्त्वप्रभावृत्ति पत्र २०३ - (उद्धृत - उत्तराध्ययनसूत्र, भाग २, पृष्ठ १४६, युवाचार्य महारप्रभ)।

२६ 'तद्भावः परिणामः' - तत्त्वार्थसूत्र ५/४१।

२७ प्रज्ञापना ५/१ - (उद्वेगसूत्राणि, लाडनं, खण्ड २, पृष्ठ ११२)।

वस्तुतः जीवद्रव्य और अजीवद्रव्य जिन-जिन अवस्थाओं को प्राप्त होते हैं या जिन जिन पर्यायों में अवस्थित होते हैं वे सब आगमिक दृष्टि से पर्याय मानी गई हैं।

दार्शनिक दृष्टि से सर्वप्रथम आचार्य सिद्धसेन दिवाकर के 'सन्मत्तितर्क' में पर्याय के भेदों की चर्चा मिलती है। उन्होंने पर्याय के दो भेदों- अर्थपर्याय एवं व्यंजनपर्याय, की व्याख्या विस्तार से की है।²⁰ यहां ज्ञातव्य है कि आगम में पर्याय की जिस रूप में चर्चा उपलब्ध होती है, वह मुख्यतः व्यंजनपर्याय की अपेक्षा से ही है।

अर्थपर्याय वर्तमान कालवर्ती पर्याय है, जबकि व्यंजनपर्याय द्रव्य की त्रिकालवर्ती पर्याय की परिचायक है। दूसरे शब्दों में एक समयवर्ती पर्याय को अर्थ पर्याय एवं अनेक समयवर्ती पर्याय को व्यंजनपर्याय कहा जा सकता है। यहां यह भी ज्ञातव्य है कि जहां व्यंजनपर्याय शब्दसापेक्ष है, वह उसकी शब्दवाच्यता का विषय है वहां अर्थपर्याय शब्दनिरपेक्ष होती है, क्योंकि यह मात्र एक समयवर्ती होती है। अतः इसे शब्द के द्वारा वाच्य नहीं बनाया जा सकता है। पुनः व्यंजनपर्याय प्रवाहरूप या सन्ततिरूप होती है जबकि अर्थपर्याय सामयिक होती है। व्यंजनपर्याय में भेद सम्भव है - जैसे पुरुषरूप व्यंजन पर्याय में बाल, यौवन, वृद्धत्व आदि अवांतर व्यंजनपर्यायें मानी जा सकती हैं; पर अर्थपर्याय में इस प्रकार का भेद सम्भव नहीं है क्योंकि वह मात्र वर्तमान समयवर्ती होती है। संक्षेपतः व्यंजनपर्याय में विकल्प सम्भव है। अर्थपर्याय में विकल्प सम्भव नहीं है। व्यंजनपर्याय स्थूल एवं अर्थपर्याय सूक्ष्म होती है।

इसी प्रकार पर्यायों के ऊर्ध्वपर्याय, तिर्यक्पर्याय ऐसे भी भेद किये जाते हैं। इनमें ऊर्ध्वपर्याय, अर्थपर्याय की एवं तिर्यक्पर्याय व्यंजनपर्याय की द्योतक है। इन्हें उदाहरण के रूप में इस प्रकार समझा जा सकता है - भूत, भविष्य और वर्तमान के अनेक मनुष्यों की अपेक्षा से मनुष्य की जो अनन्तपर्यायें होती हैं वे तिर्यक् या व्यंजनपर्याय कही जाती हैं तथा एक ही मनुष्य के प्रतिक्षण होने वाले परिणमन को ऊर्ध्व या अर्थपर्याय कहा जाता है।

पर्यायों का एक वर्गीकरण स्वभाव और विभाव की अपेक्षा से भी किये जाता है। वस्तुतः द्रव्य का विशिष्ट गुण जो पर-निमित्त के अभाव में स्वतः

परिवर्तित होता रहता है; स्वभावपर्याय है। इसके विपरीत पर के निमित्त से जो अवस्थान्तर होता है; वह विभावपर्याय है।

जहां तक उत्तराध्ययनसूत्र का प्रश्न है, उसमें यद्यपि पर्याय के इन भेदों की कोई चर्चा नहीं है; फिर भी उसमें एकत्व, पृथक्त्व, संख्या, संस्थान, संयोग और विभाग आदि को पर्याय का लक्षण माना गया है। ये सभी कल्पनायें पर्याय के प्रकार के आधार पर ही सम्भव हैं।^{२९} आगे हम द्रव्य, गुण एवं पर्याय के पारस्परिक सम्बन्धों की विवेचना करेंगे।

4.6 द्रव्य, गुण और पर्याय का पारस्परिक सम्बन्ध

द्रव्य, गुण और पर्याय के उपर्युक्त विवेचन के परिप्रेक्ष्य में कई प्रश्न उत्पन्न हो जाते हैं यथा— द्रव्य, गुण एवं पर्याय भिन्न-भिन्न हैं या अभिन्न? यदि ये भिन्न हैं, तो इनमें पारस्परिक सम्बन्ध किस प्रकार का है? यदि ये अभिन्न हैं तो फिर इनकी अलग-अलग संज्ञा या नाम क्यों हैं?

उत्तराध्ययनसूत्र के अन्तर्गत दी गई द्रव्य एवं गुण की परिभाषा से ऐसा प्रतीत होता है कि द्रव्य एवं गुण दोनों भिन्न-भिन्न हैं। क्योंकि जब यह कहा जाता है कि गुणों का आश्रय द्रव्य है तब ऐसा प्रतीत होता है कि इनमें परस्पर आश्रय-आश्रयी भाव सम्बन्ध है अर्थात् द्रव्य गुण का आश्रय स्थल है जैसे— राम मकान में रहता है। यहां स्पष्ट है कि राम और मकान, इन दोनों की भिन्न सत्ता है यह व्याख्या जैनदर्शन की अनेकान्त दृष्टि के अनुकूल नहीं है। यद्यपि द्रव्य और गुण में आश्रय-आश्रयी भाव है, तथापि यह आश्रय-आश्रयी भाव नितान्त भिन्नता का सूचक नहीं है, वरन् भेदाभेद का प्रतिपादक है अर्थात् विचार के स्तर पर द्रव्य एवं गुण में भेद किया जा सकता है पर सत्ता के स्तर पर इनमें अभेद है। अतः द्रव्य और गुण में भेदाभेद का सम्बन्ध है। वे एक दूसरे में अनुस्यूत या व्याप्त हैं।

इस प्रकार द्रव्य एवं गुण में अन्योन्याश्रित सम्बन्ध या तादात्म्य सम्बन्ध है अर्थात् द्रव्य के बिना गुण का अस्तित्व नहीं है तथा गुण के बिना द्रव्य का अस्तित्व नहीं है। यहां ज्ञातव्य है कि उत्तराध्ययनसूत्र में जहां एक ओर द्रव्य एवं गुण में आश्रय-आश्रयी भाव स्थापित कर इन दोनों में कथंचित् भेद का निरूपण किया है

^{२६} 'एतत् च पुहुत्तं च, संज्ञा संज्ञागमेव च ।
संज्ञेया व विभागा य, फञ्जवर्णं तु लक्षणं ॥'

- उत्तराध्ययनसूत्र २८/१३ ।

वहीं इन दोनों की परस्पर सापेक्ष परिभाषा देकर इनमें कथंचित् अभेद का प्रतिपादन भी किया है। इसमें द्रव्य क्या है, इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जो गुणों का आश्रय है वह द्रव्य है। पुनश्च गुण क्या है, इसे स्पष्ट करते हुए इसमें कहा गया है कि जो द्रव्य के आश्रित रहते हैं, वे गुण हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि एक दूसरे के अभाव में उनकी सत्ता नहीं है। द्रव्य के बिना गुण और गुण के बिना द्रव्य नहीं होता है। ये अभिन्न हैं। दूसरी ओर पर्याय को परिभाषित करते हुए उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि 'लक्षणं पञ्जवाणं तु उभयो अस्सिया भवे' अर्थात् पर्याय का लक्षण द्रव्य एवं गुण दोनों के आश्रित रहना है। यहां उभय शब्द का प्रयोग द्रव्य एवं गुण की कथंचित् भिन्नता का भी सूचक है।

द्रव्य एवं गुण के सन्दर्भ में एक प्रश्न यह भी उठता है कि द्रव्य परिणामी नित्य तथा गुण भी परिणामी नित्य है तो फिर इन दोनों में क्या अन्तर है या इनकी भिन्न संज्ञा का क्या औचित्य है ? इसके समाधान हेतु यह कहा जा सकता है कि द्रव्य में मात्र एक ही गुण नहीं होता; वह अनेक गुणों का पिण्ड है। इसके प्रत्येक गुण की अपनी सत्ता है। इस प्रकार द्रव्य अनेक सहभावी गुणों का अभिन्न आधार है। द्रव्य एक ऐसा तत्त्व है जिसमें अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व आदि सामान्य गुण तथा चेतनत्व, जड़त्व, अवगाहनत्व आदि में से कई एक विशिष्ट गुण साथ रहते हैं। इस प्रकार द्रव्य व्यापक है, गुण सीमित। यहां ध्यान देने योग्य है कि गुण में जो भी परिणामन होता है वह द्रव्य में भी होता है, क्योंकि गुण की सत्ता द्रव्य से पृथक् नहीं है, फिर भी वह द्रव्य का सम्पूर्ण परिणामन नहीं है। मात्र उसके एक अंश का परिणामन है। यह जरूरी नहीं कि द्रव्य के गुण-विशेष के परिणामन के साथ उसके अन्य गुणों में भी परिणामन हो। द्रव्य के प्रत्येक गुण का परिणामन भिन्न भिन्न होता है। अतः एक गुण का परिणामन दूसरे गुण का परिणामन नहीं होता है।

निष्कर्षतः द्रव्य से रहित होकर गुण तथा गुण से रहित होकर द्रव्य की कोई सत्ता नहीं होती है। उदाहरण के रूप में ज्ञान आत्मा का गुण है, परन्तु ज्ञान गुण से भिन्न न तो कोई आत्मा है और न ही आत्मा से भिन्न कोई ज्ञान गुण है। इस प्रकार विचार के स्तर पर आत्मा और ज्ञान को भिन्न किया जा सकता है, किन्तु सत्ता के स्तर पर इनमें अभेद है। इसीलिए आचारांगसूत्र में कहा गया है कि जो आत्मा है, वह विज्ञाता है और जो विज्ञाता है वही आत्मा है।³⁰

इस प्रकार जैनदर्शन द्रव्य एवं गुण में भेदाभेद सम्बन्ध मानता है। वैशेषिकदर्शन के समान न तो यह एकान्तिक भेद को स्वीकार करता है और न ही बौद्धदर्शन की तरह एकान्तिक अभेद को स्वीकार करता है। इनमें भेदाभेद को स्पष्ट करते हुए डॉ. महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य लिखते हैं कि गुण द्रव्य से अभिन्न है, किन्तु प्रयोजन आदि के भेद से उसका विभिन्न रूप से निरूपण किया जा सकता है। अतः वे भिन्न भी हैं।^{३१} न केवल गुण का वरन् पर्याय विशेष का भी द्रव्य के साथ सम्बन्ध है। इनमें से एक के अभाव में दूसरे की कल्पना नहीं की जा सकती है। द्रव्य के अभाव में गुण एवं पर्याय की या गुण एवं पर्याय के अभाव में द्रव्य की कोई सत्ता नहीं है। द्रव्य एवं पर्याय की अभिन्नता का प्रतिपादन करते हुए सिद्धसेनगणी ने लिखा है कि^{३२} -

अभिन्नांशमतं वस्तु तथोभयमयात्मकम् ।

प्रतिपत्तेरुपायेन नयभेदेन कथ्यते ॥

द्रव्य एवं पर्याय की पारिस्परिक सापेक्षता को सूचित करते हुए यह भी कहा गया है—

द्रव्य पर्यायरहितं पर्यायाद्रव्यवर्जिताः ।

क्व कदा केन दिं रूपा दृष्टा मानेन केन वा ॥

इस प्रकार द्रव्य तथा गुण एवं द्रव्य तथा पर्याय में भी परस्पर भेदाभेद स्वीकार किया जाता है। इन्हें उदाहरण के रूप में इस प्रकार समझा जा सकता है— जैसे जीवद्रव्य है, ज्ञान उसका गुण है तथा घटज्ञान, पटज्ञान और जीवद्रव्य ज्ञान उस गुण के पर्याय हैं। धर्म और अधर्म द्रव्य हैं, गति-स्थिति में निमित्त होना उनका गुण है तथा गति-स्थितिशील पदार्थों के साथ सम्बन्ध होना उनकी पर्याय है। पुद्गल द्रव्य है, स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण इसके गुण हैं तथा घट-पट आदि उसकी पर्याय हैं। इसी प्रकार काल द्रव्य है, वर्तना उसका लक्षण है, पल, घटी, मुहूर्त, प्रहर आदि अथवा सैकण्ड, मिनट, घण्टा आदि उसकी पर्याय हैं।

निष्कर्षतः विभिन्न गुणों तथा पर्यायों के परिवर्तनों के बीच अविच्छिन्नता का नियामक द्रव्य है अर्थात् परिवर्तनों के बीच जो अपरिवर्तित रहता है, वही द्रव्य है और जिस रूप में रहता है वह अपरिवर्तित पक्ष ही गुण है। दूसरे शब्दों में जो द्रव्य के साथ सदैव रहता है, वही गुण है। द्रव्य एवं उसके गुण की

३१ 'जैनदर्शन' पृष्ठ १५४

३२ 'आहतीवृष्टि' पृष्ठ १०३ से उद्धृत

- डॉ. महेन्द्रकुमार जैन (न्यायाचार्य) ।

- समन्ती मंगलप्रज्ञा ।

विभिन्न अवस्थायें पर्याय हैं। द्रव्य, गुण एवं पर्याय में यह विभाजन व्यवहार के स्तर पर है। निश्चयतः इनमें विभाजन नहीं किया जा सकता है, ये अभेद हैं।

गुण एवं पर्याय का पारस्परिक सम्बन्ध

गुण एवं पर्याय में भेद है या अभेद ? इस सम्बन्ध में जैनदर्शन की मूलभूत अवधारणा तो भेदाभेद की ही है, फिर भी जहां सिद्धसेन, हरिभद्र, हेमचन्द्र, यशोविजयजी आदि दार्शनिकों ने गुण एवं पर्याय के अभेद पक्ष पर अधिक बल दिया वहीं उमास्वाति, कुन्दकुन्द, अमृतचन्द्र, वादिदेवसूरि आदि आचार्यों ने गुण एवं पर्याय के भेद पक्ष पर अधिक बल दिया। अकलंक आदि कुछ आचार्यों ने इनमें सन्तुलन बनाये रखने का प्रयत्न किया है।

जहां तक हमारे शोधग्रन्थ उत्तराध्ययनसूत्र का प्रश्न है उसमें स्पष्ट कहा गया है कि गुण केवल द्रव्य के आश्रित रहते हैं, जबकि पर्याय द्रव्य एवं गुण दोनों के आश्रित रहती है। उत्तराध्ययनसूत्र की इस व्याख्या से गुण एवं पर्याय की भिन्नता प्रतिपादित होती है, किन्तु आचार्य सिद्धसेन आदि ने जो गुण एवं पर्याय में अभेद माना है, उसका आधार यह है कि आगमग्रन्थों में दो ही नयों का उल्लेख मिलता है— (१) द्रव्यार्थिकनय और (२) पर्यायार्थिकनय उनकी यह मान्यता है कि यदि गुण एवं पर्याय भिन्न-भिन्न होते तो गुणार्थिकनय का भी कहीं न कहीं उल्लेख होना चाहिए था।

वस्तुतः गुण एवं पर्याय में भेद या अभेद अपेक्षाविशेष से ही माना जा सकता है। जहां तक नयों के वर्णन का प्रश्न है, उसमें पर्यायार्थिक नय में प्रयुक्त पर्याय शब्द व्यापक रूप से गुण का भी ग्रहण कर लेता है। यथार्थतः गुण भी द्रव्य की एक पर्याय अर्थात् अवस्थाविशेष ही है।

इस प्रकार पर्याय शब्द सहभावी अवस्था का द्योतक होने पर गुण का तथा क्रमभावी अवस्था का द्योतक होने पर पर्याय का वाचक है। वस्तुतः द्रव्य का जो नित्यधर्म है वह गुण और जो अनित्यधर्म है वह पर्याय है। दूसरे शब्दों में द्रव्य के नित्यपक्ष को गुण और परिवर्तनशीलपक्ष को पर्याय कहते हैं।

गुण एवं पर्याय के लिए क्रमशः स्वभावपर्याय एवं विभावपर्याय का भी प्रयोग किया जाता है। इससे भी फलित होता है कि पर्याय शब्द से गुण को भी ग्रहण किया जा सकता है।

निष्कर्षतः गुण एवं पर्याय में कथंचित् भेद है, कथंचित् अभेद। इसमें भेद मानने के आधार निम्न हैं। 1. इनकी गुण पर्याय ऐसी भिन्न-भिन्न संज्ञा है। 2. गुण-धैव्यात्मक होने से द्रव्य का नित्यपक्ष है, जबकि पर्याय उत्पादव्ययात्मक अर्थात् अनित्यपक्ष है। दूसरे शब्दों में गुण द्रव्य की चिरस्थायी विशेषता है, जबकि पर्याय उसकी अस्थायी विशेषता है। गुण का आश्रयस्थल द्रव्य है, जबकि पर्याय का आश्रयस्थल द्रव्य एवं गुण दोनों हैं। गुण द्रव्य की सहभावी अवस्था है, पर्याय क्रमनावी अवस्था है। गुण सामान्यात्मक है, किन्तु पर्याय विशेषात्मक है। गुण अन्वयी है जबकि पर्याय अन्वयव्यतिरेकी है।

संक्षेप में द्रव्य, गुण और पर्याय सत्ता के स्तर पर एक दूसरे से पृथक् नहीं पाये जाते हैं, अतः उनमें अभेद है। किन्तु पर्याय उत्पन्न होती है और नष्ट होती है; वे द्रव्य और गुण से पृथक् भी हैं, क्योंकि वे कालक्रम में उत्पन्न होकर नष्ट हो जाती हैं; अतः उनके बीच यथार्थ सम्बन्ध तो भेदाभेद का ही है। द्रव्य के इन्हीं गुण और पर्यायों के पारस्परिक सम्बन्धों का प्रतिबिम्ब है षट्द्रव्य। अतः आगे हम उत्तराध्ययनसूत्र के परिप्रेक्ष्य में षट्द्रव्यों के स्वरूप एवं प्रकारों की चर्चा करेंगे।

4.7 षट्द्रव्यों का स्वरूप एवं लक्षण

उत्तराध्ययनसूत्र में निम्न षट्द्रव्य माने गये हैं— धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव।³³ यह क्रम उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार है, अन्य ग्रन्थों में इनकी विवेचना का क्रम भिन्न भी पाया जाता है।

धर्मद्रव्य या धर्मास्तिकाय

‘धर्मास्तिकाय’ शब्द धर्म+अस्ति+काय इन तीन शब्दों के योग से बना है। प्रस्तुत प्रसंग में प्रयुक्त ‘धर्म’ शब्द आत्मशुद्धि के साधनभूत धर्म, उपासना, कर्त्तव्य,

३३ ‘धम्मो अहम्मो आगसं, कालोपुगल-जंतवो ।
एस लोसे ति पण्णत्ते, जिणैहिं वरदंसिणी ॥’

- उत्तराध्ययनसूत्र २२/७ ।

शुभप्रवृत्ति या स्वभाव का सूचक नहीं है अपितु यह जीव एवं पुद्गल की गति में निमित्त सृष्टि का एक तत्त्व है। उत्तराध्ययनसूत्र में इसका लक्षण करते हुए कहा गया है 'गई लंक्खणो उ धम्मो' अर्थात् धर्मद्रव्य गति लक्षण वाला है।³⁴ इसे स्पष्ट करते हुए भगवतीसूत्र में बताया गया है कि जीवों का आना-जाना, बोलना, पलकों का झपकना या ऐसी ही अन्य कायिक, वाचिक और मानसिक प्रवृत्तियाँ धर्मद्रव्य के माध्यम से सम्पन्न होती हैं।³⁵

जैन दार्शनिकों ने धर्मद्रव्य को जीव एवं पुद्गल की गति में सहायक कारण माना है। वह प्रेरक कारण या उपादान नहीं है। वास्तव में गति तो जीव एवं पुद्गल में ही है। टीकाकार नेमिचन्द्राचार्य अपने ग्रन्थ 'द्रव्यसंग्रह' में धर्म द्रव्य का लक्षण बताते हुए लिखते हैं कि गतिपरिणत जीव एवं पुद्गल के गमन में धर्मद्रव्य सहायक है, जैसे मछली के तैरने में जल सहायक है।³⁶

इस प्रकार हम देखते हैं कि गति की शक्ति तो जीव और पुद्गल में ही है। वे स्वयं ही गति स्रोत हैं, परन्तु जब भी गति करते हैं धर्मद्रव्य की सहायता से ही करते हैं। जैसे मछली में तैरने की शक्ति है, पानी में वह शक्ति नहीं है, फिर भी पानी की सहायता के बिना मछली तैर नहीं सकती; वैसे ही जीव एवं पुद्गल की गति में धर्मद्रव्य का योगदान है।

धर्मद्रव्य गति सहायक द्रव्य होने पर भी स्वयं अचल एवं अक्रिय है। लोक में प्रसारित होने के कारण यह धर्मद्रव्य अस्तिकाय वर्ग के अन्तर्गत आता है। इसका प्रसारक्षेत्र लोक तक सीमित है। अतः यह लोकव्यापी है। अलोक में इसका अभाव है। यही कारण है कि सिद्धात्मार्ये लोक के अग्र भाग में स्थित हैं। अलोक में धर्मद्रव्य का अभाव होने से सिद्धात्मार्ये इसके आगे नहीं जा सकती। धर्मद्रव्य एक एवं असंख्य द्रव्य है। वह लोक तक सीमित होने के कारण अनन्तप्रदेशी न होकर असंख्यप्रदेशी है। उत्तराध्ययनसूत्र में काल की अपेक्षा इसे अनादि एवं अपर्यवसित अर्थात् नित्य माना गया है।³⁷

आधुनिक वैज्ञानिकों ने भी इस बात को सिद्ध किया है। ईथर नामक एक अदृश्य पदार्थ है जो गति का कारण है। यहां तक कि प्रो. जी. आर. जैन ने

३४ उत्तराध्ययनसूत्र २८/६।

३५ भगवती - १३/४/५६

३६ बृहद्रव्यसंग्रह, भाषा १७।

३७ उत्तराध्ययनसूत्र ३६/८।

-(अंगसुत्तापि, लाडनू, खण्ड २, पृष्ठ ६०१)।

'Cosmology Old and New' में धर्मद्रव्य के समान ईथर को अभौतिक, अपारमाण्विक, अविभाज्य, अखण्ड आकाश के समान लोकव्याप्त स्व में स्थित तथा गति का अनिवार्य माध्यम माना है।^{३८}

अधर्म द्रव्य या अधर्मास्तिकाय

अधर्मास्तिकाय में प्रयुक्त 'अधर्म' शब्द भी पाप या अधर्म का द्योतक नहीं है। उत्तराख्ययनसूत्र के अनुसार इसका लक्षण 'स्थिति' में सहायक होना है।^{३९} यह जीव एवं पुद्गल के ठहरने में वैसे ही सहायक होता है जैसे वृक्ष की छाया पथिक के विश्राम में सहायक होती है। जहां धर्मद्रव्य को गति का माध्यम माना गया है, वहीं अधर्म द्रव्य को स्थिति का सहायक माना गया है। यदि अधर्म द्रव्य नहीं होता तो जीव एवं पुद्गल की गति का नियमन असम्भव हो जाता। जैसे वैज्ञानिक दृष्टि से गुरुत्वाकर्षण आकाश में स्थित पुद्गल पिण्डों की गति को नियन्त्रित करता है, वैसे ही अधर्मद्रव्य भी जीव एवं पुद्गल की गति को नियन्त्रित करता है। संख्या की दृष्टि से इसे भी एक अखण्ड द्रव्य माना गया है। प्रदेशप्रसार की दृष्टि से लोक में व्याप्त होने के कारण इसे असंख्यप्रदेशी माना गया है। अलोक में इसका अभाव है। सत्ता के स्तर पर यह भी नित्य है।

आकाश द्रव्य या आकाशास्तिकाय

आकाश शब्द 'आ' और 'काश' इन दो शब्दों के योग से बना है। 'आ' का अर्थ सर्वत्र तथा 'काश' का अर्थ प्रकाशित होने वाला है। इसका तात्पर्य यह है कि जो अपने अवगाहदान नामक गुण से सर्वत्र प्रकाशित/प्रभावित होता रहता है, वह आकाश है अथवा जहां धर्म, अधर्म, पुद्गल, जीव और काल अपने-अपने स्वरूप से प्रकाशित होते हैं, उसे आकाश कहते हैं।

तत्त्वार्थ सूत्रकार ने भी आकाश का लक्षण 'आकाशस्यावगाहः' किया है अर्थात् जो अवकाश या स्थान दे अथवा जिसमें अन्य द्रव्य अवगाहन कर सकें वह

३८ देखिये 'उत्तराख्ययनसूत्र', तृतीय भाग, पृष्ठ १८५ - आचार्य हस्तीमल्लजी।

३९ 'अहम्भो वापलसखणौ।' - उत्तराख्ययनसूत्र २८/६।

आकाश है।^{४०} यह जीव और अजीव द्रव्यों को स्थान प्रदान करता है। उत्तराध्ययनसूत्र में आकाश को सभी द्रव्यों का आधारभूत भाजन पात्र कहा गया है, अर्थात् सभी द्रव्यों को रहने के लिए स्थान देना आकाश द्रव्य का लक्षण है।^{४१}

जैनाचार्यों ने आकाश के दो विभाग किये हैं— लोकाकाश एवं अलोकाकाश। विश्व में व्याप्त आकाश स्थान है वह लोकाकाश है एवं विश्व के बाहर जो रिक्त स्थान है वह अलोकाकाश है।^{४२} उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है जहां मात्र आकाश द्रव्य की सत्ता है, वह अलोक है।^{४३} लोक की एक सीमा है। जो उस सीमा को निर्धारित करता है वह अलोक है। अलोक की कोई सीमा नहीं है। वह अनन्त है। जो असीम होता है वह अनन्तप्रदेशी होता है। अतः आकाश अनन्तप्रदेशी है।

धर्म एवं अधर्म की भांति आकाश में भी देश-प्रदेश की कल्पना वैचारिक स्तर पर ही की जा सकती है। वस्तुतः तो आकाश भी एक और अखण्ड द्रव्य है। उसमें सत्ता के स्तर पर विभाजन कर पाना सम्भव नहीं है, क्योंकि यह सर्वव्यापी है। जैनाचार्यों के अनुसार प्रत्येक द्रव्य आकाश में है, और प्रत्येक द्रव्य में आकाश है। सामान्यतः ठोस समझे जाने वाले पिण्डों में भी रिक्त स्थान (आकाश) होता है। एक प्रदेश में भी विपुल मात्रा में स्थान होता है तभी उसमें अनन्त पुद्गल परमाणुओं को अपने में समायोजित करने की शक्ति सम्भव है। भगवतीसूत्र में कहा है, 'एक परमाणु या दो परमाणुओं से व्याप्त आकाश-प्रदेश में सौ, सौ करोड़ अथवा एक हजार करोड़ परमाणु भी समा सकते हैं'^{४४}, व्यवहार में भी हम देखते हैं कि एक दूध से भरे हुए ग्लास में डाली गयी शक्कर, दूध या जल से भरे हुए ग्लास में डाला गया नमक जल में समा जाता है; उसका कारण ग्लास में रहा हुआ आकाश है। आधुनिक वैज्ञानिकों का भी यह मानना है कि ठोस परमाणु में भी पर्याप्त रूप से रिक्त स्थान होता है।

४० तत्कार्यसूत्र ४/१८ ।

४१ 'भाषणं सत्त्वदन्वाणं, नहं ओगाहलक्षणं ॥' - उत्तराध्ययनसूत्र २८/६ ।

४२ बृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा १६ ।

४३ 'अजीवदेसमागते, अलोए से विवाहिए ॥' - उत्तराध्ययनसूत्र ३६/२ ।

४४ भगवती १३/४/१६ - (अंगतुत्ताणि, लाडनू, खण्ड १, पृष्ठ ६०१) ।

पुद्गलद्रव्य या पुद्गलास्तिकाय

पुद्गल शब्द का प्रयोग मुख्यतः जैनदर्शन में ही मिलता है। अन्य दर्शन में इसके स्थान पर प्रकृति, फस्माणु आदि शब्द पाये जाते हैं। बौद्धदर्शन में अवश्य पुद्गल शब्द 'जीव' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। उसमें 'पोग्गल-पंजति' नामक एक ग्रन्थ है, जिसमें जीवों के प्रकारों का विवेचन है।

जैनागम भगवतीसूत्र में भी पुद्गल शब्द को जीव का वाचक स्वीकार किया गया है।⁴⁵ पर यहां उसे शरीर की अपेक्षा से पुद्गल कहा गया है। परन्तु कालान्तर में यह पुद्गल शब्द भौतिक पदार्थ के अर्थ में रूढ़ हो गया। आधुनिक विज्ञान में इससे मिलता जुलता शब्द मेटर (Matter) है।

उत्तराध्ययनसूत्र में सभी द्रव्यों का लक्षण बताते हुए पुद्गल का भी लक्षण बताया है, परन्तु यह इसका स्वरूपदर्शक लक्षण है - शब्द, अन्धकार, उद्योत (प्रकाश), प्रभा (कान्ति), छाया, आतप (धूप), वर्ण (रंग), गन्ध, रस और स्पर्श ये सब पुद्गल के लक्षण हैं।⁴⁶ 'बृहद्द्रव्यसंग्रह' एवं 'नवतत्त्वप्रकरण' इन दोनों ग्रन्थों में भी पुद्गल का यही लक्षण दिया गया है।⁴⁷

पुद्गल शब्द की व्युत्पत्ति 'पूरणात् पुद्गलयतीति पुद्गलः' इस प्रकार से की जाती है जिसका अर्थ है: जो द्रव्य सम्पृक्त एवं विभक्त होता रहता है वह पुद्गल है। पुद्गल का स्वभाव पूरण, इकट्ठा होना (संघात) तथा अलग-अलग होना (विघात) है।

उत्तराध्ययनसूत्र में पुद्गलास्तिकाय के निम्न चार भेद किये गये हैं- स्कन्ध, देश, प्रदेश और परमाणु।⁴⁸

४५ भगवती १२/४/२६

४६ 'सहजपरार-उज्जोओ, पहा छायाऽऽने इ वा ।

वण्ण-रस-गंध-फस्सा, पुग्गलानं तु लक्खणं ॥'

४७ (क) बृहद्द्रव्यसंग्रह १६;

(ख) नवतत्त्वप्रकरण ११ ।

४८ 'खंधा य खंधेसा य, तप्पएसा त्थेव य ।

परमाण्वो य बोद्धव्वा स्तित्थो य चत्तव्विहा ॥'

- (अंगसुत्तापि, लखनू, खण्ड १, पृष्ठ ६०१) ।

- उत्तराध्ययनसूत्र २८/१२ ।

- उत्तराध्ययनसूत्र ३६/१० ।

स्कन्ध

अनेक परमाणुओं के संघटन से 'स्कन्ध' बनता है अर्थात् दो या दो से अधिक परमाणुओं का समुदाय/एकीभूत पिण्ड स्कन्ध कहलाता है। स्कन्धों में परमाणुओं की संख्या सदा एक सी नहीं रहती है, वह घटती बढ़ती रहती है। पुराने स्कन्धों के विघटन से नये स्कन्धों का निर्माण होता है। एक बड़ा स्कन्ध अनेक छोटे-छोटे स्कन्धों में तथा अनेक छोटे स्कन्ध एक बड़े स्कन्ध में परिणत हो सकते हैं। ये दो परमाणु से लेकर अनन्त परमाणु के संयोग से निर्मित होते हैं। पुद्गलस्कन्ध अनन्त है।

देश

पुद्गलस्कन्ध का एक अंश देश कहलाता है। यह परमाणु या प्रदेश से बड़ा एवं विभाज्य होता है। छोटे से छोटा देश द्विप्रदेशी होता है तथा बड़े से बड़ा देश अनन्तप्रदेशी भी हो सकता है।

प्रदेश

किसी भी स्कन्ध का अविभाज्य अंश प्रदेश कहलाता है। इसका परिमाण परमाणु तुल्य ही होता है। परन्तु परमाणु एवं प्रदेश में अन्तर यह है कि प्रदेश, स्कन्ध से अपृथक् होता है; जबकि परमाणु स्वतन्त्र होता है। स्कन्ध से सम्पृक्त परमाणु प्रदेश कहलाता है और वही प्रदेश स्कन्ध से पृथक् होने पर परमाणु बन जाता है।

परमाणु

पांच अस्तिकायों में पुद्गल ही एक ऐसा द्रव्य है जो स्कन्ध एवं परमाणु दोनों रूपों में उपलब्ध होता है। शेष अस्तिकाय रूप ही होते हैं, परमाणु रूप नहीं। पुद्गलास्तिकाय के स्कन्ध का निर्माण परमाणु के संयोग वियोग से होता है, परन्तु परमाणु स्वतन्त्र रूप से भी अपना अस्तित्व रखते हैं। परमाणु जब स्वतन्त्र होते हैं तो परमाणु कहलाते हैं और जब सम्पृक्त होते हैं तो स्कन्ध कहे जाते हैं। इसी स्कन्ध का विभाज्य अंश देश और अविभाज्य अंश प्रदेश कहा जाता है।

इस प्रकार पुद्गलास्तिकाय के चार रूप होते हैं - १ स्कन्ध २. देश ३. प्रदेश और ४. परमाणु। षट्द्रव्यों में पुद्गलास्तिकाय एक मात्र मूर्त द्रव्य है। शेष चारों अमूर्त हैं अर्थात् वर्ण, गन्ध, रस स्पर्श से रहित हैं। पुद्गलद्रव्य मूर्त होने से वर्ण, गन्ध, रस एवं स्पर्श गुण युक्त है। अतः वह इन्द्रियग्राह्य भी है।

जीवास्तिकाय या जीवद्रव्य

उत्तराध्ययनसूत्र के अट्टाईसवें अध्ययन में जीव का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए कहा गया है कि ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य और उपयोग ये जीव के लक्षण हैं।^{४९} तत्त्वार्थसूत्र में ज्ञान, दर्शन आदि गुणों को उपयोग में समाहित करते हुए कहा गया है 'उपयोगो जीव लक्षणं' अर्थात् जीव का लक्षण उपयोग या चेतना है।^{५०} व्युत्पत्तिपरक अर्थ के अनुसार 'जीवति प्राणान् धारयति इति जीवः' अर्थात् जो जीता है या प्राणों को धारण करता है वह जीव है।

उत्तराध्ययनसूत्र के छत्तीसवें अध्ययन में जीवद्रव्य के प्रकारों का अति व्यापक रूप से वर्णन किया गया है। हम जीव (आत्मा) के स्वरूप, लक्षण, कार्य और प्रकारों की चर्चा इस शोध प्रबन्ध के पंचम अध्याय 'उत्तराध्ययन में प्रतिपादित आत्ममीमांसा' में स्वतन्त्र रूप से करेंगे। अतः जीव सम्बन्धी चर्चा को यहीं विराम देते हैं। इच्छुक पाठक जीव की विस्तृतचर्चा के लिए सम्बन्धित स्थल देखें।

कालद्रव्य

उत्तराध्ययनसूत्र में षट्द्रव्यों की अवधारणा में 'काल' को एक स्वतन्त्र द्रव्य के रूप में स्वीकार किया गया है और उसे 'वर्तना' लक्षण वाला कहा गया है।^{५१} दूसरे शब्दों में समस्त द्रव्यों के वर्तना अर्थात् परिणमन का असम्भारण निमित्त 'काल' द्रव्य है। इस प्रकार काल, द्रव्यों में होने वाले पर्याय परिवर्तन का कारण है। पर्यायें प्रत्येक क्षण में उत्पन्न एवं नष्ट होती हैं। अतः समस्त द्रव्यों की

४९ 'नाथं च दसनं वेद, चरितं च तयो तथा ।

वीर्यं उवओगो य, एषं जीवसस लक्षणं ॥'

५० तत्त्वार्थसूत्र २/८ ।

५१ 'वतपालसखणो कालो'

- उत्तराध्ययनसूत्र २८/११ ।

- उत्तराध्ययनसूत्र २८/१० ।

पर्याय परिणति में क्षण (काल) निमित्त होता है। परिणमित होने का स्वभाव प्रत्येक द्रव्य का अपना होता है अर्थात् परिणमन का उपादान कारण तो द्रव्य स्वयं ही होता है किन्तु उसका निमित्त कारण काल है क्योंकि काल के निमित्त से द्रव्य की परिणमन शक्ति अभिव्यक्त होती है। जैसे बीज में वृक्ष बनने की सामर्थ्य है, परन्तु वह एक निश्चित कालक्रम में ही वृक्ष बनता है। अतः वृक्ष का उपादान कारण बीज तथा निमित्त कारण 'काल' है।

जैनदर्शन में षट्द्रव्य के अन्तर्गत पांच द्रव्य अस्तिकायरूप तथा काल को अनस्तिकाय कहा गया है। इसका कारण यह है कि काल के अतिरिक्त शेष पांचों द्रव्यों में प्रदेशप्रचयत्व अर्थात् विस्तार होता है जबकि काल में प्रदेशप्रचयत्व नहीं है। प्रत्येक कालाणु की स्वतन्त्र सत्ता है, अतः उनका स्कन्ध नहीं बनता है। भूत चला गया है और भविष्य अभी आया नहीं है; अतः इनका स्कन्ध नहीं बनता क्योंकि प्रत्येक क्षण की अपनी स्वतन्त्र सत्ता है और वर्तमान एक समय का होता है। उसका तिर्यक्प्रचयत्व नहीं होता। काल का मात्र ऊर्ध्वप्रचय होता है जबकि अस्तिकायिक द्रव्यों का तिर्यक् प्रचय होता है। यही कारण है कि काल अनस्तिकाय द्रव्य कहलाता है।

काल स्वतन्त्र द्रव्य है या नहीं इस प्रश्न के सम्बन्ध में प्राचीन काल में मतभेद देखे जाते हैं। जैनदर्शन में पंचास्तिकाय की अवधारणा से जो षट्द्रव्य की अवधारणा का विकास हुआ है, उससे यह सिद्ध होता है कि जैनदर्शन में काल द्रव्य की स्वतन्त्र सत्ता को कालान्तर में स्वीकार किया गया है।

काल स्वतन्त्र द्रव्य है या नहीं इस मतभेद के संकेत तत्त्वार्थसूत्र और विशेषावश्यकभाष्य में प्राप्त होते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि काल को स्वतन्त्र द्रव्य मानने वाली और न मानने वाली ऐसी दो विचारधारायें विशेषावश्यकभाष्य के काल तक अर्थात् विक्रम की सातवीं शती तक रही हैं।

काल की स्वतन्त्र सत्ता को अस्वीकार करनेवाले विचारक काल को जीव एवं पुद्गल की पर्याय मानते हैं। इनके अनुसार जीव एवं अजीव की पर्याय से पृथक काल कोई स्वतन्त्र द्रव्य नहीं है।

दूसरी विचारधारा काल की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार करती है। उत्तराध्ययनसूत्र में काल को स्वतन्त्र द्रव्य के रूप में स्वीकार किया गया है। काल को स्वतन्त्र द्रव्य मानने का तार्किक आधार यह है कि जैसे गति और स्थिति का

निमित्त धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य है, वैसे द्रव्य के परिणत होने का भी कोई न कोई बाह्यनिमित्त अवश्य होना चाहिए और वह काल ही है। अतः काल भी एक स्वतन्त्र द्रव्य है।

काल को स्वतन्त्र न मानने के विरोध में कुछ दार्शनिकों ने एक प्रश्न उठाया है कि यदि अन्य द्रव्यों के पर्याय परिवर्तन का हेतुभूत कारण काल है और इस रूप में काल को स्वतन्त्र द्रव्य माना जाता है, तो फिर अलोकाकाश तथा लोक में भी समयक्षेत्र के अतिरिक्त क्षेत्र में होने वाले पर्याय परिवर्तन का हेतु क्या है ? यदि यह माना जाय कि वहां कालद्रव्य के अभाव में भी पर्याय परिवर्तन सम्भव है तो फिर कालद्रव्य को स्वतन्त्र मानने का क्या औचित्य है ? यदि यह माना जाय कि अलोकाकाश में पर्याय परिवर्तन नहीं होता है तो द्रव्य लक्षण दोषग्रसित हो जायेगा।

इसका समाधान देते हुए कहा गया है कि आकाश एक अखण्ड द्रव्य है। इसके लोकाकाश एवं अलोकाकाश ये भेद वैचारिक हैं। अतः लोकाकाश में होने वाला परिवर्तन ही अलोकाकाश में घटित हो जाता है; क्योंकि किसी द्रव्य के एक अंश में होने वाला परिवर्तन सम्पूर्ण द्रव्य का परिवर्तन माना जाता है। लोकाकाश में कालद्रव्य के निमित्त से परिणमन होता है और अलोकाकाश का परिणमन भी वही है, अतः दोनों के पर्याय परिवर्तन का सहकारी कारण काल ही है।

इस प्रकार काल को स्वतन्त्र द्रव्य के साथ जीव-अजीव की पर्याय रूप भी माना गया है। वस्तुतः ये दोनों कथन विरोधी नहीं वरन् सापेक्ष हैं। निश्चयदृष्टि से काल जीव-अजीव की पर्याय है और व्यवहारदृष्टि में यह द्रव्य है। उसे द्रव्य मानने का कारण उसकी उपयोगिता है। कहा गया है 'उपकारकं द्रव्यं तत्त्वार्थसूत्र' में भी वर्तना, परिणमन, क्रिया, परत्व, अपरत्व आदि काल के उपकार कहे गये हैं।⁵²

काल के दो विभाग किए गये हैं -

(१) निश्चयकाल और (२) व्यवहारकाल

उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार मुहूर्त, प्रहर, दिन, पक्ष, मास आदि व्यवहारकाल लोकाकाश के एक भाग मनुष्यक्षेत्र तक ही सीमित हैं^{५३} इस अपेक्षा से व्यवहारकाल को असंख्य माना गया है, किन्तु दूसरी ओर निश्चय काल अनन्त है।

उपर्युक्त षट्द्रव्य की सहावस्थिति सम्पूर्ण लोक में व्याप्त है। अतः षट्द्रव्यमय इस लोक का आकार प्रकार एवं स्वरूप क्या है ? अग्रिम क्रम में हम इसकी विवेचना प्रस्तुत करेंगे।

4.8 लोक का स्वरूप एवं प्रकार

लोक शब्द लुक् धातु से बना है अर्थात् जो भी अवलोकित प्रतीत होता है, वह 'लोक' है। दूसरे शब्दों में हम दृश्यमान जगत को 'लोक' कह सकते हैं। लोक के लिए विश्व या ब्रह्माण्ड (Universe) शब्दों का भी प्रयोग किया जाता है। इस लोक से परे जो कुछ है अथवा जिसमें यह लोक अन्तर्भूत है उसे जैन दार्शनिकों ने अलोक कहा है।

जैन दर्शन के अनुसार लोक षट्द्रव्यात्मक है, जबकि अलोक में मात्र आकाश द्रव्य की सत्ता है।

उत्तराध्ययनसूत्र में जगत को लोक एवं अलोक के रूप में विभाजित किया गया है। इसके छत्तीसवें अध्ययन में कहा गया है कि जहां जीव एवं अजीव (पुद्गल) की अवस्थिति है उसे 'लोक' एवं जहां मात्र आकाशद्रव्य की सत्ता है उसे अलोक कहते हैं^{५४} प्रस्तुत प्रसंग में हमारा विवेचनीय विषय लोक है; क्योंकि अलोक के लिये तो इतना ही कहना पर्याप्त है कि वहां एक मात्र आकाश की सत्ता है। उसमें जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, और काल इन पांच द्रव्यों का अभाव है।

लोक के स्वरूप की व्याख्या करते हुए उत्तराध्ययनसूत्र में इसे जीवाजीवात्मक एवं षट्द्रव्यात्मक कहा गया है।^{५५} ऋषिभाषित और भगवतीसूत्र में

५३ 'समं समयखेलिए'

- उत्तराध्ययनसूत्र ३६/७ ।

५४ 'जीव वेव अजीवा य, एस लोए विवाहिए ।

अजीवदेसमागारे, अलोए से विवाहिए ॥'

- उत्तराध्ययनसूत्र ३६/२ ।

५५ (क) उत्तराध्ययनसूत्र ३६/२;

(ख) उत्तराध्ययनसूत्र २२/७ ।

लोक को 'पंचारित्कायमय' बताया गया है।⁵⁶ षट्द्रव्य के अन्तर्गत पंचारित्काय भी सन्निहित है। अतः हमारी मान्यता में यह कहना अनुचित नहीं होगा कि उत्तराध्ययनसूत्र में लोक को जीव-अजीव रूप, पंचारित्कायमय तथा षट्द्रव्यात्मक कहा गया है। जैनदर्शन के अनुसार लोक शाश्वत है। यह अनादि अनन्त है।

जैनागमों में लोक को शाश्वत कहने का यह अर्थ नहीं है कि इसमें कोई परिवर्तन नहीं होता है। यही कारण है कि जैनदर्शन में लोक को परिणामीनित्य माना गया है। यह कूटस्थ नित्य नहीं है। उत्तराध्ययनसूत्र में लोक की शाश्वतता एवं अशाश्वतता की चर्चा निम्न रूप से मिलती है :

उत्तराध्ययनसूत्र के छत्तीसवें अध्यायन में लोक को जीव एवं अजीवमय माना है। इससे लोक की शाश्वतता प्रकट होती है क्योंकि इसमें जीव एवं अजीव का अस्तित्व सदा से है। अतः लोक भी शाश्वत हुआ। दूसरी ओर उत्तराध्ययनसूत्र में कहा है 'अधुवे असास्यंमि' अर्थात् लोक अनित्य है, अशाश्वत है प्रवाह की अपेक्षा से/व्यक्ति विशेष की अपेक्षा से लोक अशाश्वत है।⁵⁷

यह सत्य है कि जगत में प्रतिक्षण परिवर्तन हो रहा है। परिवर्तन के होते रहने पर भी उसका सर्वथा विनाश नहीं होता है, क्योंकि वह सत् है। सत् का आत्यन्तिक नाश कभी नहीं होता और अभाव से किसी का अविर्भाव/उत्पाद नहीं होता (Nothing can never become something; something can never become nothing.)।

निष्कर्षतः शून्यवादी बौद्धों की तरह विश्व न तो अभावरूप (शून्यरूप) है और न अद्वैतवेदान्तियों की तरह कल्पनाप्रसूत (मायारूप) है अपितु यह यथार्थ है, सत् है, अनादिकाल से है और अनन्त काल तक रहेगा।

लोक का आकार एवं परिमाण

उत्तराध्ययनसूत्र एवं उसकी टीकाओं में ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक में स्थित विभिन्न जाति के देव, मनुष्य, तिर्यच एवं नारक जीवों भेद-प्रभेद और उनकी आयुमर्यादा के उल्लेख तो उपलब्ध होते हैं, किन्तु केवल सिद्धशिला को

५६ (क) ऋषिभाषित ;

(ब) भाष्यती - १३/४/५५

५७ उत्तराध्ययनसूत्र - ८ /१।

- (अंगसुतापि, लाङ्ग, खण्ड २, पृष्ठ ६०१)।

छोड़कर लोक के आकार, प्रकार तथा परिमाण सम्बन्धी कोई चर्चा उपलब्ध नहीं होती। इसमें मात्र सिद्धशिला के आकार, प्रकार और संस्थान की चर्चा है।

परम्परा के अनुसार नरक के भूमितल से लेकर सिद्धशिला के उपरितल तक लोक १४ रज्जू परिमाण लम्बा बतलाया गया है। रज्जू जैनदर्शन का पारिभाषिक शब्द है। एक रज्जू में असंख्यात योजन होते हैं। सम्पूर्ण द्वीप एवं समुद्र के अन्त में स्थित स्वयंभूरमणसमुद्र के एक तट से दूसरे तट की दूरी का जो परिमाण है, वह रज्जू है।^{६६}

लोक के आकार के सम्बन्ध में भगवतीसूत्र में कहा गया है कि यह लोक सुप्रतिष्ठित आकार वाला है अर्थात् नीचे विस्तृत, मध्य में वरवज्र के आकार का और ऊपर में ऊर्ध्वमृदंग के आकार में सस्थित है।^{६७} सुप्रतिष्ठित आकार का अर्थ त्रिशरावसम्पुटाकार है। एक शिकोरा (शराव) उल्टा, उस पर एक सीधा, फिर उस पर एक उल्टा रखने से जो आकार बनता है, उसे त्रिशरावसम्पुटाकार कहते हैं। इस प्रकार से बने आकार में नीचे चौड़ाई अधिक, मध्य में कम तथा पुनः ऊपर चौड़ाई अधिक होती है।

सामान्यजन को लोक का आकार समझाने के लिए इसे अनेक पदार्थों से उपमित किया गया है। जैसे अधोलोक को पर्यक, तथा वेत्रासन के सदृश आकार वाला कहा गया है। पर्यक, तत्र एवं वेत्रासन का विस्तार नीचे अधिक एवं ऊपर कम होता है, अतः अधोलोक का आकार इनके समान बतलाया गया है। इसी प्रकार मध्यलोक का आकार वरवज्र एवं झल्लरी के समान है क्योंकि मध्यलोक का विस्तार अधिक एवं ऊंचाई कम है तथा ऊर्ध्वलोक को ऊर्ध्वमृदंग के आकार का बतलाया गया है। यह मृदंग के समान बीच में अधिक चौड़ा तथा ऊपर-नीचे कम चौड़ा है।

प्रशमरति तथा लोक को पुरुषाकार कहा गया है जैसे किसी पुरुष का पांव करके दोनों हाथ कटि पर रखकर खड़े होने पर जो आकार बनता है, वही आकार लोक का भी कहा गया है। वर्तमान में जैन प्रतीक लोक के आकार का माना जाता है।

६६ प्रवचनसारेख्यार ४११।

६६ (क) भगवती ७/१/३।

(ख) वही ११/१०/६६, ६६ एवं ६७।

- साध्वी हेमप्रभा श्री।

- (अंगसुत्तापि, लाङ्गू, खण्ड २, पृष्ठ २७२)।

- (अंगसुत्तापि, लाङ्गू, खण्ड २, पृष्ठ ५०६)।

लोक के विभाग

क्षेत्र की दृष्टि से उत्तराध्ययनसूत्र में लोक को तीन भागों में विभक्त किया गया है— (१) ऊपरी भाग (ऊर्ध्वलोक) (२) मध्यभाग (मध्यलोक) तथा (३) अधोभाग (अधोलोक)।^{६०} यद्यपि उत्तराध्ययनसूत्र में इन तीनों विभागों का स्पष्टतः वर्णन नहीं है, फिर भी उसमें संकेत रूप से इनका वर्णन यत्र-तत्र उपलब्ध होता है।

(१) ऊर्ध्वलोक - मानव के निवासस्थल तिर्यक्लोक से ऊपरी भाग को ऊर्ध्वलोक कहते हैं। यह ऊर्ध्वलोक देशोन सातरज्जू प्रमाण है। ऊर्ध्वलोक में मुख्यतः देवों का वास होता है। अतः उत्तराध्ययनसूत्र में इसके देवलोक, ब्रह्मलोक, यक्षलोक एवं स्वर्गलोक आदि नाम भी प्राप्त होते हैं।^{६१} इस ऊर्ध्वलोक में देवों के कई विमान हैं एवं अन्तिम 'सर्वार्थसिद्धि विमान' से १२ योजन ऊपर सिद्ध-शिला है।

(२) मध्यलोक - उत्तराध्ययनसूत्र में मध्यलोक को तिर्यक्-लोक कहा गया है।^{६२} इसमें जम्बूद्वीप एवं लवणसमुद्र आदि अनेक द्वीप और समुद्र हैं। इस तिर्यक्लोक के मध्य में जम्बूद्वीप एवं अन्त में स्वयंभूरमण समुद्र है। इन दोनों के मध्य में असंख्यात द्वीप और समुद्र इस तिर्यक् क्षेत्रलोक में है।

जम्बूद्वीप के मध्यभाग में रत्नप्रभा नरक के ऊपर मेरुपर्वत है। उस मेरु के मध्यभाग में आठ प्रदेशवाला रूचक है। यह रूचक गाय के स्तन के आकार का है। इसके चार प्रदेश ऊपर और चार नीचे हैं। यही रूचक दिशा विदिशा का प्रवर्तक और तीनों लोकों का विभाजक है। रूचक के ऊपरवर्ती ६०० योजन तथा अधोवर्ती ६०० योजन, कुल १२०० योजन का तिरिष्ठा लोक है।

६० 'उर्ध्वं जग्रे य तिरियं च'

- उत्तराध्ययनसूत्र ३६/१० ।

६१ (क) 'कामाई दीप'

- उत्तराध्ययनसूत्र ६/२२;

(ख) 'गच्छे सलोगय'

- उत्तराध्ययनसूत्र ६/२४;

(ग) 'आर सभिद्धे सुयलोगरमे'

- उत्तराध्ययनसूत्र १४/१ और

(घ) 'सुः बभ्यलोगाजो'।

- उत्तराध्ययनसूत्र १२/२६ ।

६२ उत्तराध्ययनसूत्र ३६/१० ।

(३) अधोलोक -- मध्यलोक के नीचे का भाग अधोलोक है। यह कुछ अधिक सातरज्जू प्रमाण है इसमें क्रमशः नीचे-नीचे निम्न सात पृथिव्यां हैं, जो क्रमशः सात नरकों के नाम से भी प्रसिद्ध हैं^{६३} --

(१) रत्नप्रभा; (२) शर्कराप्रभा; (३) बालुकाप्रभा; (४) पंकप्रभा; (५) धूमप्रभा; (६) तमःप्रभा; तथा (७) महातमः प्रभा। इनमें मुख्यतः नरक के जीवों का निवास स्थान है।

संसारी जीव इन तीनों लोकों में परिभ्रमण करता है। उत्तराध्ययनसूत्र में नवतत्त्व की विवेचना के अन्तर्गत यह बतलाया गया है कि जीव किन कारणों से संसार में परिभ्रमण करता है तथा उनसे मुक्त कैसे होता है। इसे स्पष्ट करने हेतु आगे हम नवतत्त्वों की विवेचना प्रस्तुत कर रहे हैं --

4.9 नवतत्त्व की अवधारणा

उत्तराध्ययनसूत्र के अट्ठाईसवें अध्ययन में षट्द्रव्य के विवेचन के साथ नवतत्त्वों का भी उल्लेख किया गया है।^{६४} किन्तु यहां विशेष रूप से ध्यान देने योग्य यह है कि इसमें षट्द्रव्य की विवेचना ज्ञान के अन्तर्गत की गई है तथा नवतत्त्व की व्याख्या दर्शन के अन्तर्गत की गई है अर्थात् इसमें षट्द्रव्य, गुण, पर्याय आदि को ज्ञान का विषय तथा नवतत्त्व को श्रद्धा/दर्शन का विषय माना है। इससे एक बात यह स्पष्ट होती है कि नवतत्त्व की व्यवस्था अध्यात्मपरक/आस्थापरक है।

उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार तत्त्वों की संख्या नौ है जबकि तत्त्वार्थसूत्र में सात तत्त्व माने गये हैं।^{६५} सात एवं नौ का यह अन्तर विवक्षाभेद से है। पुण्य एवं पाप को आश्रयतत्त्व में समाहित कर लेने पर तत्त्व सात माने जाते हैं। वस्तुतः नवतत्त्व में मूलतत्त्व जीव एवं अजीव हैं। जीव की मुक्ति में बाधक या साधक होने वाली अवस्थाओं का विस्तार नवतत्त्वों के रूप में उपलब्ध होता है। उत्तराध्ययनसूत्र

६३ उत्तराध्ययनसूत्र ३६/१५६ एवं १५७।

६४ उत्तराध्ययनसूत्र २२/७ एवं १४।

६५ (क) उत्तराध्ययनसूत्र २२/१४।

(ख) तन्वार्थसूत्र १/४।

में वर्णित नवतत्त्व निम्न हैं - जीव, अजीव, बन्ध, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा एवं मोक्ष।^{६६}

उत्तराध्ययनसूत्र सूत्र की टीकाओं में नवतत्त्वों का संक्षिप्त स्वरूप निम्न रूप से प्रतिपादित किया गया है^{६७} -

चेतनालक्षण वाला जीव है, धर्मास्तिकाय आदि अजीव रूप हैं। संसारीजीव बद्ध होता है। वह अजीव/पुद्गल से सम्पृक्त होता है। अतः जीव एवं अजीव का संश्लेष बन्ध कहलाता है। बन्ध शुभ-अशुभ रूप होता है अतः शुभबन्ध पुण्य एवं अशुभबन्ध पाप है। कर्मों को आकर्षित करने वाला तत्त्व आश्रव है। गुप्ति आदि के द्वारा आश्रव का निरोध करने वाला तत्त्व संवर है। दूसरे शब्दों में कर्मों के आगमन को रोकने वाला तत्त्व संवर है। पूर्वकृत कर्मों से आशिक मुक्ति निर्जरा है तथा समस्त कर्मों के क्षय होने पर आत्मा में अवस्थिति मोक्ष है।

गुरुवर्या हेमप्रभाश्रीजी म. सा. ने उपर्युक्त नौ तत्त्वों को जीव एवं अजीव, इन दो तत्त्वों में निम्नरूप से समाहित किया है।^{६८}

पुण्य-पाप कर्म स्वरूप हैं। बन्ध पुण्य-पाप रूप है। कर्म पुद्गल रूप है और पुद्गल अजीव है। अतः पुण्य, पाप एवं बन्ध का अजीव में समावेश होता है। मिथ्यात्व आदि आत्म परिणाम रूप आश्रव का जीव में तथा पुद्गल (कर्म) रूप आश्रव का अजीव में समावेश हो जाता है। आश्रव निरोध रूप संवर भी आत्मा का परिणाम विशेष होने से जीव के अन्तर्गत ही है। निर्जरा भी जीव रूप ही है क्योंकि आत्मा ही अपनी शक्ति से कर्म का क्षय करती है तथा सम्पूर्ण कर्मों का क्षय रूप मोक्ष भी आत्मस्वरूप होने से जीव है। इस प्रकार मुख्य दो ही तत्त्व हैं।

उत्तराध्ययनसूत्र में हमें तत्त्वों का वर्गीकरण निम्न चार रूपों में प्राप्त होता है - (१) जीवाजीवात्मक; (२) पंचास्तिकायरूप; (३) षट्द्रव्यात्मक; और (४) नवतत्त्वात्मक

६६ 'जीवाजीवा य बंधो य पुण्यं पापासयो तथा ।

संवरौ निज्जरा मोक्षौ, संतेए तहिया नव ।।' - उत्तराध्ययनसूत्र २८/१४ ।

६७ उत्तराध्ययनसूत्र टीका (आगम पंचांग क्रमांक ४१/५);

(क) पत्र - २७८७	- (श्रावविजय जी);
(ख) पत्र - २७६३	- (नेमिचन्द्राचार्य);
(ग) पत्र - २७६६	- (शान्न्वाचार्य);
(घ) पत्र - २८०२	- (सखीशिलभगिणि);
(ङ) पत्र - २८०७	- (कमल समयोपाध्याय)।

६८ प्रवचनसारेन्द्रार पृष्ठ ४४१

- साध्वी हेमप्रभा श्री ।

इनमें प्रथम तीन वर्गीकरणों का आधार विश्व के मूलभूत घटकों की व्याख्या करना है जबकि अन्तिम अर्थात् नवतत्त्व रूप वर्गीकरण जीव और अजीव (पुद्गल) के पारस्परिक सम्बन्ध या उस सम्बन्ध के अभाव की व्याख्या करता है।

उत्तराध्ययनसूत्र में जीव-अजीव, षट्द्रव्य तथा नवतत्त्व का स्पष्टतः वर्गीकरण मिलता है तथा पंचास्तिकाय का वर्णन षट्द्रव्य के अन्तर्गत उपलब्ध होता है।

जैनदर्शन द्वैतवादी दर्शन है। वह मूलतत्त्व के रूप में जीव एवं अजीव इन दो तत्त्वों को स्वीकार करता है। वस्तुतः मूलतत्त्व तो दो ही हैं। इन दो का ही विस्तार पंचास्तिकाय, षट्द्रव्य या नवतत्त्व है। सांख्यादि द्वैतवादी दर्शन भी पुरुष एवं प्रकृति ऐसे दो तत्त्वों को स्वीकार करते हैं। सांख्यसम्मत पुरुष को जीवतत्त्व तथा प्रकृति को अजीवतत्त्व के रूप में माना जा सकता है।

पंचास्तिकाय में जीवास्तिकाय जीव तथा शेष धर्मास्तिकाय आदि चार अजीव हैं। इसी प्रकार षट्द्रव्य में भी जीवद्रव्य जीव तथा शेष धर्म आदि पांच द्रव्य अजीव हैं तथा नवतत्त्व में जीवतत्त्व एवं अजीवतत्त्व दो मूल तत्त्व हैं। शेष पुण्य-पाप आदि सात तत्त्व या अपेक्षामेद से आश्रय आदि पांच तत्त्व इन्हीं दो तत्त्वों की संयोग-वियोग रूप अवस्थाओं के सूचक हैं।

अध्याय - ५

उत्तराध्ययनसूत्र में प्रतिपादित
आत्ममीमांसा



उत्तराध्ययनसूत्र में प्रतिपादित आत्ममीमांसा

आत्मा का प्रत्यय भारतीय दर्शन का केन्द्रीभूत तत्त्व है। भारतीय विचारकों ने आत्मा के अस्तित्व, स्वरूप, महत्त्व आदि के विषय में व्यापक रूप से चिन्तन किया है। यद्यपि उनमें आत्मा के स्वरूप, नित्यता आदि को लेकर मतभेद अवश्य हैं, इनमें से कोई भी दार्शनिक आत्मा की सत्ता को सर्वथा अस्वीकार नहीं करते हैं। फिर की पाश्चात्य दर्शन में भी आत्मा के सन्दर्भ में विशद विचार प्रस्तुत किये गये हैं।

५.१ आत्मा का अस्तित्व

आत्मा के अस्तित्व के सन्दर्भ में दार्शनिक जगत में दो प्रकार की विचारधारायें उपलब्ध होती हैं। एक वह जो आत्मा की नित्यता में विश्वास रखती है, दूसरी वह जो आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करके भी उसे अनित्य/परिवर्तनशील और पांच भूतों से निर्मित मानती है। चार्वाकदर्शन आत्मा के अस्तित्व का निषेध नहीं करता है। आत्मा की अस्वीकृति से उसका तात्पर्य इतना ही है कि - आत्मा नित्य या मौलिक तत्त्व नहीं है।

उत्तराध्ययनसूत्र के चौदहवें अध्ययन में चार्वाकदर्शन सम्बन्धी चिन्तन उपलब्ध होता है^१। उस को स्पष्ट करते हुए टीकाकार शान्त्याचार्य ने लिखा है कि चार्वाकदर्शन आत्मा के स्वतन्त्र एवं नित्य अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता है। उसके अनुसार कण्वादि में व्यवस्थित संस्कार करने पर जैसे मादक शक्ति का संचार होता है उसी प्रकार भूतों के समुदाय के विशिष्ट संयोग रूप शरीर की संरचना होने पर चैतन्य शक्ति उत्पन्न होती है और मेघसमूह के समान समय आनेपर विनष्ट हो

^१ 'अज्ञ य अग्नी अरणीउसतो, खीरे षय तैस्त महातिनेसु ।
एषेव जाया! खीरेसि सत्ता, संमुखई नासइ नाबिद्धे ॥'

जाती है।^२ इस प्रकार चार्वाकदर्शन शरीर से पृथक् आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता है।

अनात्मवादी दर्शन के रूप में प्रसिद्ध बौद्धदर्शन भी चित्त-संतति के रूप में परिवर्तनशील/क्षणिक आत्मा को क्षणिक स्वीकार करता है। चार्वाक एवं बौद्धों के अतिरिक्त समस्त भारतीय दर्शन आत्मा की नित्य सत्ता में विश्वास रखते हैं। बौद्धदर्शन चाहे अनात्मवादी दर्शन कहलाता है, फिर भी उसकी चित्त-संतति या चेतनधारा की अविच्छिन्नता की अवधारणा परोक्षतः आत्मा की परिणामी सत्ता का ही समर्थन करती है।

आत्मा की शाश्वत सत्ता को सिद्ध करते हुए जैनागम आचारांगसूत्र में कहा गया है 'जस्स नत्थि पुरा पच्छा मज्जे तत्थ कओ सिआ अर्थात् जिसका पूर्व एवं पश्चात् नहीं होता उसका मध्य कैसे सम्भव है।'^३ आत्मा की वर्तमान कालिक सत्ता को स्वीकार करने पर उसकी त्रैकालिक सत्ता स्वतः सिद्ध हो जाती है। वर्तमान आत्मा की सत्तापूर्व में भी थी और भविष्य में भी होगी। उत्तराख्ययनसूत्र में आत्मा को अमूर्त मानते हुए नित्य माना गया है। इस प्रकार इसमें आत्मा के त्रैकालिक अस्तित्व को स्वीकार किया गया है।^४

आत्मा के त्रैकालिक अस्तित्व को मानने वाली दार्शनिक धाराएं भी दो भागों में विभक्त हैं— एक ओर सांख्य एवं योग दर्शन है तो दूसरी ओर जैन, न्याय-वैशेषिक और मीमांसा दर्शन हैं। सांख्य एवं योग दर्शन आत्मा को कूटस्थ नित्य मानते हैं जबकि जैनदर्शन आत्मा की परिणामी नित्यता को स्वीकार करता है। तथापि उसके कार्यों अर्थात् लक्षणों के आधार पर उसका अस्तित्व सिद्ध होता है। आत्मा अमूर्त है अतः यह इन्द्रिय प्रत्यक्ष का विषय नहीं बन सकती, लेकिन घट-पट आदि मूर्त पदार्थों के समान उसका इन्द्रिय प्रत्यक्ष सम्भव नहीं है।

आधुनिक युग में वैज्ञानिक भी अनेक तत्त्वों का वास्तविक प्रत्यक्ष नहीं कर पाते हैं, किन्तु उनके कार्यों के आधार पर उनकी सत्ता को स्वीकार करते हैं,

२ 'सत्त्वाः प्राणिनः 'समुच्छति' ति संसृजन्ति पूर्वमसन्न एव शरीराकार रिणतभूतसमुद्ययत उपपन्ने, तथा चाहु 'पृथिव्यपत्तेजोवायुगिति तत्त्वानि, एतेभ्यश्चैतन्वं, मयानेभ्यो मद्भक्तित्वाद्', तथा 'जासई' ति नश्यन्ति अन्नपटलवत्प्रलय मुपयानि 'जावयिदृष्टे' ति ननुः अवतिष्ठन्ते -शरीरान्तो सति न क्षणमा क्वस्थितिपात्रो भवन्ति।

- उत्तराख्ययनसूत्र टीका पत्र ४०९ (शान्त्वाचर्यम्)।

- (अंगसुत्तानि, लाडनं, खण्ड १, पृष्ठ ३७)।

३ आचारांग १/४/४/४६

४ 'ने इन्द्रियमेवम् अमुत्तभाव, अमुत्तभाव ति य होइ निच्यो ।

जैसे ईश्वर, गुरुत्वाकर्षण आदि। उस प्रकार प्राणी की अनुभूति, चिन्तन और ज्ञान उसे स्वतः प्रत्यक्ष होता है। अतः उसकी सत्ता स्वतः सिद्ध है।

५.२ आत्मा का स्वरूप

आत्मा की सत्ता स्वीकार कर लेने पर यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि आत्मा का स्वरूप क्या है ?

आत्मस्वरूप का प्रतिपादन करते हुए उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि आत्मा अमूर्त है, नित्य है तथा कर्मों के कारण पुनः पुनः जन्म-मरण करती है। पुनश्च उत्तराध्ययनसूत्र में अनेक सन्दर्भों में यह भी प्रतिपादित किया गया है कि यह जन्म-मरण को धारण करने वाली आत्मा कर्मों से मुक्त भी होती है।

जैनदर्शन आत्मा को एकान्त अमूर्त नहीं मानता है। उसके अनुसार आत्मा कथंचित् मूर्त एवं कथंचित् अमूर्त है। वह ज्ञानादि गुणों की अपेक्षा से या अनुभवगम्य सिद्ध-आत्मा की अपेक्षा से अमूर्त तथा सकर्म संसारी आत्मा के रूप में मूर्त है। उत्तराध्ययनसूत्र में आत्मा का लक्षण ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य और उपयोग बताया गया है।^५ वस्तुतः जीव का असाधारण लक्षण 'उपयोग' है। उपयोग का अर्थ बोध रूप व्यापार किया जाता है। उपयोग शब्द का व्युत्पत्तिपरक अर्थ भी यही दर्शाता है कि 'उपयुज्यते वस्तु परिच्छेदं प्रति व्यापार्यते जीवोऽनेनेत्युपयोग' - जिसके द्वारा जीव वस्तु का परिच्छेद अर्थात् बोध रूप व्यापार करता है या उसमें प्रवृत्त होता है, वह उपयोग कहा जाता है। उपयोग जीव का मूल लक्षण है, यह निगोद से लेकर सिद्ध तक के सभी जीवों में होता है।

यहां प्रश्न हो सकता है कि निगोद जैसी जीव की अत्यल्प विकसित अवस्था में जीव का क्या उपयोग हो सकता है ? इसके उत्तर में कहा गया है कि निगोद में भी जीव को अक्षर के अनन्तर्वे भाग जितना उपयोग अवश्य होता है क्योंकि यदि इतना भी उपयोग न हो तो निगोद के जीव एवं जड़ में

अक्षरयोः नियमस्य बन्धो, संसारहेतुं च वयन्ति बन्धं ॥' - उत्तराध्ययनसूत्र १४/१६ ।

५ 'ज्ञानं च दशनं वेद्यं, धारितं च तयो तदा ।

वीरियं उरुजोगो य, एवं जीवस्य लक्षणम् ॥' - उत्तराध्ययनसूत्र २८/११ ।

कोई अन्तर ही नहीं होगा। यहां इतना स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक है कि उपयोग तो प्रत्येक जीव को होता है परन्तु वह जीव की अवस्था अथवा शक्ति के विकास के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है अर्थात् उसमें तरतमता होती है। निगोद के जीवों का उपयोग अतिमन्द या अत्यल्प विकसित होता है, उनकी अपेक्षा अन्य जीवों का उपयोग उनके ऐन्द्रिक विकास के आधार पर क्रमशः विकसित होता जाता है। केवलज्ञानी का उपयोग पूर्णतः विकसित होता है। उपयोग की इस तरतमता का कारण जीव के साथ सम्बद्ध कर्मों का आवरण है। यह आवरण जितना अधिक प्रगाढ़ होता है, उपयोग उतना ही मन्द होता है और यह आवरण जितना अल्प होता है उपयोग उतना ही अधिक विकसित होता है।

उत्तराध्ययनसूत्र की टीकाओं में उपयोग के दो भेद प्रतिपादित किये गये हैं। १. ज्ञानोपयोग २. दर्शनोपयोग^६ विषय का सामान्य बोध 'दर्शनोपयोग' या निराकार उपयोग कहलाता है तथा विषय का विशेष बोध 'ज्ञानोपयोग' या साकार उपयोग कहलाता है। ज्ञानोपयोग के पांच प्रकार हैं— मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान एवं केवलज्ञान। दर्शनोपयोग के चार भेद हैं— चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन एवं केवलदर्शन। इन भेदों की विस्तृत चर्चा 'ज्ञानमीमांसा' एवं 'कर्ममीमांसा' (अध्याय ३ तथा ६) में की गई है।

उपयोग को चेतना भी कहा जाता है। आत्मा के चेतना लक्षण को सभी भारतीय दर्शन समवेत स्वर से स्वीकार करते हैं। फिर भी जहां सांख्य, योग और जैनदर्शन चेतना को आत्मा का स्व लक्षण मानते हैं वहीं न्याय-वैशेषिकदर्शन के अनुसार चेतना आत्मा का आगन्तुक गुण है अर्थात् वे मुक्त आत्मा में चेतना का अभाव मानते हैं। जैनदर्शन के अनुसार मुक्तावस्था में आत्मा की चेतना-शक्ति का पूर्ण प्रकटीकरण हो जाता है तथा संसारी अवस्था में वह चेतन-शक्ति आवृत रहती है। आत्मा के स्वरूप को हम निम्न बिन्दुओं के द्वारा प्रस्तुत कर सकते हैं—

६ उत्तराध्ययनसूत्र टीका (आगमवागी क्रम ४१/५) -

(क) पत्र २७६६ (भावस्विक्यजी);
(ख) पत्र २७७१ (ज्ञान्यावायी); और
(ग) पत्र २७८६ (कमलसंयमोध्यायी)

१. आत्मा कर्ता एवं भोक्ता है

उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार आत्मा कर्ता एवं भोक्ता है।^७ स्वयं के सुख दुःख का कर्ता एवं भोक्ता आत्मा स्वयं है; अन्य कोई किसी को न दुःख दे सकता है न सुख। आत्मा स्वयं ही अपना हित/अहित करती है। उत्तराध्ययनसूत्र में आत्मा को कूटशात्मलि वृक्ष, कामदुधा धेनु एवं नन्दनवन से उपमित किया है^८ अर्थात् आत्मा जैसा चाहे वैसा कर्म करके अपना भला/बुरा कर सकती है। यदि अच्छा काम करती है तो वह अपनी सबसे बड़ी मित्र है, कामधेनु है तथा नन्दनवन है; यदि बुरे कार्य करती है तो वह अपनी सबसे बड़ी शत्रु है, वैतरणी नदी है तथा कूटशात्मलि वृक्ष है। अतः जीव जैसा करता है वैसा ही पाता है। इसमें पर द्रव्य ईश्वर आदि का कोई हस्तक्षेप नहीं है। जीव अच्छे कर्म करता है तो सुखी होता है और बुरे कर्म करता है तो दुःखी होता है।

२. आत्मा स्वयं का त्राता है

अहिंसा का पालन करने वाला, स्वयं में रमण करने वाला, जितेन्द्रिय आत्मा स्वयं का त्राता हो सकता है एवं वह पर को भी त्राण/शरण देने में समर्थ होता है। उत्तराध्ययनसूत्र के बीसवें अध्ययन में अनाथी मुनि कहते हैं: "मैं अहिंसक जीवन स्वीकार करके अपना, दूसरों का तथा त्रस एवं स्थावर जीवों का नाथ हो गया।"^९ अहिंसक व्यक्ति सभी प्राणियों को अभय प्रदान करता है, इस रूप में वह दूसरों का नाथ/स्वामी कहा जा सकता है।

३. आत्मा आनन्द स्वरूप है

जैनदर्शन आनन्द अर्थात् अनन्तसुख को आत्मा के स्वलक्षण के रूप में स्वीकार करता है। वेदान्तदर्शन में भी आत्मा को सत्, चित् एवं आनन्द रूप माना गया है, किन्तु न्याय-वैशेषिक एवं सांख्य दर्शन आनन्द को आत्मा का स्वलक्षण नहीं मानते हैं। न्याय-वैशेषिकदर्शन सुख को चेतना का आगन्तुक गुण मानते हैं तथा सांख्यदर्शन इसे प्रकृति का गुण मानता है; आत्मा का नहीं। जैनदर्शन के अनुसार

७ 'अप्य क्ता विक्राय, वृक्षाय य सुहाय य ।

अप्य मितममितं च, दुष्पट्टियसुद्धिओ ॥'

८ उत्तराध्ययनसूत्र २०/३६ ।

- उत्तराध्ययनसूत्र २०/३७ ।

९ 'ततो हं नाहो जाओ, अयणो य परस्सय ।

सव्वेसिं वेव भूयाणं, तस्साणं यावराणं य ॥३१॥'

- उत्तराध्ययनसूत्र २०/३५ ।

आनन्द आत्मा का मूल गुण है। राग-द्वेष अथवा कषायों के क्षय होने पर समस्त आकांक्षायें और तज्जनित तनाव समाप्त हो जाते हैं। फलतः आत्मा अनन्तसुख या आनन्द की अनुभूति करता है, जैसे रोग नष्ट होने पर व्यक्ति स्वरथता की अनुभूति करता है।

जीव की विभिन्न अवस्थाओं की अपेक्षा से उसके स्वरूप को निम्न स्वभाव वाला माना गया है :

यः कर्ता कर्मभेदानां, भोक्ता कर्मफलस्य च।

संसर्ता परिनिर्वाता, सद्घात्मा नान्यलक्षणः॥^{१०}

— जो विविध प्रकार के कर्मों का कर्ता है, कर्मों के फल का भोक्ता है, संसार में परिभ्रमण करने वाला है और कर्मों से मुक्त होकर निर्वाण को प्राप्त करने वाला है, वह आत्मा है। इनसे भिन्न जीव का अन्य कोई लक्षण नहीं है।

आत्मा के व्यापक स्वरूप को समाहित करते हुए 'बृहद्द्रव्यसंग्रह' में कहा गया है कि जो उपयोगमय है, अमूर्त है, कर्ता है, स्वदेह परिमाण है, कर्म-फल भोक्ता है, संसारस्थ है, सिद्ध है और स्वभावतः उर्ध्वगामी है; वह जीव है।^{१०}

सामान्यतः संसार में परिभ्रमणशील आत्मा के लिए 'जीव' एवं मुक्त आत्मा के लिए 'आत्मा' शब्द का प्रयोग किया जाता है; आगमों में इनका पर्यायवाची के रूप में भी प्रयोग देखा जाता है। उत्तराध्ययनसूत्र में जीवद्रव्य का अतिविस्तृत विवेचन किया गया है। जिसका वर्णन निम्नानुसार है —

५.३ जीवों के भेद

उत्तराध्ययनसूत्र के छत्तीसवें अध्ययन में जीव के मुख्यतः दो भेद किये गये हैं— १. सिद्ध एवं २. संसारी।^{११} जो जीव अपने कृत कर्मों का फल भोगने के लिए संसार में संसरण करते हैं अर्थात् विविध योनियों में परिभ्रमण करते हैं वे

१० 'जीवो उदओगमओ, अमूर्ति क्ता सदेहिरिणो ।

भोक्ता संसारणो सिद्धो, सो विस्ससोऽई ॥'

११ 'संसारणा य सिद्धा य, दुक्खि जीव विवाण्णिया ।'

— बृहद्द्रव्यसंग्रह २ ।

— उत्तराध्ययनसूत्र ३६/४८ ।

संसारी कहलाते हैं। इसके विपरीत जो जीव सर्व कर्मों से मुक्त होकर लोक के अग्रभाग में स्थित हो जाते हैं तथा पुनः संसार में नहीं आते हैं, वे सिद्ध या मुक्त कहलाते हैं।

हम उत्तराध्ययनसूत्र के क्रम के अनुसार सर्वप्रथम सिद्ध जीवों का स्वरूप, गुण, प्रकार, अवगाहना एवं स्थान आदि का विवेचन प्रस्तुत कर रहे हैं—

५.४ सिद्धजीवों के भेद

उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार कर्ममल को पूर्णतः क्षय करने वाली आत्मा को सिद्ध कहते हैं।¹² इसमें जो जीव मोक्ष को प्राप्त करते हैं उन्हें सिद्ध, बुद्ध, मुक्त, सर्व दुःखप्रतिहत, निरंजन, निःसंग, परब्रह्म, परमज्योति, शुद्धात्मा, परमात्मा आदि कहा है।¹³

सिद्धों के स्वरूप की चर्चा करते हुए उत्तराध्ययनसूत्र के छत्तीसवें अध्ययन में कहा है कि सिद्ध अरूप हैं, सघन हैं, ज्ञान-दर्शन से सम्पन्न हैं एवं अतुल सुख के स्वामी हैं।¹⁴ औपपातिकसूत्र में भी सिद्धों का यही लक्षण किया गया है।¹⁵ सिद्धों के विधेयात्मक एवं निषेधात्मक स्वरूप एवं स्वभाव का वर्णन 'बृहद्द्रव्यसंग्रह' में अग्रलिखित क्रम से मिलता है — जो जीव आठ कर्मों (ज्ञानावरणादि) से रहित हैं, सम्यक्त्व आदि गुणों से युक्त हैं, अन्तिम शरीर से कुछ कम अवगाहनावाले हैं, नित्य हैं, लोक के अग्रभाग में स्थित हैं तथा ज्ञान दर्शन रूप पर्यायों की अपेक्षा से उत्पादव्यय धर्म से युक्त हैं; वे सिद्ध हैं।¹⁶ जैनदर्शन के अनुसार स्वरूप की अपेक्षा से सभी सिद्ध समान हैं, एक हैं, किन्तु प्रत्येक जीव की सिद्धावस्था में भी वैयक्तिक एवं स्वतन्त्र सत्ता बनी रहती है। इस अपेक्षा से सिद्धात्मायें अनन्त हैं।

१२ 'सिद्धे इवद् गौरव'

- उत्तराध्ययनसूत्र १८/२४ ।

१३ (क) उत्तराध्ययनसूत्र ६/५८;

(ख) उत्तराध्ययनसूत्र २८/३६;

(ग) उत्तराध्ययनसूत्र २६/६ ।

१४ 'अस्वेषो जीवधरा, नापदसंगसम्पिगया ।

अउंत्तं सुहं संपत्ता, उक्त्ता अस्स नत्थि उ ॥'

- उत्तराध्ययनसूत्र ३६/६६

१५ 'असरीरा जीवधरा, उक्त्ता संसणे य गाणे य ।

सन्नारमणागारं लक्खणमेयं तु सिद्धाणं ॥'

औपपातिक सूत्र १६५ याथा ११ - (उवंगसुत्ताणि, लाहन्, खण्ड १, पृष्ठ ७६)।

१६ 'निकम्पा अइगुणा किंघूणा चरपदेहदो सिद्धा ।

लोयनठिया पिच्च अपाववपहिं संजुत्ता ॥'

- बृहद्द्रव्यसंग्रह १४ ।

सिद्ध आत्मा के गुण

उत्तराध्ययनसूत्र के 'चरण-विधि' नामक इकतीसवें अध्ययन में सिद्ध जीवों के इकतीस अतिशयरूप गुण बतलाये हैं। इसमें उनके नामों का स्पष्ट उल्लेख नहीं है। उत्तराध्ययनसूत्र के टीकाकार गणिवर भावविजयजी व नेमिचन्द्राचार्य ने सिद्धों के निम्न ३१ गुणों का उल्लेख किया है^{१७} - ५ संस्थानाभाव, ५ वर्णाभाव, २ गन्धाभाव, ५ रसाभाव, ८ स्पर्शाभाव, ३ वेदाभाव, अकायत्व, असंगात्व, तथा अजन्मत्व। लक्ष्मीवल्लभगणिवर ने भी ५ संस्थानाभाव आदि इन्हीं ३१ गुणों का वर्णन किया है।^{१८} एक अन्य अपेक्षा से ज्ञानावरणीयकर्म की ५, दर्शनावरणीयकर्म की ६, वेदनीय की २, मोहनीय की २, आयुष्यकर्म की ४, गोत्र कर्म की २, नामकर्म की २ तथा अन्तरायकर्म की ५, इस प्रकार कुल ३१ कर्म प्रकृतियों के अभाव रूप सिद्धों के इकतीस गुणों का उल्लेख भी किया गया है। उत्तराध्ययनसूत्र में नामकर्म की मूलतः दो प्रकृतियों का ही उल्लेख है। इस प्रकार उसमें कुल उत्तरकर्म प्रकृतियाँ ३१ वर्णित हैं। अतः उनके अभाव से आत्मा में जिन ३१ गुणों की अभिव्यक्ति होती है वे सिद्धों के ३१ गुण हैं। वस्तुतः तो आत्मा में अनन्त गुण हैं, किन्तु आठ मूलकर्म प्रकृतियों के क्षय की अपेक्षा से आठ गुण और उत्तरकर्म प्रकृतियों के क्षय की अपेक्षा से ३१ गुण कहे गये हैं।

सिद्धात्माओं का आनन्द

उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार सिद्ध आत्मा का सुख अनुपम एवं अतुलनीय है। इसी का स्पष्टीकरण हमें 'औपपातिकसूत्र' में इस प्रकार मिलता है- 'सिद्ध भगवान को पूर्ण मुक्ति का जो अब्याबाध शाश्वत् सुख प्राप्त है वह न तो मनुष्य को प्राप्त है और न ही समग्र देवताओं को।' इसमें आगे और भी कहा गया है कि सिद्ध आत्माओं के अनन्तसुख (आनन्द) को उपमित करने के लिए सांसारिक विषयजन्य एवं अल्पकालिक सुखों की कोई उपमा नहीं दी जा सकती है। जैसे कोई वनवासी व्यक्ति पहली बार किसी समृद्धिशाली नगर के सुखों का अनुभव करने के बाद जब पुनः अपनी बस्ती में आकर अपने साधियों को नगर के सुखों को बताना

१७ उत्तराध्ययनसूत्र टीका

(क) पृ. ३०२६।

(ख) पृ. ३०३७।

१८ उत्तराध्ययनसूत्र टीका पृ. ३०५३

- गणिवर भावविजयजी;

- नेमिचन्द्राचार्य।

- लक्ष्मीवल्लभगणिवर।

चाहे तो भी उस जंगल में उसे वैसी कोई उपमा नहीं मिलती; जिसके आधार पर वह नगर में अनुभूत सुखों का विवेचन कर सके। ठीक इसी प्रकार सिद्धों के अनुपम सुखों की तुलना सांसारिक सुखों से नहीं की जा सकती है। वहाँ उनकी तृप्ति का अनुभव किया जा सकता है, उसे कहकर नहीं बताया जा सकता।¹⁹

सिद्धों के सुख की स्पष्ट एवं मार्मिक व्याख्या डॉ. सागरमल जैन ने प्रस्तुत की है। आपका कहना है कि सिद्धों का सुख तो स्वास्थ्य रूप है। जैसे रोग का दूर होना आरोग्य को प्राप्त करना है; वैसे कर्मरूपी रोग का दूर होना ही आत्मा का आरोग्य अर्थात् अनन्तसुख को पाना है। संक्षेप में सिद्धों का सुख, दुःख की आत्यन्तिक निवृत्तिरूप है।²⁰

सिद्ध जीवों के प्रकार

सिद्धों की आत्मा स्वस्वरूप एवं लक्षण की अपेक्षा से तो एक ही प्रकार की है। उनमें किसी प्रकार का कोई भेद नहीं है; किन्तु जिस पर्याय से वे सिद्ध होते हैं, उस पूर्वपर्याय या पूर्वावस्था की अपेक्षा से उनके अग्रविवेचित भेद किये गये हैं। उत्तराध्ययनसूत्र में सिद्ध के निम्न छः भेद बतलाये हैं²¹ — उत्तराध्ययनसूत्र का यह विभाजन लिंग (स्त्री, पुरुष आदि की शारीरिक संरचना) एवं वेश के आधार पर किया गया है —

- | | | |
|---------------------|--------------------|---------------------|
| (१) स्त्रीलिंगसिद्ध | (२) पुरुषलिंगसिद्ध | (३) नपुंसकलिंगसिद्ध |
| (४) स्वलिंगसिद्ध | (५) अन्यलिंगसिद्ध | (६) गृहलिंगसिद्ध |

प्रज्ञापना, नन्दीसूत्र एवं नवतत्त्वप्रकरण आदि परवर्ती ग्रन्थों में सिद्धों के १५ भेद प्रदर्शित किये गये हैं।²² उत्तराध्ययनसूत्र के टीकाकार लक्ष्मीवल्लभगणि ने भी सिद्धों के पन्द्रह भेदों का उल्लेख किया है।²³ गणि भावविजयजी आदि टीकाकारों की भान्यता है कि उत्तराध्ययनसूत्र की गाथा में प्रयुक्त 'च' शब्द में सिद्धों

१९ औपचारिक सूत्र १६५ गाथा १३ से १७

२० व्यक्तिगत वर्णों के आधार पर।

२१ 'इथी पुरितसिद्धा य, तहेव य नपुंसगा ।
सलिंगे अन्तलिंगे य, गिलिलिंगे तहेव य ॥'

२२ (क) प्रज्ञापना १/१२

(ख) नन्दीसूत्र - ३१

(ग) नवतत्त्व प्रकरण गाथा ५५ एवं ५६।

२३ उत्तराध्ययनसूत्र टीका पत्र ३३५७।

- (उदंगसुत्ताणि, लाठनू, खण्ड १, पृष्ठ ७७)।

- उत्तराध्ययनसूत्र ३६/४६।

- (उदंगसुत्ताणि, लाठनू, खण्ड २, पृष्ठ १०);

- (नवसुत्ताणि, लाठनू, पृष्ठ २५७);

- लक्ष्मीवल्लभगणि।

के अन्य भेदों का भी समोवश हो जाता है।^{२४} अतः सिद्धों के १५ भेदों का समावेश भी उत्तराध्ययनसूत्र में वर्णित छः भेदों में हो सकता है। यहाँ हम संक्षेप में सिद्धों के १५ भेदों का वर्णन करना आवश्यक समझते हैं।

- (१) जिनसिद्ध : तीर्थंकर पद प्राप्त कर मोक्ष जाने वाले जीव जिनसिद्ध कहलाते हैं।
- (२) अजिनसिद्ध : तीर्थंकर पद को प्राप्त किये बिना, सामान्य केंवली होकर जो जीव मोक्ष को प्राप्त करते हैं वे अजिनसिद्ध हैं।
- (३) तीर्थसिद्ध : तीर्थ की स्थापना के बाद मोक्ष जाने वाले जीव तीर्थसिद्ध कहलाते हैं।
- (४) अतीर्थसिद्ध : तीर्थ स्थापना से पूर्व मोक्ष जाने वाले जीव अतीर्थसिद्ध कहे जाते हैं।
- (५) गृहस्थलिंगसिद्ध: जो जीव गृहस्थ श्रावक के वेश से मोक्ष पद को प्राप्त करते हैं, वे गृहस्थलिंगसिद्ध कहे जाते हैं।
- (६) अन्यलिंगसिद्ध : अन्य परम्पराओं के मुनि-वेश अर्थात् तापस, परिव्राजक आदि के वेश से मोक्ष जाने वाले जीव अन्यलिंगसिद्ध कहलाते हैं।
- (७) स्वलिंगसिद्ध : जैनमुनि के वेश से मुक्ति पाने वाले जीव स्वलिंगसिद्ध कहलाते हैं।
- (८) स्त्रीलिंगसिद्ध : स्त्री शरीर से मोक्ष प्राप्त करने वाले जीव स्त्रीलिंगसिद्ध माने जाते हैं।
- (९) पुरुषलिंगसिद्ध: पुरुष शरीर से मोक्ष प्राप्त करने वाले जीव पुरुषलिंगसिद्ध हैं।
- (१०) नपुंसकलिंगसिद्ध: जो नपुंसक शरीर से मोक्ष प्राप्त करते हैं वे जीव नपुंसकलिंगसिद्ध होते हैं।

२४ (क) उत्तराध्ययनसूत्र टीका पृष्ठ ३३३८ ।

(ख) उत्तराध्ययनसूत्र टीका पृष्ठ ३३४३ ।

- भावविशयजी;

- नैमिषन्द्राचार्य ।

- (११) प्रत्येकबुद्धसिद्धः : बाह्य निमित्त से बोधि प्राप्त कर मोक्ष जाने वाले जीव प्रत्येकबुद्धसिद्ध कहे जाते हैं।
- (१२) स्वयंबुद्धसिद्ध : बाह्य निमित्त के बिना स्वयं ही बोधि प्राप्त कर मुक्त होने वाले जीव स्वयंबुद्धसिद्ध होते हैं।
- (१३) बुद्धबोधितसिद्धः : बुद्ध अर्थात् आचार्य गुरु आदि के द्वारा प्रतिबोधित होकर मुक्त होने वाले जीव बुद्धबोधितसिद्ध कहलाते हैं।
- (१४) एकसिद्ध : एक समय में स्वयं अकेले ही सिद्ध होने वाले जीव एकसिद्ध जीव होते हैं।
- (१५) अनेकसिद्ध : एक समय में अनेक आत्माओं के साथ मोक्ष जाने वाले जीव अनेकसिद्ध कहे जाते हैं।

उत्तराध्ययनसूत्र में छः प्रकार के सिद्धों का उल्लेख है तथा परवर्ती ग्रन्थों में सिद्धों के पन्द्रह भेदों का उल्लेख है। उत्तराध्ययनसूत्र में जिन (तीर्थकर) सिद्ध, अजिन (अतीर्थकर) सिद्ध, तीर्थसिद्ध, अतीर्थसिद्ध, प्रत्येकबुद्धसिद्ध, स्वयंबुद्धसिद्ध, बुद्धबोधितसिद्ध, एकसिद्ध एवं अनेकसिद्ध का स्पष्ट उल्लेख नहीं है; किन्तु इनसे उसका कोई अन्तर्विरोध भी नहीं है; क्योंकि स्त्री या पुरुष होने पर भी उक्त सभी सम्भावनायें तो उनमें निहित हैं ही।

सामान्यतया स्त्रीलिंग से तीर्थकरसिद्ध या प्रत्येकबुद्धसिद्ध होने की सम्भावनायें अल्प ही होती हैं; फिर भी अपवाद रूप में तो स्त्री भी तीर्थकर एवं स्वयं सम्बुद्ध भी होती है। नपुंसक प्रत्येक बुद्ध होते हैं या नहीं इस सम्बन्ध में स्पष्ट निर्देश प्राप्त नहीं होते हैं। यहां यह भी ज्ञातव्य है जैसे स्त्रीलिंगसिद्ध में पुरुषलिंगसिद्ध एवं नपुंसकलिंगसिद्ध का अभाव होता है; उसी प्रकार पुरुषलिंगसिद्ध में स्त्रीलिंगसिद्ध और नपुंसकलिंगसिद्ध का तथा नपुंसकलिंगसिद्ध में पुरुषलिंगसिद्ध एवं स्त्रीलिंगसिद्ध का अभाव होता है। इसी प्रकार बुद्धबोधितसिद्ध में अजिनसिद्ध, तीर्थसिद्ध, अतीर्थसिद्ध, एकसिद्ध या अनेकसिद्ध होने की सम्भावनाएं तो हैं ही। पुनश्च स्वलिंगसिद्ध में भी उपर्युक्त नौ ही प्रकार समाविष्ट हो सकते हैं। अन्यलिंगसिद्ध में स्वलिंगसिद्ध, गृहस्थलिंगसिद्ध एवं तीर्थकरसिद्ध इन तीन भेदों को छोड़कर अन्य सम्भावनाएं तो घटित हो सकती हैं तथा गृहस्थलिंगसिद्ध में अजिनसिद्ध, तीर्थसिद्ध, अतीर्थसिद्ध, एकसिद्ध, अनेकसिद्ध आदि भेदों का अन्तर्भाव हो सकता है। इस प्रकार

उत्तराध्ययनसूत्र में उल्लिखित सिद्ध के छः भेदों में परवर्ती ग्रन्थों में उपलब्ध पन्द्रह ही भेदों का अन्तर्भाव हो सकता है।

सिद्धों के इन भेदों का वर्णन जैनदर्शन के उदार दृष्टिकोण का परिचायक है। जिस आत्मा ने कर्मों का क्षय करके केवलज्ञान प्राप्त कर लिया है, वह वीतराग आत्मा चाहे किसी भी वेश या लिंग का क्यों न हो, उसका मोक्षपद को प्राप्त करना असंदिग्ध है क्योंकि मोक्ष की प्राप्ति में बाह्य वेश, स्त्री, पुरुष और नपुंसक की शारीरिक संरचना प्रतिबन्धक नहीं है। मोक्ष के प्रतिबन्धक रागद्वेष हैं। इस प्रकार उत्तराध्ययनसूत्र की इस विवेचना के अन्तर्गत हमें जैनदर्शन की निष्पक्षता का परिचय मिलता है; क्योंकि इसमें अन्य किसी परम्परा के वेशधारी को मोक्ष का अनधिकारी नहीं बतलाया गया है। मात्र एक ही शर्त है कि उसे वीतराग होना चाहिए। इस सम्बन्ध में आचार्य हरिभद्र ने कहा है—

‘सेयंबरो वा आसम्बरो वा, बुद्धो वा तहैव अन्नोवा।

समभाव भाविअप्पा लहइ मोक्खं न संदेहो ॥’

— व्यक्ति चाहे श्वेताम्बर हो या दिगम्बर, बौद्ध हो या अन्य किसी परम्परा का, यदि वह समभाव की साधना करेगा, तो उसे मोक्ष अवश्य प्राप्त होगा। इसी बात को प्रकारान्तर से आचार्य हेमचन्द्र ने भी कहा है —

‘भवबीजांकुरजनना रागाद्या क्षयमुपागतायस्य।

ब्रह्मा वा विष्णु वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै ॥’

अर्थात् जिसने संसार परिभ्रमण के कारण रूप, राग-द्वेष आदि का क्षय कर दिया है वह ब्रह्मा हो, विष्णु हो, शंकर हो या जिन हो, वन्दनीय है। निष्कर्षतः समभाव से भावित या राग द्वेष से पूर्णतः रहित आत्मा मोक्षपद की अधिकारी है।

सिद्धों की अवगाहना

उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार उत्कृष्ट, मध्यम एवं जघन्य तीनों अवगाहना वाले जीव सिद्ध हो सकते हैं²⁵ एवं उनके अन्तिम शरीराकार से त्रिभागहीन सिद्धों की अवगाहना होती है।²⁶

२५ ‘उक्खेसोगाहणाए य, जहनभग्गिमाइ य ।

उड्ढं अहे य तिरियं य, समुद्दामि जलमि य ॥’

२६ ‘उस्सेहो जस्स जो होइ, पवथि चरियमि उ ।

तिभागहीणा त्तो य, सिद्धागोहाणा भवे ॥’

— उत्तराध्ययनसूत्र ३६/१० ।

— उत्तराध्ययनसूत्र ३६/६४ ।

उत्तराध्ययनसूत्र के टीकाकार लक्ष्मीवल्लभगणि के अनुसार सिद्धों की शारीरिक अवगाहना नहीं होती है; अपितु आत्मप्रदेशों द्वारा आकाशप्रदेश का अवगाहना होता है।^{२७} अमूर्त होते हुए भी उनके आत्मप्रदेशों का प्रसार तो है ही। कोई भी अस्तिकायद्रव्य प्रदेशप्रचयत्न से रहित नहीं होता। सिद्धों के आत्मप्रदेश जितने आकाशप्रदेश को घेरते हैं वह सिद्धों की अवगाहना कहलाती है।

पूर्व जन्म की अन्तिम देह का जो विस्तारक्षेत्र होता है उससे त्रिभागहीन (एक तिहाई कम) सिद्धों की अवगाहना होती है। उत्तराध्ययनसूत्र के टीकाकार गणिवर भावविजयजी के अनुसार उत्कृष्ट अवगाहना पांच सौ धनुष की मानी जाती है।^{२८} अतः मुक्त अवस्था में शुषिर (शरीर के खाली पोले अंश) से रहित आत्मप्रदेशों के सघन हों जाने से वह घटकर त्रिभागहीन अर्थात् तीन सौ तैंतीस धनुष, बत्तीस अंगुल रह जाती है और जघन्य (सबसे कम) अवगाहना दो हाथ वाली आत्मा की एक हाथ आठ अंगुल प्रमाण होती है एवं टीकाकार के अनुसार मध्यम अवगाहना जघन्य एवं उत्कृष्ट के मध्यवाली अर्थात् जघन्य से अधिक एवं उत्कृष्ट से कम है।^{२९} औपपातिकसूत्र में उत्कृष्ट एवं जघन्य के परिमाण के साथ मध्यम अवगाहना का परिमाण चार हाथ और तिहाई भाग कम (एक हाथ सोलह अंगुल) बतलायी गई है।

प्रत्येक सिद्धात्मा की अपनी-अपनी अवगाहना होती है, फिर भी समान आकाश प्रदेश में रहकर भी एक सिद्धात्मा की अवगाहना दूसरे की अवगाहना (आत्मप्रदेशों के विस्तार) को प्रभावित नहीं करती है। एक ही आकाशक्षेत्र में एक दूसरे को बाधित किये बिना अनन्त सिद्धात्माओं के आत्मप्रदेश रह सकते हैं। इसे स्थूल उदाहरण से इस प्रकार समझा जा सकता है— जैसे एक ही आकाशक्षेत्र में अनेक ध्वनितरंगें या चित्रतरंगें एक साथ अवगाहित होकर भी आपस में सम्मिलित नहीं होती हैं, अपितु अपना अलग अस्तित्व रखती हैं, यह तथ्य आज दूरसंचार और दूरदर्शन के माध्यम से प्रमाणित हो चुका है। इसी प्रकार अनेक सिद्धों के आत्मप्रदेश भिन्न-भिन्न होकर भी एक ही स्थान पर अवगाहित होते हैं। ज्ञातव्य है कि जब दूरदर्शन आदि की ध्वनि या प्रकाश तरंगें जो पौद्गलिक एवं मूर्त होकर भी एक ही

२७ 'अवगाहयते जीवेनाकाशोऽनवे इति अवगाहना'

२८ उत्तराध्ययनसूत्र टीका पृष्ठ ३३५६

२९ उत्तराध्ययनसूत्र टीका पृष्ठ ३३५८

- उत्तराध्ययनसूत्र टीका, पृष्ठ ३३५८ - लक्ष्मीवल्लभगणि।

- भावविजयजी।

- लक्ष्मीवल्लभगणि।

आकाशक्षेत्र में अन्य को बाधित किये बिना रह सकती हैं, तो फिर अनन्त सिद्धों के आत्मप्रदेशों को जो अमूर्त हैं, एक ही आकाशक्षेत्र में परस्पर अबाधित होकर रहने में कैसे बाधा आ सकती है।

एक अन्य उदाहरण से भी इसे समझा जा सकता है— जैसे किसी मर्यादित स्थान पर सैंकड़ों दीपक जला दिए जाएं, तो उन सभी का प्रकाश एक दूसरे के प्रकाश को बिना बाधा उत्पन्न किये एक ही आकाशक्षेत्र में अवगाहित करके रहता है। यद्यपि प्रकाश मूर्त है, तथापि वह दूसरे प्रकाश को स्थान देने में बाधक नहीं है, फिर अमूर्त आत्मप्रदेश दूसरी आत्मा के प्रदेशों के लिए बाधारूप कैसे हो सकते हैं? यही कारण है कि अनादिकाल से लेकर आज तक उस पैंतालीस लाख योजन के सिद्धस्थान में अनन्त आत्मायें अवस्थित हो चुकी हैं, भविष्यकाल में अनन्त आत्मायें अवस्थित होंगी अर्थात् वहां उन सबको स्थान मिलता रहा है और मिलता रहेगा।

सिद्धों के अवस्थान की प्ररूपण

निर्वाण प्राप्त मुक्त आत्मायें जहां रहती हैं उस स्थान को 'भोक्षस्थान' या 'सिद्धस्थान' कहा जाता है। उत्तराध्ययनसूत्र में इसके अनेक नाम हैं : निर्वाण, अबाध, सिद्धि, लोकाग्र, क्षेम, शिव, अनाबाध, उत्तमस्थान, नीरज, परमगति, अनुत्तरसिद्धि, उत्तमगति आदि।^{३०} 'शक्रस्तव' में भी इसके अन्य अनेक नाम मिलते हैं — अचल, अरुह, अनंत, अक्षय, अव्याबाध, अपुनरावृत्ति, सिद्धिगति। यह स्थान जरा, व्याधि, वेदना और मृत्यु से रहित है। इस मर्त्यलोक से देह, कर्ममुक्त होकर 'सिद्धस्थान' में जाकर 'सिद्ध' कहलाने वाली आत्मायें फिर वहां से लौट कर इस संसार में नहीं आती हैं।^{३१}

मुक्त आत्मायें लोक और अलोक का जहां संधि-स्थल है वहां निवास करती हैं। उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार सिद्ध अलोक में नहीं जाते हैं; लोक के अग्रभाग में प्रतिष्ठित होते हैं। 'सर्वार्थसिद्ध' नामक देवलोक से १२ योजन ऊपर ईषत्प्राग्भारा नाम की पृथ्वी, जो उत्तान छत्राकार है, सिद्धस्थान है। उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी की लम्बाई-चौड़ाई पैंतालीस लाख योजन एवं

३० उत्तराध्ययनसूत्र १०/३१, १३/३५, ११/३५, १८/५४, २३/८२ एवं ३६/६३।

३१ 'सिद्धयत्तमसूत्र' सिद्धिगति नामधेयं

- नमुन्युणसूत्र।

इसकी परिधि इससे लगभग तिगुनी है।^{३२} उत्तराध्ययनसूत्र की टीका में इसे स्पष्ट करते हुए इसकी परिधि एक करोड़ बयालीस लाख तीस हजार एवं एक योजन से कुछ अधिक प्रतिपादित की है।^{३३} इसकी मोटाई मध्य में आठ योजन, तत्पश्चात् क्रमशः कुछ-कुछ कम होती हुई अन्तिम किनारों पर मक्खी के पंख से भी पतली हो जाती है।^{३४}

यह स्वाभाविक रूप से अर्जुन अर्थात् श्वेत-सुवर्ण के समान उज्ज्वल है तथा शंख, अंकरत्न और कुन्दपुष्प के समान श्वेत, निर्मल और शुभ्र है। इषत्प्राग्भारा पृथ्वी के तल से एक योजन ऊपर लोकान्त है। योजन के अन्तिम कोस के छठे भाग में सिद्धात्मार्ये भवप्रच से मुक्त होकर स्वस्वरूप में संस्थित रहती है। उत्तराध्ययनसूत्र में सिद्धशिला का अपर नाम 'सीता' भी मिलता है।^{३५} औपपातिकसूत्र में इसके १२ नाम वर्णित हैं— (१) ईषत्; (२) ईषत्प्राग्भारा; (३) तनु; (४) तनु तनु; (५) सिद्धि; (६) सिद्धालय; (७) मुक्ति; (८) मुक्तालय; (९) लोकाग्र; (१०) लोकाग्रस्तूपिका; (११) लोकाग्रप्रतिबोधना और (१२) सर्वप्राणभूतजीवसत्त्व सुखावह। सिद्धशिला का शास्त्र-प्रचलित नाम 'ईषत्प्राग्भारा' है।^{३६}

५.५ संसारी जीवों के भेद

संसारी जीवों के मुख्यतः नरक, तिर्यच, मनुष्य एवं देव ये चार भेद होते हैं पुनश्च इन चारों के अनेक अवान्तर भेद होते हैं। संसारी जीवों के भेद-प्रभेदों का उल्लेख करने से पूर्व हम यहां त्रस एवं स्थावर के वर्गीकरण का आधार क्या है ? इस पर विचार करना आवश्यक समझते हैं।

५.६ त्रस एवं स्थावर जीवों के विभिन्न वर्गीकरण

जैनदर्शन में संसारी जीवों को षट्जीवनिकाय में वर्गीकृत किया गया है। आचारांग, ऋषिभाषित, उत्तराध्ययनसूत्र एवं दशवैकालिक आदि आगमों में षट्जीवनिकाय के अन्तर्गत पृथ्वी, अप् (जल), अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस ये छः

३२ उत्तराध्ययनसूत्र ३६/५६ एवं ५७।

३३ उत्तराध्ययनसूत्र टीका पृष्ठ ३३५६।

३४ उत्तराध्ययनसूत्र ३६/५६।

३५ उत्तराध्ययनसूत्र - ३६/६०, ६१, ६२ एवं ६३।

३६ औपपातिक सूत्र १६३

- लक्ष्मीवल्लभगीता।

- (उर्वंगसुतांगि, ताडनू, खण्ड १, पृष्ठ ७५)।

प्रकार के जीव माने गये हैं।^{३७} उत्तराध्ययनसूत्र में इन षट्जीवनिकाय को त्रस एवं स्थावर ऐसे दो वर्गों में विभाजित किया गया है। षट्जीवनिकाय में त्रस के अन्तर्गत किन्हे लेना एवं स्थावर के अन्तर्गत किन्हे लेना, इस प्रश्न पर जैन दार्शनिकों में अपेक्षा भेद से अन्तर देखा जाता है। उत्तराध्ययनसूत्र आदि प्राचीन आगमों में जहां तीन स्थावर और तीन त्रस की अवधारणायें पायी जाती हैं वहां परवर्ती ग्रन्थों में पांच स्थावर और छठ्ठे त्रस की अवधारणा भी मिलती है। यहां हम उत्तराध्ययनसूत्र आदि कुछ प्राचीन ग्रन्थों के आलोक में इसकी चर्चा करेंगे।

(क) उत्तराध्ययनसूत्र

उत्तराध्ययनसूत्र के २६वें एवं ३६वें अध्ययन में षट्जीवनिकाय के जीवों का उल्लेख है।^{३८} २६वें अध्ययन में इन्हें त्रस एवं स्थावर के रूप में विभक्त न करके इनके नामों का उल्लेख निम्न क्रमानुसार किया गया है - पृथ्वीकाय, अप्काय (जल), तेजस्काय (अग्नि), वायुकाय, वनस्पतिकाय एवं त्रसकाय। उत्तराध्ययनसूत्र के ३६वें अध्ययन में सर्वप्रथम षट्जीवनिकाय को त्रस एवं स्थावर के रूप में वर्गीकृत किया है; फिर पृथ्वी, अप् एवं वनस्पति को स्थावर के अन्तर्गत तथा अग्नि, वायु को एकेन्द्रिय त्रस, द्वीन्द्रिय आदि उदार (स्थूल) त्रस को त्रसकाय के अन्तर्गत रखा गया है।

(ख) आचारांगसूत्र

आचारांगसूत्र में त्रस एवं स्थावर के वर्गीकरण का स्पष्ट उल्लेख उपलब्ध नहीं होता है परन्तु आचारांग के प्रथम अध्ययन के द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ एवं पंचम - इन चार उद्देशकों में क्रमशः पृथ्वी, अप्, अग्नि और वनस्पति इन चार प्रकार के जीवों की हिंसा का विशद विवरण प्रस्तुत किया गया है। तत्पश्चात् षष्ठ अध्ययन में त्रसकाय एवं सप्तम अध्ययन में वायुकाय की

३७ (क) आचारांगसूत्रम अध्ययन ;

(ख) ऋषिभाषित २५/२ ;

(ग) उत्तराध्ययनसूत्र ३६/३० एवं ३१;

(घ) सप्तवैकलिक ६/२६ से ४५ ।

३८ (क) उत्तराध्ययनसूत्र २६/३० एवं ३१;

(ख) उत्तराध्ययनसूत्र ३६/६६ एवं १०७ ।

हिंसा का वर्णन किया है। अतः इस सन्दर्भ में यह भी माना जाता है कि आचारांग के अनुसार वायुकायिक जीव स्थावर न होकर त्रस हैं क्योंकि यदि आचारांगकार को वायुकायिक जीवों को स्थावर मानना होता तो वे उनका उल्लेख त्रसकाय के पूर्व करते।³⁹ उत्तराध्ययनसूत्र की तरह आचारांगसूत्र के प्रथम श्रुतस्कंध में भी पृथ्वी, वायु, अप्, अग्नि और वनस्पति के पश्चात् त्रस का उल्लेख मिलता है। इसके आधार पर त्रस के अतिरिक्त शेष पांचों को स्थावर माना जा सकता है।

(ग) ऋषिभाषितसूत्र

ऋषिभाषितसूत्र भी एक प्राचीन ग्रन्थ है, उसमें भी षट्जीवनिकाय का उल्लेख मिलता है परन्तु उसमें त्रस एवं स्थावर के वर्गीकरण की स्पष्ट चर्चा अनुपलब्ध है।

(घ) स्थानांगसूत्र

स्थानांगसूत्र में प्राप्त षट्जीवनिकाय के वर्गीकरण में त्रस के अन्तर्गत स्पष्ट रूप से अग्निकाय एवं वायुकाय का स्वीकार किया गया है।⁴⁰

(ङ) दशवैकालिकसूत्र

दशवैकालिकसूत्र के चतुर्थ अध्ययन का नाम 'षट्जीवनिकाय' है वहां त्रस एवं स्थावर के भेद का विवेचन हमें प्राप्त नहीं होता है। उसमें दिया गया षट्जीवनिकाय का क्रम पृथ्वी, अप्, अग्नि, वायु और वनस्पति को स्थावर के रूप में मानने का संकेत मिलता है।⁴¹

३९ व्यक्तिगत चर्चा के आधार पर।
४० स्थानांग ३/२/३२६ एवं ३२७
४१ दशवैकालिक सूत्र ४/३।

- (अंगसुतापि, लाहौर, खण्ड १, पृष्ठ १६६)।

(च) जीवाभिगमसूत्र

जीवाभिगमसूत्र में त्रस एवं स्थावर का स्पष्ट वर्गीकरण उपलब्ध होता है। उसमें स्पष्टतः पृथ्वी, अप् (पानी) और वनस्पति को स्थावर तथा अग्नि, वायु एवं द्वीन्द्रियादि को त्रस माना गया है।^{४२} आचार्य मलयगिरि ने जीवाभिगमसूत्र की टीका में त्रस एवं स्थावर के वर्गीकरण के आधार को प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि जो प्रतिकूल परिस्थितियों का त्याग करके दूसरे स्थान पर जाते हैं, अथवा जो इच्छापूर्वक ऊर्ध्व, अधो एवं तिर्यक् - दिशा में गमन करते हैं, वे त्रस हैं। उन्होंने लब्धि की अपेक्षा से तेजस् (अग्नि) और वायु को स्थावर किन्तु गति की अपेक्षा से त्रस कहा है।^{४३} जीवाभिगमसूत्र का यह दृष्टिकोण उत्तराध्ययनसूत्र में वर्णित त्रस एवं स्थावर के वर्गीकरण से साम्य रखता है।

(छ) तत्त्वार्थसूत्र

उत्तराध्ययनसूत्र के समान ही तत्त्वार्थसूत्र^{४४} (श्वेताम्बर परम्परा के मूल पाठ) में तथा आचार्य उमास्वाति कृत तत्त्वार्थसूत्र के स्वोपज्ञभाष्य में पृथ्वी, अप् एवं वनस्पति को स्थावरनिकाय तथा अग्नि, वायु एवं द्वीन्द्रियादि को त्रसजीवनिकाय में वर्गीकृत किया गया है।^{४५} दिगम्बरपरम्परा की तत्त्वार्थसूत्र की टीकाओं में पृथ्वी, अप्, अग्नि, वायु और वनस्पति इन पांचों को स्थावर माना है।^{४६}

(ज) पंचास्तिकाय

पंचास्तिकाय के रचयिता आचार्य कुन्दकुन्द ने पांच प्रकार के एकेन्द्रिय जीवों में केवल पृथ्वी, अप् और वनस्पति को स्थावर शरीर युक्त तथा अनिल

४२ जीवाभिगम १/१२ एवं ७५ - (उर्वगसुत्तानि, लाडनू, खण्ड १, पृष्ठ २१७ एवं २२४)।

४३ 'गतित्रसेष्यन्तर्भावविशेषात्, तेजोवायुनां तद्व्या स्यादरागामपि सतां'

-जीवाभिगम टीका (उद्धृत - 'डॉ. सागरस्यत जैन अभिनन्दन ग्रन्थ', पृष्ठ १३०)।

४४ तत्त्वार्थसूत्र २/१२, १३ एवं १४।

४५ तत्त्वार्थभाष्य २/१३ पृष्ठ ४०।

४६ (क) तत्त्वार्थसूत्र (सर्वार्थसिद्धि टीका) २/१२ पृष्ठ १२३;

(ख) वही (राजवर्तिक टीका) २/१२ पृष्ठ १२६।

(वायु) एवं अनल (अग्नि) को त्रस माना है। उत्तराध्ययनसूत्र के समान पंचास्तिकाय में भी षट्जीवनिकाय का क्रम— पृथ्वी, अप, अग्नि, वायु वनस्पति एवं त्रस के रूप में मिलता है। इस सन्दर्भ में उत्तराध्ययनसूत्र एवं पंचास्तिकाय की गाथाएं भी साम्य रखती हैं।⁴⁷ डॉ. सागरमल जैन की मान्यता है कि उत्तराध्ययनसूत्र एवं पंचास्तिकाय आदि में उपलब्ध षट्जीवनिकाय का यह क्रम स्थावर एवं त्रस जीवों की अपेक्षा से न होकर एकेन्द्रिय आदि के वर्गीकरण के आधार पर है।⁴⁸

५.७ षट्जीवनिकाय के भेद—प्रभेद

संसार में परिभ्रमण करने वाले जो जीव कर्मों से युक्त होते हैं वे संसारी जीव कहलाते हैं। जैनपरम्परा में संसारी जीवों के भेद अनेक अपेक्षाओं से किये गये हैं। उत्तराध्ययनसूत्र के छत्तीसवें अध्ययन में संसारी जीव के सर्वप्रथम दो भेद किये गये हैं— त्रस एवं स्थावर। स्थावर के पुनः पृथ्वी, जल एवं वनस्पति ऐसे तीन भेद बतलाये गये हैं। इसी प्रकार त्रस के भी अग्निकाय, वायुकाय और उदारत्रस ऐसे तीन भेद किये गये हैं।⁴⁹

स्थावर के भेद

(१) पृथ्वीकायिक जीव

जिन जीवों का शरीर पृथ्वी का होता है वे पृथ्वीकायिक जीव कहलाते हैं। उत्तराध्ययनसूत्र में पृथ्वीकायिक जीवों के सूक्ष्म एवं बादर दो भेद किये गये हैं। पुनः पर्याप्तक एवं अपर्याप्तक के रूप में इन दोनों के भी दो-दो अवान्तर भेद किये गये हैं।⁵⁰ पर्याप्तक आत्मा की एक शक्ति है और इस शक्ति के द्वारा जीव पुद्गलों का आहरण करके उन्हें आहार रूप में, शरीर रूप में, इन्द्रिय रूप में, श्वास एवं उच्छ्वास रूप में, भाषा रूप में और मन रूप में परिणत करता है। पुद्गल-परिणमन

४७ पंचास्तिकाय ११० एवं १११ ।

४८ 'डॉ. सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ' पृष्ठ १२८ ।

४९ उत्तराध्ययनसूत्र ३६/६८ एवं १०७ ।

५० उत्तराध्ययनसूत्र ३६/७० ।

की इस शक्ति को ही पर्याप्ति कहा जाता है। पर्याप्ति को पूर्ण करने वाला जीव 'पर्याप्तक' एवं उन्हें पूर्ण नहीं करने वाला जीव 'अपर्याप्तक' कहलाता है।

प्राणी जिस योनि में जन्म लेता है, उस योनि योग्य पर्याप्तियों को पूर्ण करने वाला जीव ही पर्याप्त कहलाता है। वनस्पति में चार पर्याप्तियाँ होती हैं, अतः वनस्पतिकाय में जन्म लेने वाला जीव आहारपर्याप्ति, शरीरपर्याप्ति, इन्द्रियपर्याप्ति, श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति— इन चार पर्याप्तियों को प्राप्त करने पर पर्याप्त बन जाता है। जबकि द्वीन्द्रिय आदि जीव उपर्युक्त चार के साथ भाषा पर्याप्ति मिलने पर तथा संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव उपर्युक्त पांच के साथ छद्दी मनः पर्याप्ति मिलने पर पर्याप्त कहे जाते हैं। उत्तराध्ययनसूत्र में बादर पर्याप्तक पृथ्वीकाय के पुनः मुख्यतः मृदु (श्लक्ष्ण) एवं कठोर—ये दो भेद किये हैं। पश्चात् मृदु पृथ्वी के सात एवं खर (कठोर) पृथ्वी के छत्तीस भेदों का निरूपण किया गया है।^{५१} जीवाभिगमसूत्र में पृथ्वीकायिक जीवों के छः प्रकार बतलाये गये हैं यथा — (१) श्लक्ष्ण पृथ्वी; (२) शुद्ध पृथ्वी; (३) बालुका पृथ्वी; (४) मनः शिला पृथ्वी; (५) शर्करा पृथ्वी और (६) खर पृथ्वी।^{५२}

(क) मृदु पृथ्वी के प्रकार : उत्तराध्ययनसूत्र में मृदु पृथ्वी के सात भेद रंग की अपेक्षा से किये गये हैं— (१) कृष्ण, (२) नील, (३) रक्त, (४) पीत, (५) श्वेत, (६) पाण्डु (भूरी मिट्टी) और (७) पनक (अतिस्फुमरज)।

(ख) खर (कठोर) पृथ्वी : उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार खर—पृथ्वी के छत्तीस भेद निम्न हैं :— शुद्ध पृथ्वी, शर्करा, बालुका, उपल (पाषाण), शिला, लवण, उष (नौनी मिट्टी), लोहा, ताम्बा, त्रपुक (रांगा), शीशा, चांदी, सोना, वज्र (हीरा), हरिताल, हिंगुलः मैनसिका, सासक (सीसा), अंजन, प्रवाल, अभ्रपटल अभ्रक/भोडल, अभ्रबालुक (अभ्रमिश्रित बालू), गोमेदक, रुचक, अंक, स्फटिक, लोहिताक्ष, मरकत, मसारगल्ल, भुजमोघक, इन्द्रनील, चन्दन, गेरू, हंसगर्भ, पुलक, सौगन्धिक, चन्द्रप्रम, वैडूर्य, जलकान्त एवं सूर्यकान्त आदि विविध रत्न। सूक्ष्म पृथ्वीकाय का एक ही भेद है। उत्तराध्ययनसूत्र में इसे अनानत्व कहा है अर्थात् यह नाना प्रकार के भेदों से रहित है।

५१ उत्तराध्ययनसूत्र ३६/७१ से ७७ ।

५२ जीवाभिगम ३/६०१

— (उत्तमसुताणि, लाहर्न, खण्ड १, पृष्ठ ३७५) ।

सूक्ष्म पृथ्वीकायिक जीव सम्पूर्ण लोक में एवं बादर । पृथ्वीकाय लोक के एक भाग में व्याप्त हैं।^{५३}

(२) अप्कायिक जीव

अप्कायिक—जीव जिनकी काय अर्थात् शरीर जलरूप होता है, वे अप्काय के जीव होते हैं। उत्तराध्ययनसूत्र में अप्काय के जीवों के सर्वप्रथम सूक्ष्म एवं बादर ये दो भेद किये गये हैं। पुनः इन्हीं दोनों के पर्याप्त और अपर्याप्त के रूप में दो दो भेद किये गये हैं यथा— १. सूक्ष्म—पर्याप्तक २. सूक्ष्म—अपर्याप्तक ३. बादर पर्याप्तक एवं ४. बादर—अपर्याप्तक।

बादर पर्याप्तक अप्काय जीवों के पांच भेद किये गये हैं— (१) शुद्धोदक (वर्षा का जल), (२) ओस, (३) हरतणु (पत्तों आदि पर रहे हुए जल कण), (४) महिका (कुहासा) एवं (५) हिम (बर्फ)।^{५४} उत्तराध्ययनसूत्र में वर्णित बादर अप्काय के इन पांच भेदों की अपेक्षा प्रज्ञापनासूत्र में बादर पर्याप्तक अप्काय के १७ भेदों का उल्लेख है।^{५५} उनका समावेश पूर्वोक्त पांच भेदों में हो जाता है। वैसे आगे उत्तराध्ययनसूत्र के ३६वें अध्ययन की ९वीं गाथा में वर्ण, गंध, रस आदि की अपेक्षा से अप्काय के अनेक भेद बताये गये हैं। उसमें कहा गया है कि वर्ण, गंध, रस, स्पर्श और संस्थान की अपेक्षा से अप्काय के हजारों भेद हैं।^{५६}

(३) वनस्पतिकायिक जीव

वनस्पति ही है शरीर जिनका, ऐसे जीव वनस्पतिकायिक जीव कहलाते हैं। वनस्पतिकाय के सूक्ष्म—पर्याप्तक, सूक्ष्म—अपर्याप्तक, बादर—पर्याप्तक एवं बादर अपर्याप्तक के रूप में चार भेद हैं। बादर पर्याप्तक के पुनः दो भेद हैं—साधारण शरीर एवं प्रत्येक शरीर।^{५७} उत्तराध्ययनसूत्र टीकाकार गणिवर भावविजयजी के अनुसार जब एक ही शरीर में अनेक जीवों का समान रूप से निवास होता है तो वे साधारण शरीर कहलाते हैं किन्तु जब एक शरीर में मुख्य रूप से एक ही जीव का निवास होता है, वे प्रत्येक शरीर कहलाते हैं।^{५८} प्रत्येक शरीर के आश्रित भी अपने—अपने स्वतन्त्र शरीरों को लेकर अनेक जीव रह सकते हैं। वैसे तो साधारण

५३ उत्तराध्ययनसूत्र ३६/७८ ।

५४ उत्तराध्ययनसूत्र ३६/८४ एवं ८५।

५५ प्रज्ञाना सूत्र १/२३

५६ उत्तराध्ययनसूत्र ३६/९१ ।

५७ उत्तराध्ययनसूत्र ३६/९२ एवं ९३ ।

५८ उत्तराध्ययनसूत्र टीका पत्र ३३७८

— (उत्संगसुताणि, लाङ्गु, खण्ड २, पृष्ठ ११)

— गणिवर भावविजयजी ।

एवं प्रत्येक दोनों के अनेक प्रकार हैं, परन्तु उनके कुछ भेदों का ही निरूपण उत्तराध्ययनसूत्र में किया गया है।⁵⁹

(क) प्रत्येक वनस्पतिकाय : उत्तराध्ययनसूत्र में प्रत्येक वनस्पतिकाय के भेद जातिगत आधार पर बतलाये गये हैं। प्रत्येक शरीर के अनेक भेद हैं उत्तराध्ययनसूत्र में निम्न बारह भेद निर्दिष्ट हैं— (१) वृक्ष (२) गुच्छ (३) गुल्म— नवभालिका (४) लता - चम्पकलता आदि (५) वल्ली - करेला ककड़ी आदि की बेलें (६) तृण— दूर्वा, घास आदि (७) लतावल्या— नारियल, केला आदि (८) पर्वज— संधि से उत्पन्न होने वाले ईख बांस आदि (९) कुहण— (कु—पृथ्वी, हण—भेदने वाली) भूमिस्फोट आदि (१०) जलरूह— कमल आदि (जल में उत्पन्न) (११) औषधि त्रय— जौ, आदि और (१२) हरितकाय आदि।

(ख) साधारण वनस्पतिकाय : साधारण वनस्पतिकाय के उत्तराध्ययनसूत्र में निम्न २२ नामों का उल्लेख करके फिर कह दिया गया है कि ऐसे अनेक प्रकार हैं— आलू, मूली, शृंगबेर (अदरक), हिरिलीकन्द, सिरिलीकन्द, जावईकन्द, केद—कंदलीकन्द, पलाण्डु (प्याज), लहसुन, कन्दली, कुस्तुम्बक, मोही, सिन्हु, कुहक, कृष्ण, वज्रकन्द, सूरणकन्द, अश्वकर्णी, सिंहकर्णी, मुसुंढी, और हरिद्रा आदि। ऊपर लिखित नामों में कई नाम प्रसिद्ध एवं कई अप्रसिद्ध हैं। इनका परिचय अलग-अलग देश की भाषा विशेष से हो सकता है। जैनपरम्परा में साधारण वनस्पतिकाय को जमीकन्द एवं अनन्तकाय भी कहा गया है। इसके लक्षण का वर्णन करते हुये जीवविचार प्रकरण में कहा गया है— जिनकी नसें, संधियां और गांठें गुप्त हों, जिनको तोड़ने से समान टुकड़े हों, जो काटने पर भी पुनः उग जाये उन्हें साधारण वनस्पतिकाय कहते हैं। इससे विपरीत प्रत्येक वनस्पतिकाय है।⁶⁰

त्रसकाय के भेद

(१) अग्निकायिक जीव : अग्निकायिक जीवों का शरीर तेजस् (अग्नि) से निर्मित होता है। इसके भी चार भेद हैं — सूक्ष्म—पर्याप्तक, सूक्ष्म—अपर्याप्तक, बादर पर्याप्तक एवं बादर—अपर्याप्तक। बादर पर्याप्तक अग्निकायिक जीव के अनेक प्रकार

⁵⁹ उत्तराध्ययनसूत्र, ३६/६४ से ६६।

⁶⁰ जीवविचारप्रकरण भाषा १२।

हैं^{६१}— जैसे अंगार (धूमरहित अग्नि/अंगारे), मुर्मुर् (राखयुक्त अग्नि), अग्नि (सामान्य अग्नि), अर्चि (अग्निशिखा/दीपशिखा), ज्वाला, उत्का, विद्युत्/इत्यादि। गणिवर भावविजयजी ने उत्तराध्ययनसूत्र की टीका में अर्चि का अर्थ समूल अग्निशिखा एवं ज्वाला का अर्थ मूल रहित अग्निशिखा किया है।^{६२} कुछ विद्वानों की मान्यता में यहां अर्चि से तात्पर्य चिंगारी और ज्वाला से तात्पर्य समूल अग्निशिखा है।

(२) वायुकायिक जीव : वायु ही है शरीर जिनका ऐसे जीव वायुकायिक जीव कहलाते हैं। उत्तराध्ययनसूत्र में इनके मुख्यतः सूक्ष्म पर्याप्तक, सूक्ष्म अपर्याप्तक, बादर पर्याप्तक, एवं बादर अपर्याप्तक, ऐसे चार भेद किये गये हैं। बादर पर्याप्तक वायुकायिक जीव के पांच प्रकार भेद हैं जैसे— उत्कलिका (रुक-रुक कर बहने वाली), मण्डलिका (चक्राकार), घनवात (घनीभूत वायु), गुंजावात (शब्द करने वाली), शुद्धवात (मन्द-मन्द पवन), संवर्तक (जो तृणादि उड़ाकर बहती है,) आदि।^{६३} एकेन्द्रिय जीवों के उपर्युक्त भेदों के अतिरिक्त वर्ण, गंध, रस, स्पर्श और संस्थान की अपेक्षा से इन सभी के असंख्यात भेद होते हैं।^{६४}

एकेन्द्रिय जीवों की भवस्थिति

जीव एक जन्म में जितने काल तक जीवित रहता है वह उसकी भवस्थिति या आयुस्थिति कहलाती है। उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार सभी एकेन्द्रिय—(पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु एवं वनस्पति) — जीवों की न्यूनतम आयु अन्तर्मुहूर्त अर्थात् एक समय से लेकर ४८ मिनट से कुछ न्यून होती है। इन सभी की अधिकतम आयु भिन्न-भिन्न होती है जैसे पृथ्वीकायिक की २२ हजार वर्ष, अपकायिक की ७ हजार वर्ष, वनस्पतिकायिक की १० हजार वर्ष, अग्निकायिक की तीन अहोरात्र (३ दिन रात) और वायुकायिक की ३ हजार वर्ष है। इस आयु के पूर्ण होने पर ये जीव दूसरा शरीर धारण कर लेते हैं।^{६५}

६१ उत्तराध्ययनसूत्र ३६/१०८ से ११०।

६२ उत्तराध्ययनसूत्र टीका पत्र ३३८६

६३ उत्तराध्ययनसूत्र ३६/११७ से ११९।

६४ उत्तराध्ययनसूत्र ३६/८३, ६१, १०४, ११६ एवं १२४।

६५ उत्तराध्ययनसूत्र ३६/८०, ८२, १०२, ११३ एवं १२२।

- गणिवर भावविजयजी।

एकेन्द्रिय जीवों की कायस्थिति

एक ही जीव निकाय में निरन्तर जन्म ग्रहण करते रहने की काल मर्यादा को 'कायस्थिति' कहते हैं। जैसे यदि पृथ्वीकाय का जीव मृत्यु को प्राप्त कर पुनः पृथ्वीकाय में ही उत्पन्न होता है तो वह उस जीव की कायस्थिति कहलाती है। एक काय (जाति) का जीव उसी काय में लगातार कितने समय तक रह सकता है उसका वर्णन करते हुए उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है— 'पृथ्वी, जल, अग्नि एवं वायु के जीवों की कायस्थिति जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त तथा उत्कृष्टतम असंख्यात वर्षों की है; वनस्पतिकाय जीवों की कायस्थिति जघन्य, अन्तर्मुहूर्त तथा उत्कृष्ट अनन्त काल की है।'⁶⁶

एकेन्द्रिय जीवों का अन्तरकाल

अन्तरकाल का शाब्दिक अर्थ बीच का समय है। जीवों के सन्दर्भ में इसे उदाहरण से समझा जा सकता है, जैसे पृथ्वीकाय का जीव आयुसमाप्ति के पश्चात् अप्काय आदि अन्य काय में उत्पन्न होकर पुनः उसी काय अर्थात् पृथ्वीकाय में जन्म धारण करे; इस बीच की अवधि को अन्तरकाल कहा जाता है। संक्षेप में किसी कायविशेष का जीव मरकर अन्य काय में जन्म धारण करने के पश्चात् कालान्तर में पुनः उसी काय में जन्म ग्रहण करे; यह बीच का अन्तराल अन्तरकाल कहलाता है।

पृथ्वीकाय आदि के जीव पुनः कितने काल बाद उसी काय में जन्म धारण कर सकते हैं, इसको स्पष्ट करते हुए उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय एवं वायुकाय के जीवों का अन्तरकाल जघन्य अन्तर्मुहूर्त एवं उत्कृष्ट अनन्तकाल है। वनस्पतिकाय के जीवों का अन्तरकाल जघन्य अन्तर्मुहूर्त तथा उत्कृष्ट असंख्यात वर्ष है।⁶⁷

६६ उत्तराध्ययनसूत्र ३६/८१, ८६, ११४, १२३ एवं १०३।

६७ उत्तराध्ययनसूत्र ३६/८२, ६०, ११२, १२४ एवं १०४।

द्वीन्द्रिय जीव

उत्तराध्ययनसूत्र के अन्तर्गत द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय एवं पंचेन्द्रिय जीवों को उदार त्रस कहा गया है।⁶⁸ इन्हें उराल या उदार कहने का तात्पर्य यह है कि इनमें एकेन्द्रिय स्थावर जीवों की अपेक्षा विशिष्ट शक्तियां होती हैं। जिन जीवों के दो इन्द्रियां अर्थात् स्पर्शेन्द्रिय एवं रसनेन्द्रिय होती हैं वे द्वीन्द्रिय जीव कहलाते हैं।

द्वीन्द्रिय जीवों के मूलतः दो भेद हैं— पर्याप्तक एवं अपर्याप्तक। पुनः जाति की अपेक्षा से द्वीन्द्रिय जीव के अनेक भेद किये गये हैं। जैसे कृमि, सौमंगल, केंचुआ, मातृवाहक, वासीमुख, सीप, शंख, शंखनक (छोटे-छोटे शंख), पल्लोय, अणुल्लक, कौड़ी, जौक, जालक, चन्दनक/अक्षनिया आदि।⁶⁹

त्रीन्द्रिय जीव

जो जीव स्पर्शेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय एवं घ्राणेन्द्रिय—इन तीन इन्द्रियों से युक्त होते हैं वे त्रीन्द्रियजीव कहलाते हैं। उत्तराध्ययनसूत्र में त्रीन्द्रिय जीवों के निम्न प्रकारों का उल्लेख प्राप्त होता है— कुंथु, चींटी, खटमल, मकड़ी, दीमक, तृणाहारक, काष्ठाहारक (घुन), मालुक, पत्राहारक, कर्पासास्थि, तिन्दुक, त्रपुषमिजक, शतावरी, कानखजुरा, इन्द्रकायिक, इन्द्रगोपक इत्यादि।⁷⁰

चतुरिन्द्रिय जीव

स्पर्श, रसना, घ्राण और चक्षु — इन चार इन्द्रियों वाले जीव चतुरिन्द्रिय कहलाते हैं। उत्तराध्ययनसूत्र में इनके मुख्यतः पर्याप्तक एवं अपर्याप्तक ऐसे दो भेद तथा अवान्तर अनेक भेद किये गये हैं— अन्धिका, पोत्तिका, मक्षिका, मच्छर, भ्रमर, कीट, पतंग, पिस्सू, कुंकुण, कुक्कुड, शृंगीरीटी, नन्दावर्त, बिच्छू, डोल, झोंगुर, विरली, अक्षिवेधक, अक्षिल, मागध, अक्षिरोडक, विचित्र, चित्र—पत्रक, ओहिंजलिया, जलकारी, नीचक, तन्तवक आदि।⁷¹

६८ उत्तराध्ययनसूत्र ३६/१२६ ।

६९ उत्तराध्ययनसूत्र ३६/१२७, १२८, १२९ एवं १३० ।

७० उत्तराध्ययनसूत्र ३६/१३६, १३७, १३८ एवं १३९ ।

७१ उत्तराध्ययनसूत्र ३६/१४४, १४६, १४७ एवं १४८ ।

उदार त्रस जीव सूक्ष्म नहीं होते हैं, अतः इनमें सूक्ष्म रूप भेद नहीं होता है। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय एवं चतुरिन्द्रिय जीव स्थूल होते हैं। ये लोक के एक देश में रहते हैं।⁷² ये जाति की अपेक्षा से अनादिकाल से हैं⁷³ एवं इनकी जघन्य आयुष्य (अल्प से अल्प) अन्तर्मुहूर्त तथा उत्कृष्ट (अधिक से अधिक) द्वीन्द्रिय जीवों की १२ वर्ष, त्रीन्द्रिय जीवों की ४६ दिन और चतुरिन्द्रिय की ६ मास है।⁷⁴ द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय एवं चतुरिन्द्रिय जीवों की कायस्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त एवं उत्कृष्ट संख्यात काल की है।⁷⁵ इनका अन्तरकाल जघन्य अन्तर्मुहूर्त एवं उत्कृष्ट अनन्तकाल है।⁷⁶ ये प्रवाह/जीव समूह की अपेक्षा से अनादि-अनन्त तथा जीव-विशेष/एक जीव की अपेक्षा से सादि-सान्त हैं।

पंचेन्द्रिय जीव

स्पर्श, रसना, घ्राण, चक्षु एवं श्रोत्र-इन पांचों इन्द्रियों से सम्पन्न जीव पंचेन्द्रिय जीव कहलाते हैं। उत्तराध्ययनसूत्र में पंचेन्द्रिय जीव के मुख्यतः चार प्रकारों का उल्लेख किया गया है। (१) नारक (२) तिर्यच (३) मनुष्य एवं (४) देव।⁷⁷ प्रज्ञापनासूत्र में भी पंचेन्द्रिय जीव के ये ही चार प्रकार बतलाये गये हैं।⁷⁸ ये भेद गति के आधार पर किये गये हैं। गति की अपेक्षा से तो एकैन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि जीव भी तिर्यच हैं, क्योंकि सभी तिर्यच पंचेन्द्रिय नहीं होते। किन्तु यहां पंचेन्द्रिय तिर्यच ही लेना अभीष्ट है। तिर्यचों में पंचेन्द्रिय भी होते हैं। अब हम उपर्युक्त चारों प्रकार के पंचेन्द्रिय जीवों का क्रमशः विवेचन करेंगे।

(१) नारकी जीव : नरक में रहने वाले जीव नारकी कहलाते हैं। ये अधोलोक में निवास करते हैं और पापकर्मों के कारण भयंकर कष्टों को सहन करते हैं। तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार नरक के जीव नपुंसक एवं उपपाद जन्म वाले होते हैं।⁷⁹ नरक का वर्णन करते हुए उत्तराध्ययनसूत्र में कहा है कि अधोलोक में नीचे-नीचे क्रमशः सात पृथिव्यां हैं— १. रत्नप्रभा २. शर्कराप्रभा ३. बालूकाप्रभा ४. पंकप्रभा ५. धूमप्रभा ६. तमः और ७. तमस्तमा। इन सात नरक क्षेत्रों में उत्पन्न होने के कारण

७२ उत्तराध्ययनसूत्र ३६/१३०, १३६ एवं १४६।

७३ उत्तराध्ययनसूत्र ३६/१३१, १४० एवं १५०।

७४ उत्तराध्ययनसूत्र ३६/१३२, १४१ एवं १५१।

७५ उत्तराध्ययनसूत्र ३६/१३३, १४२ एवं १५२।

७६ उत्तराध्ययनसूत्र ३६/१३४, १४३ एवं १५३।

७७ उत्तराध्ययनसूत्र ३६/१५५।

७८ प्रज्ञापना सूत्र १/५२

७९ तत्त्वार्थसूत्र २/३४ एवं ५०।

(उदगमुतापि, लाडनू, खण्ड २, पृष्ठ २४)।

नरक के जीव भी सात प्रकार के माने जाते हैं । नारकी के जीव यावज्जीवन नरक में ही रहते हैं। ये जीवविशेष की अपेक्षा से सादि-सान्त एवं प्रवाह की अपेक्षा से अनादि अनन्त हैं वर्ण, गंध, रस, स्पर्श एवं संस्थान (शरीर-सरचना) की अपेक्षा से नरक के जीवों के असंख्य भेद हैं।⁸⁰

नारकीय जीवों की आयुस्थिति : नारक जीव मृत्यु को प्राप्त कर पुनः नरक में उत्पन्न नहीं होते हैं। इनकी भवस्थिति और कायस्थिति एक ही है अर्थात् इनका जो आयुष्य है वही इनकी कायस्थिति भी है। नारकीय जीवों के आयुष्य का निर्धारण भी क्षेत्र की अपेक्षा से है। प्रथम नरक के जीवों की जघन्य आयु दस हजार वर्ष एवं उत्कृष्ट आयु एक सागरोपम है। द्वितीय नरक के जीवों की जघन्य आयु एक सागरोपम एवं उत्कृष्ट तीन सागरोपम की है। तृतीय नरक के जीवों की जघन्य आयु तीन सागरोपम एवं उत्कृष्ट सात सागरोपम है। चौथी नरक के जीवों की जघन्य आयु सात सागरोपम एवं उत्कृष्ट दस सागरोपम है। पांचवी नरक के जीवों का जघन्य आयुष्य दस सागरोपम एवं उत्कृष्ट सत्रह सागरोपम है। छठी नरक के जीवों का जघन्य आयु सत्रह सागरोपम एवं उत्कृष्ट बाईस सागरोपम है। सातवीं नरक के जीवों की जघन्य आयु बाईस सागरोपम एवं उत्कृष्ट तैंतीस सागरोपम है।⁸¹

(२) **तिर्यंच :** जन्म ग्रहण करने की प्रक्रिया के आधार पर उत्तराध्ययनसूत्र में तिर्यंच के दो भेद बतलाये गये हैं— (१) सम्मूर्च्छिम तिर्यंच (२) गर्भज तिर्यंच।⁸² सम्मूर्च्छिम तिर्यंच — नर-मादा के संयोग के बिना अशुचिस्थानीय पुद्गलों में उत्पन्न होने वाले जीव, सम्मूर्च्छिम तिर्यंच जीव कहलाते हैं । जो मनः पर्याप्ति के अभाव में सदैव मूर्च्छित अवस्था में रहते हैं। दो इन्द्रिय वाले जीवों से लेकर यावत् असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव सम्मूर्च्छिम जीव कहलाते हैं। आज वैज्ञानिक प्रयोगों ने भी इस बात को सिद्ध कर दिया है। उन्होंने भेड़ क्लोन - भेड़ के शरीर के एक भाग से एक नई भेड़ को उत्पन्न किया है। रज-वीर्य के संयोग का अभाव होने पर भी पुद्गल से जीव की उत्पत्ति का यह एक प्रमाण है। गर्भज - जो गर्भ से उत्पन्न होने वाले जीव गर्भज कहलाते हैं। सम्मूर्च्छिम एवं गर्भज दोनों

८० उत्तराध्ययनसूत्र ३६/१५६ से १५६ एवं १६६।

८१ उत्तराध्ययनसूत्र ३६/१६० से १६८।

८२ उत्तराध्ययनसूत्र ३६/१७०।

जीवों के जल, पृथ्वी एवं आकाश में गति करने की अपेक्षा से पुनः तीन-तीन भेद किये गये हैं (१) जलचर (२) थलचर एवं (३) खेचर।⁸³

(१) जलचर— जल में चलने फिरने और रहने वाले जीव जलचर कहलाते हैं। उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार जलचर जीव पांच प्रकार के हैं। मत्स्य, कच्छप, ग्राह, मकर एवं शुभमार। वर्णादि की अपेक्षा से इनके असंख्यात भेद हैं।⁸⁴

(२) थलचर— पृथ्वी पर चलने फिरने रहने वाले जीव थलचर जीव कहलाते हैं। उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार इनके मुख्य दो भेद हैं—चतुष्पद अर्थात् चार पांव वाले एवं परिसर्प अर्थात् रेंगकर चलने वाले। पुनः चतुष्पद के चार भेद एवं परिसर्प के दो भेद किये गये हैं।⁸⁵

थलचर के भेद

- (क) एकखुर— जिनके पांव के नीचे एक खुर अर्थात् एक रेखा हो वे एक खुर वाले जीव हैं, जैसे अश्व आदि ।
- (ख) द्विखुर— जिनके पांव के नीचे दो खुर/दो रेखा हों वे द्विखुर जीव कहलाते हैं, जैसे बैल आदि ।
- (ग) गण्डीद— वर्तुलाकार पांव वाले जीव गण्डीद जीव कहलाते हैं । जैसे हाथी आदि ।
- (घ) सनखपद— जिनके पांव नख युक्त हैं वे सनखपद जीव कहलाते हैं । जैसे सिंह आदि ।

परिसर्प जीव दो प्रकार के हैं—

- (क) भुजपरिसर्प — भुजा के सहारे गति करने वाले जीव भुज परिसर्प कहलाते हैं, जैसे गोधा, छिपकली, चूहा आदि ।
- (ख) उरःपरिसर्प— दक्षस्थल के सहारे रेंगने वाले जीव उरः परिसर्प जीव कहलाते हैं, जैसे—सांप आदि ।

८३ उत्तराध्ययनसूत्र ३६/१७१ ।

८४ उत्तराध्ययनसूत्र ३६/१७२ एवं १७८ ।

८५ उत्तराध्ययनसूत्र ३६/१७६, १८० एवं १८१ ।

(३) **खेचर**— आकाश में विचरण करने वाले जीव खेचर कहलाते हैं।⁶⁶

उत्तराध्ययनसूत्र में इनके चार प्रकार बतलाये गये हैं।

(क) **चर्मपक्षी**— चमड़ी की पांखों वाले जीव चर्मपक्षी जीव कहलाते हैं, जैसे चमगादड़ आदि।

(ख) **रोमपक्षी**— रोम की पांख वाले जीव रोमपक्षी जीव कहलाते हैं, जैसे हंस आदि।

(ग) **समुद्रगपक्षी**— जिनके पंख समुद्रगक अर्थात् डिब्बे के आकार के समान सदैव बन्द रहते हैं, वे समुद्रगपक्षी कहलाते हैं।

(घ) **विततपक्षी**— जिनके पंख सदा खुले हुए रहते हों, वे विततपक्षी कहलाते हैं।

समुद्रगपक्षी एवं विततपक्षी, मनुष्य लोक के बाहर के द्वीप-क्षेत्रों में पाये जाते हैं।

(3) **मनुष्य** — मनुष्य योनि में उत्पन्न होने वाले जीव मनुष्य कहलाते हैं। उत्पत्ति की अपेक्षा से इनके भी दो प्रकार हैं— सम्मूर्च्छिम एवं गर्भोत्पन्न। क्षेत्र की अपेक्षा से तीन भेद हैं— कर्मभूमिज, अकर्मभूमिज, एवं अन्तर्द्वीपज। कर्मभूमिज मनुष्यों के पन्द्रह, अकर्मभूमिज मनुष्यों के तीस एवं अन्तर्द्वीपज मनुष्यों के अट्ठाईस भेद हैं।⁶⁷

(क) **कर्मभूमिज**— जिस क्षेत्र में व्यक्ति स्वपुरुषार्थ के आधार पर जीवन का निर्वाह करता हो वह क्षेत्र कर्मभूमि कहलाता है तथा उस क्षेत्र में जन्म लेने वाले मनुष्य कर्मभूमिज कहलाते हैं।

(ख) **अकर्मभूमिज**— जिस क्षेत्र में व्यक्ति का जीवन पूर्णतः प्रकृति पर आधारित होता है, वह क्षेत्र अकर्मभूमि क्षेत्र कहलाता है। इन क्षेत्रों में समाजव्यवस्था, राजव्यवस्था, धर्मव्यवस्था तथा अरि, भसि, कृषि सम्बन्धी व्यापार का अभाव होता है। इनमें रहने वाले जीवों की आवश्यकतायें कल्पवृक्षों (सभी मनोकामनाओं को पूर्ण करने वाले वृक्षों) के द्वारा पूरी होती हैं।

६६ उत्तराध्ययनसूत्र ३६/१८८।

६७ वही ३६/१८५, १९६ एवं १९७।

(ग) अन्तर्द्वीपज— समुद्र के मध्य द्वीपों में रहने वाले मनुष्य अन्तर्द्वीपज कहलाते हैं।

मनुष्य की आयु स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट तीन पल्योपम की है तथा कायस्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त, तथा उत्कृष्ट पृथक्च करोड़ पूर्व अधिक तीन पल्योपम की है।

(४) देव : देवगति की प्राप्ति का कारण बताते हुये उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि सामान्यतः अधर्म (अशुभकर्मों) के त्याग एवं धर्म (शुभकर्मों) के आचरण से देवगति प्राप्त होती है।^{९०} देवों में दो श्रेणियां पाई जाती हैं— उच्च श्रेणी एवं निम्न श्रेणी। देवता उपपाद—जन्म वाले एवं वैक्रिय शरीरी होते हैं। उत्तराध्ययनसूत्र में देवताओं के मुख्य चार भेदों का उल्लेख है— (१) भवनपति (२) व्यन्तर (३) ज्योतिषी और (४) वैमानिक।^{९१} 'तत्त्वार्थसूत्र' में भी देवताओं के मुख्य ये ही चार भेद बताये हैं।^{९२} इनके अवान्तर पच्चीस भेद हैं—^{९३}

(१) भवनपति— भवनों में रहने एवं उनके अधिपति होने के कारण ये देव भवनवासी या भवनपति कहलाते हैं। इनका निवासस्थान रत्नप्रभा पृथ्वी है। रत्नप्रभा का पिण्ड एक लाख अस्सी हजार योजन मोटाई वाला है। उसमें से ऊपर के एक सहस्र योजन एवं नीचे के एक सहस्र योजन को छोड़कर मध्य के एक लाख अठहत्तर हजार योजन में भवनपति देवों के सात करोड़ बहत्तर लाख भवन हैं, जिनमें प्रायः भवनपति देवों की उत्पत्ति मानी गई है। गणिवर भावविजयजी के अनुसार आहार, विहार, वेशभूषा आदि राजकुमारों की तरह होने के कारण इन्हें कुमार शब्द से अभिहित किया जाता है।^{९२} भवनपति देवों के दस प्रकार हैं (१) असुरकुमार (२) नागकुमार (३) सुपर्णकुमार (४) विद्युत्कुमार (५) अग्निकुमार (६) द्वीपकुमार (७) उदधिकुमार (८) दिक्कुमार (९) वायुकुमार और (१०) स्तनितकुमार।^{९३}

९० 'चिच्चा अधम्मं धम्मिदूते, देवेसु उवकज्जई ॥'

- उत्तराध्ययन ७/२६ का अंश।

९१ उत्तराध्ययनसूत्र ३६/२०४।

९० तत्त्वार्थसूत्र - दत्तुर्थ अध्ययन।

९१ 'दसहा उ भवनवासी, अट्ठहा लणचारिणो।

पंचविहा जोइसिया, दुविहा देमागिया तस ॥'

- उत्तराध्ययनसूत्र ३६/२०५।

९२ उत्तराध्ययनसूत्र टीका पत्र ३४३१

- गणिवर भावविजयजी।

९३ उत्तराध्ययनसूत्र ३६/२०६।

(२) व्यन्तर— इन्हें वाणव्यन्तर तथा वनचारी देव भी कहा जाता है । ये तीनों लोकों में स्वेच्छापूर्वक भ्रमण करते हुए वंत्, वृक्ष, वन आदि विविध स्थलों में निवास करते हैं। इनकी आठ जातियाँ हैं— (१) पिशाच (२) भूत (३) यक्ष (४) राक्षस (५) किन्नर (६) किंपुरुष (७) महोरग एवं (८) गन्धर्व।^{६४}

(३) ज्योतिषी— जो ज्योतिष चक्र में निवास करते हैं उनको ज्योतिषि देव कहा है। ये स्वयं ज्योतिरूप होते हैं। सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, ग्रह एवं तारागण के भेद से ये मुख्यतः पांच प्रकार के हैं।^{६५} इन पांचों में भी चर एवं अचर ऐसे दो भेद किए गए हैं। मनुष्यक्षेत्र में ये चर अर्थात् गतिमान होते हैं। इनकी गति से समय का बोध होता है। मनुष्यक्षेत्र के बाहर ज्योतिषीदेव अचर अर्थात् स्थिर हैं, अतः व्यवहारिककाल मनुष्यक्षेत्र तक ही सीमित माना गया है। भवनपति, व्यन्तर एवं ज्योतिषी इन तीनों देवों की उत्कृष्ट आयु क्रमशः कुछ अधिक एक सागरोपम, एक पत्योपम एवं एक लाख वर्ष अधिक, पत्योपम है तथा जघन्य आयु क्रमशः दस हजार वर्ष, दस हजार वर्ष एवं पत्योपम का आठवाँ भाग है। देव मरकर पुनः देव नहीं बनते, अतः देवताओं की आयुस्थिति ही उनकी भवस्थिति है।^{६६}

(४) वैमानिक— शुभकर्मों के परिणाम स्वरूप ये देव विशेष रूप से माननीय होते हैं। विमानों में निवास करने के कारण ये वैमानिक देव कहलाते हैं। व्यवस्था आदि के आधार पर वैमानिक देवों के दो प्रकार बताये गये हैं— (१) कल्पोत्पन्न (२) कल्पातीत।^{६७}

(१) कल्पोत्पन्न— कल्प अर्थात् आचार। व्यवस्था में रहने वाले इन्द्र आदि देव कल्पोत्पन्न वैमानिक देव हैं। दूसरे शब्दों में जहाँ स्वामी—सेवक की मर्यादा होती है, वे कल्पोत्पन्न देव हैं। इनके बारह भेद किये गये हैं— (१) सौधर्म (२) ईशानक (३) सनत्कुमार (४) माहेन्द्र (५) ब्रह्म (६) लान्तक (७) महाशुक्र (८) सहस्रार (९) आनत (१०) प्राणत (११) आरण और (१२) अच्युत। ये सभी ऊर्ध्वलोक में क्रमशः ऊपर ऊपर निवास करते हैं।^{६८}

६४ उत्तराध्ययनसूत्र ३६/२०७ ।

६५ उत्तराध्ययनसूत्र ३६/२०८ ।

६६ उत्तराध्ययनसूत्र ३६/२१६ से २२१ एवं २४५ ।

६७ उत्तराध्ययनसूत्र ३६/२०६ ।

६८ उत्तराध्ययनसूत्र ३६/२१० एवं २११ ।

(२) कल्पातीत वैमानिक देव— जहां स्वामी सेवक, बड़े छोटे आदि के व्यवहार का सर्वथा अभाव हो वे कल्पातीत देव हैं । इनके दो प्रकार हैं ग्रैवेयकवासी और अनुत्तर विमानवासी।⁹⁹

ग्रैवेयक— ग्रीवा (गर्दन) अर्थात् लोकपुरुष के ग्रीवास्थान में निवास करने वाले देव ग्रैवेयक नाम से प्रसिद्ध हैं। यद्यपि आगमों में स्पष्ट रूप से कहीं भी लोकपुरुष की अवधारणा उपलब्ध नहीं होती है तथापि लगभग दसवीं शताब्दी के पश्चात् जैन ग्रन्थों में लोक के संस्थान के सन्दर्भ में लोकपुरुष की कल्पना उपलब्ध होती है। फिर भी ग्रैवेयक शब्द का प्रयोग उत्तराध्ययनसूत्र जैसे प्राचीन आगम में होने से हमें यह मानना होगा कि प्राचीन काल में भी जैनपरम्परा में वैदिकपरम्परा के प्रभाव से कहीं न कहीं लोकपुरुष की अवधारणा अवश्य रही होगी अन्यथा देवों की इस चर्चा में ग्रैवेयक शब्द का प्रयोग नहीं होता ।

परवर्ती ग्रन्थों में लोकपुरुष की चर्चा करते हुए ग्रैवेयकों को लोकपुरुष का ग्रीवास्थानीय मानने के साथ यह भी माना है कि नौ ग्रैवेयकों में तीन ग्रैवेयक समानान्तर रूप से नीचे हैं। मध्य में तीन ग्रैवेयक हैं और फिर उनके ऊपर तीन ग्रैवेयक हैं।¹⁰⁰ इस प्रकार ग्रैवेयक तीन-तीन के वर्ग में लोकपुरुष की ग्रीवा के नीचे, मध्य में एवं ऊपर स्थित हैं। किन्तु उत्तराध्ययनसूत्र में ग्रैवेयक की जो चर्चा है उसे देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि नौ ही ग्रैवेयक क्रमशः एक दूसरे के ऊपर हैं। उनकी अवस्थिति इस प्रकार है— तीन ग्रैवेयकों का जो प्रथम वर्ग है उसमें क्रमशः नीचे, मध्य में और ऊपर ऐसे तीन ग्रैवेयक हैं। इसी प्रकार मध्य में जो तीन ग्रैवेयकों का वर्ग है उसमें नीचे, मध्य में एवं ऊपर ऐसे तीन ग्रैवेयक हैं एवं ऊपर के तीन ग्रैवेयकों का वर्ग है उसमें भी नीचे, मध्य में एवं ऊपर ऐसे तीन ग्रैवेयक हैं। इस प्रकार पूर्वोक्त विवेचन से ऐसा लगता है कि नवग्रैवेयक तीन-तीन के विभाग में होकर भी क्रमशः एक दूसरे के ऊपर ही स्थित हैं, उत्तराध्ययनसूत्र में नवग्रैवेयक के नाम निम्न प्रकार से दिये गये हैं—

९९ उत्तराध्ययनसूत्र ३६/२१२ ।

१०० तत्पारसूत्र

सुप्रतालजी, पृष्ठ १०५ ।

(१) अधस्तन—अधस्तन (२) अधस्तन—मध्यम (३) अधस्तन—उपरितन
 (४) मध्यम—अधस्तन (५) मध्यम—मध्यम (६) मध्यम—उपरितन (७) उपरितन—अधस्तन
 (८) उपरितन—मध्यम और (९) उपरितन—उपरितन।^{१०१}

पांच अनुत्तरविमाने— इनमें रहनेवाले देव कल्पातीत कहलाते हैं। इन देवलोकों में केवल सम्यक्दृष्टि आत्मा ही रहती है। अनुत्तर अर्थात् जिससे उत्तर कुछ न हो। अनुत्तरविमान के पांच प्रकार हैं— (१) विजय (२) वैजयन्त (३) जयन्त (४) अपराजित और (५) सर्वार्थसिद्ध।^{१०२}

इस प्रकार उत्तराध्ययनसूत्र में आत्ममीमांसा सम्बन्धी चर्चा विस्तृत रूप से की गई है।

१०१ 'हेट्टिमा हेट्टिमा केव, हेट्टिमानिज्जिमा केव ।
 हेट्टिमाउवरिमा केव, मज्जिमानहेट्टिमा तहा ॥२१३॥
 मज्जिमानमज्जिमा केव मज्जिमान उवरिमा तहा ।
 उवरिमा हेट्टिमा केव, उवरिमानमज्जिमा तहा ॥२१४॥
 उवरिमान उवरिमा केव, इय नेविज्जणा सुरा ।'

- उत्तराध्ययनसूत्र ३६/२१३, २१४, २१५ ।

१०२ उत्तराध्ययनसूत्र ३६/२१५ एवं २१६ ।

अध्याय - ६

उत्तराध्ययनसूत्र में प्रतिपादित
कर्मसिद्धांत



उत्तराध्ययनसूत्र में प्रतिपादित कर्ममीमांसा

विश्व में सर्वत्र विषमता ही विषमता दृष्टिगोचर होती है। प्रत्येक प्राणी एक दूसरे से भिन्न है, उनमें स्वभाव, आचार एवं व्यवहारगत अनेक भिन्नतायें हैं। प्राणीसृष्टि में तो व्यापक विविधता है ही, किन्तु केवल मानवसृष्टि पर दृष्टिपात करें तो उसमें भी शरीर, सुख, दुःख, बौद्धिक क्षमता या अक्षमता की विविधता दृष्टिगोचर होती है। इस विश्व-वैविध्य के सन्दर्भ में विचारकों ने अनेक कारण प्रस्तुत किए हैं -

कुछ विचारकों की मान्यता है कि समस्त विचित्रताओं का एकमात्र कारण 'काल' है। अन्य विचारक 'वस्तुस्वभाव' को इस वैविध्य का आधार मानते हैं। कुछ चिन्तकों के अनुसार 'नियति' ही सब कुछ है अर्थात् संसार के समस्त क्रियाकलाप/घटनाक्रम पूर्वनिश्चित हैं; तो कुछ दार्शनिक 'यदृच्छा' को जगत-वैचित्र्य का कारण मानते हैं। कुछ चिन्तक 'पंचमहाभूतों' को ही वैविध्य का कारण मानते हैं। उनके अनुसार यह समस्त संसार महाभूतों के विविध संयोगों का ही प्रतिफल है। कुछ विचारकों का मन्तव्य है कि यह संसार त्रिगुणात्मक 'प्रकृति' का ही खेल है; मानवीय सुख दुःख का आधार भी प्रकृति ही है। कुछ विचारकों के अनुसार जगत की विचित्रता 'ईश्वरीय' इच्छा का प्रतिफल है। अतः जो कुछ भी होता है उसका कारण सृष्टि के नियामक ईश्वर की इच्छा ही है। इन सबसे भिन्न कुछ मनीषी 'पुरुषार्थ' अर्थात् वैयक्तिक प्रयत्नों को ही सारे परिवर्तन का कारण मानते हैं।

जगत की विचित्रता के सन्दर्भ में काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा पंचमहाभूत, प्रकृति, ईश्वर तथा पुरुषार्थ आदि मान्यतायें समीचीन प्रतीत नहीं होतीं क्योंकि ये सभी एकांगी दृष्टिकोण की परिचायक हैं। कालवाद की समालोचना करते हुए डॉ. सागरमल जैन ने लिखा है: 'व्यक्ति की सुख-दुःखात्मक अनुभूति का आधार काल नहीं हो सकता है। क्योंकि काल ही यदि कारण है तो एक ही समय में एक

व्यक्ति सुखी और दूसरा व्यक्ति दुःखी नहीं हो सकता, फिर अचेतन काल हमारी सुख-दुःखात्मक चेतन अवस्थाओं का कारण कैसे हो सकता है।^१ इसी प्रकार स्वभाव, नियति अथवा यदृच्छा को ही जगत-वैविध्य का एकमात्र कारण माना जाय तो फिर प्रयत्न या पुरुषार्थ का महत्त्व नहिं वत् रह जायेगा। ईश्वरेच्छा को सुख-दुःख का कारण मानने पर ईश्वर के अन्यायी और अकारुणिक होने का प्रसंग आयेगा।

इन सब के विपरीत यदि पुरुषार्थ को ही एकमात्र कारण माना जाय तो काल, स्वभाव, नियति या यदृच्छा का कोई स्थान नहीं रहेगा। अकेला पुरुषार्थ भी तब तक सफल नहीं होता है, जब तक अन्य निमित्त का संयोग न हो। पुरुषार्थ की सफलता या असफलता अन्य निमित्तों पर आश्रित रहती है। इसलिए जैन दार्शनिकों ने अपने कर्मसिद्धान्त में इन सभी कारणों को समन्वित करते हुए पंचकारण समवाय की अवधारणा प्रस्तुत की है। उनके अनुसार कर्म में उसकी प्रकृति (स्वभाव), स्थिति (काललब्धि), नियतफलप्राप्ति (नियति) और पुरुषार्थ (कर्म) सभी का स्थान है। काल, स्वभाव आदि सापेक्ष सत्ता को स्वीकार कर व्यक्ति को अपने अच्छे-बुरे कर्म के लिये स्वयं को ही उत्तरदायी बनाना जैन कर्मसिद्धान्त है।

जैन कर्मसिद्धान्त में कालवाद का स्थान कर्मविपाक के अन्तर्गत है; क्योंकि विपाक दृष्टि से प्रत्येक कर्म की एक निश्चित कालमर्यादा होती है। प्रत्येक कर्म का एक नियत स्वभाव होता है। यह तथ्य स्वभाववाद को स्वीकार करता है। जैन कर्मसिद्धान्त के अनुसार निकाचित कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ता है। इस प्रकार कर्मवाद में नियति का तत्त्व भी समाहित है। कर्मसिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति स्वयं अपना निर्माता, नियन्ता और स्वामी है। अतः पुरुषार्थ का भी महत्त्व है।

आचार्य सिद्धसेन के अनुसार काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकर्म और पुरुषार्थ परस्पर निरपेक्ष रूप में कार्य की व्याख्या करने में अयथार्थ बन जाते हैं जबकि ये ही सिद्धान्त सापेक्ष रूप से समन्वित होकर कार्य की व्याख्या करने में सफल हो जाते हैं।^२

१ 'जैन बौद्ध एवं गीता के आधारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन'
२ 'सम्मतितत्त्वकरण' ३/५३।

- प्रथम भाग, पृष्ठ ३०२, डॉ. सागरमल जैन।

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि कर्मसिद्धान्त एक व्यापक सिद्धान्त है, जिसमें अन्य सभी सिद्धान्तों का समवेत रूप से समावेश है। आगे हम उत्तराध्ययनसूत्र के सन्दर्भ में जैन कर्मसिद्धान्त की चर्चा करेंगे।

६.१ कर्म का स्वरूप

सामान्यतः 'यत् क्रियते तत् कर्म' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो कुछ किया जाता है वह कर्म है, इस प्रकार कर्म का साधारण अर्थ क्रिया, कार्य या व्यापार है, किन्तु जैनदर्शन में 'कर्म' शब्द विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इसके अन्तर्गत कर्म को क्रिया का हेतु एवं परिणाम दोनों माना गया है।

उत्तराध्ययनसूत्र में कर्म की परिभाषा देते हुए कहा गया है कि जिनसे बद्ध होकर जीव संसार में परिभ्रमण करता है, वे कर्म हैं।^३ इससे यह स्पष्ट होता है कि संसार परिभ्रमण की निमित्तभूत इच्छा से की गई क्रिया ही कर्म कहलाती है; साधारण क्रिया नहीं। इस परिभाषा को स्पष्ट करते हुए उत्तराध्ययनसूत्र की टीकाओं में लिखा है कि मिथ्यात्व, कषाय आदि कारणों से जीव के द्वारा जो कुछ किया जाता है, वह 'कर्म' कहलाता है।^४

उत्तराध्ययनसूत्र में एक दृष्टान्त के द्वारा कर्म को स्पष्ट करते हुए कहा गया है— जिस प्रकार एक साथ मिट्टी के दो ढेलों को दीवार पर फेंका जाय, उन ढेलों में एक शुष्क और एक आर्द्र हो तो वे दोनों दीवार तक पहुँचते अवश्य हैं, किन्तु उनमें जो आर्द्र ढेला होता है वह दीवार से चिपक जाता है और जो शुष्क ढेला होता है वह दीवार से चिपकता नहीं है। इसी प्रकार मिथ्यात्व, कषाय आदि से युक्त (आर्द्र) क्रिया आत्मा के साथ सम्पृक्त हो जाती है तथा इन हेतुओं से रहित होकर विरक्त भाव से की गई क्रिया बन्धन का कारण नहीं होती है।^५

३ 'जेहिं (कर्मार्थ) बद्धो अर्ब जीवो, संसारे परिकराए'

- उत्तराध्ययनसूत्र ३३/१।

४ 'क्रियन्ते मित्याद्यदि हेतुमिज्जिनेते कर्माणि ।'

- उत्तराध्ययनसूत्र टीका (आगम पंखगी क्रम ४१/५)

(क) पत्र - ३१८१

-- (गणितवियवर्गी);

(ख) पत्र - ३१८८

-- (शान्तपाश्चर्य);

(ग) पत्र - ३१६४

-- (सम्मीलितभगणि);

(घ) पत्र - ३१६६

-- (कर्मसंयमोपाध्यय);

५ 'उल्लो सुक्खे प दो सुद्धा, पोतया भट्टियानव्व ।

दो वि आवडिअ कुड्डे, जो उल्लो सा तथ लग्गई ॥'

'एवं लग्गति दुग्गह, जे नरा खन ताससा ।

विरता उ न लग्गति, जह सुक्खे उ गोलओ ॥'

- उत्तराध्ययनसूत्र २५/४२ एवं ४३ ।

रागद्वेष से मुक्त जीव के होनेवाले कर्म क्षय होजाते हैं । वे ईर्यापथिक कर्म कहलाते हैं। ईर्यापथिक कर्म पहले समय में बन्धते हैं, और दूसरे समय में उदय में आकर तीसरे समय में निर्जरित हो जाते हैं।

६.२ कर्मबन्ध के कारण

आचार्य देवेन्द्रसूरि कर्म की परिभाषा प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं कि जीव की क्रिया का जो हेतु है, वह कर्म है।^६ क्रिया के हेतु पांच हैं—

(१) मिथ्यात्व; (२) अविरति; (३) प्रमाद; (४) कषाय; और (५) योग।

मिथ्यात्व— अतत्त्व में तत्त्व एवं तत्त्व में अतत्त्व की दृष्टि मिथ्यात्व है। विपरीत तत्त्वश्रद्धा मिथ्यात्व कहलाती है। दूसरे शब्दों में अयथार्थ में यथार्थ तथा यथार्थ में अयथार्थ की प्रतीति मिथ्यात्व है। इसके आमिग्रहिक, अनामिग्रहिक आदि पांच भेद हैं।

अविरति— पापकर्म से विरत न होना अविरति है। चारित्रमोहनीयकर्म के कारण जीव आंशिक या सर्वरूप में हिंसा आदि पापकारी प्रवृत्तियों से विरत नहीं हो पाता है— यही अविरति है।

प्रमाद— आत्मसजगता एवं विवेक का अभाव प्रमाद है।

कषाय— जो भाव आत्मपरिणाम को क्लुषित करते हैं वे कषाय कहलाते हैं। दूसरे शब्दों में आत्मा की रागद्वेषात्मक प्रवृत्ति कषाय है। इसके चार प्रकार हैं— क्रोध, मान, माया और लोभ।

योग— योग का अर्थ प्रवृत्ति है अर्थात् मन, वचन एवं काया की शुभ या अशुभ प्रवृत्ति का नाम योग है।

यहां ज्ञातव्य है कि योग कर्मबन्ध का गौणकारण है; मुख्य नहीं। क्योंकि, बन्ध के पूर्व चार प्रकारों के अभाव में मात्र योग के निमित्त से होने वाला कर्मवर्गणाओं का बन्ध ईर्यापथिकबन्ध कहलाता है। और ईर्यापथिकबन्ध एक समय का होता है। उसमें स्थिति का अभाव है। अतः यह बन्ध वास्तविक अर्थ

६ 'कीरड़ जीएण हेऊँहि, जेण ते धनए कम्म ।'

में बन्ध ही नहीं है। इस प्रकार योग कर्मबन्ध का महत्त्वपूर्ण कारण नहीं है। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय में विरोधी अन्तर नहीं है। कषाय के अभाव में प्रमाद तथा प्रमाद के अभाव में कषाय नहीं हो सकता। इसी प्रकार अविरति के मूल में भी कषाय ही रहे हुए हैं। अतः कषाय में प्रमाद एवं अविरति दोनों का अन्तर्भाव हो जाता है। फिर बन्धन के शेष कारण मिथ्यात्व एवं कषाय में प्रमुख कौन है, इस पर वर्तमान में विद्वानों ने व्यापक रूप से चिन्तन किया है।

आचार्य विद्यासागरजी आदि का एक वर्ग इन दोनों में कषाय को प्रमुख मानता है तो दूसरी ओर कानजी स्वामी की विचारधारा से प्रभावित दूसरा वर्ग मिथ्यात्व को बन्धन का प्रमुख कारण मानता है, किन्तु डॉ. सागरमल जैन का कहना है कि कषाय और मिथ्यात्व दोनों ही अन्योन्याश्रित हैं। मिथ्यात्व तभी समाप्त होता है जब कषायें समाप्त होती हैं और अनन्तानुबन्धी कषायों के समाप्त होने पर मिथ्यात्व समाप्त होता है। ये ताप और प्रकाश के समान सहजीवी हैं। इनमें एक के अभाव में दूसरे की सत्ता नहीं रहती है।

कर्मबन्ध के प्रकार

कर्मबन्ध के कारणों को यदि संक्षेप में कहना चाहें तो कर्मबन्ध के मूल कारण राग-द्वेष एवं मोह या आसक्ति हैं। उत्तराध्ययनसूत्र के बत्तीसवें अध्ययन में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि राग-द्वेष कर्म के बीज हैं।¹

कर्मपरमाणु जब आत्मा से संयोजित होते हैं तो उनका आत्मा के साथ चार प्रकार का बन्ध होता है। उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार बन्ध के वे चार प्रारूप निम्न हैं।

(१) प्रकृतिबन्ध — प्रकृति का अर्थ स्वभाव होता है। कर्मों के स्वभाव का निर्धारण प्रकृतिबन्ध के आधार पर होता है। दूसरे शब्दों में प्रकृतिबन्ध से आत्मा से सम्पृक्त कर्मपुद्गलों के स्वरूप का निर्धारण होता है। प्रकृतिबन्ध को स्पष्ट करते हुए पण्डित सुखलालजी लिखते हैं कि— जैसे वातनाशक पदार्थों से बने लड्डुओं का स्वभाव वायु को नाश करने, पित्तनाशक पदार्थों से बने हुए लड्डुओं का स्वभाव पित्त को शान्त करने और कफनाशक पदार्थों से बने लड्डुओं का स्वभाव कफ को नष्ट करने का होता है; वैसे ही आत्मा के द्वारा गृहीत पुद्गलों में से कुछ में आत्मा के

ज्ञानगुण को अच्छादित करने की, कुछ में आत्मा की सामर्थ्य को दबा देने का स्वभाव होता है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न कर्मपुद्गलों में भिन्न-भिन्न प्रकार की आत्मिक शक्तियों के आवरण की क्षमता होती है।^१ इसे ही प्रकृतिबन्ध कहते हैं। इससे कर्मपुद्गलों के स्वरूप (Nature) का निर्धारण होता है।

(२) स्थितिबन्ध - कर्मपुद्गलों को आत्मा के साथ कितने समय तक सम्बन्ध रहेगा है, इसका निर्धारण स्थितिबन्ध करता है अर्थात् इससे यह निश्चय होता है कि आत्मा की ज्ञान, दर्शन आदि की जो शक्तियाँ आवृत हुई हैं, वे कितने समय या काल के लिए हुई हैं। इस प्रकार आत्मा के साथ कर्मों के सम्बन्ध की काल मर्यादा (Duration) का निर्धारण स्थितिबन्ध कहलाता है।

(३) अनुभागबन्ध (रस) - कर्मों के बन्धन एवं विपाक की तीव्रता तथा मन्दता का निश्चय अनुभागबन्ध के आधार पर होता है। वस्तुतः कर्मबन्धन के समय होने वाले तीव्र एवं मन्द भाव के आधार पर ही कर्मों की तीव्रता या मन्दता का निर्धारण होता है। अनुभागबन्ध इस बात का द्योतक है कि कर्मबन्ध के समय जीव के भाव कैसे थे ?

यह इस बात का द्योतक है कि कर्मों का बन्ध संश्लिष्ट भावों में हुआ है या सामान्य भावों में।

उत्तराध्ययनचूर्णि में कर्म के शुभ-अशुभ विपाक को अनुभाग कहा गया है।^२ दूध रूप से समान प्रकृति वाला होते हुए भी भैंस के दूध में चिकनाहट अधिक होती है, बकरी के दूध में कम, इस प्रकार कर्म की प्रकृति की तरतमता का भाग अनुभाग (Degree) है। प्रकृति एवं अनुभाग में यह अन्तर है कि प्रकृति सामान्य है और अनुभाग उसका विशेष जैसे 'आम' नाम के पदार्थ की प्रकृति तो मीठापन है, पर वह कितना मीठा है, कम या अधिक, वह उसका अनुभाग है।

(४) प्रदेशबन्ध - कर्मपुद्गलों की मात्रा का निश्चय प्रदेशबन्ध के आधार पर होता है। भिन्न-भिन्न प्रकार की परमाणु संख्याओं से युक्त कर्म-दलिकों (स्कन्धों) के द्वारा आत्मा की शक्तियों को अच्छादित करना प्रदेशबन्ध कहलाता है। यह कर्म पुद्गलों की मात्रा (Quantity) का निर्धारण करता है। जीवप्रदेशों का कर्म पुद्गलों के साथ जो सम्बन्ध होता है उसे प्रदेशबन्ध कहा जाता है।

१ 'कर्मबन्ध' प्रथम, पृष्ठ ५

२ उत्तराध्ययनचूर्णि

- पं. सुखरावजी ।

- (आम पंचांगी क्रम ४१/५, पत्र ३१६४) ।

कर्मबन्ध के पूर्वोक्त चारों प्रकारों में प्रकृतिबन्ध एवं प्रदेशबन्ध का आधार योग अर्थात् मन, वचन और काया की प्रवृत्तियाँ हैं। दूसरे शब्दों में प्रकृतिबन्ध एवं प्रदेशबन्ध का सम्बन्ध योग से है जबकि स्थितिबन्ध एवं अनुभागबन्ध का सम्बन्ध कषाय से है क्योंकि बन्धन की समयावधि एवं रस अर्थात् तीव्रता या मन्दता कषायभाव पर आधारित है। सामान्यतः कर्मबन्ध में प्रकृति आदि चारों की उपस्थिति अनिवार्य है। मात्र सयोगी वीतरागी आत्मा द्वारा होने वाले कर्मबन्ध में प्रकृति एवं प्रदेश ही होते हैं। उनमें स्थिति मात्र एक समय की तथा अनुभाग जघन्य होता है। अतः नहिंवत् होने से वहाँ प्रकृति एवं प्रदेश की ही प्रधानता होती है।

६.३ कर्म की विभिन्न प्रकृतियाँ

प्रकृति अर्थात् स्वभाव के आधार पर कर्मों के मुख्यभेद आठ तथा अवान्तरभेद एक-सौ अष्टावन् प्रतिपादित किये गये हैं। कर्मवर्गणा के पुद्गल जब आत्मा के साथ बन्धते हैं तो वे आत्मा के परिणाम/भाव के अनुसार विविध स्वभाव एवं शक्ति वाले हो जाते हैं।

कर्मपुद्गल एकरूप होते हैं फिर भी ये जिस आत्मगुण को आवृत्त, विकृत और प्रभावित करते हैं, उनके अनुसार ही उन पुद्गलों का नाम हो जाता है। आत्मा के आठ गुण अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, क्षाधिकसम्यक्त्व, अक्षयस्थिति, अरूपीपन, अगुरुलघुता और अनन्तवीर्य हैं। आत्मा की मूलभूत शक्तियाँ आठ हैं। अतः उनके आवारक कर्म भी आठ हैं। उत्तराध्ययनसूत्र में कर्मों के निम्न आठ भेदों का उल्लेख किया गया है— (१) ज्ञानावरणीयकर्म (२) दर्शनावरणीयकर्म (३) वेदनीयकर्म (४) मोहनीयकर्म (५) आयुष्यकर्म (६) नामकर्म (७) गोत्रकर्म और (८) अंतराय कर्म।^{१०}

१० 'नमस्सवरिण्यं, संसनावरणं तथा ।
वेदिकर्मं तत्र मोहं, आउकर्मं तत्रैव य ॥'
'अक्षयं च गौर्यं च, अंतरायं तत्रैव य ।
एवमेवाह कृष्णाहं, अत्रैव उ समास्तौ ॥'

(१) ज्ञानावरणीयकर्म

आत्मा की ज्ञानशक्ति को आवृत करने वाले कर्मपुद्गल ज्ञानावरणीय कर्म कहलाते हैं। उत्तराध्ययनसूत्र की टीका में कहा गया है कि जैसे आंखों पर पट्टी बांध देने से आंख की देखने की शक्ति अवरुद्ध हो जाती है, वैसे ही ज्ञानावरणीयकर्म से आत्मा की ज्ञानशक्ति आवृत हो जाती है।^{११} इस कर्म का नाम ज्ञानविनाशकर्म नहीं होकर ज्ञानावरणीयकर्म है। इसमें प्रयुक्त 'आवरण' शब्द यह ज्ञापित करता है कि ज्ञानावरणीय कर्म आत्मा के ज्ञान को आवृत करता है; वह ज्ञान का समूलोच्छेदन नहीं करता, जैसे— सघन मेघ से आच्छादित होने पर भी सूर्य का इतना प्रकाश अवश्य बना रहता है, जिससे दिन—रात का बोध हो सके, वैसे ही प्रगाढ़ ज्ञानावरणीयकर्म का बन्ध होने पर भी आत्मा का ज्ञान गुण इतना अवश्य उद्घाटित रहता है, जिससे जीव और अजीव में भेद किया जा सके। निगोद के जीवों में भी अक्षर के अनन्तवें भाग जितना ज्ञान गुण अवश्य उद्घाटित रहता है।

इस प्रकार ज्ञानावरणीयकर्म आत्मा की ज्ञानशक्ति को आवृत एवं विकृत करता है, उसे विनष्ट नहीं करता। दूसरे शब्दों में वह ज्ञान प्राप्ति में मात्र अवरोधक बनता है। उत्तराध्ययनसूत्र में ज्ञान के मुख्य पांच प्रकारों के आधार पर ज्ञानावरणीयकर्म के भी निम्न पांच प्रकार प्रतिपादित किये गये हैं^{१२} -

- (१) श्रुतज्ञानावरण— बौद्धिक एवं आगमिक ज्ञान की क्षमता को अवरुद्ध करने वाले 'कर्मपुद्गल' श्रुतज्ञानावरण हैं।
- (२) मतिज्ञानावरण— ऐन्द्रिक एवं मानसिक ज्ञान की क्षमता को आवृत तथा विकृत करने वाले 'कर्मपुद्गल' मतिज्ञानावरण कहलाते हैं।
- (३) अवधिज्ञानावरण— मूर्त द्रव्य (पुद्गल) को साक्षात् जानने की शक्ति को आच्छादित करने वाले 'कर्मपुद्गल' अवधिज्ञानावरण हैं।
- (४) मनःपर्यायज्ञानावरण— दूसरों की मानसिक अवस्था को जानने की शक्ति को कुण्ठित करने वाले 'कर्मपुद्गल' मनःपर्यायज्ञानावरण कहे जाते हैं।

(५) केवलज्ञानावरण- पूर्ण ज्ञानशक्ति को आवृत करने वाले 'कर्मपुद्गल' केवलज्ञानावरण हैं।

समस्त जीवों में मतिज्ञान एवं श्रुतज्ञान ये दो ज्ञान अनिवार्य रूप से पाये जाते हैं और ये दोनों ज्ञान क्षायोपशमिक हैं। अतः इन पर पूर्ण आवरण नहीं होता। विपाक की दृष्टि से ज्ञानावरणीयकर्म के निम्न १० भेद भी किए गये हैं^{१३} -

(१) सुनने की शक्ति का अभाव; (२) सुनने से प्राप्त होने वाले ज्ञान की अनुपलब्धि; (३) देखने की शक्ति का अभाव; (४) दृश्य ज्ञान की अनुपलब्धि; (५) गंध ग्रहण करने की शक्ति का अभाव; (६) गंध सम्बन्धी ज्ञान की अनुपलब्धि; (७) स्वाद ग्रहण करने की शक्ति का अभाव; (८) स्वाद सम्बन्धी ज्ञान की अनुपलब्धि; (९) स्पर्श क्षमता का अभाव; और (१०) स्पर्श सम्बन्धी ज्ञान की अनुपलब्धि।

ज्ञानावरणीयकर्म के उपर्युक्त दस भेद प्रायः मतिज्ञानावरण से ही सम्बन्धित प्रतीत होते हैं।

ज्ञानावरणीयकर्म के बन्धन के कारण

भगवतीसूत्र, तत्त्वार्थसूत्र और कर्मग्रन्थ में ज्ञानावरणीयकर्म के बन्धन के निम्न छः कारण प्रतिपादित किये गये हैं^{१४} -

(१) प्रदोष- ज्ञान, ज्ञानी एवं ज्ञान के साधनों के प्रति द्वेष रखना, उनका अवर्णवाद/निन्दा करना या उनके प्रतिकूल आचरण प्रदोषकर्म है।

(२) निह्व- ज्ञानी के उपकार को स्वीकार न करना, ज्ञानदाता गुरु के नाम को छिपाना तथा किसी विषय को जानते हुए भी उसका विपरीत प्ररूपण न करना, निह्वकर्म है। जमाली आदि सात निह्व जैनपरम्परा में प्रसिद्ध हैं, जिन्होंने भगवान महावीर के सिद्धान्तों की अपने मनमाने ढंग से प्ररूपणा की थी। यहाँ निह्व एवं विरोधी में अन्तर है। विरोधी स्पष्टतः विरोध करता है और

१३ उत्तराख्ययनसूत्र - ३३/४।

१४ इमानुयोग, प्रथम भाग, प्रथम पृष्ठ ६६

१४ (क) भगवती - ८/६/४२०

(ख) तत्त्वार्थसूत्र ६/११;

- डॉ. सागरपाल जैन।

- (अंगसुतापि, लाडनू, खण्ड २, पृष्ठ ३८५);

दूसरी परम्परा को स्वीकार कर लेता है, जबकि निम्हव उसी परम्परा में रहकर उसके सिद्धान्तों की स्वेच्छा से व्याख्या करता है।

(३) मात्सर्य- ज्ञानी के प्रति ईर्ष्या का भाव रखना तथा ज्ञान के साधन पुस्तक आदि के प्रति उपेक्षा एवं अनादर की वृत्ति रखना मात्सर्य है।

(४) अन्तराय- ज्ञान की प्राप्ति में बाधक बनना, ज्ञान के प्रचार एवं प्रसार के साधनों का विरोध करना, अपने पास ज्ञान के साधन पुस्तक दगैरह होने पर किसी अध्येता को न देना, अध्ययन करने वाले को उठाना, उसे अन्य कार्य में लगाना, कोई अध्ययन कर रहा हो तो जोर से बोलकर तथा अन्य प्रवृत्तियों से उसके अध्ययन में विघ्न या अन्तराय उपस्थित करना अन्तराय दोष है।

(५) आसादनम्- ज्ञान एवं ज्ञानी पुरुषों के कथन को स्वीकार नहीं करना, उनका समुचित विनय नहीं करना, ज्ञान के साधन का अपमान करना, थूक लगाकर पृष्ठ पलटना, कागज पर पैर लगाना, उस पर बैठना, खाना तथा उससे कूड़ा-करकट साफ करना आदि इसके अन्तर्गत आता है।

(६) उपघात- ज्ञानी के साथ मिथ्याग्रह या कदाग्रह करना अथवा स्वार्थवश सत्य को असत्य सिद्ध करने का प्रयास करना उपघात कर्म है।

पूर्वोक्त अनैतिक आचरणों के द्वारा ज्ञानावरणीयकर्म के परमाणु आत्मा के साथ सम्भूत होकर उसकी ज्ञानशक्ति को आवृत, विकृत एवं सीमित करते हैं।

(२) दर्शनावरणीयकर्म

वस्तु की सत्तामात्र की प्रतीति कराने वाला निर्विशेष सामान्यज्ञान 'दर्शन' कहलाता है तथा जो कर्मणवर्गणायें आत्मा की दर्शनशक्ति अर्थात् सामान्य अनुभूति में बाधक बनती हैं, वे दर्शनावरणीयकर्म कहलाती हैं। उत्तराध्ययनसूत्र की टीका में इसकी तुलना द्वारपाल से की गई है। जैसे द्वारपाल राजा के दर्शन में बाधक होता है, वैसे ही दर्शनावरणीयकर्म आत्मा की अनुभूति में बाधक बनता है।¹⁵

(१) कर्मव्य ग्रथम भाष गाथा ५४ ।

१५ उत्तराध्ययनसूत्र टीका पत्र ३१६२

- (समीक्षितभण्डि) ।

दर्शनावरणीयकर्म के बन्धन के कारण

भगवतीसूत्र, तत्त्वार्थसूत्र तथा कर्मग्रन्थ में ज्ञानावरणीयकर्म के समान दर्शनावरणीयकर्म के बन्धन के निम्न कारण प्रतिपादित किये गये हैं।¹⁶

(१) आत्मानुभूति या इन्द्रियानुभूति से सम्पन्न व्यक्ति के प्रति द्वेषबुद्धि रखना; (२) अनुभूत्यात्मक शक्ति को छुपाना; (३) आत्मानुभूति या आत्म साक्षात्कार करने वाले के प्रति उपेक्षा या अनादर का भाव रखना; (४) आत्मानुभूति या इन्द्रियानुभूति में बाधक बनना; और (५) आत्मानुभूति सम्पन्न व्यक्ति की अवमानना अथवा उसके साथ दुराग्रहपूर्वक विवाद करना।

दर्शनावरणीयकर्म की प्रकृति

उत्तराध्ययनसूत्र में दर्शनावरणीयकर्म की निम्न नौ प्रकृतियों का उल्लेख प्राप्त होता है।¹⁷

(१) निद्रा— उत्तराध्ययनसूत्र की टीका के अनुसार सोया हुआ व्यक्ति सुखपूर्वक जग जाए ऐसी नींद निद्रा कही जाती है¹⁸ और जिस कर्म के निमित्त से ऐसी नींद आती है, उपचार से वह कर्म भी निद्रा कहलाता है। दूसरे शब्दों में जिस कर्म के प्रभाव से जीव को सामान्य निद्रा आए, वह निद्रा दर्शनावरणीयकर्म कहलाता है।

(२) प्रचला— जिस कर्म के प्रभाव से खड़े-खड़े या बैठे-बैठे नींद आती हो वह प्रचला दर्शनावरणीयकर्म है।¹⁹

(३) निद्रा-निद्रा— जिस कर्म के प्रभाव से जीव को प्रगाढ़ निद्रा आए वह निद्रा-निद्रा दर्शनावरणीयकर्म है। ऐसी निद्रा वाला व्यक्ति बड़ी कठिनाई से जगता है।²⁰

१६ (क) भगवती ८/६/४२१

(ख) तत्त्वार्थसूत्र ६/११;

(ग) कर्मग्रन्थ १/२४ ।

- (अंगसुतापि, ताठनुं, खण्ड २, पृष्ठ ३८४)

१७ 'निद्रा तस्मै पयस्य, निद्रानिद्रा य पयसापयसा य ।

ततो य दीपगिद्धि उ, पंचमा सोइ नापयसा ॥

'कमलुमचकुञ्जोहिस्स, देसणे केवले य आवरणे ।

एवं तु नचविगम्यं, नापय्यं वंसणावरणं ॥'

- उत्तराध्ययनसूत्र ३३/५/६ ।

१८ उत्तराध्ययनसूत्र टीका पत्र ३१६५

- (ताम्बीवस्तुभगणि) ।

१९ उत्तराध्ययनसूत्र टीका पत्र ३१६५

- (ताम्बीवस्तुभगणि) ।

२० उत्तराध्ययनसूत्र टीका पत्र ३१६५

- (ताम्बीवस्तुभगणि) ।

बाधक होते हैं। दर्शनावरणीयकर्म के इन भेदों का क्रम प्रज्ञापना, अनुयोगद्वार आदि ग्रन्थों में कुछ भिन्न है।²⁴

(३) वेदनीयकर्म

जिस कर्म के द्वारा सुख-दुःख का अनुभव किया जाए वह वेदनीयकर्म कहलाता है। वेदनीयकर्म को शहद से लिप्त तलवार की उपमा दी जाती है। जैसे शहद से लिप्त तलवार चाटने पर तो सुखद व मधुर लगती है; लेकिन तलवार से जिह्वा के कट जाने पर दुःख होता है; वैसे वेदनीयकर्म बन्धन के समय सुखद प्रतीत होता है पर विपाक के समय अत्यन्त दुःखद होता है।

उत्तराध्ययनसूत्र में इसके मुख्य दो भेद किए गये हैं²⁵—

(१) सातावेदनीय — शारीरिक एवं मानसिक सुखद सम्बेदनाओं का कारण सातावेदनीयकर्म हैं।

(२) असातावेदनीय— शारीरिक एवं मानसिक दुःखद सम्बेदनाओं का कारण असातावेदनीयकर्म है।

सातावेदनीय तथा असातावेदनीय के भी अनेक भेद होते हैं। उत्तराध्ययनसूत्र की टीकाओं में भी इनके सम्पूर्ण भेदों के नामों का उल्लेख नहीं है। सातावेदनीय में मात्र अनुकम्पा आदि का तथा असातावेदनीय में पीडा, शोक, सन्ताप आदि का उल्लेख किया गया है।²⁶

प्रज्ञापनासूत्र में सातावेदनीय एवं असातावेदनीय इन दोनों कर्मों के आठ-आठ प्रकारों का उल्लेख मिलता है।²⁷ सातावेदनीय के आठ प्रकार— मनोज्ञशब्द, मनोज्ञरूप, मनोज्ञरस, मनोज्ञगंध, मनोज्ञस्पर्श, कायसुख, वाणीसुख और मनसुख हैं। इसके विपरीत असातावेदनीय के भी आठ भेद हैं, यथा— अमनोज्ञशब्द, अमनोज्ञरूप आदि।

२४ (क) प्रज्ञापना २३/१४

(ख) अनुयोगद्वार २२२

२५ 'वयणीयं पि दुषिहं, सायमसायं व आसिह्यं ।

सायस्स उ बहु भेषा, एवेव असायस्स वि ॥'

२६ उत्तराध्ययनसूत्र टीका (आगमपंखाणी क्रम ४१/५)

(क) पत्र - ३१२३

(ख) पत्र - ३१२६

२७ प्रज्ञापना २३/१५ एवं १६

- (उदंगसुत्ताणि, लाडनू, खण्ड २, पृष्ठ २२६);

- (नवसुत्ताणि, पृष्ठ ३३६) ।

- उत्तराध्ययनसूत्र ३३/७ ।

- (गणिशाब्दविजय जी);

- (नेमिषन्द्राचार्य) ।

- (उदंगसुत्ताणि, लाडनू, खण्ड २, पृष्ठ २२६)।

वेदनीयकर्म के बन्धन के कारण

जीव अनुकम्पा, व्रती अनुकम्पा, दान, सरागसंयम, अकामनिर्जरा, बालतप, क्षमा और पवित्रता, सातावेदनीयकर्म के कारण हैं।

अपने में, दूसरे में या दोनों में विद्यमान दुःख, शोक, ताप, आक्रन्दन, क्लेश और परिवेदन असातावेदनीयकर्म बन्धन के कारण हैं।

४. मोहनीय कर्म

जो कर्म आत्मा के विचार एवं आधार पक्ष को विकृत करता है। अथवा जो कर्म आत्मा के सम्यक्त्व और चारित्र्य गुण का घात करता है वह मोहनीयकर्म है। दूसरे शब्दों में जिस कर्म के कारण जीव की दृष्टि/सोच/चिन्तन एवं आचरण दूषित होता हो वह मोहनीयकर्म है।

उत्तराध्ययनसूत्र में मोहनीयकर्म के दर्शनमोहनीय और चारित्र्यमोहनीय, ऐसे दो मुख्य भेद हैं। इनके अवान्तर २६ या २८ भेद हैं।^{२६}

दर्शनमोहनीय कर्म

दर्शनमोहनीय कर्म में प्रयुक्त 'दर्शन' शब्द का अर्थ दृष्टिकोण अथवा श्रद्धा है। जैनदर्शन में 'दर्शन' शब्द के मुख्यतः चार अर्थ किये गये हैं— (१) आत्मानुभूति; (२) प्रत्यक्षीकरण; (३) दृष्टिकोण और (४) श्रद्धा। इनके प्रथम दो अर्थों का सम्बन्ध दर्शनावरणीयकर्म से है तथा अन्तिम दो अर्थों का सम्बन्ध मोहनीयकर्म से है। दर्शनमोहनीयकर्म के निम्न तीन भेद किए गए हैं—

(१) सम्यक्त्वमोहनीय— सम्यक्त्वमोहनीय का स्वरूप विशेष चिन्तनीय है, क्योंकि इसमें एक ओर सम्यक्त्व शब्द है जो कर्मनिर्जरा/मुक्ति का अमोघ उपाय है तो दूसरी ओर मोहनीय कर्म है जो कर्मों का केन्द्ररूप है। इसका शाब्दिक अर्थ होगा सम्यक्त्व के प्रति होने वाला मोह। इस प्रकार सत्य का आग्रह सम्यक्त्वमोहनीय कहा जा सकता है। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो दृष्टिकोण की आशिक विशुद्धि सम्यक्त्व मोहनीय है।

(२) मिथ्यात्वमोहनीय- लक्ष्मीवल्लभगणि उत्तराध्ययनसूत्र की टीका में इसके स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि सम्यक्त्व का आवरण मिथ्यात्वमोह है। इसमें मिथ्यात्वमोह के अशुद्ध कर्मदलिकों का आत्मा पर प्रभाव रहता है। इसके परिणामस्वरूप तत्त्व में अतत्त्वरुचि उत्पन्न होती है और अतत्त्व में तत्त्वरुचि । इस प्रकार वस्तुस्वरूप का विपरीतरूप में बोध होना मिथ्यात्वमोहनीय है।^{२९}

(३) मिश्रमोहनीय- मिश्रमोह का स्वरूप स्पष्ट करते हुए लक्ष्मीवल्लभगणि लिखते हैं^{३०} कि यह मिथ्यात्व का शुद्धाशुद्ध रूप होता है। इस अवस्था के अन्दर न तो जिनधर्म के प्रति पूरी तरह रागभाव होता है और न द्वेषभाव। इसकी स्थिति अन्तर्मुहूर्त होती है। जैसे किसी ऐसे द्वीप का निवासी जो हमारे द्वीपवासियों से परिचित नहीं है; वह न तो उन जीवों पर राग रखता है और नही द्वेष। इस प्रकार का स्वभाव मिश्रमोहनीय कहा जाता है।

उत्तराध्ययनसूत्र की टीका में मोहनीयकर्म के शुद्ध कर्मदलिकों की उपस्थिति सम्यक्त्वमोहनीय है। सम्यक्त्व के अज्ञान को सम्यक्त्वमोहनीय, मिथ्यात्व के अज्ञान को मिथ्यात्वमोहनीय तथा दोनों के मिश्रित अज्ञान को मिश्रमोहनीय भी कहा है। इसकी व्याख्या इस प्रकार से भी की जा सकती है- जिसमें मिथ्यात्व को मिथ्यारूप में तथा सम्यक्त्व को सम्यक् रूप में नहीं माना जाता है वह मिथ्यात्वमोहनीय है। इसके विपरीत मिथ्यात्व के स्वरूप को तो जान लिया जाता है किन्तु सम्यक्त्व के स्वरूप को नहीं जाना जाता है वह सम्यक्त्व मोहनीय है तथा सम्यक्त्व एवं मिथ्यात्व दोनों की ही अनिश्चयरूप स्थिति मिश्रमोहनीय है।

चारित्रमोहनीयकर्म

आचरण को विकृत करने वाला कर्म चारित्रमोहनीयकर्म है। यह कर्म विरति या त्याग में बाधा डालता है। इस कर्म के उदय से व्यक्ति सत्य को समझकर भी उसके अनुरूप आचरण नहीं कर पाता है। उत्तराध्ययनसूत्र में इसके मुख्य दो भेद किए गये हैं^{३१} - (१) कषायमोहनीय और (२) नोकषायमोहनीय।

कषायमोहनीय के सोलह एवं नोकषायमोहनीय के सात या अपेक्षा भेद से नौ भेद किए गये हैं। उत्तराध्ययनसूत्र में कषाय एवं नोकषाय के

२६ उत्तराध्ययनसूत्र टीका पृ ३१९७

- (लक्ष्मीवल्लभगणि)।

३० उत्तराध्ययनसूत्र टीका पृ ३१९७

- (लक्ष्मीवल्लभगणि)।

३१ 'चारित्रमोहं कर्म, दुर्विहं तु विवाहितं ।

कस्ताप मोहनिष्ण तु, नोकसायं तदेव य ॥'

- उत्तराध्ययनसूत्र ३३/१० ।

भेदों/नामों का उल्लेख नहीं हैं, किन्तु उत्तराध्ययनसूत्र की टीकाओं में इनके नामों का उल्लेख मिलता है जो निम्न हैं^{३२} -

कषाय मूलतः चार हैं - क्रोध, मान, माया एवं लोभ। इन चारों में प्रत्येक के अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानी और संज्वलन रूप भेद करने पर कषाय के सोलह भेद हो जाते हैं।

उत्तराध्ययनसूत्र के टीकाकार शान्त्याचार्य के अनुसार जो कषाय के सहयोगी भाव हैं, वे नोकषाय हैं। इनके नौ भेद हैं- (१) हास्य; (२) रति, (३) अरति, (४) शोक, (५) भय, (६) जुगुप्सा, (७) स्त्रीवेद, (८) पुरुषवेद और (९) नपुंसकवेद।^{३३}

नोकषाय के उपर्युक्त नौ भेद सामान्य की अपेक्षा से किये गये हैं। किन्तु व्यक्तिविशेष की अपेक्षा से तो सात ही भेद, होंगे, क्योंकि हास्यादि षट्भेदों के साथ तीनों वेद (कामवासना) में से एक वेद का ही उदय रहेगा। इस प्रकार कुल मिलाकर मोहनीयकर्म के २६ एवं २८ भेद हुए।

मोहनीयकर्मबन्ध के कारण

सामान्यतया मोहनीयकर्म का बन्ध निम्न कारणों से होता है - क्रोध, मान, माया, लोभ, अविश्वास और अविवेक।

५. आयुष्यकर्म

शरीरविशेष के साथ आत्मा के रहने की अवधि का निर्धारण करने वाला कर्म आयुष्यकर्म कहलाता है। जीव को किसी शरीर में नियत अवधि तक कैद रखने वाला कर्म आयुष्य कर्म है।

३२ उत्तराध्ययनसूत्र टीका (जागमपंचांगी क्रम ४१/५)

(क) पत्र - ३१६१

(ख) पत्र - ३१६७

(ग) पत्र - ३२०१

३३ उत्तराध्ययनसूत्र टीका पत्र ६४३

- (शान्त्याचार्य);
- (लक्ष्मीवत्सलभाषि);
- (कमलतस्यनौपाध्यय)।
- (शान्त्याचार्य)

आयुष्यकर्म का स्वरूप कारागृह के समान बताया गया है। जैसे कारागृह में पड़ा अपराधी अवधि पूर्ण हुए बिना वहां से निकल नहीं सकता, वैसे ही आयुष्यकर्म की अवधि पूर्ण हुए बिना जीव शरीर का त्याग नहीं कर सकता।

उत्तराध्ययनसूत्र में आयुष्यकर्म के चार प्रकार बतलाये गये हैं^{३४} -

- (१) नरकायु - नारकीय-जीवों द्वारा भोगी जाने वाली आयु;
- (२) तिर्यचायु - तिर्यच-जीवों (पशु, पक्षी) के द्वारा भोगी जाने वाली आयु;
- (३) मनुष्यायु - मनुष्य द्वारा भोगी जाने वाली आयु;
- (४) देवायु - देवों द्वारा भोगी जाने वाली आयु।

प्रत्येक गति के आयुष्यकर्म - बन्धन के भिन्न-भिन्न कारण हैं। स्थानांगसूत्र में इनका स्पष्ट विवरण प्राप्त होता है।^{३५}

(१) नारकीयजीवन की प्राप्ति के कारण-

(१) महारम्म- अत्यधिक हिंसक क्रूर कर्म (२) महापरिग्रह- अत्यधिक संचयवृत्ति; (३) पंचेन्द्रिय- जीवों का वध और (४) मांसाहार, शराब आदि नशीले पदार्थों का सेवन ।

(२) तिर्यचायु की प्राप्ति के कारण-

(१) छल-कपट (२) रहस्यपूर्ण आचरण अर्थात् दुष्कर्मों को छिपाने की वृत्ति (३) असत्यभाषण और (४) कम ज्यादा मापतौल ।

(३) मानवजीवन की प्राप्ति के कारण-

(१) प्रकृति भद्रता अर्थात् स्वाभाविक सरलता; (२) विनयशीलता, (३) करुणा और (४) अहंकार, मात्सर्य आदि दुर्गुणों का अभाव ।

(४) देवायु की प्राप्ति के कारण-

(१) सरागसंयम (२) आंशिक संयम/देशविरति (३) बालतप (इसे अज्ञान तप भी कहा जाता है) और (४) अकामनिर्जरा- स्वाभाविक रूप से कर्मों की निर्जरा ।

३४ 'नैरुप तिरिक्खाउ, मनुस्साउ त्थेव य ।

देवाउप वज्जं तु, आउकम्मं वउत्तिहं ।।

३५ स्थानांग ४/६२८ से ६३१

- उत्तराध्ययनसूत्र ३३/१२ ।

- (अंगमुत्तापि, लाडनं, खण्ड १, पृष्ठ ६७६)।

तत्त्वार्थसूत्र एवं कर्मग्रन्थ में भी चारों गतियों के प्रायः ये ही कारण माने गये हैं।³⁶ इस प्रकार अधम गुणों वाला नरक एवं तिर्यचगति, मध्यम गुणों वाला मनुष्यगति, एवं उत्तम गुणों वाला जीव देवगति को प्राप्त होता है।

(६) नामकर्म

जिस कर्म के उदय से जीव अनेकविध शारीरिक अवस्थाओं को प्राप्त करता है, वह नामकर्म कहलाता है। मनोविज्ञान की भाषा में नामकर्म को व्यक्तित्व के निर्धारण का कारण माना जा सकता है।

नामकर्म को चित्रकार की उपमा दी जाती है। जैसे चित्रकार विभिन्न रंगों से अनेक प्रकार के चित्र बनाता है, उसी प्रकार नामकर्म विभिन्न कर्म परमाणुओं से जगत के प्राणियों के शरीर की रचना करता है।

उत्तराध्ययनसूत्र में नामकर्म के मुख्यतः दो भेद प्रतिपादित किए गये हैं— शुभनामकर्म एवं अशुभनामकर्म। इसमें यह भी कहा गया है कि शुभ एवं अशुभ दोनों के अनेक भेद होते हैं,³⁷ किन्तु इन भेदों का नामोल्लेख नहीं किया गया है। उत्तराध्ययनसूत्र की टीकाओं में शुभनामकर्म के 37 एवं अशुभनामकर्म के 34, इस प्रकार कुल 71 भेद किये हैं।³⁸

नामकर्म के ये 71 भेद मध्यमविक्षा से किये गये हैं।³⁹ उत्कृष्टविक्षा से इसके 103 भेद होते हैं, किन्तु टीकाओं में नामकर्म के 71 भेदों के ही नाम मिलते हैं।

शुभनामकर्म के 37 भेद निम्न हैं—

३६ (क) तत्त्वार्थसूत्र - ६/१६, १७, १८, १९ व २०।

(ख) कर्मग्रन्थ - १/१७, १८ व १९।

३७ 'नामकर्म तु दुविहं, सुहमसुहं व आहियं।

सुहस्त उ बहूमेय, एमेव असुहस्त वि ॥'

- उत्तराध्ययनसूत्र ३३/१३।

३८ उत्तराध्ययनसूत्र टीका (आगम पंथानी क्रम ४१/५) -

(क) पत्र - ३१८५

- (गणिभावविजय जी);

(ख) पत्र - ३१६२

- (शान्तब्रह्मर्षि);

(ग) पत्र - ३१६८

- (सम्मीलिताभगिनि)।

३९ उत्तराध्ययनसूत्र टीका।

१. मनुष्यगति २. देवगति ३. पंचेन्द्रिय तिर्यचगति ४. औदारिकशरीर
 ५. वैक्रियशरीर ६. आहारकशरीर ७. तेजसशरीर ८. कर्मणशरीर ९. समचतुस्रसंस्थान
 १०. वज्रऋषमनाराचसंहनन ११. औदारिक अंगोपांग १२. वैक्रिय अंगोपांग १३. आहार अंगोपांग
 १४. प्रशस्त वर्ण १५. प्रशस्त गन्ध १६. प्रशस्त रस १७. प्रशस्त स्पर्श १८. मनुष्यानुपूर्वी
 १९. देवानुपूर्वी २०. अगुरुलघु २१. पराघात २२. उच्छवास २३. आप्त २४. उद्योत
 २५. प्रशस्त विहायोगति २६. त्रस २७. बादर २८. पर्याप्त २९. प्रत्येक ३०. स्थिर
 ३१. शुभ ३२. सुभग ३३. सुस्वर ३४. आदेय ३५. यशकीर्ति ३६. निर्माण
 ३७. तीर्थकर नामकर्म

अशुभ नामकर्म के ३४ भेद निम्न हैं—

१. नरकगति २. तिर्यचगति ३. एकेन्द्रिय ४. द्वीन्द्रिय ५. त्रीन्द्रिय
 ६. चतुरिन्द्रिय ७. ऋषमनाराच संहनन ८. नाराच संहनन ९. अर्धनाराच संहनन
 १०. कीलिका संहनन ११. सेवार्तिक संहनन १२. न्यग्रोध परिमडल संस्थान, १३. सादि
 संस्थान १४. वामन संस्थान १५. कुब्जक संस्थान १६. हुण्डक संस्थान १७. अप्रशस्तवर्ण
 १८. अप्रशस्त गन्ध १९. अप्रशस्त रस २०. अप्रशस्त स्पर्श २१. नरकायुनुपूर्वी
 २२. तिर्यचायुनुपूर्वी २३. उपघात २४. अप्रशस्तविहायोगति २५. स्थावर २६. सूक्ष्म
 २७. साधारण २८. अपर्याप्त २९. अस्थिर ३०. अशुभ ३१. दुर्मग ३२. दुस्वर
 ३३. अनादेय और ३४. अयशकीर्ति।

नामकर्म — बन्धन के कारण

भगवतीसूत्र में शुभनामकर्म अर्थात् प्रभावशाली व्यक्तित्व की उपलब्धि के निम्न चार कारण प्रतिपादित किये गये हैं^{४०} — (१) शरीर की सरलता (कोमलता) (२) वाणी की सरलता; (३) विचारों की सरलता और (४) सामंजस्यपूर्ण जीवन। इससे विपरीत निम्न प्रकार के अशुभाचरण से व्यक्ति अशुभनामकर्म का बन्धन करता है— (१) शरीर की वक्रता; (२) वचन की वक्रता; (३) मन की वक्रता और (४) अहंकार, मात्सर्य वृत्ति या असामंजस्यपूर्ण जीवन। तत्त्वार्थसूत्र में भी नामकर्म के बन्धन के कारण प्रायः पूर्वोक्त ही दिये गये हैं।^{४१}

(७) गोत्रकर्म

गोत्रकर्म के माध्यम से व्यक्ति प्रतिष्ठित एवं अप्रतिष्ठित कुलों में जन्म लेता है। इस कर्म की तुलना कुम्भकार से की जाती है। जैसे कुम्भकार

४० भगवती - ८/६/४२६ एवं ४३०

४१ तत्त्वार्थसूत्र - ६/२१ एवं २२।

— (अंगसुतापि, लाडन, खण्ड २, पृष्ठ ३८२)

मूल्यवान एवं अल्प मूल्यवान अनेक प्रकार के घड़े बनाता है, उसी प्रकार गोत्रकर्म के उदय से जीव उच्च एवं नीच कुल में उत्पन्न होता है।

उत्तराध्ययनसूत्र में गोत्रकर्म के उच्चगोत्र एवं नीचगोत्र ऐसे दो मुख्य भेद किए गये हैं। साथ ही इन दोनों के अवान्तर आठ भेद होते हैं, ऐसा संकेत भी किया गया है।⁴²

उत्तराध्ययनसूत्र की टीका में इन आठ भेदों के नाम निम्न प्रकार से दिये गये हैं⁴³ - (१) जाति; (२) कुल; (३) रूप/सौन्दर्य; (४) बल; (५) श्रुत या ज्ञान; (६) तप (७) लाम और (८) ऐश्वर्य। इन आठों भेदों के साथ उच्च शब्द जोड़ने पर ये उच्चगोत्रकर्म तथा इनके साथ नीच शब्द जोड़ने पर ये नीचगोत्रकर्म के भेद हो जाते हैं।

गोत्रकर्म के बन्धन के कारण

उत्तराध्ययनसूत्र की टीका में कहा गया है कि उच्च गोत्रकर्म के आठ प्रकारों का जो अहंकार करता है वह नीचगोत्र का उपार्जन करता है तथा जो इनका अहंकार नहीं करता वह उच्चगोत्र का बन्ध करता है। तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार परनिन्दा एवं आत्मप्रशंसा तथा दूसरों के सदगुणों का आच्छादन एवं असदगुणों का प्रकाशन नीचगोत्र के बन्धन का कारण है तथा इसके विपरीत परप्रशंसा, आत्मनिन्दा, सदगुणों का प्रकाशन, असदगुणों का गोपन, सरलता एवं नम्रता उच्चगोत्रकर्म के बन्धन के कारण हैं।⁴⁴

कर्मग्रन्थ के अनुसार अहंकार रहित गुणग्राही दृष्टिवाला और अध्ययन अध्यापन में रुचि रखने वाला उच्चगोत्र को प्राप्त करता है। इसके विपरीत आचरण करने वाला नीचगोत्र को प्राप्त करता है।⁴⁵

४२ 'गोत्रं कर्मं दुर्विहं, उच्चं नीचं च आश्रियं ।

उच्चं अहृद्विहं शोहं, एवं नीचं पि आश्रियं ॥'

- उत्तराध्ययनसूत्र ३३/१५ ।

४३ उत्तराध्ययनसूत्र टीका पृष्ठ ३१६६ ।

- (सम्बन्धितप्रमाण) ।

४४ तत्त्वार्थसूत्र ६/२४ एवं २५ ।

४५ कर्मग्रन्थ १/६० ।

(८) अन्तरायकर्म

इष्ट की सिद्धि में विघ्न उत्पन्न करने वाला कर्म अन्तरायकर्म कहलाता है। इस कर्म के प्रभाव से सभी अनुकूल साधन उपलब्ध होने पर भी अभीष्ट कार्य की सिद्धि नहीं होती। उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार अन्तरायकर्म के पांच भेद निम्न हैं^{४६} -

(१) दानान्तराय- जिस कर्म के प्रभाव से दान देने की इच्छा होने पर भी दान नहीं दिया जा सके वह दानान्तराय है।

(२) लाभान्तराय- जिस कर्म के प्रभाव से किसी होने वाले लाभ या उपलब्धि में विघ्न आ जाय वह लाभान्तराय है।

(३) भोगान्तराय- भोग के साधनों के उपस्थित होने पर भी उनके उपयोग में बाधा हो तो वह भोगान्तरायकर्म का प्रभाव है। जैसे एक सम्पन्न व्यक्ति जिसके घर पांच पकवान बने हों पर शारीरिक अस्वस्थता के कारण वह उन्हें खा नहीं सके यह भोगान्तराय है।

(४) उपभोगान्तराय- उपभोग के साधन उपस्थित होने पर भी उनके उपभोग करने में असमर्थ होना उपभोगान्तराय है।

(५) वीर्यान्तराय- शक्ति के होने पर भी पुरुषार्थ के द्वारा उसका उपयोग कर पाने की असमर्थता वीर्यान्तराय है।

अन्तरायकर्म बन्धन के कारण

कर्मग्रन्थ के अनुसार जिन-पूजा आदि धर्म कार्यों में विघ्न उत्पन्न करने वाला और हिंसा में तत्पर व्यक्ति अन्तरायकर्म का संचय करता है।^{४७} तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार भी विघ्न या बाधा डालना अन्तरायकर्म के बन्ध का कारण है।^{४८}

४६ 'यमे लामे भोगे य, उवभोगे वीरिए तल्ल ।
पंचसिद्धमंतउपं, समसेण विघाहिय ॥'

- उत्तराध्ययनसूत्र ३३/१५ ।

४७ कर्मग्रन्थ १/६१ ।

४८ तत्त्वार्थसूत्र ६/२६ ।

६.४ कर्मसिद्धान्त नियतिवाद है या पुरुषार्थवाद

जैन कर्मसिद्धान्त के सन्दर्भ में यह प्रश्न प्रमुख रूप से उपस्थित होता है कि जैन कर्मसिद्धान्त नियतिवाद का समर्थक है या पुरुषार्थवाद का ?

जैन कर्मसिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति की प्रत्येक क्रिया एवं संकल्प का कारण उसके पूर्ववर्ती कर्म हैं अर्थात् व्यक्ति की हर मानसिक एवं शारीरिक गतिविधि पूर्वकृतकर्मों का परिणाम है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि कर्मसिद्धान्त नियतिवाद को प्रश्रय देता है। यह मानना नितान्त भ्रमपूर्ण होगा क्योंकि जैन कर्मसिद्धान्त व्यक्ति स्वातंत्र्य में विश्वास रखता है।

कर्मसिद्धान्त के अनुसार पूर्वकृतकर्मों में संक्रमण, अपवर्तन, उदीरण और प्रदेशोदय के द्वारा परिवर्तन किया जा सकता है; कर्मबन्ध की प्रक्रिया में अपवर्तन एवं उद्घर्तन का क्रम सतत चालू रहता है। अतः व्यक्ति अपने वर्तमान कालिक पुरुषार्थ के द्वारा अतीत कर्मों में परिवर्तन कर सकता है। अतीत कर्मों का फलविपाक भी एकान्त नियत नहीं है। अतीत के कर्म भी उसके ही अपने पुरुषार्थ का परिणाम होते हैं, वे भी नियत नहीं होते। नियतता विपाकोदय तक सीमित है, उसकी उपस्थिति में प्रतिक्रिया करने या नहीं करने में व्यक्ति की स्वतन्त्रता बनी रहती है। वस्तुतः कर्मसिद्धान्त एक विशिष्ट व्यवस्था है जिसमें नियति एवं पुरुषार्थ दोनों का समुचित स्थान है। इसमें अतीत के कर्मों के सन्दर्भ में नियतिवाद का महत्त्व है तो भविष्य के कर्मों के लिये पुरुषार्थ की प्रधानता है। नियतिवाद भी पूर्वकृत स्वपुरुषार्थ पर आश्रित है अर्थात् हमारे वर्तमान जीवन के नियामक तत्त्व हमारे ही अपने पूर्वकर्म होते हैं। इसके निर्धारक तत्त्व कोई अन्य नहीं हैं। कर्मसिद्धान्त में हमारे वर्तमान जीवन को निर्धारित करने वाले तत्त्व हमारे ही पूर्वकर्म या संस्कार होते हैं कर्मसिद्धान्त एक प्रकार से आत्मनिर्धारणवाद है। दूसरी ओर कर्मसिद्धान्त में व्यक्ति पुरुषार्थ के क्षेत्र में एवं आगामी भविष्य के निर्धारण में स्वतन्त्र है। अतः कर्मवाद पुरुषार्थवाद भी है।^{१९}

जैनदर्शन में मुख्यतः दो प्रकार के कर्म माने गये हैं (१) द्रव्यकर्म और (२) भावकर्म। कर्म का पौद्गलिक पक्ष द्रव्यकर्म कहलाता है। इसे नियतिवाद के रूप में स्वीकार किया जा सकता है क्योंकि पूर्वबद्धकर्मों का द्रव्यकर्म के रूप में

^{१९} व्यक्तिगत धर्मा के आधार पर।

विपाक (उदय) अवश्य होता है। द्रव्यकर्मों के निमित्त से होने वाले भाव/आत्मपरिणाम भावकर्म कहलाते हैं। भावकर्म पुरुषार्थवाद का समर्थन करते हैं क्योंकि भावकर्म रूप अनुभूति में प्रतिक्रिया करना या न करना, इस सम्बन्ध में व्यक्ति सदैव स्वतन्त्र रहता है।

प्रतिक्रियारूप भावकर्म में हम अपना भविष्य बनाने या बिगाड़ने में स्वतन्त्र हैं। भावकर्म में द्रव्यकर्म तो मात्र निमित्त हैं, उपादान तो आत्मा ही है और आत्मा तो स्वरूपतः स्वतन्त्र ही है। कर्मसिद्धान्त का स्पष्ट निष्कर्ष है कि अतीत, जो हमारी नियति है, उसके बनाने वाले भी हम ही थे। मात्र यही नहीं आज भी हम में वह शक्ति मौजूद है जिसके द्वारा हम अपने भविष्य के निर्माता बन सकते हैं।

उत्तराध्ययनसूत्र में कर्मसिद्धान्त के सन्दर्भ में पुरुषार्थवाद एवं नियतिवाद की इस समस्या का स्पष्ट उल्लेख तो उपलब्ध नहीं होता है, फिर भी उसमें कुछ ऐसे सूत्र उपलब्ध होते हैं, जिनके आधार पर नियतिवाद एवं पुरुषार्थवाद की इस समस्या का समाधान खोजा जा सकता है।

उत्तराध्ययनसूत्र के चतुर्थ अध्ययन में कहा गया है कि कृतकर्म-फल के भोग के बिना मोक्ष नहीं है।^{५०} इसका अर्थ यह है कि कर्म व्यक्ति की अपनी स्वतन्त्र कृति हैं। यदि हम कर्म को व्यक्ति की अपनी स्वतन्त्र कृति नहीं मानेंगे तो कर्म फलभोग का उत्तरदायित्व भी व्यक्ति पर नहीं होगा। व्यक्ति उन्हीं कर्मों के लिये उत्तरदायी है जिनके करने या न करने में उसके संकल्प की स्वतन्त्रता होती है। संकल्प स्वातंत्र्य के बिना कर्म का उत्तरदायित्व होता ही नहीं। कृत कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ता है। इस अर्थ में उसकी नियतता या विवशता भी है, यह विवशता भी उसके अपने द्वारा अर्जित है।

उत्तराध्ययनसूत्र में यह कहा गया है - 'कम्म सच्चा हु पाणिनो' प्राणी अपने फल अवश्य हैं।^{५१} कर्म की सत्यता उसके फलविपाक की नियतता के साथ जुड़ी हुई है अर्थात् कर्म नियत नहीं हो सकता। उत्तराध्ययनसूत्र में यह भी कहा गया है कि कर्म कर्ता का अनुसरण करते हैं।^{५२} इस सन्दर्भ में भी यह फलित होता है कि कर्म करने में कर्ता स्वतंत्र है, किन्तु स्वतन्त्ररूप से किये गये अपने इन्हीं

५० 'कडाण कम्मण न मोक्ख अत्थि'

५१ उत्तराध्ययनसूत्र ७/२० के अंश।

५२ 'कत्तारमेव अनुज्जाह कम्मं ॥'

- उत्तराध्ययनसूत्र ४/३ एवं १३/१०।

- उत्तराध्ययनसूत्र १३/२३।

कर्मों के फल का भोग उसे करना ही होता है। कर्म कर्ता का अनुसरण करते हैं इसका आशय यही है कि व्यक्ति कर्मों के फलविपाक से बच नहीं सकता। इस प्रकार उत्तराध्ययनसूत्र कर्म बन्धन के सम्बन्ध में व्यक्ति की स्वतन्त्रता को तथा उनके फलविपाक की अनिवार्यता के रूप में नियतिवाद को स्वीकार करता है।

कर्मविपाक के रूप में जैनदर्शन में नियतिवाद के तत्त्व को स्वीकार किया गया है। सामान्यतः कर्मविपाक से तात्पर्य नियतरूप में कर्मों का फल प्राप्त करना है। इस सन्दर्भ में यह भी ज्ञातव्य है कि सभी कर्मों का एक निश्चित समय पर फल प्रदान करना आवश्यक नहीं है। कुछ कर्म ऐसे भी होते हैं जिनका विपाक नियत नहीं होता जैनदर्शन में कर्मविपाक को दो वर्गों में विभाजित किया गया है - (१) नियतविपाकी कर्म और (२) अनियतविपाकी कर्म।

(१) नियतविपाकी कर्म -

नियतविपाकी कर्म वे कहलाते हैं, जिनका फल अनिवार्यतः भोगना पड़ता है। दूसरे शब्दों में जिन कर्मों का विपाक नियत अर्थात् निश्चित है वे नियतविपाकी कर्म कहलाते हैं।

(२) अनियतविपाकी कर्म -

अनियतविपाकी कर्म वे कहलाते हैं जिनका विपाक नियत नहीं होता है अर्थात् जिन कर्मों का फल किये हुए कर्मों के अनुसार भोगना अनिवार्य नहीं होता है; उनके स्वरूप, तरतमता, समयावधि आदि में परिवर्तन किया जा सकता है। कर्म की उद्वर्तना, अपवर्तना, संक्रमण आदि अवस्थायें अनियतविपाकी कर्म की सूचक हैं, इन स्थितियों में कर्मों का फल उस रूप में प्राप्त नहीं होता है जिस रूप में उन्हें बांधा गया है। प्राचीन स्तर के आगमग्रन्थों में उद्वर्तना आदि अवस्थाओं का उल्लेख उपलब्ध नहीं होता है। उत्तराध्ययनसूत्र में भी इन अवस्थाओं की चर्चा का अभाव है। परवर्ती कर्मग्रन्थों और उनकी टीकाओं में यह चर्चा विस्तार से मिलती है।^{६०}

६० (क) कर्मग्रन्थ प्रथम

(ख) अस्मामीभसा, पृष्ठ १२८

(ग) 'जैनबौद्धगीता के आधार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' - भाग १, पृष्ठ ३२१।

(घ) 'Studies in Jaina Philosophy', Page 254

(ङ) कर्मप्रकृति गाथा - १

- व्याख्याकार मन्थर केसरी, प्रस्तावना, पृष्ठ ६२;

- पं. दलसुख मालवणिया;

- डॉ. सागरमल जैन;

- Nathmal Jatia;

- (उद्धृत जैन सिद्धान्त उद्भव एवं विकास, पृष्ठ १४२- डॉ. रवीन्द्रनाथ)

उत्तराध्ययनसूत्र में कर्मविपाक के सन्दर्भ में की गई उपर्युक्त चर्चा स्पष्ट उपलब्ध नहीं होती है पर इसके विभिन्न अध्ययनों में यत्र-तत्र हमें नियतविपाकी एवं अनियतविपाकी कर्म सम्बन्धित चर्चा अवश्य मिलती है। जैसे 'कडाण कम्माण न भोक्ख अत्थि' अर्थात् कृतकर्मों से छुटकारा नहीं होता है।⁵⁴ पुनः इसके तेरहवें अध्ययन में सम्भूति कहते हैं: 'पूर्व जन्म में मेरे द्वारा किये गये सत्य और शुद्ध कर्मों का फल मैं आज भोग रहा हूँ'⁵⁵ इस प्रकार उत्तराध्ययनसूत्र के उपर्युक्त लिखित तथ्य नियतविपाकी कर्म की पुष्टि करते हैं। इन तथ्यों से यह स्पष्ट होता है कि जो होना है वही होता है उससे अन्यथा नहीं हो सकता। साथ ही यह भी प्रकट होता है कि कोई भी कर्म एक नियत क्रम में संचित होता है और एक निश्चित समय पश्चात् नियत क्रम में फल देकर समाप्त हो जाता है। उत्तराध्ययनसूत्र के उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम यह निर्णय नहीं ले सकते हैं कि उत्तराध्ययनसूत्र का कर्मसिद्धान्त एकान्त नियतविपाकीकर्म या नियतिवाद का समर्थक है क्योंकि इसमें अन्यत्र अनेक स्थलों पर हमें अनियतविपाकी कर्म या पुरुषार्थवाद के उदाहरण भी उपलब्ध होते हैं।

कर्म की एकान्तिक नियतता का निषेध करते हुए उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है: 'संयमी के करोड़ों भवों के संचितकर्म तप से नष्ट हो जाते हैं'⁵⁶ व्यक्ति तप, संयम रूपी पुरुषार्थ के द्वारा पूर्वकृतकर्मों से छुटकारा प्राप्त कर सकता है।⁵⁷ इसके तीसरे अध्ययन में कहा गया है कि 'कर्मों के हेतुओं को दूर करके क्षमा भाव से संयम का सचय करके वह साधक पार्थिवशरीर को छोड़कर उर्ध्वदिशा (स्वर्ग अथवा मोक्ष) को जाता है।⁵⁸ इस उल्लेख से यह स्पष्ट होता है कि व्यक्ति स्वयं के पुरुषार्थ के द्वारा ही मोक्ष या स्वर्ग को प्राप्त करता है। जैनधर्म के तीर्थंकर स्वयं के पुरुषार्थ एवं तपस्या द्वारा ही मोक्ष को उपलब्ध करते हैं। जैनधर्म स्वपुरुषार्थ (स्वावलम्बन) को इतना महत्त्व देता है कि जब भगवान महावीर के साधना काल में भयंकर कष्ट आने लगे, तब इन्द्र (देवता) उनकी सहायता के लिये साथ रहने की आज्ञा मांगते हैं, तो भगवान कहते हैं- 'हे इन्द्र! यह न तो कभी हुआ और न कभी

५४ उत्तराध्ययनसूत्र ४/३ एवं १३/१० ।

५५ उत्तराध्ययनसूत्र १३/६ ।

५६ 'एवं तु संजयस्साधे, पावकम्पनिराहवे ।

भवकोडी सधियं कम्मं, तवसा निज्जाग्गज्ज ॥

- उत्तराध्ययनसूत्र ३०/६ ।

५७ 'खवेत्ता पुब्बकम्माइं, संजमेण तवेण व ।'

- उत्तराध्ययनसूत्र २८/३६ का अंश ।

५८ 'विमिच्च कम्मणो हेउं, जसं सधियु षट्तिए ।

महासुक्कं व दिपंता, मन्ता अपुण्णच्चवं ॥'

- उत्तराध्ययनसूत्र ३/१३ ।

होगा कि कोई भी किसी अन्य के सहारे से अपने ध्येय 'मोक्ष' को प्राप्त करे।' इस प्रकार जैनधर्म स्वपुरुषार्थ को अत्यन्त महत्त्व प्रदान करता है।

उत्तराध्ययनसूत्र के अद्वावीसवें अध्ययन में कहा गया है कि 'आत्मा ज्ञान से जीवादि तत्त्वों को जानता है, दर्शन से उनका श्रद्धान करता है, चारित्र से कर्म आश्रय का निरोध करता है और तप से विशुद्ध होता है।'⁵⁹ इससे स्पष्ट होता है कि ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप कर्मविपाक को अनियत करने के अमोघ साधन हैं। इसे अधिक स्पष्ट करते हुए इसमें कहा गया है कि साधक तप एवं संयम के द्वारा पूर्वकृतकर्मों का क्षय करके सब दुःखों से मुक्त हो जाता है।⁶⁰

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन के द्वारा हम यह निष्कर्ष प्रस्तुत कर सकते हैं कि उत्तराध्ययनसूत्र कर्मविपाक की नियतता एवं अनियतता दोनों में विश्वास रखता है। आचारांगसूत्र, स्थानांगसूत्र आदि में भी कर्म के सन्दर्भ में उपर्युक्त दोनों सिद्धान्तों का उल्लेख मिलता है।⁶¹ प्रस्तुत प्रसंग के परिप्रेक्ष्य में यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उपस्थित होता है कि कर्मविपाक की नियतता एवं अनियतता का आधार क्या है ? इस प्रश्न को समाहित करते हुये डॉ. सागरमल जैन ने लिखा है 'कर्मों के पीछे रही हुई कषायों की तीव्रता एवं मन्दता के आधार पर क्रमशः नियतविपाकी एवं अनियतविपाकी कर्मों का बन्ध होता है। जिन कर्मों के पीछे तीव्रकषाय (वासनाएं) होता है उनका बन्ध भी अतिप्रगाढ़ होता है और उनका विपाक भी नियत होता है। इसके विपरीत जिन कर्मों के सम्पादन के पीछे कषाय अल्प होती है उनका बन्ध शिथिल होता है और इसलिए उनका विपाक भी अनियत होता है।'⁶² इस प्रकार भावधारा के आधार पर कर्मविपाक की नियतता या अनियतता निर्धारित की जाती है। तीव्र क्रोध, मान, माया, लोभ आदि के वशीभूत होकर किये गये कर्मों के बन्ध अवश्य ही नियत होते हैं; जबकि अल्पकषायभावों में बांधे गये कर्म अनियत होते हैं।

आचार्य हरिभद्र सूरि 'शास्त्रवार्तासमुच्चय' में लिखते हैं कि जिस वस्तु को जिस समय, जिस कारण से जिस रूप में होना है, वह वस्तु उस कारण से उस रूप में निश्चित रूप से उत्पन्न होती है। ऐसी परिस्थिति में नियति

५८ उत्तराध्ययनसूत्र २८/३५ ।

६० उत्तराध्ययनसूत्र २५/४३, ३०/१, एवं ३२/१०८ ।

६१ आचारांग - ४/४/३८ एवं ४५

६२ 'भैर, बौद्ध और गीता के आधार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन', पृष्ठ ३२२

- (अंगसुतापि, लाडनू, खण्ड १, पृष्ठ ३७)

- डॉ. सागरमल जैन ।

का कौन खण्डन कर सकता है ? इन सब के उपरान्त भी कर्मसिद्धान्त को एकान्त रूप से नियतिवादी नहीं कहा जा सकता है।^{६३} डॉ. राधाकृष्णन् ने भी नियति एवं पुरुषार्थ दोनों को समन्वयात्मक रूप में प्रस्तुत करते हुये लिखा है कि 'स्वतन्त्रता का अर्थ स्वच्छन्दता नहीं है और न ही कर्म का अर्थ नियति। मानव जब अपनी इच्छा से चुनाव करता है तो वह बिना किसी प्रयोजन या कारण के नहीं करता। यदि हमारे कर्मों का अतीत के साथ कोई सम्बन्ध न हो तो हम पर अपने आप में सुधार करने की न तो कोई नैतिक जिम्मेदारी होगी और न गुंजाइश।'^{६४}

जैन कर्मसिद्धान्त में नियतिवाद एवं पुरुषार्थवाद दोनों के तत्त्व किस रूप में सन्निहित हैं; इसे सुस्पष्ट करते हुये कहा गया है कि 'जैन कर्मसिद्धान्त को एकान्त रूप से नियतिवाद या निर्धारणवाद नहीं कहा जा सकता है। जैन कर्मसिद्धान्त यह अवश्य मानता है कि व्यक्ति का प्रत्येक संकल्प व उसकी प्रत्येक क्रिया अकारण नहीं होती। उसका कारण पूर्ववर्ती कर्म हैं। हमारे मनोभाव और तदजनित कर्म पूर्वकर्म के परिणाम होते हैं, लेकिन इतने मात्र से कर्मसिद्धान्त को नियतिवाद मान लेना संगत नहीं होगा; क्योंकि कर्मसिद्धान्त व्यक्ति की समग्र स्वतन्त्रता का अपहरण नहीं करता। जैनदर्शन में अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, केवलीसमुद्घात के प्रत्यय कर्मनियम के ऊपर व्यक्ति की स्वतन्त्रता के समर्थक हैं।'^{६५}

पूर्वोक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो चुका है कि जैन कर्मसिद्धान्त में नियतिवाद एवं पुरुषार्थवाद दोनों को प्रश्रय दिया गया है। अतः हम यह कह सकते हैं कि उत्तराध्ययनसूत्र में वर्णित कर्मसिद्धान्त में कर्म के कर्तृत्व के सन्दर्भ में स्वतन्त्रता एवं उसके भोक्तृत्व के सन्दर्भ में नियतता को स्वीकार करके इन दोनों अवधारणाओं का समन्वय किया गया है।

६३ 'शास्त्रवार्तासमुच्चय' १७४ - उद्धृत 'जैन कर्मसिद्धान्त उद्भव एवं विकास', पृष्ठ १७६- डॉ. रवीन्द्रनाथ मिश्र।

६४ 'जीवन की आध्यात्मिक दृष्टि' पृष्ठ ३५० - डॉ. राधाकृष्णन्

६५ 'जैन, बौद्ध एवं गीता के आधार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' भाग १, पृष्ठ २८१ - डॉ. सागरमल जैन।

अध्याय - ७

उत्तराध्ययनसूत्र का
जीवनदर्शन



उत्तराध्ययनसूत्र में जीवन दर्शन

७१ संसार की दुःखरूपता

'दुःख' भारतीयदर्शन तथा विशेष रूप से श्रमणपरम्परा का प्रमुख प्रत्यय रहा है। जैन एवं बौद्ध दोनों परम्पराओं ने जीवन को दुःखमय माना है। उनके साहित्य में दुःखरूपता का सजीव चित्रण है, फिर भी उनका लक्ष्य दुःखनिवृत्ति है। वस्तुतः दुःखविमुक्ति की चाह प्रत्येक प्राणी की स्वाभाविक प्रकृति है। अतः श्रमणपरम्परा जीवन की दुःखरूपता का चित्रण करके उसके निराकरण के प्रयत्न या पुरुषार्थ को ही जीवन का लक्ष्य मानती है। उसकी दृष्टि में 'दुःख' जीवन का यथार्थ है, तो 'दुःखविमुक्ति' जीवन का साध्य या आदर्श।

उत्तराध्ययनसूत्र में दुःख के स्वरूप तथा उसके निराकरण के उपायों पर व्यापक रूप से प्रकाश डाला गया है। दुःख क्या है ? इसके उत्तर में इसमें कहा गया है -

'जन्म दुःख रूप है, जरावस्था दुःख रूप है, रोग और मरण भी दुःख रूप है। वस्तुतः तो यह समूचा संसार ही दुःखमय है, क्योंकि संसार में जन्म, जरा और मृत्यु लगे हुए हैं जिनसे प्राणी बार-बार पीड़ित होता है।'

व्यक्ति के जन्म के समय भयंकर वेदना होती है। सर्वप्रथम गर्भावास में नौ माह तक अत्यन्त घृणित एवं अंधकारपूर्ण स्थान में रहना होता है। पुनः प्रसव या जन्म का दुःख भी कम नहीं होता। वृद्धावस्था के दुःख का तो स्पष्टतः अनुभव होता ही है तथा मृत्यु का दुःख तो इतना भयंकर है कि प्रत्येक प्राणी उसके नाम से या उसके आगमन की सम्भावना से ही दुःखी हो जाता है। इस प्रकार जन्म, जरा और मृत्यु तीनों दुःखमय हैं।

उत्तराध्ययनसूत्र में चारों गतियों अर्थात् नरक, तिर्यच, मनुष्य एवं देव को दुःखरूप ही माना गया है,^२ क्योंकि सभी में मरण का दुःख लगा हुआ है। इन दैहिक दुःखों के अतिरिक्त मानसिक दुःख भी हैं जिनका उल्लेख उत्तराध्ययनसूत्र में मिलता है।^३ वस्तुतः दैहिक दुःखों का कारण भी मानसिक दुःख है; क्योंकि जैनाचार्यों की दृष्टि में सुख एवं दुःख दोनों ही वस्तुगत (Objective) न होकर मनोगत विषयगत (Subjective) होते हैं। वस्तुयें तो उन सुख या दुःख के भावों की निमित्त मात्र हैं। अनेक बार यह देखा जाता है कि एक ही वस्तु दो भिन्न मानसिक स्थितियों में कभी सुखरूप होती है और कभी दुःखरूप।^४ सुख और दुःख की अनुभूति में मन की भूमिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मानी गई है। वस्तुतः जब तक चित्त आसक्त है, इच्छाओं और आकांक्षाओं से जुड़ा हुआ है, तब तक दुःखों से निवृत्ति सम्भव नहीं है। इच्छा और आकांक्षा जो मनोजन्य है, वही यथार्थ दुःख है क्योंकि उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि जहां इच्छा या आकांक्षा है, वहां अपूर्णता है, और जहां अपूर्णता है वहां दुःख है।^५ इसमें स्पष्ट निर्देश है कि सुखों के उत्पाद, संरक्षण, संयोग एवं वियोग सभी में दुःख जुड़ा है।^६ उनके उपभोग काल में भी अतृप्तता के कारण दुःख होता है।

औपनिषदिक ऋषियों ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है -- वे स्पष्ट रूप से कहते हैं कि जो अल्प है, अपूर्ण है, वह सुख नहीं है।^७ वास्तविक सुख आत्मपूर्णता में है और जब तक व्यक्ति में इच्छायें और आकांक्षायें हैं, तब तक आत्मपूर्णता सम्भव नहीं है।

७.२ दुःख का कारण एवं दुःखमुक्ति के उपाय

दुःख का मूल कारण क्या है ? इसका उद्गम स्थल कौनसा है ? इन प्रश्नों को उत्तराध्ययनसूत्र में अनेक प्रकार से वर्णित किया गया है। उसके अनुसार दुःख के कारण अविद्या, मोह, कामना, आसक्ति और राग-द्वेष आदि हैं।^८

२ उत्तराध्ययनसूत्र १६/१० ।

३ उत्तराध्ययनसूत्र १६/४५ ।

४ उत्तराध्ययनसूत्र ३२/६४ ।

५ उत्तराध्ययनसूत्र ३२/२८, ४१, ५४, ६७, ८० एवं ६३ ।

६ उपनिषद् ७/१३/१

७ 'रागो य दोसो वि य कम्मवीर्यं, कम्मं च मोहपपवं वयति ।

कम्मं च जाईमरपस्स मूलं, दुक्खं च जाईमरणं वयति ॥

- (छन्दोगोपनिषद् - पृष्ठ ७८५) ।

- उत्तराध्ययनसूत्र ३२/७ ।

उत्तराध्ययनसूत्र में बताये गये दुःख के कारण आपस में सम्बन्धित हैं और इनका मूल स्रोत आसक्ति या ममत्व है। इसमें कहा गया कि दुःख कामना की जननी है।^९ आचारांगसूत्र में काम (आसक्ति) को गर्भ अर्थात् पुनर्जन्म का कारण माना गया है।^{१०} कामनायें इसीलिए उत्पन्न होती हैं कि हम वस्तुओं पर 'राग' भाव रखते हैं। राग अन्य कुछ नहीं; मात्र पर में ममत्व (अपनेपन) का आरोपण है और पर में ममत्व का आरोपण ही अविद्या है, अज्ञान है। जहां ममत्व या आसक्ति होती है वहां राग-द्वेष की धारा सतत चलती रहती है और आसक्त व्यक्ति सदा प्रिय को प्राप्त करने एवं अप्रिय का त्याग करने में संलग्न रहता है। प्रिय-अप्रिय के ये भाव ही राग-द्वेष हैं। उत्तराध्ययनसूत्र के दसवें अध्ययन में भगवान महावीर ने प्रशस्त (शुभ) राग को भी मोक्ष में बाधक माना है। उन्होंने गौतमस्वामी को उपदेश देते हुए कहा है - 'गौतम! मेरे प्रति जो तुम्हारा ममत्व है, उसका भी त्याग करो।'^{१०}

सामान्य जन प्रिय शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श में राग तथा अप्रिय शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श से द्वेष करते हैं। प्रिय विषयों की प्राप्ति की चाह तृष्णा को जन्म देती है और तृष्णा दुःख को उत्पन्न करती है। उत्तराध्ययनसूत्र में स्पष्टतः कहा गया है कि तृष्णा से पराजित व्यक्ति के माया-मृषा और लोभ बढ़ते हैं जिससे वह दुःख से मुक्ति नहीं पा सकता।^{११}

दुःख की प्रक्रिया का क्रम निम्न है- जहां आसक्ति है वहां राग है; जहां राग है वहां कर्म है; जहां कर्म है, वहां बन्धन है और बन्धन स्वयं दुःख है। वस्तुतः दुःख का मूल कारण ममत्व, राग-भाव या आसक्ति है। यह राग या आसक्ति तृष्णा-जन्य है और तृष्णा मोह-जन्य है। मोह ही अज्ञान है यद्यपि अज्ञान (मोह) और ममत्व में कौन प्रथम है यह कहना कठिन है। इन दोनों में मुर्गी और अण्डे के समान किसी की भी पूर्वापरता स्थापित करना असंभव है।^{१२}

९ 'कामागुच्छिप्यमवं खु दुःखं'

- उत्तराध्ययनसूत्र ३२/१६ का अंश।

१० 'क्षमेसु मिद्धा निचयं करति, ससिध्वमाणा पुणरति गम्'।

- आचारांग १/३/२२/३१ (ताडवृ)।

१० उत्तराध्ययनसूत्र १०/२८।

११ उत्तराध्ययनसूत्र ३२/३०, ४३, ५६, ६७, ८२ एवं ६५।

१२ उत्तराध्ययनसूत्र ३२/६।

दुःखमुक्ति के उपाय

भारतीय-दर्शनों में जैन, बौद्ध, सांख्य आदि दर्शनों के चिन्तन का आरम्भिक सोपान भले ही 'दुःख' रहा हो; किन्तु उसकी अन्तिम परिणति तो पूर्ण दुःखविमुक्ति या निर्वाण की प्राप्ति में है। अन्ततः सभी भारतीय दर्शन दुःख या उस दुःख के कारण अविद्या के निराकरण को ही अपना साध्य मानते हैं। भारतीय दर्शन का मूलमंत्र -- 'अंधकार से प्रकाश की ओर, असत् से सत् की ओर तथा मृत्यु से अमरत्व की ओर अग्रसर होना है।'

बौद्धदर्शन के चार आर्यसत्त्वों में दुःख के कारण की विवेचना के साथ-साथ दुःख निवारण की स्वीकृति और दुःख निवारण के उपायों की चर्चा भी की गई है।

जैनदर्शन दुःख विमुक्ति को मोक्ष के रूप में स्वीकार करता है। सांख्यदर्शन आध्यात्मिक, आधि-भौतिक एवं आधि-दैविक दुःखों की विवेचना के साथ पुरुष एवं प्रकृति के भेदज्ञान को दुःख-निवृत्ति का उपाय बतलाता है^{१३} अर्थात् जब तक पुरुष अपने आपको प्रकृति से भिन्न नहीं समझ लेता, उसे दुःख से मुक्ति नहीं मिल सकती। इसीप्रकार गीता निष्काम कर्म को दुःखमुक्ति का साधन मानती है।^{१४}

उत्तराध्ययनसूत्र में दुःखरूपता के यथार्थ चित्रण के साथ दुःखमुक्ति के उपायों का भी व्यापक रूप से निरूपण किया गया है। इसमें स्पष्ट रूप से कहा गया है कि उस व्यक्ति के दुःख समाप्त हो जाते हैं जिसे मोह नहीं है। अतः दुःख से विमुक्ति के लिए मोह का समाप्त होना आवश्यक है। किन्तु मोह तभी समाप्त हो सकता है, जब तृष्णा न हो। जब तक तृष्णा उपस्थित है, तब तक मोह रहेगा और जब तक मोह रहेगा, दुःख भी रहेगा। 'पर' में स्व का आरोपण मोह है और उस ममत्व के आरोपण द्वारा उसके पाने की आकांक्षा तृष्णा है, वस्तुतः जहां मोह होगा वहां तृष्णा होगी और जहां तृष्णा होगी वहां मोह होगा। जब तक तृष्णा उपस्थित है, तब तक दुःख की समाप्ति असम्भव है, क्योंकि तृष्णा स्वयं सबसे बड़ा दुःख है। तृष्णा को समाप्त करने के लिए उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि जिसने लोभ

१३ सांख्यकारिका १ ।

१४ गीता २/३६ ।

को जीत लिया है उसकी तृष्णा स्वतः समाप्त हो जाती है तथा लोभ 'पर' में ममत्व रूप मोह पर आधारित है। अतः दुःखविमुक्ति के लिये सर्वप्रथम 'पर' को अपना समझने की इस मोहवृत्ति को समाप्त करना आवश्यक है।¹⁵

उत्तराध्ययनसूत्र में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि सम्पूर्ण ज्ञान के प्रकाशन, अज्ञान एवं मोह के विसर्जन तथा राग और द्वेष के उन्मूलन से एकान्त सुख रूप मोक्ष की उपलब्धि होती है।¹⁶ राग-द्वेष और मोह की समाप्ति होने पर ही दुःख समाप्त होता है। दुःख समाप्ति की प्रक्रिया का वर्णन करते हुए इसमें कहा गया है कि जो अकिंचनता अर्थात् मेरा कुछ नहीं है, ऐसी दृढ़ अनुभूति कर लेता है, उसका लोभ समाप्त हो जाता है; जिसका लोभ समाप्त हो जाता है उसकी तृष्णा समाप्त हो जाती है; जिसकी तृष्णा समाप्त हो जाती है; उसका मोह समाप्त हो जाता है; और जिसका मोह समाप्त हो जाता है, उसका दुःख समाप्त हो जाता है।¹⁷ जैसा हम पूर्व में बता चुके हैं - सभी दुःख यहां तक कि देवताओं और मनुष्य के जो भी शारीरिक एवं मानसिक दुःख हैं वे सभी कामासक्ति से पैदा होते हैं। केवल वीतरागी आत्मा ही, उन दुःखों का अन्त कर पाती है।¹⁸ संक्षेप में कहें तो उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार दुःखविमुक्ति के लिए वीतराग या अनासक्त जीवन-दृष्टि का निर्माण आवश्यक है। इसमें व्यक्ति की साधना का लक्ष्य वीतरागता की उपलब्धि माना गया है। वीतरागता की उपलब्धि तभी सम्भव है जब व्यक्ति स्पष्ट रूप से जान ले कि सांसारिक सुख वस्तुतः सुख न होकर मात्र सुखाभास है।

७.३ सांसारिक सुख सुखाभास हैं

उत्तराध्ययनसूत्र में बताया गया है कि जिस प्रकार किम्बाक फल रूप, रंग, रस आदि की दृष्टि से देखने एवं खाने में अत्यंत मनोहर और मधुर होता है किन्तु उसका परिणाम अति भयानक है; उसी प्रकार कामगुण अर्थात् इन्द्रियसुख उपभोग काल में सुखद लगते हैं किन्तु

१५ उत्तराध्ययनसूत्र ३२/८ ।

१६ उत्तराध्ययनसूत्र ३२/२ ।

१७ उत्तराध्ययनसूत्र ३२/८ ।

१८ उत्तराध्ययनसूत्र ३२/२६ ।

अन्ततः वे दुःखदायी होते हैं।^{१९} उत्तराध्ययनसूत्र में इस तथ्य को अनेक उदाहरणों के द्वारा स्पष्ट करते हुए इन्द्रिय विषयों की आसक्ति जीव को किस प्रकार दुखी करती है, इसका विस्तृत विवेचन किया गया है वह निम्न है^{२०}—

चक्षु इन्द्रिय रूप को ग्रहण करती है अतः रूप चक्षु इन्द्रिय का ग्राह्यविषय है। प्रिय रूप राग का एवं अप्रिय रूप द्वेष का कारण है। जिस प्रकार दृष्टि राग में आतुर पतंगा मृत्यु को प्राप्त होता है उसी प्रकार रूप में आसक्त जीव मृत्यु के मुख में चला जाता है। रूप में आसक्त अज्ञानी जीव अनेक त्रस एवं स्थावर जीवों की हिंसा करता है और उन्हें परिताप या पीड़ा देता है। वह उन पदार्थों (जिनसे उसके चक्षु को तृप्ति मिलती है) के उत्पादन, रक्षण तथा उनका व्यय और वियोग न हो; इसके लिये चिन्तित रहता है और इस प्रकार वह उपभोगकाल में भी अतृप्त तथा अशान्त रहता है अतः उसे सुख कहां ?

रूप की आसक्ति जीव को सदैव दुःख देती है। इसका वर्णन करते हुए कहा गया है कि रूप में आसक्त मनुष्य को कब, कहां और कितना सुख मिल सकता है ? अप्राप्त को प्राप्त करने में; प्राप्त का रक्षण करने में तथा उसका वियोग न हो इस चिन्ता में व्यक्ति सदैव दुःखी रहता है। इस प्रकार सांसारिक सुख, सुख न होकर सुखामास मात्र हैं।

श्रोत्रेन्द्रिय शब्द का ग्रहण करती है। अतः शब्द श्रोत्रेन्द्रिय का ग्राह्यविषय है। प्रिय शब्द राग एवं अप्रिय शब्द द्वेष का कारण है। जैसे शब्द संगीत से मोहित हिरण मृत्यु को प्राप्त होता है; उसी प्रकार प्रिय शब्द से मुग्ध जीव मृत्यु को वरण करता है। मनोज्ञ शब्द में आसक्त जीव चराचर जीवों की अनेक प्रकार से हिंसा करता है, उन्हें परिताप एवं पीड़ा देता है। शब्द में मूर्च्छित जीव अपने इच्छित पदार्थों के अर्जन, रक्षण एवं उनके वियोग न होने की चिन्ता में लगा रहता है। इस प्रकार वह सम्भोग काल में भी अतृप्त रहता है अतः उसे सुख कहां ? आसक्त जीव तृष्णा वश झूठ, कपट एवं चोरी करता है और अन्ततः दुःख को प्राप्त होता है।

१९ उत्तराध्ययनसूत्र ३२/२०।

२० उत्तराध्ययनसूत्र ३२/२२ से ६८।

नासिका गन्ध को ग्रहण करती है, अतः गन्ध नासिका का विषय है। सुगन्ध राग एवं दुर्गन्ध द्वेष का कारण है। जैसे मनोज्ञ गन्ध में मूर्च्छित सर्प बिल से निकलता है और मारा जाता है; वैसे ही गन्ध में आसक्त जीव दुःखद मृत्यु को प्राप्त करता है।

सुगन्ध में आसक्त जीव अनेक प्रकार से त्रस एवं स्थावर जीवों की हिंसा करता है और उन्हें त्रास एवं पीड़ा पहुंचाता है। वह सुगन्धित पदार्थों को प्राप्त करने, उनके संरक्षण तथा उनके व्यय एवं वियोग न होने की चिन्ता करता है। वह सम्भोग-काल में भी अतृप्त रहता है, फिर उसे सुख कहाँ ? गन्ध में आसक्त जीव झूठ, कपट व चोरी का आचरण करता है और परिणामस्वरूप दुःख को प्राप्त करता है।

रसनेन्द्रिय रस को ग्रहण करती है अतः रसनेन्द्रिय का ग्राह्य विषय रस है। मनोज्ञ रस राग का कारण एवं अमनोज्ञ रस द्वेष का कारण है। जिस प्रकार मांस खाने को आतुर मत्स्य कांटे में फंसकर मारा जाता है; उसी प्रकार रस-लोलुपी व्यक्ति अकालमरण को प्राप्त करता है। रस लोलुप जीव हिंसा करता है, अन्य जीवों को परिताप पहुंचाता है और अन्ततः स्वयं भी दुःख को प्राप्त करता है। रसप्रद साधनों को जुटाने तथा उनके रक्षण की चिन्ता में सदा डूबा रहता है।

शरीर स्पर्श को ग्रहण करता है अतः स्पर्शेन्द्रिय का ग्राह्य विषय स्पर्श है। मनोनुकूल स्पर्श राग एवं मन के प्रतिकूल स्पर्श द्वेष का कारण होता है। जो जीव सुखद स्पर्श में आसक्त है वह तालाब के शीतल जल के लोभ में पड़ी हुई भगरमच्छ द्वारा ग्रसित भैंस के समान शीघ्र मृत्यु को प्राप्त करते हैं। स्पर्श में आसक्त जीव हिंसा करता है, झूठ बोलता है, चोरी करता है और अन्ततः दुःख को प्राप्त करता है। वह स्पर्शेन्द्रिय को तृप्त करने वाली वस्तुओं के अर्जन एवं संरक्षण अथवा उनका वियोग न हो इसलिये चिन्तित रहता है। वस्तुतः वह उनके भोग काल में अतृप्त ही रहता है अतः उसे सुख कहाँ ?

मन भाव को ग्रहण करता है। अतः मन का ग्राह्य विषय भाव है। मन के अनुकूल भाव राग एवं मन के विपरीत भाव द्वेष के कारण हैं। जो मन के विषय में आसक्त जीव है वे हथिनी के प्रति आकृष्ट हाथी की तरह विनाश को प्राप्त होते हैं। भावों (विकारों) के पीछे मूर्च्छित जीव अनेक प्रकार के छल, कपट, झूठ, हिंसा

आदि दुराचरण करते हैं और परिणामतः दुःख को प्राप्त करते हैं। वे जीव आसक्ति के विषयभूत पदार्थों की उपलब्धि, संरक्षण एवं उनका वियोग न हो; इससे चिन्तित रहते हैं। वे उनके उपभोग काल में भी अतृप्त रहते हैं अतः उन्हें सुख कहाँ ?

उपर्युक्त विवेचन के द्वारा यह सूचित होता है कि जब एक-एक इन्द्रिय के विषय में मूर्च्छित प्राणी दुर्दशा को प्राप्त होते हैं तो जो मनुष्य एक साथ पाँचों इन्द्रियों एवं मन के विषयों में लिप्त रहते हैं उनके दुःख एवं दुर्दशा का तो कहना ही क्या ? इस प्रकार प्रिय एवं सुखद लगने वाले इन्द्रिय सुखों की वाह अप्राप्ति की अवस्था में, प्राप्त हो जाने पर अधिक प्राप्ति के विकल्पों में तथा जो प्राप्त है उसके संरक्षण में दुःख और चिन्ता का विषय होती है। उपलब्धि के प्रयास में भी लोभवश जीव विपत्ति में पड़ जाते हैं तथा लाभ की अपेक्षा अनेक बार हानि हो जाती है। उपभोग के क्षणिक सुख के पश्चात् होने वाले मानसिक, शारीरिक, आर्थिक दुःख तथा परस्पर वैमनस्य सम्बन्धी दुःख भी संसार में स्पष्टतः दृष्टिगोचर होते हैं। विकारग्रस्त जीवों को इन्द्रिय विषयों में सुख का अनुभव होता है; वास्तव में वह सुख की भ्रान्ति के रूप में अन्ततः दुःख रूप है।

७.४ उत्तराध्ययनसूत्र में जीवनदर्शन

उत्तराध्ययनसूत्र में जीवनदर्शन से सम्बन्धित कुछ दृष्टान्तों के द्वारा आसक्त जीवों की दुर्दशा का वर्णन किया गया है। जैसे, एक काकिणी के लोभ में कोई जीव हजारों मुद्राएं खो देता है,^{२१} वैसे ही ऐन्द्रिक या क्षणिक सुख, जो यथार्थतः सुख नहीं सुखाभास मात्र है, उसके पीछे व्यक्ति शाश्वत सुख से वंचित हो जाता है; तनावों में जीता है; आत्म शान्ति से विमुख हो जाता है।

जिस प्रकार पुष्टिकारक खाद्य पदार्थों से हृष्ट-पुष्ट करता है, और अतिथि के आने पर भोजन के लिये मार दिया जाता है, उसी प्रकार भोगों में आसक्त व्यक्ति मृत्यु रूपी अतिथि के आने पर नरक आदि दुर्गति में जाकर अपार दुःख को

२१ 'जहा क्वगिनिप हेउ, सहस्रं धारण नरो ।'

- उत्तराध्ययनसूत्र ७/११ का अंश ।

प्राप्त करता है। भोगासक्त व्यक्ति अपने आत्मसुख से वंचित रहता है।

जिस प्रकार कोई रसलोलुप राजा चिकित्सक के स्पष्ट मना कर देने पर भी आम्रफल खाने का लोभ संवरण नहीं कर पाया, फलस्वरूप उसने अपना जीवन गंवा दिया, उसी प्रकार व्यक्ति ऐन्द्रिक वासनाओं की पूर्ति के पीछे अपनी अपार आत्मशान्ति या आत्मसमाधि को खो देता है।²² इसी बात को उत्तराध्ययनसूत्र में तीन व्यापारियों के दृष्टान्त द्वारा बताया गया है -

तीन व्यापारी धन कमाने के लिये विदेश जाते हैं। उनमें से एक मूलधन को यथावत् सुरक्षित लेकर लौटता है, दूसरा मूलधन की वृद्धि करके लौटता है और तीसरा मूलधन को विनष्ट करके लौटता है। इसी प्रकार व्यक्ति मनुष्य जन्म रूपी मूलधन को लेकर संसार में आता है। यदि वह जीव सुकृत करता है, सत्कर्म करता है तो मूलधन को बढ़ाता है और देवगति या मोक्ष प्राप्त करता है, यदि वह मूलधन का विनाश करता है अर्थात् प्राप्त सुविधा का दुरुपयोग करता है तो वह तिर्यच एवं नरक गति में जाकर अत्यन्त पीड़ा भोगता है।²³ इसप्रकार जो जीव अपने हित अहित का विचार न करके विषयों में ही आसक्त रहता है वह करुणा, दीनता, लज्जा एवं अप्रीति का पात्र बनता है। उत्तराध्ययनसूत्र में समाधिमरण के सन्दर्भ में बाल (अज्ञानी) एवं पण्डित (ज्ञानी) कौन है ? उनकी मानसिकता, जीवनचर्या कैसी होती है ? इसके विस्तृत विवेचन के साथ अज्ञानियों की दुर्दशा एवं दुर्गति का वर्णन किया गया है।

बाल (अज्ञानी) मनुष्य

उत्तराध्ययनसूत्र में अनेक स्थलों पर अज्ञानी जीव के लिए 'बाल' शब्द प्रयोग किया गया है।²⁴ टीकाकार ने लिखा है कि जो उचित तथा अनुचित के विवेक से रहित हो वह बाल है।²⁵ उत्तराध्ययनसूत्र के आठवें अध्ययन में बाल, मन्द एवं

२२ उत्तराध्ययनसूत्र ७/११।

२३ उत्तराध्ययनसूत्र ७/१५ एवं १६।

२४ उत्तराध्ययनसूत्र ५/३, ४, ७, ९, १२, १५, १७; ७/४, ५, १७, १९, २८, ३० एवं ८/५ से ७।

२५ उत्तराध्ययनसूत्र टीका पत्र २६२

- (शान्ताचर्यी)।

मूढ शब्द का एक साथ प्रयोग हुआ है।²⁶ सामान्यतः ये तीनों शब्द पर्यायवाची प्रतीत होते हैं, किन्तु उत्तराध्ययनसूत्र की टीका में इनके अर्थ को स्पष्ट करते हुए 'बाल' का अर्थ अज्ञानी, 'मन्द' का अर्थ धर्मकार्य में अनुद्यत तथा 'मूढ' का अर्थ मोह से आकुल किया गया है।²⁷

बालजीव की जीवनचर्या - उत्तराध्ययनसूत्र में बालजीवों की जीवन-चर्या का वर्णन करते हुए कहा गया है कि बालजीव कामभोगों में आसक्त होकर अत्यन्त क्रूर कर्म करता है। वह सप्रयोजन अथवा निष्प्रयोजन त्रस एवं स्थावर जीवों की हिंसा करता रहता है। वह स्त्री और धन में आसक्त होकर केंचुए की तरह कर्ममल का संचय करता है।²⁸

वह स्त्री और विषय भोगों में आसक्त रहने वाला, महारम्भ और महापरिग्रह वाला, दूसरों को सताने वाला मदिरा एवं मांस का सेवन करने वाला होता है।²⁹ भोगों में निमग्न वह अपने हित और निःश्रेयस (मोक्ष) की उपेक्षा करता है। वह श्रेय अर्थात् कल्याणकारी मार्ग को छोड़कर प्रेय मार्ग को स्वीकार करता है। फिर चाहे वह प्रेय उसका अहितकारी ही क्यों न हो।³⁰

बालजीवों की मानसिकता- उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार बालजीव परलोक में विश्वास नहीं करते हैं। वे सोचते हैं कि परलोक किसने देखा; अतः परलोक की चिन्ता में प्रत्यक्ष हस्तगत सुख (काम-भोग) का त्याग करना निरी मूर्खता है।³¹ अज्ञानी जीव सोचता है कि संसार में मैं अकेला ही भोगी हूँ, ऐसा तो नहीं है और हजारों लोग भी तो भोग-परायण हैं। अतः जो सबकी गति होगी वही मेरी भी गति हो जायेगी।³² इस प्रकार उसके मन में दुष्कर्माँ के प्रति भय नहीं रहता। अज्ञानी

२६ उत्तराध्ययनसूत्र ८/५।

२७ उत्तराध्ययनसूत्र टीका पत्र २६२

२८ उत्तराध्ययनसूत्र ५/४, ८ एवं १०।

२९ उत्तराध्ययनसूत्र ७/६।

३० उत्तराध्ययनसूत्र ५/६।

३१ उत्तराध्ययनसूत्र ५/५ एवं ६।

३२ उत्तराध्ययनसूत्र ५/७।

- (शान्प्रचर्या)।

जीव शाश्वतवादी की तरह सोचता है कि अभी धर्मसाधना की क्या आवश्यकता है, अन्तिम समय में हिंसा से विरत होकर धर्म साधना कर लेंगे।³³

बाल जीव की दुर्दशा – प्रमादी, हिंसक एवं असंयमी मनुष्य का शरणदाता कोई नहीं होता उसे कोई भी दुःख से विमुक्त नहीं कर सकता है। यहां तक कि जिनके लिए वह हिंसक कर्म करता है, वे परिवार के लोग भी उन कर्मों के विपाक के समय उदय में आनेवाले दुःखों में सहभागी नहीं होते हैं। अज्ञानी जीव आयु के क्षीण होने पर मृत्यु के समय अर्थात् जब शरीर छूटने का समय आता है तो बहुत दुःखी होता है।³⁴

वह बालजीव मृत्यु के समय रोगादि से पीड़ित होने पर अति दुःखी होता है, पश्चाताप करता है और अपने किये हुए कर्मों को याद कर परलोक से भयभीत होता है।³⁵ आधुनिक मनोवैज्ञानिक भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि मृत्यु के क्षणों में व्यक्ति के जीवन का सम्पूर्ण घटनाचक्र चलचित्र की भांति उसके मानस-पटल पर सरकता जाता है और उसे अपने कृत-कर्मों का स्मरण होने लगता है।

अज्ञानी जीव मृत्यु के क्षणों में उसी तरह शोकाकुल होता है जैसे विषम मार्ग पर गाड़ी ले जाने वाला व्यक्ति गाड़ी की धुरी टूटने पर शोकग्रस्त होता है।³⁶ यहां जीवन गाड़ी का, अज्ञानी जीव गाड़ीवान का, विषम मार्ग अधर्म मार्ग का प्रतीक है तथा धुरी का टूटना आयुष्य रूपी डोरी का टूटना है। ऐसे समय में दुःखी होना स्वाभाविक हैं उत्तराध्ययनसूत्र में यह भी कहा गया है कि जीवन असंस्कृत है।³⁷ लाख प्रयत्न करने पर भी जीवन को सांघा अर्थात् जीवन की डोरी को लम्बा नहीं किया जा सकता है। अज्ञानी जीव अन्त समय में धूर्त जुआरी की तरह जीवन के हार जाने का दुःख करता है।³⁸

३३ उत्तराध्ययनसूत्र ४/६ ।

३४ उत्तराध्ययनसूत्र ४/१, ४ एवं ६ ।

३५ उत्तराध्ययनसूत्र ६/११ ।

३६ उत्तराध्ययनसूत्र ६/१४ एवं १५ ।

३७ (क) उत्तराध्ययनसूत्र ४/१ ।

(ख) सूत्रकृति १/२/३/१० ।

३८ उत्तराध्ययनसूत्र ६/१६ ।

पापकर्मों में लिप्त अज्ञानी जीव अपनी रक्षा विविध प्रकार की विद्याओं एवं भाषाओं के ज्ञान द्वारा भी नहीं कर सकता है।^{३९}

बारह भावना

जैनपरम्परा में बारह भावनाओं को साधना का एक महत्त्वपूर्ण अंग माना गया है; इन्हें अनुप्रेक्षा भी कहा गया है। इस सम्बन्ध में दिगम्बर परम्परा में 'वारस्सानुवेकखा' तथा 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' नामक दो स्वतन्त्र ग्रन्थ भी निर्मित हुए हैं। इसमें उत्तराध्ययनसूत्र में एक साथ इन बारह भावनाओं का निर्देश नहीं है किन्तु यत्र तत्र इनके निर्देश एवं व्याख्या अवश्य मिलती हैं। श्वेताम्बर परम्परा में इन बारह भावनाओं का एक साथ उल्लेख मरणसमाधि ग्रंथ में मिलता है^{४०}—

भावना का स्वरूप — भावना का व्युत्पत्तिपरक अर्थ है 'भाव्यतेऽनेन भावना' अर्थात् जिसके द्वारा मन को भावित या संस्कारित किया जाय वह भावना है। भावना की व्युत्पत्तिपरक परिभाषा को स्पष्ट करते हुए 'पार्श्वनाथ चरित्र' में कहा गया है, 'जिन चेष्टाओं के द्वारा मानसिक विचारों या भावनाओं को भावित या वासित किया जाता है उन्हें भावना कहते हैं।'^{४१}

भावना का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए सूत्रकृतांग में कहा गया है कि भावना के वेग से शुद्ध हुई आत्मा जल पर नौका के समान संसार में तैरती है जिस प्रकार अनुकूल पवन के सहारे से नौका पार पहुँच जाती है उसी प्रकार भावना के सहारे आत्मा संसार सागर से पार हो जाती है और उसके सर्व दुःखों का अन्त हो जाता है।^{४२} भावनायें, जीवन के प्रति यथार्थ दृष्टिकोण प्रस्तुत करती हैं। कार्तिकेयानुप्रेक्षा में अनुप्रेक्षा के विषय में कहा गया है कि यथार्थ तत्त्वों का सूक्ष्मातिसूक्ष्म चिन्तन अनुप्रेक्षा है।^{४३} जैनदर्शन के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ तत्त्वार्थसूत्र में निम्न बारह भावनाओं/अनुप्रेक्षाओं का निर्देश किया गया है—^{४४}

३९ उत्तराध्ययनसूत्र ६/११ ।

४० मरणसमाधि-भाषा - ५७२, ५७३, पत्र १३५ ।

४१ पारसगाहचरित्र पृष्ठ ४६०

४२ सूत्रकृतांग १/१५/५

४३ देखिये - भावनायोग पृष्ठ ३१ ।

४४ तत्त्वार्थसूत्र ६/१७ ।

- उद्धृत - भावनायोग पृष्ठ १६ ।

- (अंगसूत्राणि, लाहन् खंड १, पृष्ठ ३४०) ।

- | | | | |
|-------------|---------------|--------------------|------------------|
| (१) अनित्य | (२) अशरण | (३) संसार | (४) एकत्व |
| (५) अन्यत्व | (६) अशुचि | (७) आश्रव | (८) संवर |
| (९) निर्जरा | (१०) लोकभावना | (११) बोधिदुर्लभ और | (१२) धर्मभावना . |

जहां तक हमारे शोधग्रन्थ के आधार उत्तराध्ययनसूत्र का प्रश्न है; उसमें इन बारह भावनाओं का नाम सहित एक साथ वर्णन उपलब्ध नहीं होता है । इसमें प्रायः बारह भावनाओं से सम्बन्धित वर्णन अवश्य उपलब्ध होता है जो मानव के जीवन दर्शन की यथार्थ झलक प्रस्तुत करता है ।

(१) अनित्य भावना

अनित्य भावना के अनुसार जगत में जितनी भी पौद्गलिक वस्तुयें हैं वे सब अनित्य हैं। उत्तराध्ययनसूत्र में अनेक प्रसंगों में अनित्य भावना से सम्बन्धित वर्णन मिलता है । इसके अठारहवें अध्ययन में गर्दभालीमुनि राजा संजय को अनित्य भावना का उपदेश देते हैं -

हे राजन्! जिस शरीर, यौवन, रूप और सम्पत्ति पर तुम आसक्त हो रहे हो, जिसे तुम अपना मानकर मोह कर रहे हो; वह बिजली की चमक की तरह क्षणिक है फिर भी तुम परलोक के हित को क्यों नहीं समझ रहे हो अर्थात् क्यों व्यर्थ इन पर आसक्त हो रहे हो? ⁴⁵

उत्तराध्ययनसूत्र में शरीर एवं सम्पत्ति की अनित्यता (नश्वरता) पर व्यापक रूप से प्रकाश डाला गया है; जिन्हें निम्न रूप से विवेचित किया जा सकता है—

शरीर की नश्वरता— प्राणी की आसक्ति का घनीभूत आश्रय शरीर होता है। वह शरीर को स्वस्थ एवं चिरंजीवी रखने का हर सम्भव प्रयास करता है; अतः देहासक्ति से मुक्त होने की प्रेरणा देते हुए उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि यह शरीर अनित्य है और इस शरीर में जीव का निवास भी अशाश्वत अर्थात् अस्थायी है। ⁴⁶

शरीर शब्द से ही सूचित होता है 'प्रतिक्षणं शीर्यते इति शरीरं' अर्थात् जो प्रतिक्षण गल रहा है, क्षीण हो रहा है, उससे शरीर कहते हैं। यह हमेशा बदलता है; जिसका स्थूल परिवर्तित रूप बालक से युवा तथा युवा से वृद्ध है।

⁴⁵ उत्तराध्ययनसूत्र १८/१३ ।

⁴⁶ उत्तराध्ययनसूत्र १६/१२ एवं १४ ।

उत्तराध्ययनसूत्र के दसवें अध्यायन में जीवन एवं शरीर की अनित्यता का दिग्दर्शन करते हुए अप्रमत्त तथा अनासक्त रहने की प्रेरणा दी गई है। जैसे रात्रि बीतने पर वृक्ष का पका हुआ पत्ता स्वतः गिर जाता है, वैसे मनुष्य का जीवन भी एक दिन समाप्त हो जाता है। घास के अग्रभाग पर स्थित जलबिन्दु की तरह यह जीवन क्षणिक है। जरा सी हवा या धूप के लगते ही जैसे वह बूंद समाप्त हो जाती है, वैसे ही यह आयु भी समाप्त हो जाती है।⁴⁷ शरीर आश्रित इन्द्रियों की अनित्यता का वर्णन करते हुए भगवान महावीर गौतमस्वामी को कहते हैं -

हे गौतम ! तेरा शरीर जीर्ण हो रहा है, केश सफेद हो रहे हैं, श्रोत्रेन्द्रिय का बल क्षीण हो रहा है अतः क्षण मात्र का भी प्रमाद मत कर।⁴⁸ इसी क्रम से विभिन्न इन्द्रियों एवं उनकी शक्ति के क्षीण होने का संकेत करते हुए उत्तराध्ययनसूत्र के दसवें अध्याय में अप्रमत्त जीवन जीने का सन्देश दिया गया है।⁴⁹

धनसम्पत्ति की नश्वरता - उत्तराध्ययनसूत्र में बाह्य पदार्थों की क्षणमंगुरता का वर्णन करते हुए कहा गया है काल बीतता जा रहा है; रात्रियाँ भागी जा रही हैं; जीवन में जो काम भोग प्राप्त हुए हैं वे स्थिर नहीं हैं; नित्य नहीं हैं। जब तक पुण्य का संयोग है, सुख सम्पत्ति दौड़कर आती है। जैसे पक्षी फल रहित वृक्ष को छोड़कर चले जाते हैं वैसे ही पुण्य क्षीण होने पर ये काम भोग, सुख सम्पत्ति, स्वजन, परिजन आदि ऐसे ही छोड़कर चले जाते हैं।⁵⁰ धन की अनित्यता का वर्णन करते हुए सिन्दुरप्रकरण में कहा गया है-

रिशतेदार धन को लेना चाहते हैं; चोर चुराना चाहते हैं; राजा/सरकार छल एवं कानून बनाकर इसे हड़प लेना चाहते हैं। अग्नि इसे भस्म कर डालती है; पानी इसे बहा देता है और जमीन में गड़ा हुआ धन यक्ष आदि निकाल कर ले जाते हैं। यदि सबसे बचाकर रख भी लिया जाय तो दुराचारी पुत्र इसे उड़ा देते हैं।⁵¹ कवि कहता है कि ऐसे बहुत खतरे वाले और बहुत लोगों के

४७ उत्तराध्ययनसूत्र १०/१ एवं २ ।

४८ उत्तराध्ययनसूत्र १०/२१ ।

४९ उत्तराध्ययनसूत्र १०/२२ से २६ ।

५० उत्तराध्ययनसूत्र १६/१६ ।

५१ सिन्दुरप्रकरण ७४ । *

हाथ की कठपुतली बनने वाले धन को धिक्कार है। इस सन्दर्भ में अंग्रेजी में एक सटीक कहावत है— 'Niches have wings' अर्थात् धन — वैभव के पंख होते हैं।

मनुष्य जीवन सम्बन्धी समग्र अनित्यता का संक्षिप्त में सारगर्भित वर्णन करते हुए 'अनुत्तरोपपातिकदशांगसूत्र' में कहा गया है —

यह मनुष्यजीवन जन्म, यश, मरण, रोग, व्याधि आदि अनेक शारीरिक तथा मानसिक दुःखों से युक्त है। यह अधुव, अनित्य और अशाश्वत है। सन्ध्याकालीन रंगों, पानी के बुलबुलों तथा कुशाग्र पर स्थित जलबिन्दुओं की तरह अस्थिर है, स्वप्नदर्शन एवं बिजली की चमक जैसा चंचल और अनित्य है।^{५२}

अनित्य भावना के चिन्तन से व्यक्ति का वस्तु के प्रति ममत्व कम होता है। यह बोध होता है कि ये शरीर, सम्पत्ति आदि सब अशाश्वत हैं। पुद्गल का स्वभाव बनना-बिगड़ना है। इसमें संयोग वियोग का क्रम सतत चलता रहता है। जो मिलता है वह बिछुड़ता भी है। इसलिये उस पर ममत्व या आसक्ति रखना उचित नहीं है।

इस प्रकार अनित्य भावना के चिन्तन का मूलभूत उद्देश्य शरीर, सत्ता, सम्पत्ति आदि के प्रति आसक्ति का उच्छेद करना है। जो क्षणिक और नश्वर हो, जिसका वियोग अपरिहार्य हो उसके प्रति आसक्ति रखना उचित नहीं है। यही अनित्य भावना का सन्देश है।

(२) अशरण भावना

अनित्य भावना के पश्चात् अशरण भावना का क्रम है। व्यक्ति स्वयं की सुरक्षा के लिये किसी की शरण प्राप्त करना चाहता है। पर इस संसार में कोई किसी का शरण भूत नहीं हो सकता; इसका बोध कराना ही अशरण भावना का प्रयोजन है। सांसारिक पदार्थ अनित्य होते हैं और अनित्य एवं नश्वर वस्तु कभी शरणभूत नहीं हो सकती। जिस प्रकार अस्थिर नींव पर भवन खड़ा नहीं किया जा सकता; उसी प्रकार जो स्वयं अनित्य या नश्वर हो वह किसी का शरणभूत नहीं हो सकता।

उत्तराध्ययनसूत्र में एक रूपक के माध्यम से अशरण भावना का चित्रण करते हुए कहा गया है कि जब कोई सिंह मृग की टोली में से किसी एक मृग को दबोचकर ले जाता है, उस समय अन्य सभी मृग भयभीत होते हैं । इधर उधर छिपते हैं, अपनी जान बचाते हैं। लेकिन उनमें से कोई भी सिंह के मुंह में जाते हुए मृग की रक्षा नहीं कर सकता है। यही स्थिति संसार में मनुष्यों की है। मृत्यु से आक्रान्त व्यक्ति के माता-पिता, भाई, बहन, पुत्र-पुत्री, पत्नी आदि सब एक ओर खड़े देखते रहते हैं, विवश हो रोते बिलखते हैं। लेकिन उसे मृत्यु से बचाने में कोई समर्थ नहीं होते।⁶³

संसार में कोई प्राणी किसी की आधि व्याधि वेदना आदि को दूर करने में समर्थ नहीं होता है। अनाथीमुनि के आख्यान में इस तथ्य को स्पष्ट किया गया है। अनाथीमुनि स्वयं कहते हैं— 'महाराज, उस बीमारी की अवस्था में मैं अनाथ था, असहाय था । मेरा कोई भी नाथ या संरक्षक नहीं था । मेरी पीड़ा को दूर करने में मेरे परिजन या मित्र कोई भी समर्थ नहीं थे। यही मेरी अनाथता थी।'⁶⁴

अनाथी मुनि जब अपनी गृहस्थ अवस्था में रोग ग्रस्त हुए तो अपार सम्पदा और अत्यन्त प्रीति रखने वाले स्वजन उन्हें उस रोग से मुक्ति नहीं दिला सके। तब अशरण भावना का चिन्तन करते-करते उन्हें वैराग्य हो गया । धर्म की शरण में जाने का संकल्प करते ही वे स्वस्थ हो गये।

उत्तराध्ययनसूत्र के छठे अध्ययन में भी कहा गया है कि माता, पिता, आदि परिवारजन कर्मों से लिप्त आत्मा को शरण देने में सक्षम नहीं होते हैं।⁶⁵ प्रकारान्तर से यही बात सूत्रकृतांग में भी कही गई है⁶⁶— उत्तराध्ययनसूत्र में एक प्रसंग में यह भी कहा गया है, 'पढ़े हुए वेद भी त्राण देने में समर्थ नहीं होते हैं। इसका आशय है कि आचरणशून्य ज्ञान जीव को शरण नहीं दे सकता।'⁶⁷

६३ उत्तराध्ययनसूत्र १३/२२ ।

६४ उत्तराध्ययनसूत्र २०/१८ से ३० ।

६५ उत्तराध्ययनसूत्र ६/३ ।

६६ सूत्रकृतांग १/२/३/७०

६७ उत्तराध्ययनसूत्र १४/१२ ।

- (अंगसुतापि, ताडनू, खंड १, पृष्ठ २७५) ।

व्यक्ति को जब यह अनुभव हो जाता है कि इस संसार के सभी पदार्थ, स्वजन, परिजन आदि आश्रयदाता नहीं हो सकते हैं, तब उसके सामने यह समस्या पैदा हो जाती है कि आखिर ऐसा कौन सा वह तत्त्व है जो दुर्गति एवं दुःखों से हमारी रक्षा कर सके। इसके उत्तर में उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि जरा और मरण के प्रवाह में बहते हुए प्राणियों के लिये धर्म ही एक ऐसा आश्रयदाता द्वीप है, स्थान है, उत्तमगति है, शरण है, आधार है। जहां प्रत्येक प्राणी सुख-शान्ति और निर्भयतापूर्वक रह सकता है।⁵⁸ आचार्य उमास्वाति ने भी धर्म को ही एक मात्र शरणभूत बताया है।⁵⁹ मनुस्मृति में भी कहा गया है कि परलोक की यात्रा के समय स्वजन तो मुंह फेरकर चले जाते हैं, किन्तु परलोक में भी प्राणी के साथ धर्म ही जाता है।⁶⁰

इस प्रकार अशरण भावना के द्वारा व्यक्ति यह चिन्तन करता है कि इस संसार में कोई किसी का संरक्षक नहीं है। अतः मुझे संसार में एक मात्र शरणभूत धर्म को स्वीकार कर लेना चाहिए।

(३) संसार भावना

जो संसरण शील/परिवर्तनशील होता है, वह संसार है इस प्रकार जहां जीव एक भव से दूसरे भव में, एक गति से दूसरी गति में, संसरण करते हैं, वह संसार है।

जीव चार गति रूप, दुःखों से परिपूर्ण संसार में निरन्तर भ्रमण करता रहता है। इस संसार में किसी की माता आगामी भव में उसकी पत्नी बन जाती है तो पत्नी माता हो जाती है। पिता मरकर पुत्र और पुत्र मरकर पिता हो जाता है। नाटक के दृश्यों की तरह यह संसार अभिनय पूर्ण है, त्याज्य है। इस प्रकार का चिन्तन संसार भावना है।

उत्तराध्ययनसूत्र में संसार को दुःखरूप बताया गया है। इसमें अंश मात्र भी सुख नहीं है, यहां जन्म-जरा-वृद्धावस्था, रोग और मृत्यु सभी दुःखरूप हैं। यहां जीव अनेकविध कष्टों को प्राप्त करते हैं।⁶¹

⁵⁸ उत्तराध्ययनसूत्र २३/६८ ।

⁵⁹ श्रमवर्ति १५२ ।

⁶⁰ मनुस्मृति ३/२४१ ।

⁶¹ उत्तराध्ययनसूत्र १६/१५ एवं ७४ ।

- उद्धृत भावनायोग - पृष्ठ १८३ ।

उत्तराध्ययनसूत्र के मृगापुत्रीय अध्ययन में नरक की अत्यन्त दुःखमय यातनाओं का वर्णन किया गया है। इसी प्रकार इसके दसवें द्रुमपत्रक अध्ययन में, भवसंख्या का कथन किया गया है जिससे व्यक्ति की जन्म-मरण की दुःख परम्परा का दिग्दर्शन होता है।

इस प्रकार सांसारिक सम्बन्धों की विचित्रता एवं दुःखरूप का चिन्तन कर आत्म भावों में रमण करना संसार भावना है।

(४) एकत्व भावना

संसार भावना के चिन्तन से व्यक्ति संसार की दुःखरूपता का बोध करता है। यह दुःखरूप की अनुभूति एवं सम्बन्धों की विचित्रता व्यक्ति को कहीं निराशा की ओर न ले जाए; इसके लिये एकत्व-भावना की उपयोगिता है। संसार में रहते हुये भी स्व की स्वतन्त्र-स्थिति का बोध कराना एकत्व भावना का प्रयोजन है।

एकत्व भावना का अर्थ है, प्राणी अकेला जन्म लेता है और अकेला ही मृत्यु को प्राप्त करता है। अपने शुभाशुभ कर्मों का उपभोग भी वह अकेला ही करता है।^{६२} एकत्व भावना के सन्दर्भ में उत्तराध्ययनसूत्र में यह कहा गया है कि जाति, सम्बन्धी, मित्र वर्ग, पुत्र, स्त्री और बान्धव व्यक्ति के दुःखों के भागीदार नहीं होते हैं। व्यक्ति को अकेले ही अपने दुःखों को भोगना पड़ता है, क्योंकि कर्म कर्त्ता का ही अनुगमन करता है। साथ ही इसमें यह भी बतलाया गया है कि सुख दुःख का कर्त्ता आत्मा स्वयं ही है।^{६३}

उत्तराध्ययनसूत्र के प्रारम्भ में कहा गया है 'संजोगा विष्यमुक्कस्स'-साधु संयोग से विप्रमुक्त होते हैं अर्थात् एकत्व भाव में स्थित होते हैं।^{६४}

साधु सदैव इस एकत्व भावना का चिन्तन करते हैं कि मैं अकेला हूँ, मेरा कोई नहीं है और मैं भी किसी का नहीं हूँ। मेरी आत्मा शाश्वत है।

६२ (क) उत्तराध्ययनसूत्र १३/२४ एवं १२/१० ।

(ख) प्रथमरीति १५३ ।

६३ उत्तराध्ययनसूत्र १३/२३ ।

६४ उत्तराध्ययनसूत्र १/१ ।

ज्ञान दर्शन से संपन्न है; बाह्य भाव सब सांयोगिक हैं अशाश्वत् हैं।⁶⁵ उत्तराध्ययनसूत्र के 'नमिराजर्षि' अध्ययन में एकत्व भावना का सजीव वर्णन किया गया है।

एकत्व भावना के चिन्तन से ही नमिराजा विरक्त हुए थे। वे एक बार दाहज्वर से पीड़ित हो गये। उनके उपचार के लिए रानियां स्वयं चन्दन घिसने लगीं। रानियों के हाथों के कंगन परस्पर टकराने लगे। उनसे उत्पन्न आवाज ने राजा को परेशान कर दिया। तब रानियों ने सौभाग्यसूचक एक-एक कंगन बचाकर शेष सारे कंगन उतार दिये। एक-एक कंगन के रहने से आवाज बन्द हो गयी। इस घटना से राजा आत्मिक चिन्तन में डूब गये। वे सोचने लगे; जहां अनेक हैं, वहां संघर्ष है, अशान्ति है। जहां एक है वहां शान्ति है। एकत्व की अनुभूति में कोई संघर्ष नहीं है। जहां जीव शरीर, परिवार, धन, सम्पत्ति आदि सांयोगिक वस्तुओं पर ममत्व का आरोपण करता है, उनसे जुड़ता है, वहां अशान्ति उत्पन्न हो जाती है। अतः एकत्व की अनुभूति में ही शान्ति निहित है।

एकत्व भावना के सन्दर्भ में यह भी कहा गया है कि दस लाख योद्धाओं पर विजय प्राप्त करने की अपेक्षा स्वयं की आत्मा पर विजय प्राप्त करना परम विजय है।⁶⁶ जो जीव, मन, पांचों इन्द्रियों तथा क्रोध, मान, माया और लोभ इन चारों कषायों को जीत लेता है, वह सभी को जीत लेता है।⁶⁷

इस प्रकार एकत्व भावना से आत्मपूर्णता की उपलब्धि होती है। इससे व्यक्ति अपनी आत्मशक्ति से परिचित होता है। एकत्व की अनुभूति के साथ अन्यत्व अर्थात् अन्य से पृथक्त्व का बोध भी आवश्यक है। अतः एकत्व भावना के पश्चात् अन्यत्व भावना का क्रम आता है।

(५) अन्यत्व भावना

एकत्व भावना जहां व्यक्ति को एकत्व की अनुभूति कराती है वहीं अन्यत्व भावना पृथक्त्व का बोध कराती है। यह स्व-पर के बीच रही भेद रेखा को सूचित करती है। वस्तुतः यह आत्म-अनात्म या स्व-पर का विवेक सिखाती है।

६५ रविसंभार गाथा ८।

६६ उत्तराध्ययनसूत्र ६/३४।

६७ उत्तराध्ययनसूत्र ३३/३६।

अन्यत्व भावना का मूल चिन्तन है, 'आत्मा के अतिरिक्त सब पदार्थ पर हैं, अन्य हैं। अन्यत्व भावना का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए योगशास्त्र में कहा गया है कि शरीर जन्मान्तर में आत्मा के साथ नहीं जाता है। इससे शरीर और शरीरी (आत्मा) की भिन्नता स्पष्ट प्रतीत होती है। तब फिर यह कहना सत्य है कि धन, बन्धु, बान्धव आदि परिजन आत्मा से भिन्न हैं। जो अपनी आत्मा को शरीर, धन, स्वजन आदि से भिन्न रूप में देखता है, उसकी आत्मा को वियोग जन्य शोक रूपी कांटा कैसे पीड़ित कर सकता है ?⁶⁸

उत्तराध्ययनसूत्र के नवमें अध्ययन में इन्द्र नमिराजर्षि को कहते हैं कि तुम्हारी मिथिला जल रही है; तब नमिराजर्षि कहते हैं कि मिथिला के जलने से मेरा कुछ भी नहीं जलता है।⁶⁹ नमिराजर्षि 'स्व' और 'पर' की भी भिन्नता को जानते थे, अतः उन्हें पर पदार्थों में आसक्ति नहीं थी। यहां तक कि वे देह में रहते हुए भी देहभाव से मुक्त थे, अतः विदेही कहलाते थे।

भगवान महावीर ने साधना काल में घोर उपसर्गों का सामना किया; पर जरा भी विचलित नहीं हुए क्योंकि उनको देह एवं आत्मा की भिन्नता का बोध था। सूत्रकृतांग में अन्यत्व भावना के विषय में कहा गया है कि आत्मा अन्य है और शरीर अन्य है।⁷⁰

देह से आत्मा के अन्यत्व को श्रीमदराजचन्द्र ने उदाहरण सहित प्रस्तुत किया है — अनादि काल से आत्मा का देह के साथ संयोग सम्बन्ध रहा है। अतः जीव देह को आत्मा मान लेता है परन्तु जैसे म्यान में रहते हुए भी तलवार म्यान से पृथक है, उसी प्रकार देह में रहते हुए भी आत्मा देह से भिन्न है।⁷¹

इस प्रकार अन्यत्व भावना के अनुसार व्यक्ति को यह चिन्तन करना चाहिये: "मैं शरीर नहीं हूँ, किन्तु मैं शरीर में हूँ।"

(६) अशुचि भावना

अन्यत्व भावना के द्वारा स्व पर की भिन्नता का बोध होता है फिर भी जीव का देह के प्रति प्रगाढ़ आकर्षण है, उससे विमुक्ति पाना अति दुष्कर है। आध्यात्मिक विकास के दसवें सोपान जिसे पारिभाषिक शब्दावली में सूक्ष्मसम्पराय

६८ योगशास्त्र ४/७० एवं ७१।

६९ उत्तराध्ययनसूत्र ६/१२ एवं १४।

७० सूत्रकृतांग २/११६।

७१ आत्मसिद्धिज्ञान ५।

- (अंगसुतापि लाठरू, खंड १, पृष्ठ ३२१)।

गुणस्थान' कहा जाता है, उसके अनुसार अन्य सभी कषायों के क्षय या उपशम हो जाने पर भी सूक्ष्म लोभ कषाय का उदय रहता है और वह सूक्ष्म लोभ देह के प्रति आसक्तिरूप होता है। अतः देहासक्ति से मुक्त होने के लिये अशुचि भावना का चिन्तन किया जाता है।

शरीर की अशुचिता (अपवित्रता) - का चिन्तन करना अशुचि भावना है। इस भावना के परिप्रेक्ष्य में उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि यह शरीर अनित्य है, अशुचि रूप है और अशुचि से ही उत्पन्न हुआ है।⁷² इसी सम्बन्ध में प्रशमरति में आचार्य उमास्वाति ने भी कहा है कि यह शरीर पवित्र को भी अपवित्र बनाता है। इसकी आदि एवं उत्तर अवस्था अशुचिरूप हैं। अतः शारीरिक अशुचिता का चिन्तन करना चाहिए।⁷³

आचार्य उमास्वाति ने शरीर का आदि अवस्था को अशुचिमय कहा है अर्थात् यह रस, रूधिर, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र इन सात अशुचिमय धातुओं से बना है। इसकी उत्तर अवस्था को अशुचिमय कहने का तात्पर्य है कि इसके नौ द्वारों अर्थात् दो नेत्र, दो कान, दो नाक के नथुने, एक मुख, एक गुदा तथा एक लिंग से निरन्तर गन्दगी बहती रहती है। इस अशुचि के प्रभाव से इत्र, तेल आदि सुगन्धित पदार्थ भी दुर्गन्ध रूप बन जाते हैं। सुस्वादुषि, मधुर आहार भी विष्टा के रूप बन जाता है। वास्तव में यह शरीर रूपी कारखाना निरन्तर गन्दगी का ही उत्पादन करता है। ज्ञाताधर्मकथा के अनुसार मल्लिकुमारी (उन्नीसवें तीर्थंकर) ने शरीर की अशुचिता के माध्यम से विवाह करने के लिये आये हुए राजकुमारों को वैराग्यवासित किया था।⁷⁴

उत्तराध्ययनसूत्र में शरीर को रोगों एवं व्याधियों का घर कहा है।⁷⁵ इस प्रकार अशुचिता की भावना का प्रयोजन शरीर की अपवित्रता का बोध कराकर आत्मा को देह के ममत्व से मुक्त कराना है। देह का आकर्षण कम होने पर व्यक्ति का ध्यान आत्मा की ओर जाता है। वह अन्तर्मुखी होकर कर्म बंधन से बचने का प्रयास करता है। कर्मबन्ध का कारण आश्रव है। अतः अशुचि भावना के पश्चात् आश्रव भावना का क्रम रखा गया है।

७२ उत्तराध्ययनसूत्र १६/१३ ।

७३ प्रशमरती १५५ ।

७४ ज्ञाताधर्मकथा - आठवाँ अध्याय ।

७५ उत्तराध्ययनसूत्र १०/२७ एवं १६/१४ ।

(७) आश्रव भावना

कर्माँ के आगमन का मार्ग आश्रव कहलाता है । कर्म रूपी मल के आगमन के कारणों पर और उनके परिणामों पर बार-बार चिन्तन करना आश्रव भावना है ।

समयवायांगसूत्र में आश्रव के निम्न पाँच द्वारों का वर्णन किया गया है⁷⁶ -

(१) मिथ्यात्व (२) अविरति (३) प्रमाद (४) कषाय और (५) योग ।

उत्तराध्ययनसूत्र में इन पाँचों का एक साथ वर्णन नहीं मिलता है पर इन पाँचों के नाम अवश्य मिलते हैं ।

(१) मिथ्यात्व- वस्तु के यथार्थ स्वरूप पर श्रद्धा न होना मिथ्यात्व है ।

(२) अविरति- इन्द्रियों और मन के विषयों से विरक्त न होना अविरति है ।

(३) प्रमाद- आत्मसजगता का अभाव, आलस्य एवं शिथिलता प्रमाद है । प्रमाद आत्मा का प्रमुख शत्रु है । अतः उत्तराध्ययनसूत्र के दसवें एवं बत्तीसवें अध्ययन में प्रमाद के त्याग की विशेष प्रेरणा दी गई है ।

(४) कषाय- आत्मा के क्लुषित भाव कषाय कहलाते हैं । इनके चार प्रकार हैं- (१) क्रोध (२) मान (३) माया और (४) लोभ ।

(५) योग- मन, वचन एवं काया के व्यापार को योग कहते हैं ।

योगशास्त्र में आचार्य हेमचन्द्र ने योग को आश्रव कहा है,⁷⁷ क्योंकि योग के द्वारा शुभाशुभ कर्माँ का आश्रव होता है ।

आश्रव भावना के चिन्तन से समुद्रपाल को वैराग्य उत्पन्न हुआ था । उसने अपने प्रासाद के गवक्ष से एक चोर को कधस्थान की ओर ले जाते हुए देखा । यह देखकर वह चिन्तन करने लगा कि अहो, अशुभ कर्माँ का दुःखद परिणाम होता है ।⁷⁸

७६ समयवायांग ५/४

७७ योगशास्त्र ४/७४

७८ उत्तराध्ययनसूत्र २१/८ एवं ६ ।

- (अंगभुताभि, ताडनु, खंड १ पृष्ठ ८३३) ।

- (हेमचन्द्राचार्य) ।

इस प्रकार आश्रव भावना में कर्मों का आगमन कैसे और किन कारणों से होता है, इसका चिन्तन किया जाता है। आते हुए इन कर्मों को कैसे रोका जाय, इनका चिन्तन संवर भावना में किया जाता है। अतः इसके पश्चात् संवर भावना का क्रम है।

(८) संवर भावना

आश्रव - कर्मों के आगमन के मार्ग को निरुद्ध करना संवर है। दुष्प्रवृत्ति के द्वारों को बंद करने का चिन्तन संवर भावना है। आश्रव को रोकने के लिए संवर रूप उपायों का विधान किया गया है। दशवैकलिकसूत्र में कहा गया है, 'क्षमा से क्रोध का, मृदुता से मान का, ऋजुता से माया का तथा निस्पृहता से लोभ का निग्रह करना चाहिए।'⁷⁹

इस भावना के सन्दर्भ में उत्तराध्ययनसूत्र में समिति, गुप्ति, पंचमहाव्रत योग, आदि का विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है। संवर भावना के द्वारा आत्मा नवीन कर्मों के बन्धन से ब्रह्म जाता है, जो पूर्वकृत कर्म हैं, उनका क्षय निर्जरा के द्वारा होता है। अतः इसके पश्चात् निर्जरा भावना का उल्लेख किया जाता है।

(९) निर्जरा भावना

संसार-भ्रमण के कारणभूत कर्मों का आंशिक क्षय - नष्ट करने का चिन्तन निर्जरा भावना है।⁸⁰ आश्रव, संवर एवं निर्जरा का सम्बन्ध प्रतिपादित करते हुए उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि जिस प्रकार किसी तालाब को सुखाने के लिये सर्वप्रथम जल के आने वाले मार्ग को रोकना पड़ता है। उसमें रहे हुए जल को उलीचना या सूर्य के ताप से उसे सुखाना आवश्यक है, उसी प्रकार संयमी पुरुष पापकर्म के मार्ग (आश्रव) का निरोध (संवर) करके तपस्या द्वारा संचित कर्मों की निर्जरा करता है।⁸¹

⁷⁹ दशवैकलिक ८/३६।

⁸⁰ वेद शास्त्र ४/८६।

⁸¹ उत्तराध्ययनसूत्र ३०/१ एवं ६।

उत्तराध्ययनसूत्र में निर्जरा के कारण रूप बारह प्रकारों का विस्तृत रूप से वर्णन किया गया है, जो इस शोधप्रबन्ध के नवमें अध्याय 'उत्तराध्ययनसूत्र का साधनात्मक पक्ष : मोक्षमार्ग' में द्रष्टव्य है।

इस प्रकार 'निर्जरा भावना के अन्तर्गत साधक पूर्वकृत कर्मों से मुक्ति के क्या-क्या उपाय हैं' ? इसका चिन्तन कर तप साधना द्वारा निर्जरा करता है। इसके बाद लोक भावना का क्रम आता है।

(१०) लोक भावना

निर्जरा के द्वारा आत्मा कर्मों से मुक्त हो जाती है और मुक्त आत्माएं लोकाग्र पर अवस्थित होती हैं। अतः निर्जरा-भावना के पश्चात् लोक भावना को रखा गया है। लोक भावना में लोक के स्वरूप का चिन्तन किया जाता है।

उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार लोक धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल एवं जीव रूप षट्द्रव्यात्मक है।^{६२} यह द्रव्य रूप से शाश्वत एवं पर्यायरूप से अशाश्वत है। इस षट्द्रव्यात्मक लोक के स्वरूप, प्रकार आदि को जान कर स्वयं की मुक्ति का विचार करना लोक भावना है। आचारांगसूत्र के अनुसार साधक को अधोलोक, तिर्यकलोक और ऊर्ध्वलोक के स्वरूप का विचार करते हुए यह चिन्तन करना चाहिए कि मुझे ऊर्ध्वलोक, अधोलोक एवं तिर्यकलोक के भवभ्रमण से मुक्त होकर लोकाग्र पर स्थित होना है।

इस लोक में दुर्लभ क्या है, इसका बोध कराने के लिए अग्रिम क्रम से बोधिदुर्लभ भावना का वर्णन किया जाता है।

(११) बोधिदुर्लभ भावना

बोधि से तात्पर्य - सम्यक्त्व है। उसके स्वरूप एवं दुर्लभता का चिन्तन करना बोधिदुर्लभ भावना है। उत्तराध्ययनसूत्र में चार अंगों- मनुष्यत्व, श्रुति (ज्ञान), श्रद्धा और संयम में पुरुषार्थ को अत्यन्त दुर्लभ बताया गया है।^{६३}

६२ उत्तराध्ययनसूत्र २८/७ ।

६३ उत्तराध्ययनसूत्र ३/१ ।

चार गति, चौरासी लाख योनियों में से मनुष्यभवं को प्राप्त करना दुर्लभ है। कदाचित् मनुष्य शरीर मिल भी जाय तो भी मानवीय गुणों की प्राप्ति अति दुर्लभ है। इसी प्रकार क्रमशः श्रुति, श्रद्धा और सदाचरण की प्राप्ति भी दुर्लभतर है।

आत्मसाधना हेतु शुद्ध मनोवृत्ति, अनुकूल वातावरण तथा आचरण की प्राप्ति होना अति दुर्लभ है। इस प्रकार का चिन्तन बोधिदुर्लभ भावना में किया जाता है। इस भावना के चिन्तन से मनुष्य जीवन के साधनात्मक पक्षों की दुर्लभता का बोध कर व्यक्ति धर्म मार्ग की ओर अग्रसर होता है। अतः इसके पश्चात् धर्मभावना का क्रम आता है।

(१२) धर्म भावना

'वत्सु सहावो धम्मो' वस्तु के स्वभाव को धर्म कहते हैं। इस परिप्रेक्ष्य में आत्मा का स्वभाव - सम्यक् ज्ञानदर्शनचारित्र्य का चिन्तन करना धर्म भावना है।

उत्तराध्ययनसूत्र में श्रमणधर्म एवं श्रावकधर्म ऐसे द्विविध धर्म का वर्णन किया गया है। इसमें कहा गया है कि धर्म का महत्त्व समझ कर उसे स्वीकार करें।⁸⁴ धर्म का फल प्रतिपादित करते हुए इसमें कहा गया है कि जो जीव धर्म की आराधना कर परलोक में जाता है, वह अल्पकर्म वाला और वेदना रहित हो सुखपूर्वक जीवनयापन करता है। इस प्रकार धार्मिक चिन्तन करना धर्मभावना है।⁸⁵

तत्त्वार्थसूत्र, योगशास्त्र धर्मसंग्रह, नवतत्त्व प्रकरण आदि ग्रन्थों में इन बारह भावनाओं का वर्णन उपर्युक्त क्रम के अनुसार ही उपलब्ध होता है, किन्तु 'प्रशमरति प्रकरण' में उपर्युक्त क्रम में कुछ भिन्नता पाई जाती है।

वस्तुतः ये बारह भावनायें ही संवर निर्जरा रूप हैं। इनका चिन्तन करते समय व्यक्ति शुभ-आत्म भावों में रमण करता है। जिससे नये कर्मों का बन्ध रुक जाता है। पुराने निर्जरित होते हैं। इनमें से प्रत्येक भावना का अपना स्वतन्त्र महत्त्व है।

८४ उत्तराध्ययनसूत्र ८/१६।

८५ उत्तराध्ययनसूत्र १६/२१।

७.५ क्या उत्तराध्ययनसूत्र जीवन का निषेध सिखाता है?

उत्तराध्ययनसूत्र में वर्णित जीवन की दुःखरूप एवं त्याग वैराग्य के पूर्वोक्त विवेचन को पढ़कर सामान्यतः किसी के मन में यह शंका उपस्थित हो सकती है कि क्या उत्तराध्ययनसूत्र जीवन का निषेध सिखाता है ? किन्तु उत्तराध्ययनसूत्र का अनुशीलन करने पर सहज यह बोध हो जाता है कि उत्तराध्ययनसूत्र जीवन का निषेध नहीं सिखाता; वरन् वह तो जीवन को सर्वतोभावेन रक्षणीय मानता है। इसमें विशद रूप से कहा गया है 'लाभन्तरे जीविय वूहइत्ता' अर्थात् गुणों की प्राप्ति के लिये जीवन का संरक्षण करना चाहिये।^{६६}

उत्तराध्ययनसूत्र का 'द्रुमपत्रक' अध्ययन प्रति समय अप्रमत्त (आत्मसजग) रहने की प्रेरणा देता है। जहां जीवन के एक-एक क्षण को अमूल्य माना गया है, उसे सार्थक करने का सन्देश दिया गया है, वहां जीवन के प्रति निषेधात्मक दृष्टिकोण कैसे हो सकता है ?

उत्तराध्ययनसूत्र का यदि जीवन के प्रति निषेधात्मक दृष्टिकोण होता तो इसमें मात्र दुःखद परिस्थिति का वर्णन ही होता, परन्तु ऐसा नहीं है। इसमें समभाव की शिक्षा देकर सुखद एवं दुःखद दोनों परिस्थितियों में चित्तवृत्ति को अप्रभावित रखने का सन्देश दिया गया है। पुनश्च उत्तराध्ययनसूत्र में साधनामार्ग की चर्चा करते हुए जीवन के लक्ष्य का निर्धारण किया गया है। इसकी दृष्टि में जीवन निष्प्रयोजन नहीं है। उसका लक्ष्य है तप संयम की साधना के द्वारा विकारों और तज्जन्य दुःखों से विमुक्ति। यह सत्य है कि जीवन दुःखमय है किन्तु उसका प्रयोजन दुःख विमुक्ति है।

जीवन को सार्थक करने का सन्देश देते हुए उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि 'अद्वजुत्ताणि सिक्खेज्जा निरद्वाणि उवज्जे' अर्थात् जीवन में सार्थक (आत्महित के अनुकूल) बातों का ग्रहण एवं निरर्थक (व्यर्थ) बातों का वर्जन करना चाहिये।^{६७}

उत्तराध्ययनसूत्र में जीवन को असंस्कृत कहकर जीवन की क्षणभंगुरता का वर्णन किया गया है^{६८} तथापि इसका लक्ष्य इसकी

६६ उत्तराध्ययन ४/७ ।

६७ उत्तराध्ययनसूत्र १/८ ।

६८ उत्तराध्ययनसूत्र १/८ ।

क्षणभंगुरता का भान कराकर अप्रमत्त दशा/आत्म सजगता को बनाये रखना है। इसमें जीवन की क्षणभंगुरता का उपदेश अनासक्त या वीतराग जीवनदृष्टि के विकास के लिये है, न कि व्यक्ति को निराश बनाने के लिये। इस प्रकार उत्तराध्ययनसूत्र में जीवनदर्शन के सम्बन्ध में यथार्थ एवं सजीव विवेचना प्रस्तुत की गई है।

अध्याय - ८

उत्तराध्ययनसूत्र में समाधिमरण
की अवधारणा



उत्तराध्ययनसूत्र में समाधिमरण की अवधारणा

जन्म एवं मृत्यु जीवन यात्रा के महत्वपूर्ण पड़ाव हैं । जन्म आत्मा का शरीर विशेष के साथ संयोग है तो मृत्यु शरीर विशेष से आत्मा का वियोग । जन्म के साथ मृत्यु अनिवार्यतः जुड़ी हुई है। मनुष्य के लिये जीवन की कला के साथ मृत्यु की कला का भी ज्ञान आवश्यक है। पाश्चात्य मनीषियों ने जीवन जीने को एक कला बताया है (Living is an art) लेकिन भगवान महावीर ने जीवन की कला के साथ-साथ मृत्यु की भी कला सिखाई है ।

उत्तराध्ययनसूत्र में जहां विस्तार से जीवन दर्शन का चित्रण किया गया है। वहीं इसके पांचवें अकाममरणीय अध्ययन में मृत्यु-दर्शन का भी सुन्दर विवेचन किया गया है। जीवन और मरण दोनों ही हमारे जागतिक अस्तित्व के अनिवार्य अंग हैं, प्रश्न उठता है कि जीना अच्छा है या मरना ? इसके उत्तर में जैन कथा साहित्य में एक प्रसंग कहा गया है कि एक अपेक्षा से न जीना अच्छा है न मरना, किन्तु अन्य अपेक्षा से जीना और मरना दोनों ही श्रेयस्कर हैं। अज्ञानी, असंयमी आत्मा का जीना भी अच्छा नहीं है तथा मरना भी अच्छा नहीं है और ज्ञानी एवं संयमी आत्मा का जीना भी श्रेष्ठ है, तो मरना भी श्रेष्ठ है।

प्रस्तुत अध्याय में हमारा मुख्य विवेच्य विषय समाधिमरण है फिर भी हम पूर्व भूमिका के रूप में मृत्यु के स्वरूप एवं प्रकारों की चर्चा करना उचित समझते हैं -

मृत्यु जीवन का अवश्यम्भावी पक्ष है । उत्तराध्ययनसूत्र में मृत्यु की अपरिहार्यता एवं अनिवार्यता पर व्यापक रूप से प्रकाश डाला गया है। इसमें कहा गया है कि व्यक्ति जीवन भर धन आदि का संग्रह करता है तथा अपनी मृत्यु से बचने के उपाय करता रहता है इस कारण वह नाना प्रकार के शुभ अशुभ कर्मों का संचय करता रहता है। लेकिन उसके ये सभी प्रयत्न व्यर्थ हो जाते हैं और अन्ततः

उसकी मृत्यु हो जाती है।^१ सभी जीव समभावपूर्वक (शान्ति से) मरना चाहते हैं, फिर भी यह ध्यान रखना होगा कि व्यक्ति जिस प्रकार का जीवन जीता है, उसी के अनुरूप उसकी मृत्यु होती है। समाधिमरण सहज नहीं है। उसके पीछे सम्पूर्ण जीवन की साधना रहती है। जैन परम्परा में समाधिमरण शान्तिपूर्ण मृत्यु की आकस्मिक घटना नहीं है, अपितु जीवन में की गई साधना का प्रतिफल है।

८.१ मरण के सत्रह प्रकार

जैनदर्शन के अनुसार जीव के तदभव सम्बन्धी आयुष्यकर्म का क्षय होने पर आत्मा का शरीर से निकल जाना मृत्यु है। जैन साहित्य में मृत्यु के अनेक प्रकारों का उल्लेख प्राप्त होता है। इसी क्रम में हम यहां समवायांग, भगवती एवं उत्तराध्ययननिर्युक्ति में वर्णित सत्रह प्रकार की मृत्यु की संक्षिप्त विवेचना करेंगे।^२

(१) आवीचिमरण

वीचि का अर्थ है तरंग। समुद्र में प्रतिक्षण लहरें उठती रहती हैं; वैसे ही आयुष्यकर्म भी प्रतिसमय उदय में आकर क्षीण होता जाता है। अतः जीवन प्रति समय नष्ट होता जाता है। प्रति समय होने वाला जीवन का विनाश ही आवीचिमरण कहलाता है। संक्षेप में प्रतिक्षण होने वाली मृत्यु को आवीचिमरण कहा जा सकता है। उत्तराध्ययननिर्युक्ति में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से आवीचिमरण के पांच प्रकार बतलाए हैं।^३

१ 'जे प्रावकम्मोहि धणं मज्झसा, समावपंती अयं ग्हाय।
पहाय ते पासपदिट्ठए नरे, वेणुसुब्बा नरयं उवोत्ति।।

२ (क) उत्तराध्ययननिर्युक्ति - २१३

(ख) समवायांग - १७/६

(ग) भगवती - २/४६

३ उत्तराध्ययननिर्युक्ति - २१४

- उत्तराध्ययनसूत्र - ४/२।

- (निर्युक्तिसंग्रह, पृष्ठ ३८४);

- (अमृतसुतांगि-सांडनु, खंड १, पृष्ठ ८६२);

- (अमृतसुतांगि, सांडनु, खंड २, पृष्ठ ८६);

- (निर्युक्तिसंग्रह, पृष्ठ ३८६)।

(२) अवधिमरण

अवधि का अर्थ यहां समय-सीमा है। समय की सीमा के समाप्त होने पर मृत्यु को प्राप्त होना अवधिमरण है। उत्तराध्ययननिर्युक्ति के अनुसार एक योनि में जो जीवन एक बार जी चुका है पुनः उसी योनि को प्राप्त करके मृत्यु को प्राप्त होना अवधिमरण है।^४ दूसरे शब्दों में जिस गति में एक बार जन्म मरण किया जा चुका है पुनः उस गति में उस गति से सम्बद्ध आयुष्यकर्म के दलिकों के साथ जन्म-मरण करना अवधिमरण है। चूंकि देव या नारक योनि में जीवन की अवधि निर्धारित होती है। अतः पुनः उसी जीवन अवधि को लेकर मरना अवधिमरण है। निष्कर्षतः आयुकर्म के भोगे हुए पुद्गलों का प्रत्येक क्षण में अलग होना आवधिमरण है तथा एक बार भोगकर छोड़े हुए परमाणु रूप पुद्गलों को पुनः भोगने से पहले जब तक उनका भोग शुरू नहीं करता उस बीच की अवधि को अवधिमरण कहते हैं।

(३) अत्यन्तमरण

वर्तमान आयुष्य को पूर्ण कर पुनः कभी भी उस योनि में उत्पन्न न होना पड़े, ऐसी मृत्यु अत्यन्तमरण कहलाती है। अर्थात् इस मरण में आयुकर्म के जिन दलिकों को एक बार भोग लिया उन्हें दुबारा कभी भी ग्रहण नहीं करना होता है। भगवती आराधना में इस मरण को आद्यन्तमरण कहा गया है।^५ जो योनि अन्तिम हो, जिसमें पुनः जन्म नहीं लेना पड़े उस योनि में होने वाली मृत्यु अन्तिम होने से उसे अत्यन्तमरण कहते हैं।

(४) वलनमरण

उत्तराध्ययननिर्युक्ति के अनुसार जो संयमी जीवन से निराश होकर मृत्यु को प्राप्त करता है, उसकी मृत्यु को वलनमरण कहा जाता है।^६ भगवतीसूत्र की वृत्ति के अनुसार भूख प्यास से तड़पते हुए मृत्यु को प्राप्त करना वलनमरण है।^७

४ उत्तराध्ययननिर्युक्ति - २१५

५ भगवती आराधना - पृष्ठ ५६

६ 'संयमोपधिस्त्वा मरति जे तं वलनमरणं तु।'

७ 'धततो-मुखाधिरगतलेन वलनमरणमस्य संयमाद्वा श्रयतो (पतो) मरणं तद्वलनमरणम्' - भगवती वृत्ति, पृष्ठ २१९।

- (निर्युक्तिसंग्रह, पृष्ठ ३८५)

- (उद्धृत जैनधर्म में सप्तमिमरण की अवधारणा, पृष्ठ १३६)

- उत्तराध्ययननिर्युक्ति गाथा २१५।

(५) वशार्तमरण

ऐन्द्रिकविषयों के वशीभूत व्यक्ति का आर्तध्यान पूर्वक मरण वशार्तमरण कहलाता है। यह मरण आर्तध्यान में निमग्न रहने वाले व्यक्ति का होता है। इसके इन्द्रियवशार्त, वेदनावशार्त, कषायवशार्त एवं नोकषायवशार्त ऐसे चार भेद भी किये गये हैं।^९

(६) अन्तशाल्यमरण

उत्तराध्ययननिर्युक्ति के अनुसार लज्जा एवं अभिमान के कारण गुरु के सम्मुख अतिचारों की आलोचना किये बिना मृत्यु को प्राप्त करना अन्तशाल्यमरण है।^९ भगवतीवृत्ति में इसके दो भेद माने गये हैं - द्रव्य और भाव। शरीर में शस्त्र की नोक, कांटे आदि के रहने से मृत्यु होना द्रव्य अन्तशाल्यमरण है तथा सदोष चारित्र वाले व्यक्ति द्वारा दोषों की आलोचना किये बिना मृत्यु को प्राप्त करना भाव अन्तशाल्यमरण है।^{१०}

(७) तद्भवमरण

जिस भव की आयु पूर्ण कर जीव की मृत्यु हो, पुनः उसी भव में जन्म ग्रहण कर मृत्यु को प्राप्त करना तद्भवमरण होता है। असंख्यातवर्ष की आयुष्य वाले अकर्मभूमि के मनुष्य एवं तिर्यचों का जन्म तथा नारकों एवं देवों का उत्पत्त पुनः उसी भव में नहीं होता है। इसलिये यह कहा गया है कि अकर्मभूमि के मनुष्यों और तिर्यचों तथा देवों और नारकों को छोड़कर शेष कर्मभूमि के जीवों में से कुछ जीवों का तद्भवमरण होता है, क्योंकि कर्मभूमि के सभी मनुष्य या तिर्यच पुनः उसी योनि में जन्म लेकर तद्भवमरण को प्राप्त नहीं होते हैं। अतः यह कहना उचित ही है कि कर्मभूमि के कुछ मनुष्य एवं तिर्यचों को ही तद्भवमरण प्राप्त होता है।

८ विजयोदयाश्रमि - ८६

९ उत्तराध्ययननिर्युक्ति - २१०-२१६

१० भगवतीवृत्ति प्र - २११।

- (उद्धृत - उत्तराध्ययनगणि, भाग-१, पृष्ठ १२६, पुषावार्थ महाराज)

- (निर्युक्तिसंग्रह, पृष्ठ ३८२)

(८) बालमरण

बाल अर्थात् अज्ञानी, अबोध, मिथ्यादृष्टि, असंयमी आदि के मरण को बालमरण कहा जाता है। भगवतीसूत्र में इसके बारह प्रकार बतलाये गये हैं।^{११} (इसकी विस्तृत विवेचना 'अकाममरण' शीर्षक के अन्तर्गत इसी अध्याय में आगे द्रष्टव्य है)।

(९) पण्डितमरण

संयमी व्यक्ति के मरण को पण्डितमरण कहा जाता है (इसकी विस्तृत विवेचना इसी अध्याय में आगे सकाममरण शीर्षक के अन्तर्गत है)।

(१०) बालपण्डितमरण

देशविरत सम्यकदृष्टि जीवों का मरण बालपण्डितमरण होता है। क्योंकि ये स्थूल हिंसा आदि से विरत रहने के कारण पण्डित, किन्तु सूक्ष्म हिंसा से विरत नहीं होने से बाल कहलाते हैं। इस प्रकार बालपण्डित अर्थात् देशविरतजीवों का मरण बालपण्डितमरण है।

(११) छद्मस्थमरण

मनःपर्यवज्ञानी (ऋजुमति), अवधिज्ञानी, श्रुतज्ञानी और मतिज्ञानी जीव के मरण को छद्मस्थमरण कहा जाता है।^{१२} क्योंकि ये चारों छद्मस्थ अवस्था में मृत्यु को प्राप्त करते हैं।

(१२) केवलीमरण

केवलज्ञानी की आत्मा का देह से वियोग केवलीमरण कहलाता है।

११ भावती - २४६

१२ 'मगस्यवोहिनापी, सुअमज्ञानी परति के सपणा।'

- (अंगसुत्तणि, ताडनुं, खंड २, पृष्ठ ८६)

- उत्तराध्यायननियुक्ति - २२२ ।

(१३) गृद्धपृष्ठमरण

गृद्ध आदि से अपने शरीर को नुचवा कर प्राण त्याग करना गृद्धपृष्ठमरण कहा जाता है। सामान्य अर्थ में गृद्ध स्पर्शित अर्थात् गृद्धों का भक्ष्य बनाकर मृत्यु को प्राप्त करना गृद्धपृष्ठमरण है।^{१३} भगवतीसूत्र की टीका में यह बताया गया है कि हाथी आदि के मृत शरीर में प्रविष्ट होकर अपने को गृद्ध आदि पक्षियों द्वारा भक्ष्य बनाकर मृत्यु को प्राप्त करना गृद्धपृष्ठमरण है।^{१४}

(१४) वैहायसमरण (वैखानसमरण)

उत्तराध्ययननिर्युक्ति के अनुसार वृक्ष आदि किसी उर्ध्वस्थान पर फांसी लगाकर मृत्यु को प्राप्त करना वैखानसमरण है।^{१५} भगवतीसूत्र की वृत्ति के अनुसार वृक्ष की शाखा पर फांसी लगाकर, पर्वत से गिरकर या नदी आदि में ऊपर से कूदकर मृत्यु को प्राप्त करना वैखानसमरण है।^{१६} इसका तात्पर्य यह है कि स्वेच्छा से पूर्वोक्त प्रकारों से शरीर को त्याग देना वैखानसमरण है। शब्दकल्पद्रुम में वैखानस का अर्थ वानप्रस्थ अवस्था भी किया गया है।^{१७} अतः वैदिकपरम्परा में गिरिपतन आदि जो वानप्रस्थों की मरण की विधि है उसी को जैनपरम्परा में वैखानसमरण कहा गया है। भगवती आराधना की विजयोदया टीका में वैखानसमरण के स्थान पर विप्रणासमरण का उल्लेख हुआ है।^{१८}

(१५) भक्तपरिज्ञामरण (१६) इंगिणीमरण (१७) और पादोपगमन मरण

इन तीनों की चर्चा समाधिमरण के सन्दर्भ में आगे इसी अध्याय में विस्तार से की गई है। वस्तुतः ये तीनों समाधिमरण के ही प्रकार हैं।

१३ 'गिरादपन्थानं, गिरिपिठम्।'

१४ भगवती मुक्ति-पत्र २११।

१५ 'उन्मत्तगृहं वैहायसं'

१६ 'दृग्गच्छामुखवन्दनेन वारुणिकप्रतिपत्तौः।'

१७ शब्दकल्पद्रुम - धनुष्यं भक्त पृष्ठ ५०८।

१८ विजयोदयासूक्ति पत्र ६०

- उत्तराध्ययननिर्युक्ति २२३।

- उत्तराध्ययनसूत्र निर्युक्ति भाष्य २२३।

- भगवती मुक्ति, पत्र २११।

- (उत्कृष्ट उत्तराध्ययनशास्त्र, भाग १, पृष्ठ १३१, - युवाचार्य महाराज)।

पूर्वोक्त सत्रह प्रकार की मृत्यु में प्रतिपल होने वाला आवीचिमरण सिद्धों के अतिरिक्त सभी संसारी प्राणियों का होता है। एक समय में कितने प्रकार के मरण हो सकते हैं, इसका विवरण उत्तराध्ययननिर्युक्ति में दिया गया है।^{१९} निर्युक्ति की इन गाथाओं की स्पष्ट व्याख्या की शान्त्याचार्य कृत टीका में उपलब्ध होती है।^{२०} एक समय में दो, तीन, चार और पांच मरण सम्भव होते हैं। बाल, पण्डित एवं बालपण्डित जीवों की अपेक्षा से उनका विभाजन निम्न प्रकार से किया गया है—

बालजीवों की अपेक्षा

बालजीवों का बालमरण तो होता ही है साथ ही अवधि और आत्यन्तिक में से एक मरण होता है। इस प्रकार बालजीवों में दो मरण एक साथ होते हैं। तीन प्रकारों में बाल, अवधि या आत्यन्तिक के साथ साथ तद्भवमरण भी हो सकता है। चार मरण में उपर्युक्त तीन के साथ वशार्तमरण भी होता है तथा पांच मरण में जो आत्मघात करने की स्थिति में सम्भव होते हैं, वैहायस एवं गृद्धपृष्ठ में से एक बढ़ जाता है। बालमरण के अन्तर्गत वलनमरण एवं अन्तःशल्यमरण वर्गीकृत कर लिये गये हैं। उनकी अलग करने पर तो बालमरण में एक साथ सात मरण भी हो सकते हैं, किन्तु इस चर्चा में उन्हें अलग से परिगणित नहीं किया गया है।

पण्डितजीवों की अपेक्षा

पण्डितमरण की विवक्षा दृढसंयमी-पण्डितमरण एवं शिथिलसंयमी-पण्डितमरण इन दो रूपों से की गई है -

दृढसंयमी पण्डित की अपेक्षा

एक समय में दो मरण - पण्डितमरण तथा अवधिमरण या आत्यन्तिक मरण;
 एक समय में तीन मरण -- पण्डितमरण, अवधिमरण या आत्यन्तिकमरण तथा
 छद्मस्थमरण या केवलीमरण में से एक;

१९ उत्तराध्ययननिर्युक्ति - २२७-२२६ ।

२० उत्तराध्ययनसूत्र टीका, पत्र - २३७-२३८

- (शान्त्पाचावरी)

- एक समय में चार मरण - पूर्वोक्त तीन के साथ भक्तपरिज्ञा, इंगिनी और पादोपगमन में से एक;
 एक समय में पांच मरण - पूर्वोक्त चार के साथ वैहायस और गृह्णपृष्ठ में से एक बढ़ जाता है।

इस प्रकार दृढसंयमी पण्डितपुरुष के एक साथ पांच मरण हो सकते हैं।

शिथिलसंयमी पण्डित की अपेक्षा

वहां एक साथ पांच मरण हो सकते हैं। भक्तप्रत्याख्यान, इंगिनी और पादोपगमन मरण विशुद्धसंयम वाले पण्डितजन के ही होते हैं। अतः उक्त दोनों प्रकार के पण्डितमरण की विवक्षा में तद्भवमरण नहीं लिया गया है, क्योंकि वे देवगति में ही उत्पन्न होते हैं।

बालपण्डित जीवों की अपेक्षा

- एक समय में दो मरण - बालपण्डितमरण तथा अवधिमरण और आत्यन्तिक मरण में से एक,
 एक समय में तीन मरण - पूर्वोक्त दो के साथ तद्भवमरण;
 एक समय में चार मरण - बालपण्डितमरण, अवधिमरण या आत्यन्तिकमरण, तद्भवमरण एवं वशार्तमरण
 एक समय में पांच मरण - पूर्वोक्त चार के साथ वैहायस एवं गृह्णपृष्ठ में से एक

पूर्वोक्त सत्रह प्रकार के मरणों को हम उत्तराध्ययनसूत्र में वर्णित मरण के मुख्य दो प्रकारों- अकाममरण एवं सकाममरण में समाहित कर सकते हैं, जैसे- वलनमरण, वशार्तमरण, अन्तशल्यमरण, बालमरण ये अकाममरण के अन्तर्गत आ जाते हैं। इसी प्रकार पण्डितमरण, बालपण्डितमरण, केवलीमरण, भक्तपरिज्ञामरण, इंगिनीमरण तथा पादोपगमनमरण ये सकाममरण के ही प्रकार हैं तथा आवीचिमरण, अवधिमरण, अत्यन्तमरण, तद्भवमरण, छद्मस्थमरण ये पांच मरण यदि बालजीवों के होते हैं तो अकाममरण और यदि ज्ञानीजनों के होते हैं तो सकाममरण के अन्तर्गत आ जाते हैं। शेष रही बात वैहायस एवं गृह्णपृष्ठ मरण की - इस सन्दर्भ में ज्ञातव्य है कि वैहायस एवं गृह्णपृष्ठ मरण, सामान्यतः बालमरण, अकाममरण प्रतीत होते हैं,

परन्तु ये चारित्र की सुरक्षा के उद्देश्य से किये जाने पर सकाममरण रूप भी हो सकते हैं।

अब हम संक्षेप में अकाममरण की चर्चा करने के पश्चात् अपने मूल विषय सकाममरण पर विशेष रूप से प्रकाश डालेंगे।

अकाममरण

अकाममरण की व्याख्या करते हुए उत्तराध्ययनसूत्र की टीका में कहा गया है कि 'अज्ञानी जीव विषयों की आसक्तिवश मरना नहीं चाहते हैं, किन्तु आयुष्य पूर्ण होने पर उन्हें मरना ही पड़ता है,²¹ यह उनकी विवशता है'। इस प्रकार विवशता की स्थिति में होने वाला मरण अकाममरण है। दूसरे शब्दों में अनैच्छिक एवं निरर्थक मरण अकाममरण है।

प्रस्तुत प्रसंग में 'अकाम' शब्द का अर्थ निष्काम की अपेक्षा निरर्थक अधिक संगत प्रतीत होता है। सामान्य बोलचाल की भाषा का 'बेकाम' शब्द, जिसका अर्थ कोई काम का नहीं (Useless); इसका पर्यायवाची हो सकता है। निष्कर्षतः जिस मरण से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता वह अकाममरण है।

अकाममरण बाल (अज्ञानी) जीवों का होता है। उत्तराध्ययनसूत्र के टीकाकार शान्त्याचार्य ने 'बाल' शब्द को परिभाषित करते हुए लिखा है कि जो सत् (उचित) एवं असत् (अनुचित) के विवेक से रहित हो वह बाल है।²² विवेक विकल जीव बाल या अज्ञानी कहलाते हैं और उनका मरण अकाममरण या बालमरण कहलाता है।

उत्तराध्ययनसूत्र में अकाममरण को अनुचित एवं त्याज्य बताया गया है। इसमें यहाँ तक कहा गया है कि अकाममरण को प्राप्त करने वाले जीव की स्थिति जुए में हारे हुए शोकग्रस्त जुआरी के समान होती है।²³ इसलिये अकाममरण की अपेक्षा सकाममरण श्रेष्ठ है। अब हम सकाममरण अर्थात् सार्थकमरण या

२१ 'ते हि विषयाभिष्वंगतो मरणमनिच्छत एव म्रियते।'

२२ उत्तराध्ययनसूत्र टीका, पृ. - २४२

२३ उत्तराध्ययनसूत्र - १/१६।

- उत्तराध्ययनसूत्र टीका पृ. २४२ - (शान्त्याचार्य)

- (शान्त्याचार्य)

समाधिमरण क्या है ? किसका होता है ? तथा यह कब, कैसे और क्यों करना चाहिए ? इस पर विचार करेंगे --

सकाममरण

उत्तराध्ययनसूत्र में सकाममरण किसे कहते हैं इसकी परिभाषात्मक व्याख्या उपलब्ध नहीं होती है। उत्तराध्ययनसूत्र की टीका में इसे परिभाषित करते हुए कहा गया है कि जो व्यक्ति विषयों के प्रति अनासक्त होने के कारण मरणकाल में भयभीत नहीं होता किन्तु उसे भी जीवन की ही भांति उत्साहपूर्वक अपनाता है, उस व्यक्ति के मरण को सकाममरण कहा जाता है।²⁴ इसे पण्डितमरण भी कहा जाता है।

सकाममरण का अर्थ सार्थक या सोदेश्य मरण है। यद्यपि उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार सकाममरण का अर्थ सार्थकमरण है, फिर भी यह शब्द सामान्यतः भ्रमोत्पादक है अर्थात् कामना युक्त मरण का द्योतक है। अतः अग्रिम चर्चा में सकाममरण के स्थान पर समाधिमरण शब्द का प्रयोग करना समीचीन होगा।

समाधिमरण का प्रयोजन

उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार (साधक का मूलभूत प्रयोजन समत्व या वीतरागता की उपलब्धि है।²⁵ समत्व की उपलब्धि में बाधक तत्त्व ममत्व है मानव की ममता का घनीभूत केन्द्र उसका अपना शरीर होता है। साधना के क्षेत्र में उसके प्रति निर्ममत्व (अनासक्ति) होना अत्यावश्यक है। इस प्रकार देह के प्रति निर्ममत्व की साधना का प्रयास समाधिमरण है। इसकी साधना के लिये उत्तराध्ययनसूत्र आदि ग्रन्थों में एक विशिष्ट प्रक्रिया का प्रतिपादन किया गया है, जो इस प्रकार है -

२४ उत्तराध्ययनसूत्र टीका-पृ २४२

२५ उत्तराध्ययनसूत्र - ३१/२१।

- (शान्त्पादाय)।

समाधिमरण की प्रक्रिया

उत्तराध्ययनसूत्र में समाधिमरण के समय एवं प्रक्रिया का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि अनेक वर्षों तक श्रमणधर्म का पालन करके मुनि आत्मा की संलेखना करे अर्थात् आत्मा के विकारों का शोधन करे। संलेखना में विकारों, कषायों और उन के आधारभूत शरीर को कृश करने का प्रयास किया जाता है। उत्कृष्ट संलेखना बारह वर्ष, मध्यम एक वर्ष और जघन्य छः मास की होती है।²⁶

बारहवर्ष की संलेखना के काल की साधना का उल्लेख करते हुए उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि साधक प्रथम चार वर्ष में दुग्ध आदि विकृतियों का निर्युहण अर्थात् त्याग करे, दूसरे चार वर्षों में विविध प्रकार के तप करे, फिर दो वर्षों तक एकान्तर तप (एक दिन उपवास और एक दिन भोजन) करे तथा भोजन के दिन आचाम्ल/आयविल अर्थात् नीरस अत्याहार करे। उसके बाद ग्यारहवें वर्ष में पहले छः महीनों तक कोई भी विकृष्ट अर्थात् तेला, चौला आदि तप न करे। उसके बाद छः महीनों तक विकृष्ट तप करे। पारणे के दिन इस पूरे वर्ष में परिमित आचाम्ल अर्थात् विकृति रहित आहार एक बार ग्रहण करे। बारहवें वर्ष में एक वर्ष तक कोटि सहित अर्थात् निरन्तर आचाम्ल करके फिर वर्षान्त में मुनि एक पक्ष या एक मास का अनशन करे।²⁷

समाधिमरण के प्रकार

उत्तराध्ययनसूत्र के पांचवें अध्ययन की अन्तिम गाथा में समाधिमरण तीन प्रकार का होता है, ऐसा उल्लेख मिलता है, पर इसमें इनका नमोल्लेख नहीं किया गया है।²⁸ निर्युक्तिकार ने इस सन्दर्भ में भक्तपरिज्ञा, इगिनीमरण एवं पद्मोपगमन-इन तीन नामों का उल्लेख किया है तथा इन्हें क्रमशः कनिष्ठ, मध्यम एवं श्रेष्ठ कहा है।²⁹ यद्यपि तीनों मरण समाधिमरण के ही रूप हैं फिर भी संहनन एवं धृति (धैर्य) की अपेक्षा से इनकी साधना विधि में अन्तर है, जो निम्न है -

२६. आचाम्लसूत्र ३६/२५० एवं २५१।

२७. आचाम्लसूत्र ३६/२५२ से २५५।

२८. 'समाधिमरणं मार्गं, तिष्ठमन्तरं मुणी।'।

२९. 'सहरीन्ना इगिनी, पाओषणं च तिणि मरणं।

कामसंक्रान्तेरुक्, विद् सवर्णो उ विसिद्धा।'

- उत्तराध्ययनसूत्र ५/३२।

- उत्तराध्ययननियुक्ति - २२४ - (नियुक्तिसंग्रह, पृष्ठ ३८६)।

✓(१) भक्तपरिज्ञा

'भक्तपरिज्ञा' शब्द का प्रचलित अर्थ खान-पान का विवेक है, इसका पारम्परिक अर्थ खान-पान का प्रत्याख्यान (त्याग) है। उत्तराध्ययनसूत्र के टीकाकार शान्ताचार्य ने अशन, पान आदि चारों प्रकार के आहारों तथा बाह्य और आभ्यन्तर उपधि के यावज्जीवन सर्वथा त्याग को भक्तपरिज्ञा नामक समाधिमरण कहा है।^{३०}

(२) इंगिनीमरण

इंगिनीमरण का शाब्दिक अर्थ इंगित क्षेत्र में शारीरिक क्रियाकलापों को करते हुए मृत्यु को प्राप्त करना है। इंगिनीमरण में भी भक्तपरिज्ञामरण के समान ही चतुर्विध आहार एवं बाह्य और आभ्यन्तर उपधि का त्याग होता है; पर इसकी विशेषता यह है कि इसमें आहार आदि के त्याग के साथ-साथ व्यक्ति अपनी चेष्टाओं को भी सीमित करता है और सीमा को लांघकर कोई शारीरिक चेष्टा नहीं करता। इंगितमरण में भक्तपरिज्ञा समाहित है इसके साथ ही इसमें शारीरिक चेष्टाओं पर भी संयम रखने का प्रयास किया जाता है।

(३) पादोपगमन

पादोपगमन नामक तीसरे समाधिमरण की विशेषता यह है कि इसमें साधक आहार और उपधि के प्रत्याख्यान के साथ-साथ अपनी शारीरिक चेष्टाओं का भी प्रत्याख्यान कर देता है और भूमि पर गिरे हुए वृक्ष के समान किसी प्रकार की शारीरिक चेष्टा न करते हुए निश्चल रूप से मृत्युपर्यन्त निष्क्रिय होकर आत्मस्थ हो जाता है। टीकाकार ने यहां यह भी स्पष्ट किया है कि पादोपगमन नामक समाधि ग्रहण करने के अधिकारी वे ही होंगे जिनका संहनन वज्रऋषभनाराचसंहनन के समान विशिष्ट हो।^{३१} पादोपगमन विशिष्ट शारीरिक शक्ति वाले के लिए ही अनुमत है। सामान्य साधक के लिए तो भक्तपरिज्ञा ही श्रेयस्कर है।

३० उत्तराध्ययनसूत्र टीका पृष्ठ २३६

३१ उत्तराध्ययनसूत्र टीका पृष्ठ २३६

- (शान्ताचार्य)।

- (शान्ताचार्य)।

(वस्तुतः ये तीनों प्रकार के मरण श्रेष्ठ हैं तथा इन तीनों की सहायता से मुक्ति सम्भव है, लेकिन व्यक्ति को अपनी सामर्थ्य एवं शक्ति के अनुसार इन तीनों में से किसी एक प्रकार की मरणविधि का चयन कर उसका अनुसरण करना चाहिए। संयम, साधना की कठोरता की अपेक्षा से विचार करने पर भक्तपरिज्ञामरण श्रेष्ठ है, इगिनीमरण श्रेष्ठतर है और पादोपगमन मरण श्रेष्ठतम है) इनमें प्रवृत्ति का स्तर अल्प से अल्पतम होकर नहींवत् हो जाता है। फिर भी इतना अवश्य है कि इन तीनों में से अपनी सामर्थ्य के अनुसार किसी भी एक विधि का आलम्बन लेकर व्यक्ति अपनी मृत्यु को मांगलिक बना सकता है और मोक्ष को उपलब्ध कर सकता है। उत्तराध्ययनसूत्र में स्पष्टतः कहा गया है कि पण्डितमरण की इन तीनों विधियों में से किसी एक को अपनाकर व्यक्ति कर्मावरण का क्षयकर मोक्ष को प्राप्त कर सकता है।³²

समाधिमरण का अधिकारी

सकाममरण पण्डित (ज्ञानी) पुरुषों का होता है। अतः इसे पण्डितमरण भी कहा जाता है। उत्तराध्ययनसूत्र की बृहदवृत्ति में चारित्र सम्पन्न व्यक्ति को पण्डित कहा गया है।³³

संस्कृत व्युत्पत्ति के अनुसार 'पण्डा संजाता यस्य स पण्डित' - पण्डा अर्थात् इन्द्रियां, जो इन्द्रियों को संयमित रखे, वह पण्डित है।

उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार समाधिमरण के अधिकारी पुण्यशाली, संयमी एवं जितेन्द्रिय पुरुष होते हैं। वे साधु (श्रमण) एवं गृहस्थ दोनों हो सकते हैं। इसमें कहा गया है कि सकाममरण न तो सभी साधुओं को प्राप्त होता है और न ही सभी गृहस्थों को क्योंकि गृहस्थ विविध आचरण वाले होते हैं और भिक्षु भी विषमशील वाले होते हैं।³⁴

इससे सिद्ध होता है कि समाधिमरण सुव्रती व्यक्ति का होता है, फिर चाहे वह गृहस्थ हो या साधु। मन की विशुद्धि समाधिमरण की अनिवार्य आवश्यकता है। इस सन्दर्भ में संस्तारक एवं महाप्रत्याख्यान प्रकीर्णक में कहा गया है कि न तो

३२ उत्तराध्ययनसूत्र ६/३२ ।

३३ उत्तराध्ययनसूत्र टीका-पत्र २३४

३४ उत्तराध्ययनसूत्र - ६/१८ एवं १९ ।

तृणमय संस्तरण (शय्या) संलेखनामरण का कारण है और न ही प्रासुक भूमि, किन्तु जिसका मन शुद्ध है ऐसी आत्मा ही वास्तव में संस्तरक (सकाममरण की अधिकारी) है।^{३५}

मन की विशुद्धि से रहित साधु के अजिन अर्थात् (चर्म वस्त्र), नग्नत्व या संघाटी (उत्तरीय), जटा या शिरोमुण्डन आदि बाह्याचार उसे दुःख से त्राण (रक्षा) दिलाने में समर्थ नहीं होते हैं।^{३६} दुःशील साधु समाधिमरण को प्राप्त नहीं करता, जबकि सामायिक एवं पौषधव्रत से युक्त सदगृहस्थ भी समाधिमरण के द्वारा उच्चगति को प्राप्त कर सकता है।

समाधिमरण के पर्यायवाची

जैन ग्रन्थों में सकाममरण के विभिन्न पर्यायवाची शब्द उपलब्ध होते हैं यथा - समाधिमरण, पण्डितमरण, संलेखना, संथारा, अन्तक्रिया, उत्तमार्थ आदि।

(१) समाधिमरण - यह समाधि एवं मरण इन दो शब्दों के योग से बना है। समाधि का अर्थ चित्त या मन की शान्त अवस्था है तथा मरण का अर्थ देह का आत्मा से वियोग है। इस प्रकार समाधिमरण समाधि अर्थात् शान्ति पूर्वक या अविकल भाव से मृत्यु का वरण करना है।

(२) पण्डितमरण - उत्तराध्ययनसूत्र में ज्ञानी/संयमी व्यक्ति के मरण को पण्डितमरण कहा गया है। (पण्डित शब्द ज्ञानी व्यक्ति के लिए आया है। आत्मशान्ति की प्राप्ति के लिये निर्ममत्व भाव से देह का त्याग करना पण्डितमरण है।)

(३) सकाममरण - यहां सकाम शब्द का अर्थ कामना या आकांक्षा नहीं है, वरन् विशेष उद्देश्य है। उद्देश्यपूर्वक स्वेच्छा से मृत्यु को प्राप्त करना सकाममरण है। इसका उद्देश्य भी एक मात्र आत्मशुद्धि होता है। संक्षेप में सार्थक, लक्ष्ययुक्त या प्रयोजनपूर्वक मृत्यु सकाममरण है।

(४) संलेखना - संलेखना शब्द 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'लिख' धातु से बना है। सम् का अर्थ होता है सम्यक्/उचित प्रकार से तथा लेखना का तात्पर्य कृश या क्षीण करना है। अभिधानराजेन्द्रकोश के अनुसार सम्यक् प्रकार से काय

३५ (क) महाप्रपाठान प्रकीर्णक - गाथा ६६, पत्र ६६;

(ख) संस्तरक प्रकीर्णक-गाथा - ५३, पत्र ५६।

३६ उत्तराध्ययनसूत्र ५/२१।

(शरीर) और कषाय को क्षीण या कृश करना संलेखना है।³⁷ समभावपूर्वक राग आदि को क्षीण करते हुए मृत्यु को प्राप्त होना संलेखना है। इस प्रकार इसमें दो बातें मुख्य रूप से प्रकट होती हैं। शरीर का कृशीकरण और कषायों का क्षय। इसमें मुख्य उद्देश्य कषायों का क्षय ही है। मरणसमाधि के अनुसार संलेखना के दो प्रकार हैं। आभ्यन्तर एवं बाह्य; कषायों को कृश करना आभ्यन्तर संलेखना है एवं शरीर को कृश करना बाह्य संलेखना है।³⁸ यहां शरीर को कृश करने का आशय बहुत गहरा है, क्योंकि कषायों का मुख्य निमित्त शरीर बनता है। कषायों का मुख्य उत्पादक तत्त्व शरीर ही है। अतः उसे कृश करना कषायों के कम करने में उपयोगी है।

(५) संधारा - संधारा या संस्तारक शब्द का अर्थ शय्या होता है जिस पर शयन किया जाता है उसे शय्या कहते हैं। प्रस्तुत प्रसंग में संधारे का अर्थ मृत्यु शय्या पर आरूढ़ होना है। जैनपरम्परा में 'संधारा' शब्द समाधिमरण के सन्दर्भ में विशेष रूप से प्रचलित है।

(६) अन्तक्रिया - आचार्य समन्तभद्र ने जीवन के अन्तिम भाग में किये जाने वाले इस धार्मिक अनुष्ठान/समाधिमरण को अन्तक्रिया कहा है।³⁹

समाधिमरण के अपरनाम सन्यासमरण, उत्तमार्थ एवं उद्युक्तमरण भी मिलते हैं; किन्तु इन सबका सार एक ही है - समभावपूर्वक मृत्यु का वरण करना। विषय - कषाय का क्षय करने हेतु की जाने वाली अन्तिम समय की क्रिया अन्त क्रिया है।

समाधिमरण में बाधक परिस्थितियां

उत्तराध्ययनसूत्र में दुर्गति में ले जाने वाली पांच भावनाओं का वर्णन किया गया है।⁴⁰ अकाममृत्यु को प्राप्त करने वाले अज्ञानी जीव इन भावनाओं से ग्रस्त होते हैं। ये भावनार्यें समाधिमरण में बाधक होती हैं। अतः इनका वर्णन यहां प्रासंगिक है।

३७ अभियान(जैनकीर्ति) - भाग ७, पृष्ठ २१७।

३८ मरणसमाधि-पाठ - १७६, पं. - १०८।

३९ ललकारक भाष्यकार - १/२ पृष्ठ २२३।

४० उत्तराध्ययनसूत्र ३६/२६३।

राग, द्वेष, मोह आदि के अशुभ विकल्प रूप भावना अशुभभावना कही जाती है। अशुभभावना जीव की दुर्गति का कारण बनती है। अतः सूत्रकार अशुभभावनाओं का स्वरूप बताकर उनका त्याग करने की प्रेरणा देते हैं। वे अशुभ भावनायें निम्न हैं -

(१) कन्दर्पभावना

कन्दर्प का अर्थ काम होता है (कन्दर्पःकाम)। उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार काम वासना को उत्तेजितकरने वाले हास्य, कौत्कुच्य अर्थात् कौतूहल, कामचेष्टा आदि कान्दर्पीभावना के अन्तर्गत आते हैं।⁴¹

उत्तराध्ययनसूत्र के टीकाकार शान्त्याचार्य ने कन्दर्प के पांच अर्थ किये हैं⁴² -

- (१) ठहाका मारकर हंसना,
- (२) गुरू आदि के साथ व्यंग्य में बोलना,
- (३) काम कथा करना,
- (४) काम वासना का उपदेश देना,
- (५) काम वासना की प्रशंसा करना।

पुनश्च टीकाकार ने कौत्कुच्य के दो प्रकार भी बतलाये हैं⁴³ -

(१) कायकौत्कुच्य - भौंह, आंख, मुंह आदि अवयवों को इस प्रकार बनाना जिससे उन्हें देखने वाले हंसने लगे।

(२) वाक्कौत्कुच्य - विविध जीव जन्तुओं की बोली बोलना तथा सीटी आदि बजाना।

इस विश्लेषण से प्रतीत होता है कि इसमें व्यर्थ का कौतूहल उत्पन्न करने की भावना प्रमुख रहती है।

(२) आभियोगीभावना

सुख-समृद्धि या भौतिक उपलब्धियों के लिए मंत्र-योग और भूतिकर्म का प्रयोग करना आभियोगी भावना है।

४१ उत्तराध्ययनसूत्र ३६/२६४।

४२ उत्तराध्ययनसूत्र टीका पत्र ७०६

४३ उत्तराध्ययनसूत्र टीका पत्र - ७०६

- (शान्त्याचार्य)।

- (शान्त्याचार्य)

(३) कित्विषीभावना

कित्विष का अर्थ है नीच या निन्दित (घृणित)। अतः कित्विषिकभावना का सम्बन्ध निन्दा, छल-छद्म आदि निम्न स्तरीय व्यवहार से है।

ज्ञान, ज्ञानी, धर्माचार्य, संघ और साधुओं की निन्दा या अवर्णवाद करना कित्विषीभावना है। प्रवचनसारोद्धार तथा मूलाराधना में भी कित्विषी भावना के ये ही प्रकार बतलाये गये हैं।⁴⁴

(४) आसुरीभावना

निरन्तर क्रोध करना तथा दूसरों के अहित हेतु निमित्तविद्या आदि का प्रयोग करना आसुरीभावना के लक्षण हैं।⁴⁵ असुर का अर्थ सामान्यतः राक्षस या दैत्य किया जाता है। दशवैकालिकसूत्र में क्रोध को असुर कहा गया है।⁴⁶ वस्तुतः जिस प्राणी में दूसरों के अहित में सुख मानने की वृत्ति होती है जो परपीड़न में आनन्द मानता है, वह असुर है और परपीड़न में आनन्द मानने की वृत्ति आसुरी भावना है।

उत्तराध्ययनसूत्र की टीका में अनुबद्धरोषप्रसर का अर्थ करते हुए लिखा है- सदा विग्रह करते रहना, प्रमाद हो जाने पर भी अनुताप न करना, दूसरों के द्वारा क्षमायाचना कर लेने पर भी प्रसन्न न होना आसुरी भावना है।⁴⁷

(५) मोहीभावना

मोहीभावना का अर्थ अविद्वेकपूर्वक कषायों के वशीभूत होकर देहत्याग का संकल्प करना है। व्यक्ति जब देहत्याग करता है तो संक्लेश आदि आवेगों के वशीभूत होकर शस्त्र आदि के द्वारा उन्मार्ग की प्राप्ति और सन्मार्ग की हानि होती है, यह मोहीभावना है।⁴⁸

उत्तराध्ययनसूत्र में मोहीभावना के निम्न साधन बतलाए हैं।⁴⁹

(१) शस्त्रग्रहण;

(२) विषभक्षण;

४४ (क) प्रवचनसारोद्धार भाषा ६४३;

(ख) मूलाराधना - ३/१८१।

४५ उत्तराध्ययनसूत्र - ३६/२६६।

४६ 'असुरतां न गच्छेन्वा' - दशवैकालिक - ८/२४।

४७ उत्तराध्ययनसूत्र टीका-पत्र - ७०८

४८ उत्तराध्ययनसूत्र टीका-पत्र - ७११

४९ उत्तराध्ययनसूत्र - ३६/२६७।

- (शान्त्वाचार्य)।

- (शान्त्वाचार्य)।

- (३) अग्नि में जलकर मरना,
- (४) जल में कूदकर मरना तथा
- (५) मर्यादा से अतिरिक्त उपकरण रखना।

इस प्रकार शस्त्र प्रयोग, विषभक्षण तथा अग्नि एवं जल में प्रवेश करके अपनी अज्ञानता या अविवेक का परिचय मोहीभावना है।

प्रवचनसारोद्धार में भी मोहीभावना के निम्न पांच लक्षण बतलाये हैं^{६०} -

- (१) उन्मार्ग देशना - मार्ग के विपरीत देशना या उपदेश उन्मार्ग देशना है। दूसरे शब्दों में मिथ्यादर्शन एवं अत्रत का उपदेश उन्मार्ग देशना है।
- (२) मार्ग दूषण - जिन प्ररूपित मार्ग में दोष देखना मार्ग दूषण है।
- (३) मार्ग विप्रतिपत्ति - जिन प्रणीत मार्ग में श्रद्धा का अभाव मार्ग विप्रतिपत्ति है। यह जिन मार्ग के विपरीत आचरण है।
- (४) विमोह - प्रकृष्टरूप से मोह अर्थात् प्रमत्तता और अविवेक की दशा में रहना विमोह है।
- (५) मोहजनन - स्वभाव की विचित्रता एवं मोह के वशीभूत होकर दूसरे व्यक्तियों में मोह उत्पन्न करना मोहजनन है।

समाधिमरण करने योग्य परिस्थिति

समाधिमरण किन परिस्थितियों में किया जाना चाहिये ऐसा कोई स्पष्ट उल्लेख उत्तराध्ययनसूत्र में समाधिमरण में नहीं मिलता है। फिर भी इसमें वर्णित साधक की चर्चा से इस सन्दर्भ में कुछ संकेत अवश्य प्राप्त होते हैं। इसके द्वितीय परीषद अध्ययन में साधक को वध परीषद सहन करने की शिक्षा देते हुए कहा गया है कि किसी के मारने-पीटने पर भी भिक्षु यह चिन्तन करे कि आत्मा का कभी नाश नहीं होता है। वह समभाव को धारण करे।^{६१}

६० प्रवचनसारोद्धार ६४६।
६१ उत्तराध्ययनसूत्र २/११।

इससे यह प्रतिफलित होता है कि प्रतिज्ञा भंग की अपेक्षा मृत्यु का वरण करना श्रेयस्कर है, क्योंकि मारने वाले का प्रतिकार करना अहिंसाव्रत को खण्डित करना है। यही बात आचारांग में भी कही गई है।⁵²

उत्तराध्ययनसूत्र के चतुर्थ अध्ययन में कहा गया है कि जब जीवन से लाभ होता न दिखे, आत्मगुणों के संरक्षण की शक्ति न हो तो परिज्ञानपूर्वक शरीर का त्याग कर देना चाहिये।⁵³

उत्तराध्ययनसूत्र के अतिरिक्त आचारांग, अन्तकृतदशांग, उपासकदशांग, अनुत्तरोपपातिकदशांग में उन परिस्थितियों का चित्रण है; जिनके आधार पर समाधिमरण किया जाता है। इन विविध आगमों में समाधिमरण की निम्न परिस्थितियों का निर्देश उपलब्ध होता है।

(१) जब चारित्रिक मूल्यों एवं जीवन के संरक्षण में से एक ही विकल्प का चयन करना हो तो ऐसी स्थिति में शरीर के स्वस्थ रहते हुए भी समाधिमरण को स्वीकार किया जा सकता है। जैसे - शील की सुरक्षा के लिए किसी नारी का श्वासनिरोध आदि के द्वारा प्राण त्याग करना।

(२) मरणान्तिक कष्ट उपस्थित होने पर भी समाधिमरण स्वीकार किया जाता है। ऐसी परिस्थिति में सागारी अनशन स्वीकार किया जाता है और उस परिस्थिति के दूर होने पर पुनः सामान्य रूप से जीवन यात्रा का निर्वाह किया जा सकता है।

(३) जब शरीर इतना अशक्त हो जाय कि वह संयम साधना में बाधक बन जाय तथा अपने संघस्थ साधियों के लिए भारस्वरूप हो जाय, तो समभाव पूर्वक समाधिमरण स्वीकार कर लेना चाहिये।

(४) जब मृत्यु जीवन के द्वार पर दस्तक दे रही हो और शरीर को लम्बे समय तक टिकाये रखना सम्भव न हो यथा - कैंसर आदि असाध्य रोगों की स्थिति में समाधिमरण स्वीकार किया जाता है।

साधक का आहार करना और न करना दोनों ही सकारण (संप्रयोजन) हैं। अतः जब तक शरीर मोक्ष मार्ग की साधना में सहायक रहे तब तक शरीर का सामान्यतः पोषण करना चाहिए। परन्तु जब शरीर साधना में उपयोगी न रहे, वह

अपनी आत्मसाधना और संधीयजीवन की साधना में भारस्वरूप बन जाये, तब उसके पोषण के प्रयत्नों का त्याग करके सहज रूप से मृत्यु के आगमन को स्वीकार कर लेना चाहिये ।

समाधिमरण के सम्भावित दोष

उपासकदशांगसूत्र में समाधिमरण के लिए निम्न पांच दोषों से बचने का निर्देश किया गया है।⁵⁴

- (१) इहलोकाशंसा प्रयोग — इह लोक सम्बन्धी उत्तम ऐश्वर्य और कामभोग की कामना करना। संक्षेप में ऐहिक सुखों की कामना इहलोकाशंसा प्रयोग है।
- (२) परलोकाशंसा प्रयोग — स्वर्ग के महद्द्विक देव तथा इन्द्र आदि बनने की अभिलाषा करना अर्थात् पारलौकिक सुखों की कामना परलोकाशंसा प्रयोग है।
- (३) जीविताशंसा प्रयोग — लम्बे समय तक जीवित रहने की इच्छा करना जीविताशंसा प्रयोग है।
- (४) मरणाशंसा प्रयोग — जीवन की परेशानियों से घबराकर शीघ्र मरने की कामना मरणाशंसा प्रयोग है।
- (५) कामभोगाशंसा प्रयोग — ऐन्द्रिक विषयों के भोग की आकांक्षा कामभोगाशंसा प्रयोग है।

बौद्धपरम्परा में भी जीवन की कामना एवं मृत्यु की कामना दोनों को अनुचित माना गया है। ये भवतृष्णा तथा विभवतृष्णा क्रमशः जीविताशा तथा मरणाशा की ही प्रतीक हैं।

८.३ अन्य ग्रन्थों में समाधिमरण -

(१) आतुरप्रत्याख्यान प्रकीर्णक

इसमें मृत्यु के दो प्रकार बालमरण और पण्डितमरण पर विस्तार से वर्णन किया गया है। पण्डितमरण की प्राप्ति के लिए ६३ प्रकार की साधना का उल्लेख है। उसमें बालमरण के स्वरूप, दोष आदि का भी विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है। समाधिमरण के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए उसे मोक्ष प्राप्ति का साधन कहा गया है। इसमें बालपण्डितमरण का भी वर्णन मिलता है।

(२) महाप्रत्याख्यान

इसमें पण्डितमरण तथा बालमरण आदि का वर्णन किया गया है।

(३) मरणविभक्ति

इस प्रकरण की रचना मुख्यतः निम्न ग्रन्थों के आधार पर हुई है -

- | | | |
|-------------------------|------------------|-----------------------|
| (१) मरणविभक्ति; | (२) मरणविशोधि; | (३) मरणसमाधि; |
| (४) संलेखनाश्रुत; | (५) भक्तपरिज्ञा; | (६) आतुरप्रत्याख्यान; |
| (७) महाप्रत्याख्यान; और | (८) आराधना | |

इन सभी ग्रन्थों का मुख्य प्रतिपाद्य समाधिमरण है।

(४) संस्तारक प्रकीर्णक

इसमें समाधिमरण का स्वरूप, उसके लाभ एवं सुख के साथ समाधिमरण लेने वाले व्यक्तियों के उदाहरण, संधारे (संस्तारक) पर आरूढ़ व्यक्ति के मन में उठने वाले भावों का सुन्दर चित्रण किया गया है, साथ ही समाधिमरण पूर्वक देहत्याग करने वाले अर्णिकापुत्र, गजसुकुमालमुनि, अवन्ति, चाणक्य, अमृतघोष तथा चिलातिपुत्र आदि का प्रमुख रूप से वर्णन किया गया है।

(५) भगवतीआराधना

इसमें समाधिमरण का विस्तृत विवेचन किया गया है जैसे - मरण के १७ प्रकार, समाधिमरण के तीन प्रकार (भक्तपरिज्ञा, इगिनीमरण और पादोपगमण) आदि ।

(६) रत्नकरण्डकश्रावकाचार

रत्नकरण्डकश्रावकाचार के सप्तम अधिकार में भी विस्तृत रूप से संलेखना आदि का वर्णन किया गया है।

समाधिमरण की अवधारणा अतिप्राचीन है। अतः भारतीय दर्शन की श्रमण एवं ब्राह्मण दोनों ही परम्पराओं में इसके उल्लेख मिलते हैं; जिनका संक्षिप्त उल्लेख निम्न है—

वैदिकपरम्परा में मृत्युवरण

हिन्दूपरम्परा में आत्महत्या को महापाप माना जाता है। इस सन्दर्भ में पाराशरस्मृति में कहा गया है कि 'जो क्लेश, भय, घमण्ड और क्रोध के वशीभूत होकर आत्महत्या करता है वह साठ हजार वर्ष तक नरकवास करता है।⁵⁵ दूसरी ओर वैदिकपरम्परा में उपवास आदि के द्वारा देहत्याग को श्रेयस्कर भी माना गया है। महाभारत के अनुशासनपर्व, वनपर्व एवं मत्स्यपुराण आदि ग्रन्थों में अग्निप्रवेश, जलप्रवेश, गिरिपतन, विषप्रयोग या उपवास आदि के द्वारा किए गये देहत्याग को ब्रह्मलोक या मुक्ति का कारण माना गया है।

बौद्धपरम्परा में मृत्युवरण

बौद्धपरम्परा में आत्मबलिदान को अनुचित माना गया है। अपेक्षा विशेष से बौद्ध साहित्य में स्वेच्छापूर्वक मरण को मुक्ति का कारण भी माना गया है। संयुक्तनिकाय में भिक्षु वक्कलि कुलपुत्र एवं भिक्षु छन्ना द्वारा असाध्य रोग से पीड़ित होने पर आत्मसमाधि करने का वर्णन है। तथा इसे परिनिर्वाण का कारण भी माना गया है।⁵⁶

जापान में आज भी बौद्ध सम्प्रदाय में हारीकरी की प्रथा प्रचलित है; जिसमें धारदार शस्त्र द्वारा अंग-प्रत्यंग काटकर मृत्यु का वरण किया जाता है। इस प्रकार परिस्थिति विशेष में बौद्धधर्म में शस्त्रवध द्वारा मृत्युवरण को स्वीकार किया गया है।

५२ पारमार्स्मृति - ४/१/२

५६ संयुक्तनिकाय - २१/२/४/६, ३४/२/४/४

- (उद्धृत - 'जैन विद्या के आयाम' - खंड ६, पृष्ठ ४२५)।

- (उद्धृत - 'जैन विद्या के आयाम' - खंड ६, पृष्ठ ४२५)।

8.4 समाधिमरण आत्महत्या नहीं हैं

समाधिमरण के विषय में कई विचारकों की यह धारणा है कि समाधिमरण आत्महत्या का एक रूप है। किन्तु उनकी यह भ्रान्त धारणा समाधिमरण एवं आत्महत्या के वास्तविक अन्तर को नहीं समझने के कारण है। यद्यपि समाधिमरण में भी स्वेच्छापूर्वक देह त्याग किया जाता है फिर भी समाधिमरण में आत्महनन के लिए कोई अवकाश नहीं है। उत्तराध्ययनसूत्र में स्पष्ट रूप से आत्महत्या को दुर्गति का कारण माना गया है। आत्महत्या उसे कहा जाता है, जिसमें मृत्यु की आकांक्षा होती है। समाधिमरण में मृत्यु की कोई आकांक्षा नहीं होती है। अतः समाधिमरण आत्महत्या नहीं है। पुनः आत्महत्या में संक्लेश का भाव होता है, उद्विग्नता होती है। जबकि समाधिमरण में इनका अभाव होता है। वैदिक, जैन और बौद्ध तीनों ही परम्पराओं में जीविताशा एवं मरणाशा दोनों को अनुचित माना है।⁵⁷ समाधिमरण का साधक जीवन एवं मरण दोनों के प्रति अनासक्त होता है। वह देहत्याग मात्र इस भाव से करता है कि मृत्यु अनिवार्य है और शरीर नष्ट होने वाला है। अतः इसका पोषण व्यर्थ है।

वस्तुतः 'आत्महत्या' शब्द का ज्ञानियों के शब्दकोश में कोई अस्तित्व नहीं है क्योंकि आत्मा अजर एवं अमर है। उसका कभी मरण हो ही नहीं सकता। मरणधर्मा तो शरीर है। उत्तराध्ययनसूत्र की भाषा में मृत्यु देह का आत्मा से वियोग है और यह वियोग भी देह विशेष से है। दूसरे शब्दों में आत्मा का एक देह से दूसरे देह में जाना ही मरण है; जब आत्मा का देह से शाश्वत वियोग हो जाता है तो वह मरण न कहलाकर निर्वाण या मोक्ष कहलाता है।

सामान्यतः आत्मा का देहपरिवर्तन तो वस्त्रपरिवर्तन के समान है। गीता में कहा गया है कि जिस प्रकार व्यक्ति जीर्ण अर्थात् पुराने वस्त्र उतार कर नये वस्त्र धारण करता है, उसी प्रकार आत्मा पुराने शरीर को छोड़कर नये शरीर को धारण करता है मरण शरीररूपी वस्त्र त्याग के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।⁵⁸

इस प्रकार हनन आत्मा का नहीं वरन् शरीर का होता है। हां, इतना अवश्य है कि यदि स्वयं ही स्वयं के द्वारा अपने शरीर का हनन होता है तो वह आत्महत्या माना जाता है (आत्मना हन्यते स्वशरीरं या सा आत्महत्या)। प्रकारान्तर

⁵⁷ देखिये - 'जैन विद्या के आयाम', खंड ६, पृष्ठ ४२५ संसर्ग १६।

⁵⁸ गीता - २/२२।

से जिसमें आत्मा अर्थात् स्वस्वभाव का हनन हो वह आत्महत्या है। आत्महत्या स्वस्वभाव का घात किये बिना नहीं होती, आत्महत्याएं तीव्र आवेग एवं विवेक शून्यता की स्थिति में होती हैं, जबकि समाधिमरण आत्मसजगता के साथ विवेकपूर्वक एवं समतापूर्वक देह के प्रति निर्ममत्व की साधना है।

समाधिमरण एवं आत्महत्या के अन्तर को अनेक विचारकों ने स्पष्ट किया है। आचार्य पूज्यपाद के अनुसार व्यक्ति आत्महत्या राग, द्वेष और मोह से युक्त होकर करता है, जबकि समाधिमरण व्यक्ति राग, द्वेष और मोह से मुक्त होकर करता है।⁵⁹ इसमें व्यक्ति के मन में न किसी के प्रति राग होता है और न किसी के प्रति द्वेष। वह अपने शरीर पर से भी ममत्व भाव का त्याग कर देता है।

डॉ. साध्वी प्रियदर्शनाजी के अनुसार आत्मघात के मूल में कषायों की अतृप्त वासनात्मक भावनाओं का वास होता है, जब कि संलेखना के मूल में कषायों का सर्वथा त्याग होता है।⁶⁰

डॉ. सागरमल जैन ने अपने लेख 'समाधिमरण : एक तुलनात्मक तथा समीक्षात्मक अध्ययन' में समाधिमरण एवं आत्महत्या के अन्तर पर विस्तृत रूप से प्रकाश डाला है। उसका कुछ अंश निम्न हैं -

(१) आत्महत्या चित्त की सावैगिक अवस्था है, जबकि समाधिमरण चित्त के समत्व की अवस्था।

(२) आत्महत्या ऐहिक जीवन की दुःखों से रक्षा के लिए है जबकि समाधिमरण आध्यात्मिक जीवन की रक्षा के लिए है।

(३) आत्महत्या में कायरता है - जीवन से भागने का प्रयास है, जबकि समाधिमरण साहसपूर्वक मृत्यु के स्वागत की तैयारी है।

(४) आत्महत्या के मूल में भय और कामना होती हैं। समाधिमरण में भय और कामना दोनों की अनुपस्थिति आवश्यक है।

(५) आत्महत्या असमय मृत्यु का आमन्त्रण है जबकि संधारा या समाधिमरण मात्र मृत्यु के उपस्थित होने पर उसका सहर्ष आलिङ्गन है।⁶¹

५९ सर्वधर्मसिद्ध टीका - ७/२२, पृष्ठ २८१।

६० 'आधारण का नीक्षिणात्मक अध्ययन' - पृष्ठ २७५।

६१ 'जैन विद्या के अग्राम', खंड ६, पृष्ठ - ४२२-४२३।

डॉ. धर्मचन्द्र जैन के अनुसार आत्महत्या आवेशपूर्वक की जाती है। इसमें राग-द्वेष का भाव मौजूद रहता है जबकि समाधिमरण में राग-द्वेष को समभाव पूर्वक जीता जाता है।^{६२}

डॉ. अरुण प्रताप सिंह के अनुसार आत्महत्या सद्यःजात उद्वेग का परिणाम है, जबकि समाधिमरण सुविचारित अध्यवसाय का।^{६३}

डॉ. रज्जन कुमार के अनुसार जहां व्यक्ति मुख्य रूप से अपनी समस्याओं से ऊबकर मन की सांवेगिक अवस्था से ग्रसित होकर आत्महत्या करता है वहां समाधिमरण में व्यक्ति मन की सांवेगिक अवस्थाओं से पूरी तरह मुक्त होकर समभावपूर्वक मृत्यु का वरण करता है।^{६४}

पूर्वोक्त विवेचन से सिद्ध होता है कि समाधिमरण और आत्महत्या के कारण, उद्देश्य, परिस्थिति आदि में पूर्णतः भिन्नता है। जहां आत्महत्या के कारण चिन्ता, विक्षोभ, भय, परेशानी, मानभंग, इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग, भावावेश है, वहीं समाधिमरण का मुख्य कारण उपस्थित मृत्यु का समभाव पूर्वक स्वागत है।

आत्महत्या जीवन से भागने की तैयारी है; जबकि समाधिमरण मृत्यु को मित्र बनाने की कला है। आत्महत्या विवशतापूर्वक देह त्याग है; जबकि समाधिमरण स्वेच्छापूर्वक। आत्महत्या के समय व्यक्ति खिन्नता, उद्विग्नता तथा पराजयता के भावों का शिकार होता है, जबकि समाधिमरण का साध्यक प्रसन्नता, क्षमता, निर्भयता तथा वासनाओं पर आत्मा की विजय के भावों से सराबोर होता है।

उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार समाधिमरण के समय चित्त अतिप्रसन्न तथा आघात रहित होता है। जबकि आत्महत्या वाला व्यक्ति मरण के समय सन्त्रस्त (उद्विग्न) होता है। आत्महत्या में व्यक्ति की मानसिकता बेहोशी अर्थात् अविवेक की होती है, जबकि समाधिमरण चित्त की एक सजग दशा है। इसमें व्यक्ति अपनी मौत का साक्षी होता है। उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार आत्महत्या दुर्गति का कारण है जबकि समाधिमरण सद्गति का। इसमें आत्महत्या को बालमरण के अन्तर्गत अनन्त भवभ्रमण का कारण माना गया है।

६२ 'क्रीक संक्षिप्तः' पवन और मीमांसा, पृष्ठ - १०४ ।

६३ 'भगवतः पत्रिका' - ई.स. १९६३, अंक - १०-१२, पृष्ठ १४-१८ ।

६४ 'जैन धर्म में समाधिमरण की अवधारणा', पृष्ठ १४२ ।

आत्महत्या मृत्यु का आकस्मिक वरण है जबकि समाधिमरण आगत मृत्यु का सहर्ष वरण है। कई विचारक समाधिमरण में अनशन अर्थात् आहार त्याग का जो विधान है, उसको आधार बनाकर इसे आत्महत्या का प्रकार मानते हैं। किन्तु ज्ञातव्य है कि इस अनशन का उद्देश्य देह के प्रति निर्ममत्व भाव की साधना है न कि देहदण्डन या मृत्यु की आकांक्षा। इसमें यदि भय या दुःख से प्रेरित होकर आहार का त्याग किया जाता तो यह अवश्य आत्महनन की श्रेणी में आ जाता। संक्षेप में, जैनदर्शन में समाधिमरण की प्रक्रिया का विस्तृत विवेचन किया गया है कि किन परिस्थितियों में तथा किन भावों में उसे स्वीकार करना चाहिए। इसे जानने वाले विचारक समाधिमरण को आत्महत्या किसी रूप में भी नहीं मान सकते हैं।

उत्तराध्ययनसूत्र में विवेचित अकाममरण तथा सकाममरण की प्रक्रिया भी समाधिमरण एवं आत्महत्या के अन्तर को स्पष्ट करती है। आत्महत्या बालमरण के अन्तर्गत आती है। वह बालमरण का एक रूप है। बालमरण अज्ञानी व्यक्तियों का होता है। बालमरण आत्महत्या है क्योंकि इसमें शीघ्र ही मृत्यु प्राप्त करने के लिए प्रयास किया जाता है। बालमरण आई हुई मृत्यु का भय पूर्वक वरण है; जबकि समाधिमरण में न तो मृत्यु को निमन्त्रण दिया जाता है न भयपूर्वक उसे स्वीकार किया जाता है। वरन् सुनियोजित रूप से सजगता पूर्वक समुपस्थित मृत्यु का स्वागत किया जाता है।

समाधिमरण के साधक को जीवन एवं मृत्यु की यथार्थता का बोध होता है अर्थात् वह सम्यग्ज्ञान से युक्त होता है। आत्महत्या करने वाला व्यक्ति अज्ञानी होता है।

आत्महत्या के लिए जो विधि अपनायी जाती है, वह पूर्णतः हिंसक होती है जैसे - विषमरण, अग्निदाह, जलप्रवेश आदि। समाधिमरण में अहिंसक भावनावेश शनैः - शनैः आहार का अल्पीकरण करते हुए उसका त्याग किया जाता है। आत्महत्या में मृत्यु की शीघ्रता से प्रतीक्षा की जाती है, जबकि समाधिमरण में मृत्यु के प्रति जरा भी शीघ्रता की कामना नहीं होती है वरन् शान्त भाव होता है। समाधिमरण में जीवन और मृत्यु दोनों की आकांक्षा अनुचित मानी गई है। समाधिमरण चित्त का जीवन और मृत्यु दोनों से अतिक्रमण कर जाना है।

अध्याय - ९

उत्तराध्ययनसूत्र का
साधनात्मक पक्ष : मोक्षमार्ग



उत्तराध्ययनसूत्र का साधनात्मक पक्ष : मोक्षमार्ग

उत्तराध्ययनसूत्र का सम्पूर्ण प्रतिपाद्य विषय को यदि संक्षेप में कहना हो तो हम यह कह सकते हैं कि वह व्यक्ति को आत्मसाधना के क्षेत्र में नियोजित होने की प्रेरणा देता है। जैनदर्शन के अनुसार प्रत्येक आत्मा अनन्त चतुष्टय सम्पन्न है, यह अनन्त-चतुष्टय - अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख एवं अनन्त शक्ति रूप है। ये आत्मा में स्वभावतः निहित हैं, किन्तु कर्मावरण के कारण ये अनन्त शक्तियाँ या क्षमतायें कुण्ठित हो जाती हैं। उन क्षमताओं को योग्यता में परिणत करना ही साधना का एक मात्र लक्ष्य है।

उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार आत्मा का यह अनन्त-चतुष्टय ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय इन चार घाती कर्मों के आवरण के कारण ही कुण्ठित हुआ है। साधना के क्षेत्र में यह आवश्यक है कि जिन घाती कर्मों के कारण ये शक्तियाँ कुण्ठित हैं उनको समाप्त किया जाय, तभी ये शक्तियाँ हमें यथार्थ रूप में उपलब्ध हो सकेगी। साधना का अर्थ उन शक्तियों को, जो अभी आत्मा में तिरोहित हैं, प्रकट करना है।

अनन्तशक्ति को आविर्भूत करने के लिये आत्मा के साथ रहे हुए कषाय रूपी कल्मष को समाप्त करना आवश्यक है; क्योंकि सम्पूर्ण कर्मावरण कषायों के आधार पर ही स्थित है। कषायों के क्षय से ही इस कर्मावरण का क्षय होकर आत्मा के अनन्त चतुष्टय का प्रकटन होता है।

चतुर्गतिमय इस संसार के अन्दर मनुष्य जीवन ही एक ऐसा जीवन है जहाँ व्यक्ति इन आत्म-क्षमताओं को योग्यता में बदल सकता है। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि प्राणी को चार बातों की उपलब्धि दुर्लभ है -

(१) मानवता (२) श्रुति (धर्मश्रवण) (३) श्रद्धा और (४) पुरुषार्थ।^१ एक अन्य प्रसंग में उत्तराध्ययनसूत्र में यह भी कहा गया है कि मानव शरीर एक नौका है, जिसके माध्यम से हम चतुर्गतिमय रूप संसार समुद्र से मुक्त हो सकते हैं।^२

साधना के क्षेत्र में मुख्य तत्त्व हमारे शरीर, इन्द्रियां मन और आत्मा को सम्यग् दिशा में नियोजित करना है। वस्तुतः जब ये चारों सम्यक् दिशा में नियोजित होते हैं तो ही साधना की यात्रा प्रारम्भ होती है। उत्तराध्ययनसूत्र के अट्टाईसवें 'मोक्षमार्गगति' अध्ययन में स्पष्ट रूप से यह प्रतिपादित किया गया है कि जब आत्मा मन, इन्द्रियों और शरीर को संयमित करके मोक्षमार्ग में गति करता है, तभी वह अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है।

अनन्तचतुष्टय, उनके कारण एवं निवारण के उपायों को निम्न तालिका द्वारा प्रस्तुत किया जा रहा है -

अनन्तचतुष्टय	आवरण	निवारण के उपाय
१. अनन्त ज्ञान	ज्ञानावरणीय कर्म	सम्यग् ज्ञान
२. अनन्त दर्शन	दर्शनावरणीय कर्म	सम्यग् दर्शन
३. अनन्त सौख्य	मोहनीय कर्म	सम्यक् चारित्र
४. अनन्त वीर्य	अन्तराय कर्म	सम्यक् तप

उत्तराध्ययनसूत्र में अनन्तचतुष्टय को प्रकट करने के साधनों की विस्तृत रूप से चर्चा की गई है। इसमें हमें मोक्षमार्ग के विविध वर्गीकरणों की विवेचना उपलब्ध होती है जो निम्न है-

६.१ द्विविध से पंचविध मोक्षमार्ग -

उत्तराध्ययनसूत्र में द्विविध से लेकर पंचविध मोक्षमार्ग का विवेचन उपलब्ध होता है जिनका संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

१ 'वक्तारि परमंभाषि, दुस्ताह्वर्णह जतुनो ।
मानुसुतं सुईसस्त्रा, संजमन्धि य वीरियं ॥'

- उत्तराध्ययनसूत्र ३/१ ।

२ 'सरीरमाहु नाबाधि, जीवो बुच्छह नाकिओ ।
संसार अण्णावो बुनो, जं तरति मोक्षसिओ ॥'

- उत्तराध्ययनसूत्र - २३/६३ ।

द्विविध मोक्षमार्ग : उत्तराध्ययनसूत्र में द्विविध मोक्षमार्ग के प्रतिपादन में ज्ञान एवं चारित्र (आचरण) का ग्रहण किया गया है। जिनके कुछ उदाहरण निम्न हैं -

- (१) विज्जाचरणपारणा - १८/२२, २३/२ एवं ६;
- (२) विज्जाचरणसम्पन्ने - १८/२४;
- (३) इइ विज्जामणुसंचरे - १८/३०।

सूत्रकृतांग, दशवैकालिक तथा चंद्रकेध्यक प्रकीर्णक में भी इस द्विविध मोक्षमार्ग का वर्णन प्राप्त होता है।^३ सूत्रकृतांग में तो स्पष्ट रूप से कहा गया है - विज्जाचरण पमोक्खो -- अर्थात् ज्ञान और आचरण से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

त्रिविध मोक्षमार्ग : त्रिविध मोक्षमार्ग के अन्तर्गत उत्तराध्ययनसूत्र में ज्ञान एवं चारित्र के साथ 'दर्शन' को भी सम्मिलित किया गया है जो निम्न है:-

- 'नाणेणं दंसणेणं च चारित्तेणं तहेवं य - २२/२६;
'नाणं च दंसणं चेवं, चरित्तं चेवं निच्छए - २३/३३;
'नादंसणिस्स नाणं, नाणेण विना न हुन्ति चरणगुणा २८/३०।'

त्रिविध मोक्षमार्ग का वर्णन स्थानांगसूत्र, ऋषिभाषित, तत्त्वार्थसूत्र आदि अनेक ग्रन्थों में भी उपलब्ध होता है।^४

चतुर्विध मोक्षमार्ग : उत्तराध्ययनसूत्र के अट्टाईसवें अध्ययन की गाथा क्रमांक २, ३ तथा ३५ में चतुर्विध मोक्षमार्ग का निरूपण हुआ है। जिसमें ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र के साथ तप भी सन्निहित है।

- 'मोक्खमग्गगइं तच्चं सुणेह जिणमासियं
चउकारण संजुत्तं, नाणदंसणलक्खणं' २८/१;
'नाणं च दसणं चेवं, चरित्तं च तवो तहा' २८/२ एवं ३।

चतुर्विध मोक्षमार्ग का उल्लेख दिगम्बर परम्परा के सीलपाहुड, दर्शनपाहुड आदि ग्रन्थों में भी उपलब्ध होता है।

पंचविध मोक्षमार्ग : उत्तराध्ययनसूत्र में पंचाचार के रूप में पंचविध मोक्षमार्ग का वर्णन मिलता है। ये पांच आचार निम्न हैं - ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार एवं वीर्याचार। उत्तराध्ययनसूत्र के सत्रहवें पापश्रमणीय नामक

- ३ (क) सूत्रकृतांग - १/१२/११ - (अंगसुत्तापि, लाडनू, खंड १, पृष्ठ ३२६)।
- (ख) दशवैकालिक - ६/१/१४, १६।
- ४ (क) स्थानांग - ३/४/४३४ - (अंगसुत्तापि, लाडनू, खंड १, पृष्ठ ५८५)।
- (ख) ऋषिभाषित - २३/२।
- (ग) तत्त्वार्थसूत्र - १/१।

अध्ययन में कहा गया है कि पांच आचारों की उपेक्षा करने वाला श्रमण पापश्रमण कहलाता है।^५

पंचाचार रूप मोक्षमार्ग में वीर्याचार को छोड़कर शेष चार आचार चतुर्विध मोक्षमार्ग में समाहित ही हैं। अतः यहां इन पांचाचारों में मात्र वीर्याचार सम्बन्धित चर्चा ही अपेक्षित है। उत्तराध्ययनसूत्र में जीव के छः लक्षणों में वीर्य का भी उल्लेख उपलब्ध होता है।^६ टीकाओं में वीर्य का अर्थ सामर्थ्य किया गया है^७ इससे यह प्रतिफलित होता है कि आत्मा की शक्ति या सामर्थ्य को प्रकट करने का प्रयत्न वीर्याचार है।

जैन दर्शन के परवर्ती ग्रन्थों में यद्यपि चारित्र के अन्तर्गत तप एवं वीर्य का समावेश कर लिया गया है लेकिन उत्तराध्ययनसूत्र में इनका अलग वर्णन भी मिलता है। अतः इनमें रही हुई आंशिक भिन्नता को जानना यहां उचित प्रतीत होता है।

चारित्राचार संयम मन एवं इन्द्रियों पर नियन्त्रण का सूचक है, अर्थात् निवृत्ति या निषेधरूप है तथा तपाचार में स्वेच्छापूर्वक कष्टों को आमन्त्रित कर उन्हें समभाव से सहन करना होता है।^८ इसी प्रकार वीर्याचार साधना के क्षेत्र में स्वशक्ति का प्रकटीकरण है अतः ये प्रवृत्ति के परिचायक और विधिरूप हैं। सहनशीलता की प्रधानता होते हुए भी आंशिक रूप से निवृत्ति का तत्त्व निहित है। तप प्रत्याख्यानपूर्वक होता है। प्रत्याख्यान निवृत्ति का सूचक है। इस प्रकार हम देखते हैं कि संयम निवृत्ति प्रधान है; तप में आंशिक निवृत्ति और आंशिक प्रवृत्ति होती है जबकि वीर्य पुरुषार्थ रूप होने से प्रवृत्तिपरक (विधिपरक) है।

उत्तराध्ययनसूत्र में साधक को बार-बार साधना के क्षेत्र में पुरुषार्थ करने की प्रेरणा दी गई है। इसके अनतीसवें 'सम्यक्त्व-पराक्रम' अध्ययन में वीर्याचार अर्थात् आत्मविशुद्धि हेतु किये जाने वाले प्रयत्नों का विस्तृत वर्णन किया गया है। अभिधानराजेन्द्रकोश में वीर्याचार के सम्बन्ध में कहा गया है कि अपने वीर्य, आत्म शक्ति को न छिपाते हुए यथाशक्ति पुरुषार्थ (पराक्रम) करना वीर्याचार है।

५ उत्तराध्ययनसूत्र - १७/२०।

६ उत्तराध्ययनसूत्र - १८/११।

७ उत्तराध्ययनसूत्र टीका पत्र - ५६१

८ व्यक्तित्व वर्णन के आधार पर।

- (शान्त्यचार्य)।

उत्तराध्ययनसूत्र में साधक को अनेक सन्दर्भों में ज्ञान, दर्शन, चारित्र तथा तप के क्षेत्र में पुरुषार्थ के लिये प्रेरित किया गया है। इससे प्रतीत होता है कि आत्मा में रही हुई अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख एवं अनन्तशक्ति की क्षमता को योग्यता के रूप में परिणत करने हेतु पुरुषार्थ करना ही वीर्याचार है। दूसरे शब्दों में आत्मशक्ति को अनावृत करने का पुरुषार्थ ही वीर्याचार है।

उत्तराध्ययनसूत्र में वर्णित इस द्विविध से लेकर पंचविध मोक्षमार्ग में विशेषतः यह ध्यातव्य है कि इनमें किसी प्रकार का विरोध नहीं है, क्योंकि जब ऋतुविध मोक्षमार्ग अर्थात् ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप की बात आती है, तो वीर्य को चारित्र एवं तप के विधेयात्मक पहलू में सम्मिलित किया जाता है। त्रिविध मोक्षमार्ग अर्थात् ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र में तप एवं वीर्य का चारित्र में अन्तर्भाव हो जाता है तथा द्विविध मोक्षमार्ग अर्थात् ज्ञान एवं चारित्र की चर्चा में दर्शन को ज्ञान के अन्तर्गत तथा तप एवं वीर्य को चारित्र के अन्तर्गत समाविष्ट किया जाता है।

'दर्शन' को ज्ञान के अन्तर्गत मानने का आधार हमें उत्तराध्ययनसूत्र की टीका से उपलब्ध होता है।^९ उनमें दर्शन का अर्थ सामान्यबोध किया गया है। ज्ञान में सामान्य और विशेष, जाति और व्यक्ति दोनों का बोध समाहित होता है। अतः दर्शन को ज्ञान के अन्तर्गत भी माना जा सकता है।

पूर्वोक्त विवेचन से स्पष्ट प्रतिध्वनित होता है कि मोक्षमार्ग हेतु ज्ञान एवं चारित्र की अपरिहार्यता है। कहा भी गया है कि 'ज्ञान क्रियाभ्यां मोक्ष' किन्तु यहां यह ज्ञातव्य है कि मात्र ज्ञान ही मुक्ति का साधन नहीं है।

उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि कुछ विचारक मानते हैं कि पाप का त्याग किये बिना मात्र आर्यतत्त्व को जानकर ही आत्मा सभी दुःखों से छूट जाती है; लेकिन बन्धन और मुक्ति के सिद्धान्त में विश्वास करने वाले ये विचारक संयम का आचरण नहीं करते हुए केवल वचनों से ही आत्मा को आशवासन देते हैं। संक्षेप में कहा जाय तो उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार आचरण विहीन ज्ञान, मुक्ति का साधन नहीं बन सकता है।^{१०}

९ उत्तराध्ययनसूत्र टीका पत्र - ४४६

१० 'मनसा अकरोता व, बन्धनेनैव आश्रितो भवेत् ।
व्यथितिरियमेतेषु, सम्बलतेति अयम् ॥

- (ज्ञानवचन) ।

- उत्तराध्ययनसूत्र - ६/६ ।

भगवतीसूत्र में भी ज्ञान एवं चारित्र्य की अपेक्षा से व्यक्ति के चार प्रकारों का निरूपण किया गया है और उसमें श्रुत (ज्ञान) एवं शील (चारित्र्य) दोनों से सम्पन्न व्यक्ति को ही मोक्ष का अधिकारी बताया गया है।¹¹

- (१) न तो श्रुतसम्पन्न है और न शील सम्पन्न है।
- (२) श्रुतसम्पन्न है, किन्तु शील सम्पन्न नहीं है।
- (३) श्रुतसम्पन्न नहीं है, किन्तु शील सम्पन्न है।
- (४) श्रुतसम्पन्न भी है और शील सम्पन्न भी है।

अब हम अग्रिम क्रम में क्रमशः मोक्षमार्ग की चर्चा प्रस्तुत करेंगे किन्तु यहां यह प्रश्न उपस्थित होता है कि इस क्रम में पहले सम्यग्दर्शन को रखा जाय या सम्यग्ज्ञान को? अतः सर्वप्रथम हम इन दोनों की पूर्वापरता के आधार को स्पष्ट करना उचित समझते हैं।

६.२ दर्शन एवं ज्ञान की पूर्वापरता का आधार

जैन आगम ग्रन्थों में मोक्षमार्ग की चर्चा के सन्दर्भ में ज्ञान एवं दर्शन की पूर्वापरता अनेक अपेक्षाओं से निर्धारित की गई है। उत्तराध्ययनसूत्र में ही चतुर्विध मोक्षमार्ग की चर्चा में जहां एक ओर ज्ञान को दर्शन से पूर्व स्थान दिया गया है वहीं दूसरी ओर उसी अध्ययन की तीसरी गाथा में दर्शन को ज्ञान से पूर्व स्थान दिया गया है। अतः यह प्रश्न स्वाभाविक है कि ज्ञान एवं दर्शन का पूर्वापर क्रम एकान्तिक नहीं है, सापेक्ष है। इसे स्पष्ट रूप से समझने के लिए दर्शन शब्द के अर्थ पर दृष्टिपात करना आवश्यक है। दर्शन शब्द के मुख्यतः तीन अर्थ हैं (१) अनुभूति (२) दृष्टिकोण और (३) श्रद्धा। ये तीनों अर्थ ही दर्शन के पूर्व तथा पश्चात् क्रम के निर्धारक हैं।

दर्शन शब्द अपने अनुभूति एवं दृष्टिकोण परक अर्थ में 'ज्ञान' से पूर्ववर्ती होता है; क्योंकि अनुभूति एवं दृष्टिकोण के अभाव में न तो 'ज्ञान' सम्भव है और न ही ज्ञान का सम्यक्त्व सम्भव है। ज्ञान अनुभूति एवं दृष्टिकोण के सम्यक्त्व पर ही आधारित होता है क्योंकि जब व्यक्ति की दृष्टि ही दूषित है तो वह क्या सत्य को जानेगा और क्या उसका आचरण करेगा। दूसरी ओर श्रद्धापरक अर्थ में दर्शन का क्रम ज्ञान के पश्चात् हो जाता है। उत्तराध्ययनसूत्र में श्रद्धापरक अर्थ में ही

दर्शन को ज्ञान के बाद रखा गया है। ग्रन्थकार इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि ज्ञान से तत्त्व को जाने और दर्शन से उस पर श्रद्धा करे।¹² दर्शन के श्रद्धापरक अर्थ में ज्ञान की प्राथमिकता श्रद्धा की विशुद्धता को सूचित करती है। ज्ञान के अभाव में होने वाली श्रद्धा अंधश्रद्धा रूप होती है। जिस पर श्रद्धा करना है उस वस्तुतत्त्व का प्रथम ज्ञान होना आवश्यक है। वस्तुतः श्रद्धा ज्ञान प्रसूत होना चाहिए। इस सन्दर्भ में उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि प्रज्ञा (ज्ञान) से धर्म की समीक्षा करे एवं तर्क से तत्त्व का विश्लेषण करे।¹³

ज्ञान दर्शन के पूर्वापर सम्बन्ध में नवतत्त्वप्रकरण समन्वयवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। उसमें कहा गया है कि जो जीवादि पदार्थों को यथावत् जानता है उसे सम्यक्त्व होता है। इस प्रकार यहां भी ज्ञान को दर्शन से पूर्व माना गया है, लेकिन अगली पंक्ति में कहा गया है कि जो वस्तुतत्त्व को स्वतः नहीं जानता है किन्तु जिन प्रणीत तत्त्वों पर श्रद्धा भाव रखता है तो उसे भी सम्यक्त्व प्राप्त हो जाता है।¹⁴ अतः दर्शन को ज्ञान से पूर्व भी स्वीकार किया गया है। इस प्रकार दृष्टिपरक अर्थ में दर्शन का ज्ञान से पूर्व स्थान है, जबकि श्रद्धापरक अर्थ में इसका स्थान ज्ञान के पश्चात् है।

मोक्षमार्ग की पूर्वापरता का यह विचार सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान के विषय में ही किया गया है। सम्यक्चारित्र के सन्दर्भ में ऐसा कोई विवाद नहीं है, क्योंकि चारित्र की अपेक्षा तो ज्ञान और दर्शन को ही प्राथमिकता दी गई है। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि चारित्र से पूर्व दर्शन (सम्यक्त्व) का होना आवश्यक है तथा सम्यग्ज्ञान के बिना सम्यक्चारित्र (सदाचरण) सम्भव नहीं है।¹⁵ दशवैकालिकसूत्र में भी कहा गया है कि जो जीव और अजीव के स्वरूप को नहीं जानता है ऐसा अज्ञानी साधक क्या संयम का पालन करेगा।¹⁶

इस प्रकार जैनविचारणा सम्यग् आचरण के पूर्व सम्यग् दृष्टिकोण एवं सम्यग्ज्ञान का होना आवश्यक मानती है। यहां ज्ञातव्य है कि पूर्वोक्त ज्ञान दर्शन आदि की प्राथमिकता की यह चर्चा उनके साधना क्रम की अपेक्षा से है न कि महत्त्व की अपेक्षा से है। साधना के क्षेत्र में ज्ञान, दर्शन, चारित्र एवं तप प्रत्येक का

१२ उत्तराध्ययनसूत्र - २८/३५ ।

१३ 'पण्णा सभिकञ्जए धम्मं ।

त्तं तत्तविधिच्छव ॥'

- उत्तराध्ययनसूत्र २३/२५ ।

१४ महत्त्व प्रकरण याथा - ३१ ।

१५ उत्तराध्ययनसूत्र - २८/२६, ३० ।

१६ दशवैकालिक - ४/१२ ।

अपना-अपना महत्त्व है। पुनः मुक्ति की प्राप्ति के लिए इनके समन्वित रूप की अपेक्षा है। यथार्थ ज्ञानाभाव में मुक्ति सम्भव नहीं है पर एक मात्र ज्ञान से भी मुक्ति सम्भव नहीं है। इसी प्रकार दर्शन (सत्य प्रतीति) के अभाव में भी असम्भव है; परन्तु एक मात्र दृष्टिकोण की शुद्धि (सम्यग्दर्शन) मुक्ति नहीं दिला सकती जब तक आचरण सम्यक् न हो। सम्यक्चारित्र के अभाव में भी मुक्ति अप्राप्य है। किन्तु ज्ञान एवं दर्शन से रहित मात्र चारित्र भी मुक्ति का कारण नहीं है। सम्यक्चारित्र के साथ सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होना आवश्यक है।

इस प्रकार जैन दर्शन शंकर के समान एक मात्र ज्ञान को, रामानुज के समान एक मात्र भक्ति को तथा मीमांसा दर्शन के समान एक मात्र कर्म को ही मुक्ति का साधन नहीं मानता है। अपितु यह सम्यग् ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप के समन्वित मार्ग को ही मोक्ष का कार्यकारी साधन मानता है। उत्तराध्ययनसूत्र के एहिमग्गमणुपत्ता तथा तत्त्वार्थसूत्र के 'सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः' इन मूलपाठ में प्रयुक्त 'मार्ग' शब्द का एकवचनात्मक प्रयोग इस बात को सूचित करता है कि मुक्ति का मार्ग तो एक ही है जो इन चारों से समन्वित है।^{१७}

पूर्वापरता या क्रम के आधार पर किसी एक को प्रधान या दूसरे को गौण मानना जैन दर्शन को स्वीकार्य नहीं है। यथार्थतः ये सब एक दूसरे से पूर्णतया सम्बन्धित हैं। एक दृष्टि से तो दर्शन और ज्ञान की उपलब्धि में भी सदाचरण की महत्त्वपूर्ण भूमिका है क्योंकि जब तक अनन्तानुबन्धी (तीव्रतम) क्रोध, मान, माया और लोभ आदि कषायें समाप्त नहीं होती तब तक सम्यग्दर्शन एवं ज्ञान नहीं होता। इस प्रकार जहां ज्ञान की विशुद्धि के लिए सम्यग्दर्शन (यथार्थ दृष्टि) का होना आवश्यक है वहां सम्यग्दर्शन (श्रद्धा) की विशुद्धता के लिए अनन्तानुबन्धी कषाय का क्षय या उपशम अर्थात् चारित्र की आंशिक विशुद्धि भी आवश्यक है। एक ओर ज्ञान एवं दर्शन की उपलब्धि के लिए चारित्र का विकास आवश्यक है तो दूसरी ओर आचरण की पवित्रता/शुद्धता के लिए सम्यग्ज्ञान तथा सम्यग्दर्शन की आवश्यकता है। उत्तराध्ययनसूत्र में एक स्थान पर चारित्र का स्थान दर्शन से पूर्व भी रखा गया है। अतः सिद्ध होता है कि इनमें से प्रत्येक का अपना महत्त्व है। वस्तुतः ज्ञान साधना मार्ग का बोध है तो दर्शन उसकी सत्यता का विश्वास है और चारित्र एवं तप साधना मार्ग में गति है। जब जीव सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, एवं सम्यक्चारित्र से

१७ (क) उत्तराध्ययनसूत्र - २०/३।

(ख) तत्त्वार्थसूत्र - १/१।

सम्पन्न होता है तो नवीन कर्मों का आश्रय रूक जाता है; नये कर्मों का बन्धन नहीं होता है और तप-साधना से पूर्वबद्ध कर्म क्षय हो जाते हैं। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि सर्वप्रथम मोहनीयकर्म का क्षय या नाश होता है फिर ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय तथा अन्तरायकर्म एक साथ क्षय होते हैं। तदुपरान्त आयु के पूर्ण होने पर चारों अघाती कर्म अर्थात् आयुष्यकर्म, नामकर्म, गौत्रकर्म और वेदनीयकर्म भी विनष्ट हो जाते हैं तब जीव शुद्ध, बुद्ध और मुक्त हो जाता है। अतः कर्ममल से मुक्त होने के लिए उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार चतुर्विध मोक्षमार्ग की समन्वित साधना नितान्त आवश्यक है।¹⁸

६.३ सम्यग्ज्ञान

सभी आध्यात्मिक दर्शनों ने 'ज्ञान' को आत्मा का मूल गुण माना है। ज्ञान के द्वारा ही व्यक्ति अपने हित-अहित, उचित-अनुचित, श्रेय-प्रेय अथवा हेय, ज्ञेय एवं उपादेय का बोध प्राप्त कर सकता है। जैन दर्शन में ज्ञान को मुक्ति का अनन्य साधन माना गया है। लेकिन मोक्षमार्ग की साधना के लिये, समीचीन ज्ञान कौनसा है, इसे जानने के लिए ज्ञान के स्वरूप का संक्षिप्त विवेचन आवश्यक है।

जैन धर्म-दर्शन में ज्ञान के दो रूप माने हैं: १. सम्यक्ज्ञान २. मिथ्या ज्ञान। सामान्यतः इन्हें यथार्थज्ञान (प्रामाणिक ज्ञान) एवं अयथार्थज्ञान समझा जाता है किन्तु सम्यग्ज्ञान को यह व्याख्या पर्याप्त नहीं है। मात्र पदार्थों के यथार्थ ज्ञान को सम्यग्ज्ञान नहीं कहा जा सकता क्योंकि सम्यग्ज्ञान भौतिक ज्ञान न होकर आध्यात्मिक ज्ञान है, आत्म ज्ञान है।

जैन दर्शन में मोक्षमार्ग के लिए उपयोगी ज्ञान को ही सम्यग्ज्ञान कहा गया है। जिस ज्ञान से आत्म स्वरूप का बोध नहीं होता अथवा हेय ज्ञेय और उपादेय का विवेक नहीं होता वह ज्ञान मिथ्या रूप होता है एवं मोक्ष प्राप्ति के लिये अनुपयोगी होता है। इस प्रकार जैन दर्शन में मोक्ष के साधन भूत ज्ञान को ही सम्यग्ज्ञान कहा जाता है।

सम्यग्ज्ञान क्या है ?

आत्मोपलब्धि या आत्मविशुद्धि का कारणभूत 'ज्ञान' सम्यग्ज्ञान है। जैन आगम साहित्य में ज्ञान की सत्यता/प्रामाणिकता एवं असत्यता/अप्रामाणिकता का निर्णय दो आधार पर किया गया है। पहला आधार सामान्य साधकों की अपेक्षा से किया गया है:

1. तीर्थंकरों के उपदेश रूप गणधर प्रणीत जैनागमों में वर्णित नवतत्त्वों आदि क ज्ञान यथार्थ ज्ञान है और शेष ज्ञान मिथ्याज्ञान है। इससे सिद्ध होता है कि आप्तवचन ही सम्यग्ज्ञान है। यहां ज्ञातव्य है कि राग-द्वेष से मुक्त वीतराग आत्मा आप्त कहलाती है।
2. सम्यग्ज्ञान की दूसरी कसौटी विशिष्ट साधक के आधार पर की जाती है। सम्यग्दृष्टि सम्पन्न व्यक्ति का ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है। दूसरे शब्दों में जो व्यक्ति दुराग्रह एवं दुरभिनिवेश से मुक्त हैं उसका ज्ञान सम्यग्ज्ञान है।

सम्यग्ज्ञान के प्रथम पहलु की ओर दृष्टिपात करने पर यह भ्रम हो सकता है कि जैनदर्शन के अनुसार मात्र जैनागम का ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है और इनके अतिरिक्त अन्य शास्त्रों का ज्ञान मिथ्याज्ञान है, किन्तु ऐसा नहीं है। नन्दीसूत्र में इस सन्दर्भ में स्पष्टतः कहा गया है: 'यथार्थ दृष्टिकोण वाले (सम्यग्दृष्टि) के लिए मिथ्याभ्रुत (जैनेतर ग्रन्थ) भी सम्यग् भ्रुत रूप होता है जबकि अयथार्थ दृष्टिकोण वाले (मिथ्यादृष्टि) के लिए सम्यग् भ्रुत भी मिथ्याभ्रुत बन जाता है'।

जैन दर्शन के अनुसार आत्म - अनात्म का विवेक या भेदविज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है। यहां प्रश्न हो सकता है कि आत्मस्वरूप को कैसे जाना जा सकता है क्योंकि आत्मा तो अमूर्त है। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है आत्मा अमूर्त है, वह इन्द्रिय प्रत्यक्ष नहीं है अर्थात् अन्य भौतिक पदार्थों के समान इन्द्रियों के द्वारा उसका ज्ञान सम्भव नहीं है तथापि स्वसंवेदन रूप प्रत्यक्ष या अनुमान आदि के द्वारा इसको जाना जा सकता है।¹⁹ पुनः आत्मा को जानने का दूसरा तरीका - अनात्म अर्थात् पर पदार्थों को जानकर उनसे आत्मा की भिन्नता स्थापित करना है।

अनादि काल से जीव देहासक्ति से बंधा है। वस्तुतः देह आदि पर-पदार्थों में आत्म-बुद्धि ही बंधन का कारण है। इसे तोड़ने के लिये इस भेद विज्ञान का होना परम आवश्यक है कि देह भिन्न है, आत्मा भिन्न है। देह एवं आत्मा

का संयोग सम्बन्ध है, तादात्म्य सम्बन्ध नहीं। देह से आत्मा की भिन्नता प्रदर्शित करते हुए उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि शरीर नौका है, जीव नाविक है, संसार समुद्र है, महर्षि इसे पार कर जाते हैं। इस गाथा के पीछे सूत्रकार का यह आशय है कि जीव जब यह बोध कर लेता है कि शरीर साधन है, आत्मा साधक है अर्थात् देह एवं आत्मा भिन्न है तो देहासक्ति से मुक्त होकर वह आत्मज्ञानी (सम्यग्ज्ञानी) हो जाता है।^{२०}

इस प्रकार उत्तराध्ययनसूत्र का लक्ष्य देह से आत्मा की भिन्नता को प्रतिपादित करके आत्मस्वरूप को उपलब्ध कराना है। उत्तराध्ययनसूत्र के अट्ठाईसवें अध्याय में सम्यग्ज्ञान के सन्दर्भ में पंचविध ज्ञान – श्रुतज्ञान, मतिज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान एवं केवलज्ञान की चर्चा की गई है।^{२१} चूंकि हम इसी ग्रन्थ के तृतीय अध्याय में ज्ञानमीमांसा के अन्तर्गत इनकी विस्तृत चर्चा कर चुके हैं अतः सम्यग्ज्ञान की चर्चा को हम यहीं विराम देना उचित समझते हैं।

६.४ सम्यग्दर्शन

उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार सम्यग्दर्शन मोक्षमार्ग का महत्त्वपूर्ण सोपान है। सम्यग्दर्शन शब्द का वास्तविक अर्थ क्या है और वह जैनदर्शन में कालक्रम में किन-किन अर्थों में प्रयुक्त होता रहा है, यह एक विचारणीय विषय है। इसके साथ ही इसके स्वरूप एवं महत्त्व की विवेचना भी अपेक्षित है।

सम्यग्दर्शन का स्वरूप :

सम्यग्दर्शन दो शब्दों के योग से परिनिष्पन्न हुआ है – सम्यग्+दर्शन। इसमें सम्यग् शब्द व्युत्पन्न एवं अव्युत्पन्न दोनों ही अवस्था में प्रशंसा, औचित्य या यथार्थता का वाचक है। यह शब्द सम्पूर्वक अञ्च धातु से सम्पन्न हुआ है। दर्शन शब्द चिरपरिचित एवं प्रचलित शब्द है फिर भी विभिन्न सन्दर्भों में इसके अर्थ में

^{२०} उत्तराध्ययनसूत्र - २३/७३।

^{२१} उत्तराध्ययनसूत्र - २८/४।

वैभिन्य प्राप्त होता है। इसकी व्युत्पत्तिपरक व्याख्या भी तीन प्रकार से की गई है। 'दृश्यते अनेन इति दर्शनं,' 'पश्यति इति दर्शनम्, दृष्टिदर्शनम्'^{२२}

इस प्रकार दर्शन शब्द के तीन अर्थ हुए - (१) जिसके द्वारा देखा जाता है वह दर्शन है (२) देखना ही दर्शन है। दर्शन शब्द के ये दोनों अर्थ चाक्षुष--बोध के सूचक हैं (३) दृष्टिकोण ही दर्शन है। दर्शन शब्द का यह अर्थ दर्शन शास्त्र से सम्बंधित हैं।

साधना के क्षेत्र में दर्शन शब्द तत्त्व साक्षात्कार या आत्मानुभूति का वाचक है, जबकि दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में 'दर्शन' शब्द जीवन एवं जगत के सम्बन्ध में एक निश्चित दृष्टिकोण का सूचक है, जैसे भारतीयदर्शन, जैनदर्शन, बौद्धदर्शन, सांख्यदर्शन आदि। किन्तु सम्यग्दर्शन के क्षेत्र में दर्शन शब्द एक विशिष्ट अर्थ का द्योतक है। यहां इसका अर्थ है - तत्त्वश्रद्धान।

जैन साहित्य में दर्शन शब्द के अनेक अर्थ उपलब्ध होते हैं आचारांगसूत्र में सम्यग्दर्शन शब्द आत्मानुभूति, आत्मसाक्षात्कार, साक्षीभाव आदि अर्थों में प्रयुक्त हुआ है।^{२३} साथ ही इसमें सम्यग्दृष्टि आत्मा के लिये आयतदर्शी, परमदर्शी, निष्कर्मदर्शी, अनन्यदर्शी आदि शब्दों का भी प्रयोग किया गया है।

हमारे शोधग्रन्थ उत्तराध्ययनसूत्र के सन्दर्भ में दर्शन शब्द मुख्यतः श्रद्धापरक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। आचार्य उमास्वाति ने भी 'तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनं' कहकर दर्शन शब्द का अर्थ तत्त्वश्रद्धान किया है।^{२४} यही बात प्रकारान्तर से अभिधानराजेन्द्रकोश में कही गई है।^{२५} 'जीवाजीवादि पदार्थों को जानना, देखना और इन पर दृढ़ श्रद्धा रखना ही दर्शन है।' इसी प्रकार धर्मसंग्रह के अनुसार जिनेश्वर परमात्मा द्वारा उक्त जीवाजीवादि तत्त्वों में, निर्मल रुचि सम्यक्त्व है।

परवर्तीकाल में जैन साहित्य में प्रायः दर्शन शब्द देव-गुरु और धर्म के प्रति श्रद्धा और भक्ति के अर्थ में रूढ़ हो गया। सम्यक्त्व की यह व्याख्या मुख्यतः गृहस्थ-श्रावक की अपेक्षा से कही गई है अर्थात् श्रावक को अरिहंतदेव के प्रति पूज्य भाव, गुरुवर्ग के प्रति सेवा-भक्ति के परिणाम तथा धर्मतत्त्व

२२ तत्त्वार्थभाष्य - पृष्ठ १६।

२३ आचारांग - ३/२/२८ (अंगसुत्ताणि, लघुनं, खंड १, पृष्ठ २६।

२४ तत्त्वार्थसूत्र - १/१।

२५ अभिधानराजेन्द्रकोश, खंड १, पृष्ठ २४, २५।

के प्रति अनुष्ठान भाव रखने चाहिये। इस प्रकार देव, गुरु एवं धर्म में श्रद्धा रखना सम्यक्त्व है।^{२६}

यहां एक बात विशेष रूप से ज्ञातव्य है कि जैन दर्शन में दर्शन शब्द के पूर्व सम्यग् शब्द नियोजित किया गया है। यह सम्यग् शब्द अंधश्रद्धा का निराकरण कर देता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन दर्शन में दर्शन शब्द तत्त्वसाक्षात्कार, सामान्यबोध, अनुभूति, दृष्टिकोण, तत्त्वश्रद्धान आदि अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है।

अब हम मुख्य रूप से उत्तराध्ययनसूत्र के परिप्रेक्ष्य में सम्यग्दर्शन के तत्त्वश्रद्धान परक अर्थ के स्वरूप एवं महत्त्व पर प्रकाश डालेंगे।

सम्यग्दर्शन का स्वरूप:

सम्यग्दर्शन के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए उत्तराध्ययनसूत्र के अष्टादशवें अध्ययन में कहा गया है कि अस्तित्त्ववान तत्त्वों अर्थात् जीवाजीवादि तत्त्वों के अस्तित्त्व का जो निरूपण है उसमें श्रद्धा करना 'सम्यक्त्व' या सम्यग्दर्शन है।^{२७} पुनः दर्शन शब्द के अर्थ को स्पष्ट करते हुए इसमें यह कहा गया है 'नाणेण जाणई भावं दंसणेण सद्दहे' अर्थात् ज्ञान से जीवादि तत्त्वों को जाने एवं दर्शन से उन पर श्रद्धा करे।^{२८}

सम्यक्त्व के लक्षण :

जैनदर्शन में सम्यक्त्व के गुण रूप पांच लक्षण स्वीकार किये गये हैं। उत्तराध्ययनसूत्र में यद्यपि एक साथ इन पांचों का वर्णन उपलब्ध नहीं होता है फिर भी उत्तराध्ययनसूत्र के उनतीसवें अध्ययन में संवेग, निर्वेद आदि के प्रतिफल की चर्चा की गई है। ये पांच अंग निम्न हैं:-

- | | | |
|-----------------|---------------|-------------|
| (१) शम | (२) संवेग | (३) निर्वेद |
| (४) अनुकम्पा और | (५) आस्तिक्य। | |

२६ बर्मेसंग्रह प्रथम भाग, पृष्ठ ।

२७ उत्तराध्ययनसूत्र - २८/१५ ।

२८ उत्तराध्ययनसूत्र - २८/३५ ।

(१) शम :

प्राकृत 'सम' शब्द के संस्कृत में तीन रूप बनते हैं— (१) सम, (२) शम एवं (३) श्रम। सम अर्थात् समभाव, शम अर्थात् शमन करना या शान्त होना, श्रम अर्थात् पुरुषार्थ या प्रयत्न। ये तीनों ही शब्द सम्यग्दृष्टि जीव से सम्बन्ध रखते हैं। उत्तराध्ययनसूत्र में सम्यग्-दृष्टि के विषय में कहा गया है कि जो लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, जीवन-मरण, निन्दा-प्रशंसा तथा मान-अपमान के प्रसंग में समभाव रखता है वह सम्यग्-दृष्टि सम्पन्न है। इस बात की पुष्टि गीता से भी होती है।^{२९}

सम्यग्दृष्टि सम्पन्न व्यक्ति विपरीत परिस्थिति में भी शान्त रहता है, विचलित नहीं होता है। वह विचार करता है कि जो कुछ भला-बुरा, लाभ-हानि, यश-अपयश मिलता है उसका प्रधान कारण मेरे ही पूर्वसंचित शुभाशुभ कर्म हैं, ऐसा विचार कर वह उद्वेलित नहीं होता है। इस सन्दर्भ में उत्तराध्ययनसूत्र के अन्तर्गत अनाथी मुनि श्रेणिक महाराजा को कहते हैं : सुख दुःख का कर्ता तथा हर्ता (दूर करने वाली) स्वयं की आत्मा ही है। सुप्रवृत्ति में संलग्न स्वयं की आत्मा ही स्वयं की मित्र है एवं दुष्प्रवृत्ति में संलग्न स्वयं की आत्मा ही स्वयं की शत्रु है। जब वह सुप्रवृत्ति में रत होती है तो स्वयं की मित्र बन जाती है और जब वह दुष्प्रवृत्ति में रत होती है तो स्वयं की ही शत्रु बन जाती है।^{३०} इस प्रकार विवेकपूर्वक कषायों को उपशान्त करना ही शम है।

आचार्य रामचंद्रसूरि के अनुसार आत्मा मिथ्या अभिनिवेश रूप दुराग्रह को छोड़कर सत्य का आग्रह रखना शम है।^{३१} संयम साधना के क्षेत्र में पुरुषार्थ करना श्रम है और जो तप संयम आदि की साधना करता है वही श्रमण है।

(२) संवेग :

उत्तराध्ययनसूत्र के टीकाकारों ने संवेग का अर्थ मोक्ष की अभिलाषा (रुचि) किया है।^{३२} संवेग दो शब्दों के संयोजन से बना है सम्+वेग।

२९ उत्तराध्ययनसूत्र - १६/६०।

३० उत्तराध्ययनसूत्र - २०/३७।

३१ सम्यग्दर्शन, पृष्ठ २८४

३२ उत्तराध्ययनसूत्र टीका-पत्र - ५७७

- (रामचंद्रसूरि)।

- (शान्ताचार्य)।

क्रोधदि कषाय ही वेग या आवेग हैं। इन्हें समभावपूर्वक सहन करना संवेग है। वस्तुतः मन में क्रोध आदि के भाव (वेग) आने पर उसकी प्रतिक्रिया नहीं करना ही संवेग (सम्यग्-वेग) है।

संवेग के मोक्षाभिलाषी अर्थ को स्पष्ट करते हुए आचार्य रामचंद्र सूरि लिखते हैं- 'दिव्य देव सुखों को भी दुःख रूप मानना (जो यथार्थ में सुखाभास है किन्तु परिणामतः दुःखस्वरूप ही है) तथा एक मात्र मोक्ष का सुख ही सच्चा सुख है ऐसा मानकर एवं मोक्ष के स्वरूप को जानकर उसे प्राप्त करने की तीव्र अभिलाषा रखना ही संवेग है।'³³

संवेग शब्द का फल बताते हुए उत्तराध्ययनसूत्र के उनतीसवें अध्ययन में कहा गया है कि जीव संवेग से अनुत्तर धर्मश्रद्धा को उपलब्ध करता है तथा मिथ्यात्व से मुक्त होकर यथार्थ दर्शन की उपलब्धि करता है। इस प्रकार दर्शन विशोधि (सम्यग् दृष्टि) से सम्पन्न जीव अपनी साधना से उसी भव में या तीसरे भव में अवश्य मुक्त होता है।³⁴

(३) निर्वेद :

यह सम्यक्त्व का तीसरा लक्षण है। उत्तराध्ययनसूत्र की टीकाओं में निर्वेद का निम्न अर्थ मिलता है : 'विषयों से विरक्ति अर्थात् सांसारिक प्रवृत्तियों के प्रति उदासीन भाव निर्वेद है।'³⁵ निर्वेद साधना मार्ग में अग्रसर होने में अत्यन्त सहायक होता है। इससे निष्काम भावना तथा अनासक्त दृष्टि का विकास होता है।

'निर्गत वेद यस्मिन् स निर्वेदः'-इस व्युत्पत्तिपरक व्याख्या के अनुसार- क्रोध आदि कषायों के वेदन का अभाव निर्वेद है। अर्थात् मन में भी क्रोध आदि से सम्बन्धित संकल्प विकल्प का अभाव होना निर्वेद है। उत्तराध्ययनसूत्र में निर्वेद का फल बताते हुए कहा गया है 'निर्वेद के प्रभाव से जीव आरम्भ का परित्याग कर

३३ सम्यग्दर्शन पृष्ठ - २८५

३४ उत्तराध्ययनसूत्र २६/२ ।

३५ उत्तराध्ययनसूत्र टीका-पत्र - ५७८

- (रामचन्द्रसूरि) ।

(शान्नाचार्य) ।

संसार मार्ग का विच्छेद करता है, अर्थात् मुक्ति को उपलब्ध करता है।^{३६}

(४) अनुकम्पा :

अनुकम्पा शब्द अनु+कम्पन के योग से बना है, अनु अर्थात् तदनुसार एवं कम्पन अर्थात् अनुभूति है। इस प्रकार दूसरे व्यक्ति की अनुभूति का स्वानुभूति में बदल जाना अनुकम्पा है। दूसरे शब्दों में किसी प्राणी के दुःख से पीड़ित होने पर उसी के अनुरूप दुःख की अनुभूति का होना अनुकम्पा है। इसे समानुभूति भी कहा जा सकता है। परोपकार की प्रवृत्ति मूलतः अनुकम्पा के सिद्धान्त पर आधारित है। अनुकम्पा से ही 'आत्मवत् सर्व भूतेषु' का उद्घोष प्रस्फुटित होता है।

अनुकम्पा की भावना के विकास के लिए उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है 'विश्व के सब प्राणियों के प्रति मैत्रीभाव रखें'^{३७} अनुकम्पा का माहात्म्य बताते हुए यह भी कहा गया है - 'सत्त्वं सर्वत्र चित्तस्य, दयाद्रत्वं दयावत्, धर्मस्य परमं मूलं, अनुकम्पा प्रवक्ष्यते।' इस प्रकार अनुकम्पा को धर्म का मूल आधार माना गया है।

(५) आस्तिक्य :

अस्ति भावं आस्तिक्यम् - 'अस्तित्व (सत्ता) में विश्वास रखने वाला आस्तिक होता है'। आस्तिक के भाव को आस्तिक्य कहते हैं। आस्तिक के विषय में अनेक मान्यतायें प्रचलित हैं। कुछ विचारकों का मानना है कि ईश्वर के अस्तित्व या सत्ता में विश्वास रखने वाला आस्तिक है। अन्य कुछ का कहना है कि जो वेदों में आस्था रखता है वह आस्तिक है, लेकिन जैन दर्शन के अनुसार नवतत्त्व एवं षट्द्रव्यों की सत्ता को स्वीकार करने वाला ही आस्तिक है।

अस्ति = है; शाश्वतरूप से 'है' - नवतत्त्व आदि में विश्वास रखना आस्तिक्य है।

३६ उत्तराध्ययनसूत्र २६/३।

३७ उत्तराध्ययनसूत्र ६/२।

सम्यग्दर्शन की व्यावहारिक पहचान

सम्यग्दर्शन आन्तरिक शुद्धि का विषय है। फिर भी इसके अवबोध हेतु पहचान के कुछ व्यवहारिक लक्षण उत्तराध्ययनसूत्र में बतलाए गए हैं^{३८}—

- १) परमार्थ संस्तव : परम तत्त्व का संस्तवन।
- २) सुदृढ़ परमार्थ सेवन : परम तत्त्व के उपासक के सान्निध्य में रहकर सत्य का आचरण करना।
- ३) कुदर्शनवर्जन : कुमार्ग अर्थात् मिथ्यादर्शन से दूर रहना।

संक्षेप में परमार्थ को जानकर, तदनुसार आचरण करने वाला और मिथ्यात्व से विरत होने वाला व्यक्ति ही सम्यग्दृष्टि है।

सम्यग्दर्शन का महत्त्व

मानव जीवन के व्यवहारिक एवं आध्यात्मिक दोनों क्षेत्रों में सम्यग्दर्शन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यथार्थ दृष्टिकोण एवं सम्यग्श्रद्धान के अभाव में जीवन की आध्यात्मिक विकास यात्रा असम्भव है। उत्तराध्ययनसूत्र में सम्यग्दर्शन का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए इसे मोक्ष का मूल कारण माना गया है। इसके अट्टाईसवें अध्ययन में कहा गया है कि दर्शन अर्थात् अनुभूति के बिना ज्ञान नहीं होता, ज्ञान के बिना चारित्र प्राप्त नहीं होता और चारित्र के बिना मोक्ष (कर्मक्षय) नहीं होता है;^{३९} अतः साधना के क्षेत्र में दर्शन या श्रद्धा की अपरिहार्य आवश्यकता है। उत्तराध्ययनसूत्र के उनतीसवें अध्ययन में दर्शन सम्पन्नता का फल बताते हुए सम्यक्त्व को भवभ्रमण के मूल कारण मिथ्यात्व का नाश करने वाला बताया है।^{४०}

जैन दर्शन के अनुसार व्यक्ति के आचरण का आधार उसका दृष्टिकोण होता है। सूत्रकृतांगसूत्र में स्पष्टतः कहा गया है— व्यक्ति विद्वान् है, भागवान् और पराक्रमी भी है; लेकिन उसका दृष्टिकोण मिथ्या या असम्यक् है, तो उसके दान, तप आदि समस्त पुरुषार्थ फलाकांक्षा युक्त होने से अशुद्ध होंगे; लेकिन इसके विपरीत

३८ 'परमस्यसंश्रवणे वा, सुदृढपरमस्यसेवणे वा षि ।

बाधन्कुदसंगवज्जया, य सम्यत्सदृहणा ॥'

- उत्तराध्ययनसूत्र - २८/२८ ।

३९ उत्तराध्ययनसूत्र - २८/३० ।

४० उत्तराध्ययनसूत्र - २८/६१ ।

सम्यग्दृष्टि सम्पन्न व्यक्ति के सभी कार्य फलाकांक्षा से रहित होने से शुद्ध होंगे। संक्षेप में जहां सम्यग्दृष्टि सम्पन्न व्यक्ति का सम्पूर्ण पुरुषार्थ मुक्ति का कारण होता है वहीं मिथ्यादृष्टि का पुरुषार्थ बन्धन का कारण होता है।⁴¹ इस सन्दर्भ में मनुस्मृति में भी कहा गया है कि सम्यग्दृष्टि सम्पन्न व्यक्ति को कर्म का बन्धन नहीं होता है लेकिन सम्यग्दर्शन से विहीन व्यक्ति संसार में परिभ्रमण करता रहता है।⁴²

बौद्धदर्शन में भी मिथ्या दृष्टिकोण को संसार का किनारा एवं सम्यग् दृष्टिकोण को निर्वाण का किनारा माना गया है।⁴³ सम्यग्दर्शन के श्रद्धापरक अर्थ के सन्दर्भ में गीता में भी कहा गया है कि श्रद्धावात्सल्यते ज्ञानम् अर्थात् श्रद्धावान् ही ज्ञान को प्राप्त करता है।⁴⁴ आध्यात्मयोगी आनन्दघनजी लिखते हैं कि जिस प्रकार राख पर लीपना व्यर्थ है उसी प्रकार शुद्ध श्रद्धा के बिना समस्त क्रिया व्यर्थ है।⁴⁵ इसीलिये 'सम्यग्दर्शन को मुक्ति का अधिकार-पत्र कहा जाता है।'⁴⁶

वस्तुतः सम्यग्दर्शन एक जीवनदृष्टि है जिसके आधार पर चारित्र का निर्माण होता है। तभी उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि चारित्र से पूर्व सम्यक्त्व का होना अनिवार्य है। इसमें एक ओर सम्यक्त्व का अर्थ तत्त्वश्रद्धा करते हुए उसे सम्यग्दर्शन का पर्यायवाची माना है वहां दूसरी ओर सम्यक्त्व को यथार्थता, उचितता या सत्यता के व्यापक अर्थ में भी प्रस्तुत किया गया है। इसका प्रमाण उत्तराध्ययनसूत्र का 'उत्तरीसर्वा सम्यक्त्व-पराक्रम' अध्ययन है।

सम्यग्दर्शन के प्रकार

उत्तराध्ययनसूत्र में सम्यग्दर्शन की हेतुभूत दस रुचियों का वर्णन किया गया है।⁴⁷ इससे यह भी ज्ञात होता है कि सम्यग्दर्शन की उपलब्धि में सत्याभीप्सा (रुचि) की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका है। सम्यक्त्व के इन दस प्रकारों

४१ सुबकृतांग - १/८/२३,२४

४२ मनुस्मृति - ६/७४।

४३ अगुत्तरनिष्पन्न १०/१२

४४ गीता - ११/३।

४५ आनन्दघन चौबीसी-स्तवन।

४६ जैन बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, द्वि. भाग, पृष्ठ ५१

- (अंगसुतापि, लाडलू, खंड १, पृष्ठ ३१३)।

-(उद्धृत-जैन बोध और गीता के आचार दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन)

रुचियों का वर्णन उसकी उपलब्धि के निमित्त कारण की अपेक्षा से किया गया है। यहां ध्यातव्य है कि कार्य में कारण के उपचार से इन दस रुचियों को भी सम्यक्त्व/सम्यग्दर्शन के रूप में स्वीकृत किया गया है, जो निम्नलिखित हैं—

१. निसर्गरुचि :

बिना किसी परोपदेश या बाह्य निमित्त के कषायों और वासनाओं की मन्दता के कारण सत्य के यथार्थस्वरूप का बोध होना निसर्गरुचि सम्यक्त्व है।⁴⁸ दूसरे शब्दों में यह स्वाभाविक, स्वतः स्फूर्त, सत्यानुभूति एवं सम्यग् श्रद्धा है।

२. उपदेशरुचि :

वीतराग वाणी या सदुपदेश के द्वारा सत्य के स्वरूप को जानकर उसमें आस्था या विश्वास का होना उपदेशरुचि सम्यक्त्व है।⁴⁹

३. आज्ञारुचि :

राग, द्वेष, मोह, अज्ञान आदि से पूर्ण मुक्त वीतराग आप्त पुरुष की आज्ञा पालन में रुचि रखना आज्ञा रुचि सम्यक्त्व है।⁵⁰ दूसरे शब्दों में गुरु आज्ञा के अनुसार अधरण करने वाली आत्मा में उस अनुष्ठान के प्रति जो रुचि होती है वह आज्ञारुचि है।

४. सूत्ररुचि :

श्रुत् अर्थात् अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य आगम साहित्य द्वारा उपलब्ध होने वाला यथार्थ दृष्टिकोण या शुद्ध श्रद्धा सूत्ररुचि सम्यक्त्व है।⁵¹ पुनः—पुनः सूत्रों का अध्ययन करने से ज्ञान संशय रहित होता है अतः सूत्रज्ञान से प्रगट हुई ऐसी रुचि सूत्ररुचि कहलाती है।

५. बीजरुचि :

आंशिक सत्यानुभूति को स्वयं के चिंतन के द्वारा विकसित करना बीजरुचि सम्यक्त्व है, जैसे तेल की एक बूंद पानी पर फैलती चली जाती है उसी प्रकार बीजरुचि सम्पन्न व्यक्ति का सम्यग्दर्शन विस्तृत होता चला जाता है।⁵²

४८ उत्तराध्ययनसूत्र - २८/१७, १८ ।

४९ उत्तराध्ययनसूत्र - २८/१९ ।

५० उत्तराध्ययनसूत्र - २८/२० ।

५१ उत्तराध्ययनसूत्र - २८/२१ ।

५२ उत्तराध्ययनसूत्र - २८/२२ ।

६. अभिगमरूचि :

अंग साहित्य आदि ग्रन्थों के अर्थ एवं व्याख्या द्वारा उपलब्ध तत्त्वबोध या तत्त्व श्रद्धा को अभिगम रूचि सम्यक्त्व कहा गया है।⁵³

७. विस्ताररूचि :

वस्तु तत्त्व के अनेक पक्षों का विभिन्न प्रमाणों तथा नयों द्वारा बोध प्राप्त कर उनकी यथार्थता पर श्रद्धा रखना विस्ताररूचि सम्यक्त्व है।⁵⁴ संक्षेप, सत्य के सभी पहलुओं को पकड़ने वाली सर्वांगीण दृष्टि विस्ताररूचि है।

८. क्रियारूचि :

धार्मिक विधि-विधानों या अनुष्ठानों के प्रति आस्था का होना क्रियारूचि सम्यक्त्व है।⁵⁵

९. संक्षेपरूचि :

जो निर्ग्रन्थ प्रवचन में पारंगत नहीं है, किन्तु कुमार्ग या कुदृष्टि में प्रवृत्त भी नहीं है ऐसे व्यक्ति की अल्पतम सत्यानुभूति संक्षेपरूचि सम्यक्त्व है। जो व्यक्ति असत् मतवाद से मुक्त है तथा सत्यवाद में विशारद नहीं है उसकी सम्यग्दृष्टि को संक्षेप रूचि कहा जाता है।⁵⁶

१०. धर्मरूचि :

जिन प्रणीत श्रुतधर्म एवं चारित्रधर्म में श्रद्धा रखना धर्मरूचि सम्यक्त्व है।⁵⁷

उत्तराध्ययनसूत्र का रूचि के सन्दर्भ में किया गया यह विश्लेषण मनोवैज्ञानिक है क्योंकि प्राणीमात्र में मिलने वाली योग्यता के तरतमभाव एवं उनके कारण होने वाली रूचि विचित्रता के आधार पर यह वर्गीकरण हुआ है। स्थानांग एवं

५३ उत्तराध्ययनसूत्र - २८/२३ ।

५४ उत्तराध्ययनसूत्र - २८/२४ ।

५५ उत्तराध्ययनसूत्र - २८/२५ ।

५६ उत्तराध्ययनसूत्र - २८/२६ ।

५७ उत्तराध्ययनसूत्र - २८/२७ ।

प्रज्ञापना सूत्र में भी सम्यक्त्व के इन दस प्रकारों का वर्णन उपलब्ध होता है।^{६८} आत्मानुशासन में भी इन्हीं दस प्रकारों का वर्णन किया गया है किन्तु उसमें इनके नाम एवं क्रम में कुछ भिन्नता है।^{६९}

इस प्रकार हम देखते हैं कि निसर्ग रूचि, अभिगम रूचि, बीज रूचि, संक्षेपरूचि एवं विस्तार रूचि में स्वानुभूति के द्वारा सत्य का बोध होता है और उसके प्रति आस्था होती है, जब कि उपदेश रूचि, आज्ञारूचि, सूत्ररूचि, क्रिया रूचि, एवं धर्मरूचि में स्वानुभूति के स्थान पर परोपदेश पूर्वक जिन वचन के प्रति आस्था होती है। प्रज्ञापना सूत्रकार (श्यामाचार्य) ने उत्तराध्ययनसूत्र की इन गाथाओं को ज्यों का त्यों उद्धृत किया है।

इन रूचियों का अति संक्षिप्त विभागीकरण आचार्य उमास्वति ने तत्त्वार्थसूत्र में १) निसर्गज और २) अधिगमज - ऐसे दो रूपों में किया है।^{७०} निसर्गज अर्थात् नदी-पाषाण न्याय की तरह स्वतः कालक्रम में अनन्तानुबन्धी कषाय के क्षय या क्षयोपशम से होने वाला सम्यग्दर्शन निसर्गज कहलाता है। जैसे नदी में पड़ा हुआ पत्थर बिना प्रयास पानी के थपेड़े खाता हुआ स्वाभाविक रूप से गोल हो जाता है वैसे ही संसार-सागर के अनादि प्रवाह में भटकते हुये प्राणी को कषाय की मंदता के फलस्वरूप कर्मावरण की अल्पता के कारण जो सत्यानुभूति होती है, वह निसर्गज सम्यग्दर्शन है जबकि अधिगमज सम्यग्दर्शन, गुरु उपदेश, जिन प्रवचन के अध्ययन आदि बाह्य निमित्तों के द्वारा प्राप्त होता है।

यहां यह ध्यातव्य है कि सामान्यतः सत्य की स्वानुभूति का मार्ग कठिन है। सत्य को स्वयं जानने की अपेक्षा जिन्होंने सत्य का साक्षात्कार किया है, उनके द्वारा बताये गये सत्य के स्वरूप को स्वीकार करने का मार्ग अर्थात् अधिगमज सम्यग्दर्शन सहज है। इस अधिगमज सम्यग्दर्शन को उत्तराध्ययनसूत्र आदि शास्त्रों में 'तत्त्वार्थश्रद्धान' कहा गया है। वस्तुतः ये दोनों सम्यग्दर्शन की उपलब्धि की विधियां हैं। अपने परिणामों की दृष्टि से इनमें कोई अंतर नहीं है। जैसे एक व्यक्ति किसी कार्यक्रम को अपनी आंखों द्वारा स्वयं देखता है तो दूसरा व्यक्ति उसी कार्यक्रम को दूरदर्शन (टेलीविजन) के माध्यम से देखता है अथवा एक वैज्ञानिक

६८ (क) स्थानों - १०/१०४ - (अंगसुत्ताणि, लाडनू, खंड १, पृष्ठ ८१२)।

(ख) प्रज्ञापना - १/१०४ - (उर्वसुत्ताणि, लाडनू, खंड २, पृष्ठ ३३)।

६९ आत्मानुशासनम् श्लोक - ११, पृष्ठ १४।

६० तत्त्वार्थ सूत्र - १/३।

स्वतः प्रयोग के माध्यम से वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानता है और दूसरा उस वैज्ञानिक के वचनों पर विश्वास करके उस वस्तु-स्वरूप को जानता है। दोनों ही दशाओं में व्यक्ति का बोध या दृष्टिकोण यथार्थ माना जायेगा। अन्तर उस यथार्थ दृष्टिकोण को प्राप्त करने की प्रक्रिया में है। एक ने सत्य को स्वतः उपलब्ध किया है; दूसरे ने परोपदेशपूर्वक जाना है। यही बात आध्यात्मिक जगत में है। या तो व्यक्ति स्वयं यथार्थ दृष्टिकोण के माध्यम से तत्त्व का साक्षात्कार करे या आप्तपुरुषों के वचनों पर सम्यग् श्रद्धा रखकर तत्त्व का साक्षात्कार करे, दोनों में विशेष अंतर नहीं है। उपलब्धि (तत्त्वसाक्षात्कार) के मार्ग अर्थात् निसर्गज और अधिगमज भिन्न अवश्य हैं, परन्तु उपलब्धि एक है। अन्तिम स्थिति तो तत्त्वसाक्षात्कार ही है। इस तथ्य के स्पष्टीकरण में पण्डित सुखलालजी के विचार ज्ञातव्य हैं - 'तत्त्वश्रद्धा ही सम्यग्-दृष्टि हो तो भी वह अर्थ अन्तिम नहीं है। अन्तिम अर्थ तो तत्त्वसाक्षात्कार है; तत्त्वश्रद्धा तो तत्त्व साक्षात्कार का सोपान मात्र है। वह सोपान दृढ़ हो तभी यथोचित पुरुषार्थ से तत्त्वसाक्षात्कार होता है।' ये भेद बाह्य कारण की अपेक्षा से हैं; अन्तरंग कारण तो इन दोनों भेदों में सात प्रकृतियों का क्षय अथवा उग्रशम है।

उत्तराध्ययनसूत्र में सम्यग्दर्शन की साधना के आठ अंगों का वर्णन किया गया है। इन आठ अंगों का पालन सम्यग्दर्शन की सुरक्षा एवं विशुद्धि के लिये अत्यावश्यक है। ये आठ अंग इस प्रकार हैं - १) निःशंकता २) निःकाक्षित ३) निर्विचिकित्सा ४) अमूढदृष्टि ५) उपबृंहण ६) स्थिरीकरण ७) वात्सल्य और ८) प्रभावना।^{६१}

१) निःशंकता :

'संशयकरणं शंका' अर्थात् संशय करना शंका है। संशयशीलता का अभाव ही निःशंकता है। जिनप्ररूपित तत्त्वदर्शन में शंका नहीं करना, उसे यथार्थ एवं सत्य मानना निःशंकता है। साधना के क्षेत्र में संशयशीलता विघ्नकारक है। गीता में कहा गया है - संशयात्मा विनश्यति^{६२} -संशयग्रस्त आत्मा संसार में ही भवभ्रमण

६१ निःसंशय, निःकाक्षिय, निर्विचिकित्सा अपूढ दिदृश्य।
उबयूह विरीकरणे, वच्छल्ल पभावणे अद्गु।

६२ गीता - २/४।

- उत्तराध्ययनसूत्र २८/३१।

सत्य मानना निःशंकाता है। साधना के क्षेत्र में संशयशीलता विघ्नकारक है। गीता में कहा गया है - संशयात्मा विनश्यति^{६२} -संशयग्रस्त आत्मा संसार में ही भवभ्रमण

करता रहता है अर्थात् वह लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर पाता है। अतः जैनसाधना में साधक के लिये दृढ़ श्रद्धा होना आवश्यक है। ध्यान रहे कि यह निःशंकाता प्रज्ञा एवं तर्क की विरोधी नहीं है। जिज्ञासामूलक तर्क या शंका औचित्यपूर्ण है पर शंका को ही साध्य बना लेना अनुचित है।

उत्तराध्ययनसूत्र की टीकाओं में शंका के निम्न दो भेद किये गये हैं- १ देशशंका - आशिकसन्देह २ सर्वशंका - पूर्णसन्देह। देशशंका वस्तुतः मिश्रदृष्टि की परिचायक है, जब कि सर्वशंका मिथ्यादृष्टि का ही एक रूप है।^{६३}

२ निष्काक्षिता :

सामान्यतः कांक्षा का अभाव निष्काक्षिता है। जैनदर्शन के अनुसार साधनात्मक जीवन में भौतिक वैभव, इहलौकिक या पारलौकिक सुख को लक्ष्य बनाना कांक्षा है। जैनसाधना में कामनापूर्वक साधना का स्पष्ट निषेध है। आचारांगसूत्र में तो यहां तक कहा गया है कि जो व्यक्ति दुःखविमुक्ति और जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति के लिए भी आश्रव का सेवन करता है या कोई आरम्भ करता है तो वह उसकी अज्ञानता का प्रतीक है।^{६४} रत्नकरण्डकश्रावकाचार में कहा गया है कि किसी सांसारिक सुख की आकांक्षा नहीं रखना सम्यग्दर्शन का निःकाक्षित गुण है।^{६५} आचार्य अमृतचंद्र ने पुरुषार्थसिद्धयुपाय में निष्काक्षिता का अर्थ एकान्तिक मान्यताओं से दूर रहना किया है।^{६६} इस आधार पर अनाग्रहयुक्त दृष्टिकोण सम्यक्त्व के लिए आवश्यक है। इस प्रकार निष्काम साधना ही वास्तविक साधना है।

६२ गीता - २/४।

६३ (क) उत्तराध्ययनसूत्र टीका पत्र - २७६३ (भावविजय जी)।

(ख) उत्तराध्ययनसूत्र टीका पत्र - २७६५ (नेमिचन्द्राचार्य)।

(ग) उत्तराध्ययनसूत्र टीका पत्र - २८०१ (शान्ताचार्य)।

(घ) उत्तराध्ययनसूत्र टीका पत्र - २८०६ (ताम्रवील्लभ)।

(ङ) उत्तराध्ययनसूत्र टीका पत्र - २८१३ (कमलसंयम उपाध्याय)।

६४ आचारांग सूत्र - १/१/१० (अंगसुतापि, लाडकू, खंड १, पृष्ठ ५)।

६५ रत्नकरण्डक श्रावकाचार्य - श्लोक १२, पृष्ठ २६।

६६ पुरुषार्थसिद्धयुपाय - २४।

३. निर्विचिकित्सा :

उत्तराध्ययनसूत्र की टीकाओं में विचिकित्सा के दो अर्थ उपलब्ध होते हैं : १. फल के प्रति सन्देह और २. साधु के प्रति घृणा।^{६७} धर्मक्रिया या साधना के फल के प्रति आशंका करना या मेरी धर्म क्रिया कहीं व्यर्थ न चली जाय इस प्रकार का विचार करना विचिकित्सा है। इसके विपरीत शुभ क्रिया कभी व्यर्थ नहीं जाती। सदाचरण अवश्य फलदायी होता है, क्योंकि क्रिया एवं फल का अविनाभावी सम्बन्ध है। ऐसी दृढ़श्रद्धा निर्विचिकित्सा है। किसी ने ठीक कहा है:

निष्फल होवे भामिनी, पादपनिष्फल होय,
करणी के फल जानना, कभी न निष्फल होय

अर्थात् करणी कदापि बन्ध्या नहीं हो सकती, उसका फल अवश्य मिलता है - ऐसी श्रद्धा रखनी चाहिये। विचिकित्सा का दूसरा अर्थ संयमी मुनि के दुर्बल, जर्जर शरीर एवं मलिन वस्त्रों के प्रति हीनभाव/घृणाभाव लाना है। इस अर्थ के सन्दर्भ में आचार्य समन्तभद्र लिखते हैं - 'स्वभाव से अपवित्र शरीर की पवित्रता का आधार तो रत्नत्रय अर्थात् सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र्य रूप सदाचरण है। अतः गुणीजनों के शरीर से घृणा न करके उनके गुणों के प्रति श्रद्धा रखना निर्विचिकित्सा है'^{६८} मुनि की वेशभूषा एवं शरीर आदि बाह्य रूप पर दृष्टि को केन्द्रित न करके उसके आत्मसौन्दर्य पर केन्द्रित करना ही सच्ची निर्विचिकित्सा है।^{६९}

४. अमूढदृष्टि :

मूढ़ता का अर्थ अज्ञान है। हेय, ज्ञेय और उपादेय अथवा उचित अनुचित के विवेक का अभाव मूढ़ता है और मूढ़ता रहित दृष्टि अमूढ दृष्टि कहलाती है। जैसे मूर्खजन सोने एवं पीतल को एक समान समझते हैं, इसी प्रकार कई लोग सभी धर्मों को एक समान मान लेते हैं, किन्तु वीतराग द्वारा प्ररूपित अहिंसामय धर्म एवं अनेकान्तमय तत्त्व दर्शन सर्वोत्कृष्ट है इस प्रकार की शुद्ध दृष्टि रखना अमूढदृष्टि है।

६७ उत्तराध्ययनसूत्र टीका-पत्र - २८१३

६८ रत्नकरण्डक श्रावकाचार्य श्लोक-१३।

- (भावविजय जी)।

६९ जैन, बौद्ध और गीता के आचारदर्शन का तुलनात्मक दर्शन - भाग २, पृष्ठ ६२।

उत्तराध्ययनसूत्र के टीकाकारों के अनुसार 'अन्य दार्शनिकों की अनेक प्रकार की ऋद्धि, पूजा, समृद्धि तथा वैभव को देखकर जो आकर्षित नहीं होता वह अमूढदृष्टि है।⁷⁰ निशीथसूत्र में भी अमूढदृष्टि का यही अर्थ किया गया है।⁷¹

जैन साहित्य में मूढता के निम्न तीन प्रकार उपलब्ध होते हैं ⁷² -

क. देवमूढता ख. लोकमूढता ग. समयमूढता।

क. देवमूढता :

जिसमें आराध्य अथवा आदर्श बनने की योग्यता नहीं है उसे आराध्य बना लेना देवमूढता है तथा काम-क्रोधादि विकारों के पूर्ण विजेता वीतराग परमात्मा को अपना आदर्श और आराध्य न मानना देव के प्रति अमूढ दृष्टि है।

ख. लोकमूढता :

लोक-परम्परा एवं रूढ़ियों का अन्धानुसरण लोकमूढता है। आचार्य समन्तभद्र 'रत्नकरण्डकश्रावकाचार' में लिखते हैं - 'नदियों एवं सागर में स्नान करने से आत्मा की शुद्धि मानना, पत्थरों के ढेर के द्वारा स्तूप बनाकर उससे मुक्ति समझना अथवा पर्वत से गिरकर या अग्नि में जलकर प्राण विसर्जन करना आदि लोकमूढतायें हैं।'⁷³

सम्यग्दृष्टि जीव में ऐसी अन्धप्रवृत्ति नहीं होती है। वह प्रत्येक क्रिया का श्रेय एवं प्रेय की अपेक्षा से विचार करता है तथा प्रेय का त्याग कर श्रेय की ओर ही अग्रसर होता है। यही उसकी अमूढदृष्टि है। इस सन्दर्भ में लौकिक कर्मकांडों का आध्यात्मिक रूप प्रस्तुत करते हुए उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है - 'धर्म जलाशय है, ब्रह्मचर्य शान्ति तीर्थ है, विशुद्ध भाव पवित्र घाट है, जिसमें स्नान करने

७० (क) उत्तराध्ययनसूत्र टीका पत्र - २७६३ (भाद्रविजय जी)।

(ख) उत्तराध्ययनसूत्र टीका पत्र - २७६५ (नेमिचन्द्राचार्य)।

(ग) उत्तराध्ययनसूत्र टीका पत्र - २८०६ (शान्त्याचार्य)।

(घ) उत्तराध्ययनसूत्र टीका पत्र - २८१३ (लक्ष्मीवल्लभमणि)।

(ङ) उत्तराध्ययनसूत्र टीका पत्र - २८१३ (कमलसंघम उपाध्याय)।

७१ निशीथ सूत्र गाथा - २६।

७२ रत्नकरण्डकश्रावकाचार - पृष्ठ ५६।

७३ रत्नकरण्डकश्रावकाचार - गाथा २२।

से आत्मा विशुद्ध होती है। ऋषि-महर्षियों ने इसी स्नान की प्रशंसा की है। यही कर्म मल को दूर करने वाला सच्चा स्नान है।⁷⁴

ग. समयमूढता :

समय का एक अर्थ सिद्धान्त या शास्त्र भी होता है। इस अर्थ में सैद्धान्तिक ज्ञान या शास्त्रीय ज्ञान का अभाव समयमूढता है।⁷⁵

इस प्रकार देवमूढता, लोकमूढता एवं समयमूढता से रहित व्यक्ति अमूढ दृष्टि होता है।

५. उपबृंहण :

उपबृंहण की व्याख्या करते हुए उत्तराध्ययनसूत्र की टीकाओं में कहा गया है - सम्यग् आचरण करने वाले गुणीजनों की प्रशंसा करना तथा उनके शुद्ध आचरण में सहायक बनना उपबृंहण है।⁷⁶ उपबृंहण का व्युत्पत्तिपरक अर्थ करते हुए अमृतघन्द्राचार्य लिखते हैं कि अपने आध्यात्मिक गुणों का विकास करना ही उपबृंहण है।⁷⁷ उपबृंहण को उपगूहन भी कहा जाता है। उसका अर्थ है अपने गुणों और दूसरों के दुर्गुणों/दोषों को अभिव्यक्त न करना।

६. स्थिरीकरण :

धर्ममार्ग से च्युत होने वाले व्यक्तियों को पुनः धर्म में स्थिर करना स्थिरीकरण है। यह सम्यक्दृष्टि सम्पन्न व्यक्ति का महत्त्वपूर्ण गुण है। किसी को धर्ममार्ग में संलग्न करने का कितना महत्त्व है इसका प्रतिपादन करते हुए जैनाचार्यों का यहां तक कहना है कि व्यक्ति अपने शरीर की चमड़ी के जूते बनाकर अपने माता-पिता को पहना दे तो भी वह उनके उपकारों का मूल्य नहीं चुका संकता; किन्तु यदि वह उन्हें धर्ममार्ग में स्थिर करे या उनकी धर्म साधना में सहायक बने तो वह माता-पिता के ऋण से उऋण हो सकता है।

धर्ममार्ग से पतित होने के दो कारण हैं - १. दर्शनविकृति - दूषित दृष्टिकोण २. चारित्रविकृति - दूषित आचरण। दोनों ही स्थितियों में बोध देकर

७४ उत्तराध्ययनसूत्र - १२/४६, ५७।

७५ जैन, बौद्ध एवं गता के आधार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन - भाग २, पृष्ठ ६२।

७६ उत्तराध्ययनसूत्र टीका-पत्र - २७६५ - (निमिधन्द्राचार्य)।

७७ पुरुषार्थसिद्धयुगल - २७।

उन्हें सन्मार्ग में स्थिर करना चाहिए। उत्तराध्ययनसूत्र में दर्शन विकृति से ग्रस्त रथनेमिमुनि को राजीमति द्वारा संयम-मार्ग में पुनः स्थिर करने का उल्लेख है।⁷⁸

७. वात्सल्य :

साधर्मिक के प्रति स्नेहभाव रखना वात्सल्य है। 'वात्सल्य' धर्म के प्रति विशेष प्रीति भाव होने पर ही हो सकता है। जैसे गीत के शौकीन को गायक, फिल्म के शौकीन को अभिनेता/अभिनेत्री और क्रिकेटप्रेमी को क्रिकेटर, प्रिय लगता है वैसे ही धर्मप्रेमी को अन्य धार्मिकजन भी अतिप्रिय लगते हैं। वात्सल्यगुण का सघ एवं समाज के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान है।

८. प्रभावना :

धर्म के प्रचार एवं प्रसार के लिए प्रयत्न करना 'प्रभावना' है। अमृतचन्द्राचार्य के शब्दों में सम्यग्दृष्टि जीव रत्नत्रय की साधना से स्वयं की आत्मा को प्रभावित करता ही है साथ ही दया-दान, तप-जप, जिनपूजा आदि सदाचरणों के द्वारा अन्य प्राणियों को भी धर्ममार्ग की ओर आकर्षित करता है।⁷⁹ प्रभावना में साधक तप-त्याग, संयम की सुरभि से स्वयं सुवासित होते हुए दूसरों को भी सुरभित करता है।

प्रभावना का एक अर्थ यह भी किया गया है कि अन्य लोगों में व्याप्त जिनधर्म विषयक अज्ञान को दूर कर उन्हें धर्म का वास्तविक ज्ञान कराना प्रभावना है।⁸⁰ संक्षेप में, जिनशासन के महात्म्य को संसार के समक्ष, प्रस्तुत करना प्रभावना है।

सम्यक्त्व के पूर्वोक्त आठ अंगों को उत्तराध्ययनसूत्र की टीका में दर्शनाचार कहा गया है। इससे यह प्रतिफलित होता है कि दर्शन शब्द मात्र श्रद्धा का प्रतीक ही नहीं है वरन् श्रद्धा के अनुरूप जीवन जीने का भी सूचक है। अर्थात्

७८ उत्तराध्ययनसूत्र - ४६।

७९ पुरुषार्थसिंघुपाय - ३०।

८० लल्लकारण्डकशावकाचार - १८।

दर्शनाचार के रूप में श्रद्धा हमारे आचरण का विषय बन जाती है। विशेषावश्यकभाष्य में सम्यक्त्व का त्रिविध वर्गीकरण उपलब्ध होता है^{११} -

१. कारकसम्यक्त्व :

जो सम्यक्त्व मुक्ति का कारक हो वह कारकसम्यक्त्व है। इस अवस्था में व्यक्ति मात्र सत्य को जानता ही नहीं है, अपितु उसका आचरण भी करता है। कारकसम्यक्त्वी व्यक्ति के जीवन में ज्ञान और आचरण की एकरूपता होती है। व्यक्ति सदाचरण की दिशा में पुरुषार्थ करता है। इसलिए कारक सम्यक्त्व क्रिया रुचि सम्यक्त्व भी कहा जाता है।

२. रोचकसम्यक्त्व :

सत्यासत्य का बोध होने पर भी सत्य का आचरण नहीं कर पाना रोचकसम्यक्त्व है। इसमें व्यक्ति धर्म के यथार्थ स्वरूप का अनुभव करता है, फिर भी चारित्रमोहनीयकर्म के प्रभाव से सम्यक् आचरण नहीं कर पाता है। इस सन्दर्भ में दुर्योधन के ये वचन स्मरणीय है कि धर्म को जानते हुए भी मेरी उसमें प्रवृत्ति नहीं होती है एवं अधर्म को जानते हुए भी मेरी उससे निवृत्ति नहीं होती है -

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्ति

जानामि अधर्मं न च मे निवृत्ति

यही बात उत्तराध्ययनसूत्र के तेरहवें अध्यायन में चक्रवर्ती सम्भूति के द्वारा कही गई है कि धर्म को जानते हुए भी मैं कामभोगों में आसक्त होकर, उन्हें छोड़ नहीं सकता हूँ।^{१२}

११ विशेषावश्यकभाष्य - २६७५।

१२ उत्तराध्ययनसूत्र - १३।

३. दीपकसम्यक्त्व :

यह सम्यक्त्व दीपक की तरह होता है जो अन्य को तो प्रकाशित करता है किन्तु स्वयं अपने अन्दर का अन्धकार दूर नहीं कर पाता है। कहा जाता है कि 'दिया तले अन्धेरा'; उसी प्रकार इस सम्यक्त्व में व्यक्ति अपने उपदेश द्वारा दूसरों को सन्मार्ग का अनुगामी बना देता है पर स्वयं सन्मार्ग का अनुसरण नहीं कर पाता है। यह सम्यक्त्व परोपकारी है; 'पर' की अपेक्षा से इसे सम्यक्त्व में परिगणित किया गया है।

सम्यक्त्व का एक वर्गीकरण कर्म प्रकृतियों के उपशम, क्षय या क्षयोपशम की अपेक्षा से भी किया गया है। यद्यपि इसकी चर्चा उत्तराध्ययनसूत्र में उपलब्ध नहीं होती है फिर भी यह वर्गीकरण वर्तमान में अति प्रचलित है। अतः इसकी चर्चा यहां अपेक्षित है। इस वर्गीकरण का आधार मिथ्यात्वमोह, मिश्रमोह, सम्यक्त्वमोह तथा अनन्तानुबन्धी (तीव्रतम) क्रोध, मान, माया, लोभ, इन सम्यक्त्व विरोधी सात प्रकृतियों का उपशम, क्षय या क्षयोपशम है। मोहनीय कर्म की पूर्वोक्त सात प्रकृतियों को 'दर्शनसप्तक' भी कहा जाता है।

(१) औपशमिकसम्यक्त्व

'दर्शनसप्तक' के उपशमन से प्रकट होने वाला सम्यक्त्व औपशमिक सम्यक्त्व कहलाता है। यह अल्पकालिक होता है; शास्त्रीय दृष्टि से इसका अधिकतम समय अन्तर्मुहूर्त है। इसमें उपशमित कर्मप्रकृतियां पुनः जाग्रत होकर सम्यक्त्वगुण को नष्ट कर देती हैं। मनोविज्ञान की भाषा में यह दमन की स्थिति है।

(२) क्षायिकसम्यक्त्व

इसमें दर्शनसप्तक सातों कर्म प्रकृतियों का पूर्ण क्षय हो जाता है। कर्म प्रकृतियों के क्षय से हुआ यथार्थ श्रद्धान स्थायी होता है अर्थात् यह प्रकट होने पर पुनः नष्ट नहीं होता है और अन्ततः यह मुक्ति का कारण बनता है। यह आत्मिक विकास की विशिष्ट अवस्था है।

(३) क्षायोपशमिकसम्यक्त्व

उदयगत कर्मप्रकृतियों का क्षय तथा सत्तागत कर्मप्रकृतियों के उपशमन से जो सम्यग्दर्शन प्रकट होता है, वह क्षयोपशमिकसम्यक्त्व है। इसका समय छासठ सागरोपम से कुछ अधिक माना गया है।

(४) सास्वादनसम्यक्त्व

एक बार सम्यक्त्व रस का पान करने पर साधक जब पुनः मिथ्यात्व की ओर उन्मुख होता है तो सम्यक्त्व के वमन की इस क्षणिक अवधि में जो सम्यक्त्व का आस्वाद शेष रहता है, उसे सास्वादनसम्यक्त्व कहा जाता है। जैसे, वमन के पश्चात् भी वमित पदार्थों का कुछ समय तक स्वाद रहता है वैसे ही सम्यक्त्व के वमन के पश्चात् कुछ समय तक उसका आस्वाद रहता है, यह सास्वादनसम्यक्त्व है।

(५) वेदकसम्यक्त्व

सत्ता में रहे हुए सम्यक्त्व मोहनीयकर्म को उदय में लाकर क्षय करने के समय होने वाला वेदन वेदकसम्यक्त्व है। वेदकसम्यक्त्व के बाद जीव क्षायिकसम्यक्त्व को उपलब्ध कर लेता है।

६.५ सम्यक्चारित्र

सम्यक्चारित्र मोक्षमार्ग की साधना का तृतीय चरण है। इसको परिभाषित करते हुए उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है—'जो कर्म के चय (संचय) को रिक्त करे वह चारित्र है।'⁸³ चारित्र की यही व्याख्या निशीथभाष्य में भी उपलब्ध होती है।⁸⁴ आध्यात्मिक जीवन की पूर्णता चारित्र के माध्यम से ही प्राप्त होती है। चारित्र के महत्त्व को प्रकाशित करते हुए आचारांगनिर्युक्ति में कहा गया है, 'ज्ञान का सार आचरण है और आचरण का सार निर्वाण न्या परमार्थ की उपलब्धि है।'⁸⁵ डॉ. सागरमल जैन के अनुसार चित्त अथवा आत्मा की वासनाजन्य मलिनता और अस्थिरता को समाप्त करना सम्यक्चारित्र है।⁸⁶

चारित्र के मुख्यतः दो प्रकार होते हैं - १) देशविरतिचारित्र और २) सर्वविरतिचारित्र। दूसरे शब्दों में इन्हें श्रावकाचार एवं श्रमणाचार कहा जाता है। श्रावकाचार के अन्तर्गत बारह अणुव्रत, ग्यारह प्रतिमा, आदि का उल्लेख प्राप्त होता है तथा श्रमणाचार में पंचमहाव्रत, अष्टप्रवचनमाता, बाईसपरीषह, दस यतिधर्म आदि का समावेश किया जाता है। उत्तराध्ययनसूत्र में चारित्र की चर्चा विस्तृत रूप से उपलब्ध होती है, परन्तु हम प्रस्तुत प्रसंग में इसके अष्टादशवें अध्याय के अन्तर्गत आये चारित्र के पांच भेदों का ही विवेचन करेंगे। श्रमणाचार तथा श्रावकाचार आदि के विस्तृत विवेचन के लिए इसी ग्रन्थ का दसवां एवं ग्यारहवां अध्याय द्रष्टव्य है।

उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार चारित्र के पांच प्रकार हैं --

१. सामायिकचारित्र २. छेदोपस्थापनीयचारित्र ३. परिहारविशुद्धि चारित्र
४. सूक्ष्मसम्परायचारित्र और ५. यथाख्यातचारित्र।⁸⁷ तत्त्वार्थसूत्र में भी इन्हीं पांच प्रकार के चारित्रों का उल्लेख है।⁸⁸

१. सामायिकचारित्र :

८३ उत्तराध्ययनसूत्र - २८/३३।

८४ निशीथभाष्य - उद्धत जैन दर्शन और कबीर का तुलनात्मक अध्ययन पृष्ठ १२५।

८५ आचारांगनिर्युक्ति - २४४ - (निर्युक्तिसंग्रह, पृष्ठ)

८६ जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन भाग २ पृष्ठ ८४।

८७ उत्तराध्ययनसूत्र - २८/३२, ३३।

८८ तत्त्वार्थसूत्र ६/१८।

उत्तराध्ययन की टीकाओं में राग-द्वेष या विक्षोभ से रहित चित्त की अवस्था तथा सभी प्रकार के सावद्य/पापमय व्यापारों से रहित आचरण को सामायिक चारित्र कहा गया है।^{८९} पण्डित सुखलालजी के अनुसार समभाव में स्थित रहने के लिए सम्पूर्ण अशुद्ध प्रवृत्तियों का त्याग करना सामायिक चारित्र है।^{९०} इसके निम्न दो भेद बतलाए हैं— (क) इत्वरकालिक (ख) यावत्कथिक।

(क) इत्वरकालिक : जो कुछ समय के लिए ग्रहण की जाती है, वह इत्वरकालिक सामायिक है। इसकी साधना गृहस्थ उपासक करते हैं।

(ख) यावत्कथिक : सम्पूर्ण जीवन के लिए ग्रहण किया गया सामायिकचारित्र यावत्कथिक सामायिकचारित्र कहलाता है। इसे श्रमण छोटी दीक्षा के समय स्वीकार करते हैं।

२. छेदोपस्थापनीयचारित्र :

उत्तराध्ययनसूत्र के टीकाकार शान्त्याचार्य के अनुसार जिस चारित्र में पूर्व पर्याय का छेद करके साधक को महाव्रत प्रदान किये जाते हैं, वह छेदोपस्थापनीय चारित्र कहलाता है। परिस्थितियों के आधार पर इसके दो भेद किये जाते हैं—

(क) निरतिचार छेदोपस्थापनीयचारित्र : सामायिकचारित्र अर्थात् छोटी दीक्षा के पश्चात् साधक की योग्यता को परख लेने एवं अपेक्षित शास्त्राध्ययन के द्वारा मुनिजीवन के नियमों से पूर्णतया परिचित हो जाने पर जब महाव्रतों में स्थापित किया जाता है अर्थात् बड़ी दीक्षा दी जाती है तो वह निरतिचार छेदोपस्थापनीय चारित्र कहलाता है। इसी प्रकार एक तीर्थकर के तीर्थ से दूसरे तीर्थकर के तीर्थ में जाने वाले साधक का चारित्र भी निरतिचार छेदोपस्थापनीयचारित्र होता है।

(ख) सातिचार छेदोपस्थापनीयचारित्र : मूलगुणों का घात करने पर अर्थात् पूर्व गृहीत संयम में दोषापत्ति आने पर जब पूर्व दीक्षा पर्याय का छेद करके महाव्रतों का पुनः आरोपण किया जाता है तो वह सातिचार छेदोपस्थापनीयचारित्र

८९ (क) उत्तराध्ययनसूत्र टीका पत्र - २८१७ (शान्त्याचार्य)।

(ख) उत्तराध्ययनसूत्र टीका पत्र - २८२२ (कमलसंयम उपाध्याय)।

९० तत्त्वार्थसूत्र - पं. सुखलाल जी पृष्ठ ३५२।

होता है। यहां ज्ञातव्य है कि निरतिचार एवं सातिचार दोनों छेदोपस्थापनीयचारित्र में पूर्व आचरित दीक्षापर्याय का छेद होता है अर्थात् इसमें पूर्वसंयमपर्याय न्यून कर दी जाती है तथा संघ में उसकी वरिष्ठता उसी दिन से मानी जाती है।

इस प्रकार साधु जीवन में वरिष्ठता और कनिष्ठता का आधार छेदोपस्थापनीयचारित्र है। वर्तमान में इसे बड़ी दीक्षा के नाम से भी जाना जाता है। आचार्य वीरनन्दी के अनुसार छेद का अर्थ भेद या विभाग है; अतः जिसमें सावद्य व्यापारों का विभागशः अर्थात् नाम पूर्वक त्याग किया जाय, जैसे अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि, वह छेदोपस्थापनीयचारित्र है।⁹¹

३. परिहारविशुद्धि :

परिहार अर्थात् गण या संघ से अलग होकर एक विशिष्ट प्रकार के तपश्चरण के द्वारा आत्मा की विशेष शुद्धि करने की साधना परिहारविशुद्धिचारित्र है। इसमें मुनि संघीय जीवन का परिहार करके कुछ विशिष्ट साधकों के साथ तप साधना करते हैं।

४. सूक्ष्मसम्परायचारित्र :

जिससे संसार भ्रमण होता है उसे सम्पराय कहते हैं। कषायों के कारण जीव का संसार में भ्रमण होता है। अतः कषाय को सम्पराय कहा जाता है। इस प्रकार जिस चारित्र में कषायों का सूक्ष्मीकरण हो वह सूक्ष्मसम्परायचारित्र है। शास्त्रीय शब्दावली में जहां मात्र सूक्ष्म अर्थात् संज्वलनलोभ कषाय (देहभाव) को छोड़कर अन्य सभी कषाय क्षीण हो जाये, वह सूक्ष्मसम्परायचारित्र है।⁹² यह दशम गुणस्थानवर्ती साधुओं को होता है।

५. यथाख्यातचारित्र :

यह चारित्र की अन्तिम तथा सर्वोच्च अवस्था है। इसमें दो शब्द हैं यथा + आख्यात अर्थात् जिनेश्वर परमात्मा ने जैसा आख्यात/निरूपित किया है उसके अनुसार विशुद्ध चारित्र का पालन जिसमें हो वह यथाख्यातचारित्र है। इसमें

९१ उत्तराध्ययनसूत्र टीका पत्र - ५६८ (शान्त्याचार्य)।

९२ उत्तराध्ययनसूत्र टीका पत्र - ५६८ (शान्त्याचार्य)।

चारों कषाय सर्वथा उपशान्त या क्षीण हो जाती हैं। उत्तराध्ययनसूत्र में इस चारित्र का फल मोक्ष की प्राप्ति बताया गया है। इसमें कहा गया है कि जीव यथाख्यातचारित्र के पालन से आत्मा को विशुद्ध बना करके वेदनीय आदि चारों अघाती कर्मों का भी क्षय कर देता है और उसके बाद सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो जाता है। उत्तराध्ययनसूत्र के उनतीसवें अध्ययन में चारित्रसम्पन्नता के मुख्यतः तीन लाभ बतलाए गये हैं^{६३} -

१) शैलेशी भाव की प्राप्ति २) वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र कर्म का क्षय ३) सिद्ध, बुद्ध और मुक्तदशा की प्राप्ति। उत्तराध्ययन की टीका में शैलेशीभाव के निम्न अर्थ किये गये हैं:-

शैलेश अर्थात् मेरुपर्वत की भांति मन, वचन और काया की प्रवृत्तियों का पूर्णतः स्थिरीकरण शैलेशीभाव है। शैलेशीभाव में स्थित आत्मा परिस्थितियों से अप्रभावित होता है; वह ज्ञाता द्रष्टा भाव में स्थित रहता है। शैलेशी का संस्कृत रूप शैलर्षि भी किया जाता है जो ऋषि शैल अर्थात् पर्वत की तरह सुस्थिर होता है वह शैलर्षि कहलाता है। शील का एक अर्थ समाधान भी किया जाता है। जिस व्यक्ति को पूर्ण समाधान अर्थात् ज्ञान मिल जाता है, पूर्ण संवर की उपलब्धि हो जाती है, वह शील का ईश होता है। शीलेश की अवस्था को शैलेशी अवस्था कहा जाता है।^{६४}

६.६ सम्यक्तप

तप--साधना भारतीय संस्कृति का प्राण है। सभी आध्यात्मिक दर्शन तप को साधना का अपरिहार्य अंग मानते हैं। वैसे तो पूर्व तथा पश्चिम दोनों ही देशों की धार्मिक साधना-प्रणाली तप से ओत-प्रोत रही है। इन विभिन्न साधना पद्धतियों में स्वीकृत तप के स्वरूप एवं प्रक्रिया में भिन्नता अवश्य है, पर तप का महत्त्व सभी के द्वारा निर्विवाद रूप से स्वीकृत है।

बौद्धपरम्परा के समाधिमार्ग तथा गीता के ध्यानयोग की तरह जैनदर्शन में तप को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। उत्तराध्ययनसूत्र में सम्यक्तप को साधना के अन्तिम चरण के रूप में स्वीकार किया गया है। साथ ही इसके तीसवें

६३ उत्तराध्ययनसूत्र २६/६२ ।

६४ उत्तराध्ययनसूत्र टीका पत्र - ५६३

- (शान्त्याश्रयी) ।

तपोमार्गगति नामक अध्ययन में तप के स्वरूप एवं महत्त्व का विस्तृत विवेचन किया गया है।

उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार तप आत्मा के परिशोधन की प्रक्रिया है। तप पूर्व संचित कर्मों को क्षय करने का एक मात्र उपाय है। तप से रागद्वेष जन्म पापकर्मों को क्षीण किया जाता है। इसमें कहा गया है कि तप के द्वारा ही महर्षिगण पूर्वकृत पापकर्मों को नष्ट करते हैं।^{६५} इसके बारहवें अध्ययन में तप को ज्योति रूप बतलाया है अर्थात् तप में कर्मकालिमा को दूर कर देने की शक्ति है।^{६६} इस प्रकार उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार तप जीवन शुद्धि एवं आत्म विकास का श्रेष्ठ साधन है।

उत्तराध्ययनसूत्र में तप को व्यापक अर्थ में स्वीकार करते हुए अनेक स्थलों पर उसे संयम का पर्यायवाची भी माना है। इस सन्दर्भ में यह कहा गया है कि निषेधात्मक दृष्टि से तृष्णा, राग-द्वेष आदि चित्त की समस्त अकुशल (अशुभ) वृत्तियों का निवारण एवं विधेयात्मक दृष्टि से सभी कुशल (शुभ) वृत्तियों एवं क्रियाओं का सम्पादन 'तप' है।^{६७} तप की यह सार्थक परिभाषा उत्तराध्ययनसूत्र के अन्तर्गत वर्णित तप के बाह्य एवं आभ्यन्तर दोनों ही रूपों को प्रकाशित करती है। अशुभ से निवृत्ति हेतु अनशन, ऊणोदरी, भिक्षाचर्या (वृत्तिसंक्षेप), रसपरित्याग, कायक्लेश, संलीनता, प्रायश्चित्त तथा कायोत्सर्ग की उपयोगिता है; ये तप के निषेधात्मक पहलू हैं। विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय तथा ध्यान शुभ में प्रवृत्ति के माध्यम हैं। ये तप के विधेयात्मक पहलू हैं।

उत्तराध्ययनसूत्र के अन्तर्गत तप के मुख्यतः दो भेद प्रतिपादित किये गये हैं^{६८}— १. बाह्य तप २. आभ्यन्तर तप। उत्तराध्ययनसूत्र के टीकाकार शान्त्याचार्य के अनुसार स्वरूप एवं पुरुषार्थ की अपेक्षा से तप के बाह्य और आभ्यन्तर ऐसे दो भेद किये गये हैं।^{६९} इनको इस रूप में वर्गीकृत करने में मुख्यतः चार हेतु हैं—

तप को बाह्य तप कहने के चार हेतु निम्न हैं—

६५ उत्तराध्ययनसूत्र ३०/६ ।

६६ उत्तराध्ययनसूत्र १२/४४ ।

६७ जैन बौद्ध और गीता के आधार जर्मन का तुलनात्मक अध्ययन - भाग २ पृष्ठ ११७ ।

६८ उत्तराध्ययनसूत्र - ३०/६ ।

६९ उत्तराध्ययनसूत्र टीका पत्र - ६००

- (शान्त्याचार्य) ।

१. ये बाह्य द्रव्यों के त्याग की अपेक्षा रखते हैं अर्थात् इनमें अशन, पान आदि बाह्य वस्तुओं का त्याग होता है; २. सामान्य साधक भी इसकी आराधना कर सकते हैं; ३. इनका प्रत्यक्ष प्रभाव शरीर पर अधिक होता है; ४. ये मुक्ति के बहिरंग हेतु हैं।

तप को आभ्यन्तर-तप कहने के भी निम्न चार हेतु हैं-

१. इनमें बाह्य द्रव्यों के त्याग की अपेक्षा नहीं होती २. ये विशिष्ट साधक के द्वारा ही आचरित होते हैं ३. इनका प्रत्यक्ष प्रभाव अन्तरंग में होता है और ४. ये मुक्ति के अन्तरंग कारण होते हैं।

संक्षेप में जिस तप में बाह्य द्रव्य एवं बाह्य क्रिया की प्रधानता रहती है वे बाह्य तप हैं तथा जिसका सम्बन्ध मानसिक प्रवृत्ति एवं आन्तरिक शुद्धि से है वे आभ्यन्तर तप हैं। यहां विशेष ज्ञातव्य यह है कि बाह्य तप आन्तरिक तप में सहायक होते हैं। उत्तराध्ययनसूत्र में इन दोनों के छः-छः प्रकार बतलाये हैं।

बाह्य तप के छः प्रकार ये हैं:- १. अनशन २. ऊणोदरी ३. भिक्षाचर्या ४. रसपरित्याग ५. कायक्लेश और ६. प्रतिसंलीनता।

१. अनशन : अनशन का अर्थ है आहार न करना। न अशन इति अनशन - आहार के त्याग को अनशन कहते हैं। उत्तराध्ययनसूत्र में इसके दो भेद बतलाये गये हैं : (क) इत्वरिक (ख) यावत्कथिक।¹⁰⁰

(क) इत्वरिक अनशन : यह एक निश्चित समयवधि के लिए किया हुआ आहार का त्याग है जो एक दिन से लगाकर छः मास तक का होता है। उत्तराध्ययनसूत्र में संक्षेप में इसके भी छः प्रकार हैं:- १. श्रेणितप २. प्रकारतप ३. घनतप ४. वर्गतप ५. वर्गवर्गतप और ६. प्रकीर्णतप।¹⁰¹

(ख) यावत्कथिक अनशन : इसमें जीवन पर्यन्त आहार का त्याग किया जाता है। वस्तुतः जब शरीर संयम साधना के योग्य न रहे, वह अन्य के लिये भार रूप बन जाये और जीवन का अन्त सन्निकट हो, तब शरीर पर से ममत्व का विसर्जन करने हेतु यावत्कथिक अनशन व्रत ग्रहण किया जाता है।

१०० उत्तराध्ययनसूत्र - ३०/६।

१०१ उत्तराध्ययनसूत्र - ३०/३०,११।

अनशन तप का फल बताते हुए उत्तराध्ययनसूत्र के अनतीसवें अध्ययन में कहा गया है— 'आहार का त्याग करने से जीवन की आशांसा अर्थात् शरीर तथा प्राणों का मोह छूट जाता है एवं तपस्वी संक्लेश से मुक्त हो जाता है'¹⁰² इससे स्पष्ट होता है कि अनशन मात्र देह-दण्डन नहीं हैं, वरन् आध्यात्मिक उपलब्धि का साधन है।

आयुर्वेदशास्त्र में कहा गया है 'लघनं परमौषधम्'—लघन / उपवास श्रेष्ठ औषधि है।¹⁰³ इस प्रकार अनशन तप की विशेषता के सम्बन्ध में औपनिषदिक ऋषियों का तो यहां तक कहना है कि अनशन से बढ़कर और कोई तप नहीं है।¹⁰⁴ उपवास से तन की ही नहीं मन की भी शुद्धि होती है। इस सन्दर्भ में गीता में कहा गया है 'आहार का त्याग करने से इन्द्रियों के विषयविकार दूर हो जाते हैं और मन पवित्र हो जाता है।'¹⁰⁵

२. ऊणोदरी (अवमौदर्य) : उत्तराध्ययनसूत्र एवं भाव की अपेक्षा से आहार की मात्रा में कमी करना ऊणोदरी तप है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और पर्यायों की अपेक्षा से ऊणोदरीतप अनेक प्रकार का होता है।¹⁰⁶

(१) द्रव्यऊणोदरी : आहार की मात्रा से कम खाना द्रव्य ऊणोदरी है। उत्तराध्ययनसूत्र की बृहद्वृत्ति में आहार का परिमाण पुरुष के लिए ३२ कवल एवं स्त्री के लिए २८ कवल बताया गया है। इससे कुछ कम खाना द्रव्यऊणोदरी है।¹⁰⁷

(२) क्षेत्रऊणोदरी : किसी निश्चित स्थान से ही भिक्षा लेना एवं अन्य क्षेत्रों से भिक्षा लेने का त्याग करना क्षेत्रऊणोदरी है।

उत्तराध्ययनसूत्र में क्षेत्रऊणोदरी के छः प्रकार बताये हैं¹⁰⁸ -

१. पेटा : पेटिका के आकार में घरों की कल्पना करके उन्हीं घरों में ही आहार लेने के लिए जाना, शेष घरों का त्याग करना पेटा क्षेत्र ऊणोदरी तप है।

¹⁰² उत्तराध्ययनसूत्र - २६/३७ ।

¹⁰³ वैश्वेदे - जैन दर्शन स्वरूप और विश्लेषण पृष्ठ - २११ ।

¹⁰⁴ वैश्वेदेगी आरण्यक - १०/७२ ।

¹⁰⁵ गीता - २/५६ ।

¹⁰⁶ उत्तराध्ययनसूत्र ३०/१४ ।

¹⁰⁸ उत्तराध्ययनसूत्र टीका पत्र - ६०४

¹⁰⁹ उत्तराध्ययनसूत्र ३०/१६ ।

- (शान्त्वाचारी) ।

२. अर्धपेटा : पेटिका के समान गांव की चार श्रेणी में कल्पना करके चारों श्रेणियों में न घूमकर दो श्रेणियों के घरों में ही आहार के लिए जाना अर्धपेटा क्षेत्र ऊणोदरी तप है।

३. गोमूत्रिका : गाय के मूत्र के समान घरों की कल्पना करके उनमें आहार के लिये जाना गोमूत्रिका क्षेत्रऊणोदरी तप है।

४. पतंगवीथिका : जैसे पतंग उड़ते समय कभी यहां तो कभी वहां होती है वैसे ही बीच-बीच में घरों को छोड़ते हुए आहार लेना पतंगवीथिका भिक्षाचर्या है। उदाहरण के लिए, पहले एक घर से आहार लिया फिर पास के पांच-छः घरों को छोड़-छोड़ कर आहार ग्रहण करना पतंगवीथिका क्षेत्रऊणोदरी तप है।

५. शंबूकावर्त शंखावर्त : शंख के आवर्त के समान घूमकर गौचरी - आहार लाना - शंखावर्त क्षेत्रऊणोदरी तप है। यह आभ्यन्तर और बाह्य के भेद से दो प्रकार का होता है।

६. आयतगत्वाप्रत्यागत्वा : वीथिका के अन्तिम छोर तक जाकर लौटते समय गौचरी ग्रहण करने को आयतगत्वाप्रत्यागत्वा कहा जाता है।

इस प्रकार क्षेत्रऊणोदरी के पूर्वोक्त छह भेद हैं।

(३) कालऊणोदरी : भिक्षा के लिए जो नियत समय है उसमें भिक्षा के लिए जाना यह कालऊणोदरी है।

(४) भावऊणोदरी : भिक्षा प्राप्ति अर्थात् आहार के लिये अभिग्रह (संकल्प) धारण करना भावऊणोदरी है।

३) भिक्षाचर्या : यह तीसरा बाह्यतप है - इसे वृत्तिसंक्षेप या वृत्तिपरिसंख्यान भी कहा जाता है। उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार आठ प्रकार के गोचराग्रों, सात प्रकार की एषणाओं तथा अन्य विविध अभिग्रहों के द्वारा भिक्षा ग्रहण करना भिक्षाचर्या तप है।^{१०९} क्षेत्र ऊणोदरी के छः प्रकारों में शंबूकावर्त के बाह्य एवं आभ्यन्तर इन दो भेदों को तथा आयतगत्वाप्रत्यागत्वा के दो भेदों को भिन्न-भिन्न मान लेने पर यहां गोचराग्र के आठ प्रकार कहे गये हैं। सात एषणायें निम्न हैं -

१. संसृष्टा २. असंसृष्टा ३. उद्धृता ४. अल्पलेपा ५. अवगृहिता ६. प्रगृहीता
और ७. उज्झितधर्मा।

१. संसृष्टा : खाद्य वस्तु से लिप्त हाथ या पात्र से देने पर भिक्षा लेना।
२. असंसृष्टा : भोजन से अलिप्त हाथ या पात्र से देने पर भिक्षा लेना।
३. उद्धृता : साधु के लिए एक पात्र से दूसरे पात्र में निकाला हुआ आहार लेना।
४. अल्पलेपा : अल्पलेप वाली अर्थात् घना चिउड़ा आदि रूखी वस्तु लेना।
५. अन्नगृहिता : खाने के लिए थाली में परोसा हुआ आहार लेना।
६. प्रगृहीता : परोसने के लिए कड़छी या चम्मच से निकला हुआ आहार लेना।
७. उज्झितधर्मा : जो भोजन अमनोज्ञ होने के कारण परित्याग करने योग्य हो, उसे लेना।

४. रसपरित्याग : दूध, दही, घी आदि प्रणीत/पौष्टिक आहार का त्याग रसपरित्याग तप है। यह स्वाद पर विजय प्राप्त करने की साधना है। इस तप से विषयाग्नि शान्त होती है और ब्रह्मचर्य के पालन में सहायता मिलती है। यही कारण है कि आचारांगसूत्र, उत्तराध्ययनसूत्र में मुनि को प्रणीत आहार के त्याग की प्रेरणा दी गई है।^{१०}

मूलाचार के अनुसार रसपरित्याग करने से तीन बातें फलित होती हैं—
१) सन्तोष की भावना; २) ब्रह्मचर्य की आराधना और ३) वैराग्य। रसपरित्याग को गांधीजी ने भी ग्यारह व्रतों में आस्वाद व्रत के रूप में स्वीकार किया था।^{११}

५. कायक्लेश : उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार सुखपूर्वक वहन करने योग्य वीरासन आदि आसन करना कायक्लेशतप है।^{१२} उत्तराध्ययनसूत्र की टीकाओं में आदि शब्द से गोदुह, गरुड़, लकुट, उत्कटुक आदि आसनों को भी ग्रहण किया गया है। साथ ही नेमिचन्द्राचार्य आदि टीकाकारों ने केशलुचन को भी कायक्लेश तप के

^{१०} उत्तराध्ययनसूत्र - १७, सूत्र ६/गाथा ७।

^{११} मूलाचार्यना - ३/२१५

^{१२} उत्तराध्ययनसूत्र - ३०/२७।

- (उद्धृत - उत्तराध्ययनसूत्र, भाग २, पृष्ठ-२४१)।

अन्तर्गत माना है।¹¹³ शुभकर्मों के बन्ध का तथा मोक्ष सुख का हेतु होने से इस तप को सुखावह कहा गया है। परन्तु यह तप सुखावह होते हुए भी इसका अनुष्ठान तो कठिन ही है; अतः इसका आचरण आत्मार्थी साधक द्वारा ही सम्भव है। इस तप से सहिष्णुता का विकास होता है, शारीरिक व्याधियों को समभाव से सहने की शक्ति मिलती है। इस प्रकार यह तप अप्रमत्तभाव की साधना है।

६. विविक्तशयनासन (प्रतिसंलीनता) : वर्तमान में प्रचलित प्रतिसंलीनता तप को उत्तराध्ययनसूत्र में विविक्तशयनासन के नाम से अभिहित किया गया है।¹¹⁴ तत्त्वार्थसूत्र में भी इसे विविक्तशयनासन ही कहा गया है।¹¹⁵ इसका लक्षण करते हुए कहा गया है कि एकान्त, अनापात, अर्थात् लोगों के आवागमन तथा स्त्री, पशु जीवादि से रहित स्थान पर शयन और आसन करना विविक्तशयनासन तप है। औपपातिकसूत्र में 'विविक्तशयनासन' को प्रतिसंलीनता का अवान्तर भेद माना गया है। इसके अनुसार प्रतिसंलीनता चार प्रकार की है¹¹⁶ :

१. इन्द्रियप्रतिसंलीनता : इन्द्रिय-विषयों के सेवन से बचना।
२. कषायसंलीनता : क्रोधादि की प्रवृत्तियों से बचना।
३. योगसंलीनता : मन, वाणी और शरीर की प्रवृत्तियों से बचना।
४. विविक्तशयनासन : एकान्त स्थान पर सोना या बैठना।

उत्तराध्ययनसूत्र में बाह्य तपों की गणना में इस तप को 'संलीनता' कहा गया है¹¹⁷ फिर भी विविक्तशयनासन को प्रमुखता देने के पीछे सूत्रकार का आशय यह है कि एकान्त स्थान में रहने से विषय-कषाय एवं राग-द्वेष को उत्पन्न करनेवाले बाह्य निमित्तों का योग न मिलने से आत्मा का उन से स्वतः बचाव हो जाता है। अतः विविक्तशयनासन के पालन में अन्य तीन प्रति संलीनताओं का पालन स्वतः हो जाता है। इसमें विविक्तशयनासन को प्रमुखता दी गई है। इससे उत्तराध्ययनसूत्र की प्राचीनता भी सिद्ध होती है। लेकिन वर्तमान में

११३ उत्तराध्ययनसूत्र टीका पत्र - ३०००

- (नीमेषन्द्राक्षर्य)।

११४ उत्तराध्ययनसूत्र - ३०/२८।

११५ तत्त्वार्थ सूत्र - ६/१६।

११६ औपपातिक सूत्र - ३७

- (उदयसुतपि, लाठनू खंड १, पृष्ठ २३)।

११७ उत्तराध्ययनसूत्र - ३०/८।

साधु-साध्वी जिन स्थानों पर रहते हैं वहां इन बाह्य निमित्तों की उपस्थिति रहती है। अतः आज अन्य तीन प्रतिसंलीनताओं की साधना भी अपेक्षित है।

आभ्यन्तर तप के छः प्रकार निम्न हैं-

१. प्रायश्चित्त :

उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार आलोचना आदि के द्वारा अपने पापों की शुद्धि करना प्रायश्चित्त तप है।^{११८}

प्राकृत भाषा में इसे 'पायच्छित्त' कहा गया है; उसका अर्थ है पाय अर्थात् पाप का जो छेदन करता है। इस प्रकार जो पाप को दूर करता है अथवा चित्त की जो प्रायः शुद्धि करता है उसे पायच्छित्त कहते हैं।^{११९} उत्तराध्ययनसूत्र में प्रायश्चित्त के दस प्रकारों का निर्देश तो है, किन्तु उनके अलग-अलग नाम नहीं दिये हैं जब कि भगवतीसूत्र, स्थानांगसूत्र, औपपातिकसूत्र तथा उत्तराध्ययनसूत्र की टीका के अनुसार प्रायश्चित्त के दस प्रकारों का नाम निर्देश भी निम्न रूप से प्राप्त होता है^{१२०} -

१. **आलोचना** : जिन पापों की शुद्धि आलोचना से हो जाये वे आलोचनार्ह कहलाते हैं। आलोचना का अर्थ अपराध या भूल को अपराध के रूप में स्वीकृत करके आचार्य आदि के समक्ष उसे प्रकट कर देना है। आलोचना का प्रतिफल बतलाते हुए उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि आलोचना से मोक्षमार्ग में विघ्नकारक तत्त्वों का नाश होता है, ऋजु (सरल) भाव की प्राप्ति होती है; स्त्रीवेद एवं नपुंसकवेद का बन्ध नहीं होता है तथा पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा होती है।

२. **प्रतिक्रमण** : साधना के क्षेत्र में हुए विचलन से पुनः वापस लौट आना तथा भविष्य में उन पापकर्मों से दूर रहने की सावधानी रखना प्रतिक्रमण है। दूसरे शब्दों में विभावदशा में गई हुई अपनी आत्मा को पुनः स्वभावदशा में स्थिर करना प्रतिक्रमण है। जैन दर्शन में प्रतिक्रमण का संक्षिप्त सूत्र "मिच्छामि दुक्कड्ढम" है अर्थात् मेरे दुष्कृत्य मिथ्या हों - ऐसा बोध होना। दूसरे शब्दों में अपनी भूल को सुधार कर पुनः उसे न करने की प्रतिज्ञा ही प्रतिक्रमण है।

११८ उत्तराध्ययनसूत्र - ३०/८।

११९ पंचांगक / ६/३।

१२० (क) स्थानांग

३. **तदुभय** : तदुभय से तात्पर्य है आलोचना तथा प्रतिक्रमण दोनों के द्वारा जिन पापों की शुद्धि होती हो वह तदुभयार्ह प्रायश्चित्त तप है। कुछ पाप ऐसे होते हैं जिनकी शुद्धि केवल आलोचना या केवल प्रतिक्रमण से नहीं होती है। अतः उन पापों की शुद्धि के लिये आलोचना एवं प्रतिक्रमण दोनों की आवश्यकता होती है। आलोचना का अर्थ है भूल को भूल के रूप में देखना और प्रतिक्रमण का अर्थ है उस भूल को सुधार कर पुनः सत्य मार्ग का अवलम्बन लेना।

४. **विवेक** : प्रमादवश या भूल से आई हुई अकल्पनीय वस्तु का बोध होने पर उसका त्याग करना विवेक प्रायश्चित्त है। दूसरे शब्दों में उचित और अनुचित की चेतना को सदैव ज़ागृत रखकर अनुचित का त्याग कर देना विवेक है।

५. **व्युत्सर्ग (कायोत्सर्ग)** : देहासक्ति को कम करने हेतु स्वयं को शुभ ध्यान में स्थिर करना व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त है। प्रायश्चित्त स्वरूप कायोत्सर्ग करना कायोत्सर्ग तप है। पण्डित सुखलालजी के अनुसार एकाग्रता पूर्वक शरीर आदि व्यापारों को छोड़ना व्युत्सर्ग है।

६. **तप** : अपराध या गलती होने पर आत्मशुद्धि के निमित्त उपवास आदि तप स्वीकार करना तप प्रायश्चित्त है अर्थात् कृत अपराध के प्रति दण्डस्वरूप तप करना तप प्रायश्चित्त है।

७. **छेद** : प्रायश्चित्त के सन्दर्भ में छेद का अर्थ दीक्षा पर्याय कम करना है। दूसरे शब्दों में असदाचरण में प्रवृत्त साधु की दीक्षापर्याय को कम कर देना, छेद प्रायश्चित्त है। इससे उस साधु की वरीयता कम हो जाती है अर्थात् उससे दीक्षापर्याय में छोटे साधु बड़े हो जाते हैं। इसमें दोष के अनुसार दिवस, पक्ष, मास से लेकर छः मास तक की अवधि को उसके संयम-काल में से कम कर दिया जाता है।

८. **मूल** : मूल प्रायश्चित्त में अपराधी साधु को पुनः दीक्षा दी जाती है अर्थात् उसे पुनः महाव्रतों में आरोपित करते हैं। दूसरे शब्दों में उसे नये सिर से

श्रमण जीवन का प्रारम्भ करना होता है। उसकी पूर्व दीक्षापर्याय सम्पूर्णतः समाप्त कर दी जाती है और उस दिन वह गण में सबसे छोटा हो जाता है।

६. **अनवस्थापना** : इस प्रायश्चित्त के अनुसार अपराधी साधु को कुछ समय तक आचार्य आदि के बताये अनुसार विशिष्ट तप करके संयम पालन की अपनी योग्यता को पुनः सिद्ध करना पड़ता है। आचार्य यदि उसे योग्य समझते हैं तो कुछ काल पश्चात् उसकी पुनः दीक्षा हो सकती है अन्यथा नहीं।

१०. **पाराचिक** : अपराध की अति हो जाने पर जब आचार्य अपराधी को संयम के अधोग्य जानते हैं तो उसे साधु संस्था से बहिष्कृत कर देते हैं। संक्षेप में अपराधी साधु को संघ से अलग कर देना पाराचिक प्रायश्चित्त है। यह अन्तिम प्रायश्चित्त है। ये प्रायश्चित्त दोषों के अनुसार उत्तरोत्तर कठिन हैं। यहां यह ध्यातव्य है कि प्रायश्चित्त दण्ड नहीं है; क्योंकि राजनीति में जो दण्ड दिया जाता है उसमें अपराधी को सामान्यतया अपराध के प्रति ग्लानि या पश्चाताप नहीं होता है। पुनश्च वह दण्ड को प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार भी नहीं करता है। किन्तु प्रायश्चित्त के क्षेत्र में सर्वप्रथम दोषी श्रमण स्वयं अपराधबोध को महसूस करता है और दण्ड को इतनी प्रसन्नता से स्वीकार करता है जैसे कोई कर्जदार अपना कर्ज चुकाकर प्रसन्नता का अनुभव करता है। गलती या दोष होना सामान्य मानव की प्रकृति है। अतः पूर्वकृत दोष का पश्चाताप कर भविष्य में अपराध का पुनरावर्तन न हो इसके लिये प्रायश्चित्त के नौ ही प्रकार का निरूपण है। उसमें पाराचिक का उल्लेख नहीं है, क्योंकि प्रायश्चित्त अपराधी द्वारा स्वयंस्वीकृत दण्ड है, जबकि पाराचिक संघ या आचार्य द्वारा आरोपित दण्ड है।

गुरुजन एवं वरिष्ठजन के प्रति सम्मान के भाव रखना, उनकी आज्ञा में चलना, विनयतप है। उत्तराध्ययनसूत्र में इसके पांच प्रकार वर्णित किये हैं¹²¹ :

१. अम्युत्थान : गुरु आदि बड़े जनों के आने पर खड़े होना ।
२. अंजलिकरण : गुरुजनों को हाथ जोड़कर सम्मान देना ।
३. आसन दान : बैठने के लिए उन्हें आसन प्रदान करना;
४. गुरुभक्ति : उनकी स्तुति करना और
५. भाव शुश्रूषा : गुरु की सेवा करना ।

३. वैयावृत्य :

वैयावृत्य का अर्थ सेवा शुश्रूषा करना होता है। उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार आचार्य आदि की आवश्यकता के अनुसार सेवा करना वैयावृत्य तप है।¹²² वैयावृत्य (सेवाव्रत) एक ही है पर सेव्य के आधार पर उत्तराध्ययनसूत्र की टीकाओं में इसके १० भेद किये गये हैं¹²³ - १) आचार्य २) उपाध्याय ३) स्थविर ४) तपस्वी ५) ग्लान ६) शैक्ष ७) साधर्मिक ८) कुल ९) गण और १०) संघ।

इन सब की सेवा करना साधु का कर्तव्य है। उत्तराध्ययनसूत्र में इसे कर्तव्य भी माना है और तप भी ।

४. स्वाध्याय :

उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार स्वाध्याय तप के पांच प्रकार हैं :

१. वाचना : सद्ग्रन्थों का अध्ययन/वाचन करना वाचना है।
२. पृच्छना : ज्ञान-प्राप्ति के लिए गुरु आदि ज्ञानीजनों से प्रश्न पूछना पृच्छना है।

१२१ उत्तराध्ययनसूत्र - ३०/३२ ।

१२२ उत्तराध्ययनसूत्र - ३०/३३ ।

१२३ (क) उत्तराध्ययनसूत्र टीका पत्र - ३००४

(ख) उत्तराध्ययनसूत्र टीका पत्र - ३००६

(ग) उत्तराध्ययनसूत्र टीका पत्र - ३०१२

- (शानप्रचार्य) ।

- (तन्वीयत्ताभगणि) ।

- (कर्मतंत्रयम उपाध्याय) ।

३. परावर्तना : अधीत ज्ञान को दोहराना या पुनरावर्तन करना परावर्तना है। तत्त्वार्थसूत्र में इसे 'आम्नाय' कहा गया है।
४. अनुप्रेक्षा : पठित / श्रवित ज्ञान का चिन्तन या मनन करना अनुप्रेक्षा है।
५. धर्मकथा : धर्म-उपदेश देना, सुनना, धर्मकथा है।

इनकी विस्तृत विवेचना के लिये इसी ग्रन्थ का ग्यारहवां अध्याय 'उत्तराध्ययनसूत्र का शिक्षादर्शन' द्रष्टव्य है।

५. ध्यान :

ध्यान को परिभाषित करते हुए उत्तराध्ययनसूत्र की बृहदवृत्ति में कहा गया है कि स्थिर अध्यवसाय अर्थात् विचारों की स्थिरता ध्यान है। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि मुनि आर्त्त व रौद्र ध्यान का त्याग करे तथा धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान में रत रहे। यही ध्यान तप है। इससे स्पष्टतः सिद्ध हो जाता है कि धर्मध्यान एवं शुक्लध्यान ही तप की श्रेणी में आते हैं; आर्त्तध्यान तथा रौद्रध्यान नहीं। ध्यान की विस्तृत विवेचना प्रस्तुत ग्रन्थ के बारहवें अध्याय 'उत्तराध्ययनसूत्र में प्रतिपादित मनोविज्ञान' में की गई है।

६. व्युत्सर्ग :

उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार व्युत्सर्गतप को आभ्यन्तर तप में छद्म स्थान दिया गया है, किन्तु तत्त्वार्थसूत्र में इसे पांचवां आभ्यन्तर तप माना गया है। व्युत्सर्ग शब्द 'वि' उपसर्गपूर्वक उत्सर्गशब्द से बना है। 'वि' अर्थात् विशिष्ट और उत्सर्ग अर्थात् त्याग है। इस प्रकार विशिष्ट त्याग व्युत्सर्ग है। देह (काया) हमारे ममत्व का घनीभूत केन्द्र है, उसके प्रति ममत्व का त्याग ही विशिष्ट त्याग है; अतः इसे कायोत्सर्ग भी कहते हैं। यह काया का नहीं काया के प्रति ममत्वभाव का त्याग है।

उत्तराध्ययनसूत्र की टीकाओं में व्युत्सर्ग के मुख्यतः १) द्रव्य (बाह्य) और २) भाव (आभ्यन्तर) ऐसे दो भेद किये गये हैं। पुनश्च द्रव्यव्युत्सर्ग के चार भेद

हैं -

१. कायव्युत्सर्ग : शरीर के प्रति आसक्ति को दूर करने के लिए, कुछ समय के लिए देह-चिन्ता से मुक्त होकर ध्यान करना कायव्युत्सर्ग है।
२. गणव्युत्सर्ग : साधना के प्रयोजन से गण (सामूहिकजीवन) को छोड़कर एकान्त में रहना या ध्यान आदि करना गणव्युत्सर्ग है।
३. उपधिव्युत्सर्ग : संयमयात्रा में सहायक उपकरण को उपधि कहते हैं। वस्त्र, पात्र आदि उपकरणों का त्याग करना, कम करना। यदि उनमें भी आसक्ति हो तो उनका भी त्याग करना उपधिव्युत्सर्ग है।
४. भक्तव्युत्सर्ग : आहारपानी का त्याग या आहार के प्रति आसक्ति का त्याग करना भक्तव्युत्सर्ग है।

भाव (आभ्यन्तर) व्युत्सर्ग तीन प्रकार का है :

१. कषायव्युत्सर्ग : क्रोध, मान, माया और लोभ का त्याग, करना कषाय व्युत्सर्ग है।
२. संसारव्युत्सर्ग : संसार के मूल राग-द्वेष रूपी भावों का त्याग करना संसार व्युत्सर्ग है।
३. कर्मव्युत्सर्ग : कर्म आश्रव बन्ध का कारण है और आश्रव का कारण मानसिक, वाचिक एवं कायिक क्रियाएँ या योग हैं। अतः अपनी योगिक प्रवृत्ति को रोकना कर्मव्युत्सर्ग है। इससे आत्मा में कर्मबन्ध नहीं होता है।

उत्तगन्ध्ययनसूत्र में व्युत्सर्ग के कायव्युत्सर्ग भेद को प्रमुखता देते हुए कहा गया है कि सोते, बैठते या खड़े रहते अपने शरीर के व्यापारों का त्याग करना, यह काया का व्युत्सर्ग है। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में व्युत्सर्गतप के लिये कायोत्सर्ग शब्द ही प्रयुक्त होता है।

उत्तराध्ययनसूत्र में कायोत्सर्ग को प्रधानता देने का कारण यही प्रतीत होता है कि व्यक्ति की सबसे बड़ी आसक्ति काया के प्रति होती है। उसके प्रति उदासीनता (निर्ममत्व) हो जाने पर अन्य आसक्तियाँ सहज टूट जाती हैं। अतः कायोत्सर्ग के साधक को व्युत्सर्गतप के अन्य भेद भी सहज सिद्ध हो जाते हैं।

जैन दर्शन में कायोत्सर्ग एक विशिष्ट प्रकार की साधना पद्धति है। साधक के जीवन में इसका विशिष्ट स्थान है। यही कारण है कि इसकी गणना तप में प्रायश्चित्त तथा षट् आवश्यक में भी की गयी है। साधु के दैनिक जीवन में अनेक बार कायोत्सर्ग करना होता है ताकि देह के प्रति निर्ममत्व का भाव सदैव जागृत रहे। कायोत्सर्ग का फल प्रतिपादित करते हुए उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि कायोत्सर्ग से जीव प्रायश्चित्त योग्य अतिचारों की विशुद्धि कर भार हटा देने वाले भारवाहक की तरह सुख का अनुभव करता है। कायोत्सर्ग से जीव की मनोभूमिका प्रशस्त या शुभ बनती है।

इसीलिये उत्तराध्ययनसूत्र के छब्बीसवें अध्ययन में कायोत्सर्ग को दुःखनिवारक भी कहा गया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कायोत्सर्ग से चित्त की विशुद्धि, हृदय की प्रसन्नता तथा प्रशस्त भावों की प्राप्ति होती है। प्रकारान्तर से आवश्यकनिर्युक्ति में भी कायोत्सर्ग के निम्न फल बतलाये गये हैं -

१. देहजाड्य शुद्धि : कायोत्सर्ग में शरीर को शिथिल किया जाता है, जिससे शरीर हल्का होता है। अतः शरीर का मोटापा कम होता है। शरीर से मोटापा दूर होने पर उसमें लोच आता है। फलतः हड्डियाँ भी कम टूटती हैं।

२. मतिजाड्य शुद्धि : कायोत्सर्ग में मन की एकाग्रता होने से बौद्धिक जड़ता दूर होती है।

३. सुख-दुःख तितिक्षा : कायोत्सर्ग से सुख-दुःख को सहन करने की क्षमता का विकास होता है।

४. अनुप्रेक्षा : शरीर का मोटापा दूर होने पर और चित्त के एकाग्र होने से चिन्तन-मनन सहज हो जाता है।

५. ध्यान : कायोत्सर्ग से शुभ ध्यान का लाभ होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कायोत्सर्ग तप की एक विशिष्ट प्रक्रिया है। संक्षेप में कहें तो इससे देहजाड्य और मतिजाड्य दूर होता है। फलतः कायोत्सर्ग का साधक ही अन्य सभी तप, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान, अनशन आदि की साधना पूर्ण रूप से कर सकता है। तप के इन बारह प्रकारों का केवल वैयक्तिक जीवन के लिये ही नहीं वरन् समाज के लिए भी महत्त्व है।

कई विचारक तप को स्वपीडन मानकर उसकी आलोचना भी करते हैं लेकिन जिस तप में समत्व की साधना नहीं, देह-आत्मा का भेदज्ञान नहीं, ऐसा देहदण्ड रूप तप जैन साधना को मान्य नहीं है। तप ज्ञान से समन्वित होना चाहिये। इसे स्पष्ट करते हुए उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि जो अज्ञानीजन मास-मास की तपश्चर्या करके उसकी समाप्ति पर कुशाग्र जितना अत्यल्प आहार करते हैं वे भी ज्ञानी की सोलहवीं कला के बराबर भी धर्म का आचरण नहीं करते हैं। यही बात इन्हीं शब्दों में धम्मपद में भी कही गई है। भगवान् पार्श्वनाथ ने भी कमठ के अज्ञानजनित तप को अनुचित बताया था। तप को मात्र देहदंडन मानना बहुत बड़ा भ्रम है। उपवास, कायक्लेश आदि तप देहदण्ड नहीं, वह देह को साधने की प्रक्रिया है जिससे हर परिस्थिति में व्यक्ति सम रह सके। यह कष्टसहिष्णुता का अभ्यास आध्यात्मिक प्रगति की आधारशिला है। जैन दर्शन के अनुसार तपस्या का मुख्य प्रयोजन तो आत्म शुद्धि है जैसे घृत की शुद्धि के लिए घी के साथ पात्र भी गर्म होता है पर उसका प्रयोजन घी को तपाना ही होता है, पात्र को तपाना नहीं। उसी प्रकार तपस्या का प्रयोजन आत्मशुद्धि हेतु आत्मविकारों को

तपना है, न कि शरीर को। तप मन की मलिनता को दूर करता है; तप वही है जिसमें मन अमंगल का चिन्तन न करें।

इस प्रकार उत्तराध्ययनसूत्र में चतुर्विध मोक्षमार्ग का व्यापक रूप से विवेचन किया गया है।

अध्याय - १०

उत्तराध्ययनसूत्र में
प्रतिपादित श्रमणचार



उत्तराध्ययनसूत्र में प्रतिपादित श्रमणाचार

भारतीय संस्कृति जहां वैदिक-संस्कृति जहां गृहस्थाश्रम को अधिक महत्त्व प्रदान करती है, वहीं श्रमण-संस्कृति श्रमण धर्म को प्रमुखता देती है, यद्यपि बाद में श्रमण संस्कृति के प्रभाव से ब्राह्मण संस्कृति ने भी श्रमण-जीवन के महत्त्व को स्वीकार तो किया है तथापि उसमें महत्ता गृहस्थाश्रम की ही बनी रही। श्रमण संस्कृति में प्रारम्भ से ही श्रमण जीवन का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। जैन परम्परा, श्रमण परम्परा है। अतः इसमें श्रमण जीवन को ही प्रधान माना गया है। इसमें गृहस्थाश्रम में रहने वाला गृहस्थ श्रावक भी व्रतों को ग्रहण करते समय इस सत्य को स्वीकार करता है कि मैं श्रमणधर्म को स्वीकार करने में असमर्थ हूँ। अतः मैं श्रावक के द्वादशव्रतों को ग्रहण कर रहा हूँ।

उत्तराध्ययनसूत्र के तेरहवें अध्ययन में चित्रमुनि संभूति राजा को सर्वप्रथम श्रमणजीवन अंगीकार करने की ही प्रेरणा देते हैं, फिर बाद में उसकी असमर्थता को जानकर उसे आर्यकर्म अर्थात् गृहस्थ जीवन का उपदेश देते हैं।¹ उत्तराध्ययनसूत्र के नवमें अध्ययन में यह उल्लेख आता है कि छद्मवेशधारी इन्द्र ने जब नमिराजर्षि को गृहस्थ जीवन में रहने के लिए प्रेरित किया तथा यह कहा: 'राजर्षि ! पहले गृहस्थ जीवन के कर्तव्य का निर्याह कर फिर तुम श्रमण हो जाना' तो उसके उत्तर में नमिराजर्षि ने कहा: 'जो मानव प्रतिभास दस लाख गायें दान देता है उसके लिए भी उस दान की अपेक्षा संयम जीवन ही श्रेष्ठ है क्योंकि संयमी व्यक्ति प्राणी मात्र को सर्वश्रेष्ठ दान - अभयदान - देता है'² इससे यह प्रतिफलित होता है कि जैनपरम्परा में श्रमण जीवन का अत्यधिक महत्त्व रहा है। यह श्रेष्ठता व्यक्ति की नहीं, साधना की है, उसके संयमी जीवन की है। यही कारण है कि श्रमण जीवन में ज्येष्ठता एवं कनिष्ठता का निर्धारण भी संयमी जीवन के आधार पर ही होता है। उदाहरण के रूप में एक २० वर्ष की वय के

१ उत्तराध्ययनसूत्र - १३/३२ ।

२ उत्तराध्ययनसूत्र - ६/४४ ।

व्यक्ति की दीक्षा पहले हुई हो और उसके पश्चात् किसी ५०-६० वर्ष की वय वाले व्यक्ति ने संयम ग्रहण किया हो तो वह पूर्व में दीक्षित २० वर्ष की वय वाला युवा मुनि ही ज्येष्ठ माना जायेगा और परवर्ती काल में दीक्षित वृद्ध मुनि के लिए वन्दनीय होगा ।

साधनात्मक जीवन के लिए अनुकूल वातावरण की अत्यन्त आवश्यकता होती है । इसके लिए गृहवास का त्याग करके, वेश परिवर्तन करमा आवश्यक है यद्यपि जैन दर्शन में वेशपरिवर्तन की अपेक्षा आन्तरिक विशुद्धि को महत्त्वपूर्ण माना गया है, फिर भी व्यवहार के क्षेत्र में वेश का भी महत्त्व है। उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार पूर्ण आत्मविशुद्धि होने पर गृहस्थ या अन्य किसी परम्परा के मुनिवेश से मुक्ति संभव है। इसमें गृहस्थ को भी सिद्धि का अधिकारी माना गया है। परन्तु आत्मविशुद्धि हेतु बाह्य परिवेश की भी शुद्धि आवश्यक है। जैनपरम्परा में उपादान कारण के महत्त्व के साथ-साथ निमित्त कारण को भी महत्त्वपूर्ण माना गया है। उचित परिवेश के अभाव में साधक का पतन हो सकता है, वह भटक सकता है। एतदर्थ आगम साहित्य में साधक के लिये प्रारम्भ में संघीय जीवन में रहकर साधना करना आवश्यक माना गया है।

उत्तराध्ययनसूत्र में साधक को अत्यधिक जागरूक रहकर साधना करने की तथा अधिक से अधिक सद्गुणों को अपनाने की प्रेरणा दी गई है।^३ जैन श्रमण का उद्देश्य विभाव से हटकर स्वभाव में रमण करना है। वस्तुतः श्रमण वासनात्मक जीवन से ऊपर उठकर विवेकपूर्ण जीवन जीता है। श्रमण जीवन का तात्पर्य श्रमण शब्द को विश्लेषित करने पर स्पष्ट हो जाता है। श्रमण शब्द के स्थान पर समन एवं शमन शब्द का भी प्रयोग मिलता है। इन तीनों के अर्थ निम्न हैं :

१. **श्रमण** : श्रम शब्द पुरुषार्थ का वाचक है अर्थात् जो अपने विकारों और वासनाओं को दूर करने का प्रयत्न (श्रम) करता है उसे श्रमण कहते हैं। दूसरे शब्दों में जो आत्मविशुद्धि की दिशा में प्रयत्नशील रहता है, वह श्रमण है।

२. **समन** : समन शब्द का अर्थ है जो समभाव में रहता है, वह समन है। वस्तुतः जो सभी प्राणियों को अपने समान समझता है और अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों में समभाव रखता है, वह समन है।

३. शमन : शम् का अर्थ है शांत करना । अतः जो अपने आवेशों एवं आवेगों को शांत या नियन्त्रित करता है, वह शमन है।

इस प्रकार श्रमण संघ एक पवित्र संस्था है। इसमें प्रविष्ट होने वाले साधक को अनेक नियमों एवं मर्यादाओं का पालन करना होता है। जहां तक संयमी जीवन में प्रवेश करने की पात्रता का प्रश्न है इस सन्दर्भ में उत्तराध्ययनसूत्र का दृष्टिकोण उदार है। इसके अनुसार श्रमण जीवन का प्रवेश द्वार प्रत्येक जाति एवं वर्ण के व्यक्ति के लिए खुला है। इसकी पुष्टि उत्तराध्ययनसूत्र के हरिकेशीय नामक अध्ययन से होती है जहां एक चांडाल कुल में उत्पन्न व्यक्ति भी श्रमण जीवन को स्वीकार करता है। कालान्तर में श्रमण जीवन को स्वीकार करने वाले व्यक्ति की कुछ योग्यतायें निर्धारित की गईं। धर्मसंग्रह में उन योग्यताओं का उल्लेख निम्न रूप में प्राप्त होता है^४ -

१. आर्यदेश समुत्पन्न २. शुद्धजाति कुलान्वित ३. क्षीणप्रायःशुभकर्मा
४. निर्मल बुद्धिसम्पन्न ५. विज्ञान संसार नैर्गुण्य ६. विरक्त ७. मंदकषायी
८. अल्पहास्यादि वाला ९. कृतज्ञ १०. विनीत ११. राजसम्मत १२. अद्रोही
१३. सुंदर, सुगठित एवं पूर्ण शरीर वाला १४. श्रद्धावान १५. स्थिर विचार वाला
१६. समर्पण पूर्वक स्वेच्छा से संयम ग्रहण करने के लिए तत्पर ।

उत्तराध्ययनसूत्र में संयमी जीवन के अधिकारी का वर्णन पूर्वोक्त रूप से नहीं मिलता है फिर भी इसके 'सन्निधुक' एवं 'पापश्रमणीय' अध्ययन में श्रमण जीवन के योग्य पात्र का सुव्यवस्थित स्वरूप स्पष्ट हो जाता है।^५ यहां विशेष रूप से ज्ञातव्य यह है कि इसमें निर्धारित श्रमण जीवन की योग्यता जाति पर आधारित न होकर गुणों पर आधारित है।

१०.१ चातुर्याम और पंचमहाव्रत

उत्तराध्ययनसूत्र के तेईसवें अध्ययन में यह उल्लेख आता है कि भगवान् पार्श्वनाथ ने चातुर्याम धर्म का तथा भगवान् महावीर ने पंचमहाव्रतात्मक धर्म का प्रतिपादन किया था।^६ इसमें चातुर्यामों का नाम एवं विस्तृत उल्लेख पृथक् रूप

४ धर्मसंग्रह - तृतीय भाग, ३/७२ से ७७ ।

५ उत्तराध्ययनसूत्र - अध्ययन १५, १७।

६ उत्तराध्ययनसूत्र - २३/२३ ।

प्राप्त नहीं होता है। उत्तराध्ययनसूत्र की टीका में चातुर्यामों के नामों में अहिंसा सत्य, अचौर्य तथा अपरिग्रह का उल्लेख मिलता है।^७ स्थानांगसूत्र के अनुसार चातुर्याम निम्न हैं— १. सर्वप्राणातिपात विरमण २. सर्वमृषावाद विरमण ३. सर्वअदत्तादान विरमण और ४. सर्व बहिद्धादाण (परिग्रह) विरमण।

आचार्य अभयदेवसूरि ने बहिद्धादाण का अर्थ 'परिग्रह' किया है; उन्होंने परिग्रह के त्याग में अब्रह्म का त्याग भी इष्ट बताया है। वस्तुतः बहिद्धादाण का शाब्दिक अर्थ बाह्य वस्तु के ग्रहण का त्याग है। चूँकि स्त्री भी बाह्य वस्तु है अतः उसका त्याग भी आवश्यक है एवं स्त्री के त्याग में ब्रह्मचर्य के पालन का भी संकेत है। भगवान् पार्श्वनाथ की इस चातुर्याम व्यवस्था के स्थान पर भगवान् महावीर ने ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को अलग-अलग करके निम्न पंच महाव्रत के पालन का विधान किया है—१. अहिंसा २. सत्य ३. अचौर्य ४. ब्रह्मचर्य और ५. अपरिग्रह।

यहां यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि एक ही परम्परा के सिद्धान्तों में यह चातुर्याम और पंचमहाव्रत का अन्तर क्यों? उत्तराध्ययनसूत्र में भी यह उल्लेख प्राप्त होता है कि भगवान् पार्श्व की परम्परा के आचार्य केशीश्रमण तथा भगवान् महावीर के प्रथम गणधर गौतम स्वामी का जब अपने शिष्यों के साथ श्रावस्ती नगर में आगमन हुआ तब उनके शिष्यों को यह सन्देह उत्पन्न हुआ कि एक ही प्रयोजन को लेकर चलने वाले हम लोगो की आचार पद्धति में भिन्नता क्यों है? शिष्यों के सन्देह का निवारण करने हेतु आचार्य केशीश्रमण गौतमस्वामी से पूछते हैं कि भगवान् पार्श्व ने चातुर्याम रूप धर्म का प्रवर्तन किया जबकि भगवान् महावीर ने पंचमहाव्रत रूप धर्म का उपदेश दिया; ऐसा क्यों?

इस प्रश्न के प्रत्युत्तर में गौतमस्वामी ने कहा कि यथार्थ में चातुर्याम और पंचमहाव्रत में कोई अन्तर नहीं है। केवल वर्तमान युग की ज्ञान क्षमता और स्वभावगत विचित्रता को देखकर भगवान् महावीर ने चातुर्याम के स्थान पर पंच महाव्रत रूप धर्म का विधान किया। गौतमस्वामी ने जीवों की प्रकृति का कालगत विभाजन करते हुए यह भी कहा है कि प्रथम तीर्थंकर के काल के मनुष्य ऋजुजड़ होते थे, अंतिम तीर्थंकर के काल के मनुष्य

७ उत्तराध्ययनसूत्रटीका - पत्र ५०२
८ स्थानांग - ५/१३१

- (शान्ध्यावर्ष)।
- (अंगसुत्तानि, ताडनू, खण्ड १, पृष्ठ ६०६)।

वक्रजड़ होते हैं तथा मध्य के बाईस तीर्थकरों के काल के मनुष्य ऋजुप्राज्ञ होते थे। अतः उनकी प्रकृति को लक्ष्य में रखकर इन दो प्रकार के धर्मों का विधान किया गया।⁹

प्रथम तीर्थकर के साधुओं के लिये आचारविधि का यथावत् ग्रहण करना अर्थात् उसको समझना कठिन था। भगवान महावीर के साधुओं के लिए आचार विधि का यथावत् पालन दुष्कर है तथा बाईस तीर्थकरों के साधु आचार विधि को यथावत् ग्रहण कर लेते थे तथा उसका पालन भी वे सरलता से करते थे। भगवान पार्व ने अब्रह्म को परिग्रह के अन्तर्गत माना था। किन्तु उनके निर्वाण के पश्चात् कुछ साधु कुतर्क के आधार पर मैथुन का समर्थन करने लगे उनका कहना था कि भगवान पार्वनाथ ने स्त्री को रखने का निषेध किया है, उसके भोग का निषेध नहीं किया है। सूत्रकृतांग में हमें उनके इस कुतर्क की सूचना प्राप्त होती है।¹⁰ अतः उनके कुतर्क का निवारण करने के लिए भगवान महावीर ने स्पष्टतः ब्रह्मचर्य महाव्रत की विशेष व्यवस्था दी।

अहिंसा -- महाव्रत

अहिंसा सर्वश्रेष्ठ धर्म है। जैन श्रमण का अहिंसा व्रत महाव्रत कहलाता है। इसके लिए जैन शास्त्रों में 'सव्याओ पाणाइवायाओ वेरमणं' शब्दों का प्रयोग किया जाता है¹¹, अर्थात् हिंसा से पूर्णतः विरत होना है। इसी की व्याख्या करते हुये उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है - 'मन, वचन एवं काया तथा कृत, कारित एवं अनुमोदित रूप से किसी भी परिस्थिति में त्रस एवं स्थावर जीवों को दुःखित न करना अहिंसा महाव्रत है'¹² मन से किसी को कष्ट पहुंचाने का विचार करना तथा किसी दूसरे के द्वारा किसी जीव को कष्ट पहुंचाने पर उसका समर्थन करना भी हिंसा है।

उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि जो हिंसा की अनुमोदना करते हैं वे भी दुःखों से मुक्त नहीं हो सकते।¹³ अहिंसा का शाब्दिक अर्थ करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि हिंसा न करना अहिंसा है चूंकि अहिंसा के साथ निषेधात्मक 'अ'

९ उत्तराध्ययनसूत्र - २३/२६ ।

१० सूत्रकृतांग १/३/६६/७०

११ स्थानांग - ४/१३१

१२ उत्तराध्ययनसूत्र - ८/१० ।

१३ उत्तराध्ययनसूत्र - ८/८ ।

- (अणसुताणि, लाडनू, खण्ड १, पृष्ठ २८५) ।

- (लाडनू) ।

शब्द जुड़ा हुआ है किन्तु जैनदर्शन में अहिंसा के सकारात्मक एवं नकारात्मक दोनों पक्षों को स्वीकार किया गया है ।

उत्तराध्ययनसूत्र के अनुशीलन से यह स्पष्ट फलित हो जाता है कि अहिंसा न तो एकान्त निषेधरूप है और न ही एकान्त विधिरूप । इसमें जहाँ एक ओर 'न हणे पाणिणो पाणे भयवेराओ उवरए' 'न य वित्तासाए परं' आदि सूत्र के द्वारा निवृत्तिपरक अहिंसा के स्वरूप का दिग्दर्शन होता है¹⁴ तो दूसरी ओर 'मेत्तिं भूएसु कप्पए,' 'हिय निस्सेसाए सब्बजीवाणं' आदि सूत्रों के द्वारा अहिंसा का प्रवृत्तिपरक स्वरूप उजागर होता है।¹⁵

(अहिंसा का मुख्य तात्पर्य स्व और पर की हिंसा से विरत होना है। क्रोध, मान, माया, लोभ आदि दूषित मनोवृत्तियों के द्वारा आत्मा के स्वगुणों का नाश करना स्वहिंसा है तथा दूसरे प्राणियों को कष्ट, पीड़ा आदि पहुंचाना परहिंसा है।

उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार श्रमण के लिए स्व एवं पर दोनों हिंसा से विरत होना आवश्यक है। वस्तुतः स्वहिंसा से विरत हुए बिना परहिंसा से विरत होना सम्भव नहीं है। क्योंकि दूसरों की हिंसा में आत्मगुणों का हनन अवश्यभावी है। कहा गया है— 'प्रमत्त योगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा' — अतः मूल में प्रमाद को हिंसा का मूल कारण माना है।)

अहिंसा व्रत का पालन श्रमण एवं गृहस्थ दोनों के लिये अनिवार्य है । फिर भी, इन दोनों के द्वारा आचरित अहिंसा के विधान में मुख्य अंतर यह है कि जहाँ गृहस्थ साधक केवल त्रस प्राणियों की संकल्पी हिंसा से विरत होता है वहीं श्रमण त्रस एवं स्थावर सभी जीवों की सभी प्रकार की हिंसा का त्यागी होता है।

हिंसा के चार प्रकार हैं— १. संकल्पी हिंसा २. आरंभी हिंसा ३. उद्योगी हिंसा और ४. विरोधी हिंसा । इनमें गृहस्थ को संकल्पी हिंसा से बचने का निर्देश दिया गया है। क्योंकि गृहस्थ जीवन में आरंभी, उद्योगी एवं विरोधी हिंसा से बचना शक्य नहीं है।

उत्तराध्ययनसूत्र में श्रमण के लिए संकल्पी हिंसा के त्याग का तो स्पष्टतः विधान किया ही है साथ ही आरंभी हिंसा का निषेध करते हुए इसके पैतीसवें 'अणगारमार्गगति' अध्ययन में कहा गया है कि भिक्षु गृहकर्म के समारंभ का

१४ उत्तराध्ययनसूत्र - ६/६; २/२० ।

१५ उत्तराध्ययनसूत्र - ६/२; ८/३ ।

परित्याग करे क्योंकि गृहकर्म के समारंभ में त्रस और स्थायर तथा सूक्ष्म और बादर जीवों का वध होता है। इसी प्रकार इसमें भिक्षु को भक्त-पान के पकाने और पकवाने तथा अग्नि जलाने का भी निषेध किया है क्योंकि उसमें षट्काय के जीवों की हिंसा होती है। आगे औद्योगिकी हिंसा का निषेध करते हुए इसमें कहा गया है कि क्रय-विक्रय में महान् दोष है; श्रमण के लिये भिक्षावृत्ति सुखावह है।^{१६}

श्रमण को विरोधी हिंसा से विमुख होने के लिये भी उत्तराध्ययनसूत्र में अनेक स्थलों पर निर्देश दिये गये हैं। यथा, भिक्षु दारुण या अप्रिय वचन सुनने पर भी उसका प्रतिकार न करे; यहां तक कि मारे-पीटे जाने पर मन से भी क्रोध न करे; और क्षमा को धारण करे। ब्राह्मण कुमारों के द्वारा बेंत, चाबुक एवं दंडे से पीटे जाने पर भी हरिकेशी मुनि ने उनका विरोध नहीं किया तथा उस उपसर्ग को समभाव से धारण किया।^{१७}

अहिंसा का महत्त्व

अहिंसा भारतीय संस्कृति का प्राण है। वैदिक संस्कृति में भी अहिंसा परमो धर्म; कहकर इसे सर्वश्रेष्ठ धर्म प्रतिपादित किया है। यही सत्य जैनागम दशवैकालिकसूत्र में भी अनुगुजित होता है। धम्मो मंगलमुक्कित्ठं अहिंसा संजमो तवो अर्थात् अहिंसा, संयम और तप रूप धर्म ही उत्कृष्ट मंगल है।^{१८} वस्तुतः संयम एवं तप भी अहिंसा की भावना से अनुप्राणित होने पर ही उत्कृष्ट कहे जा सकते हैं। विवशता एवं अभाव की स्थिति में रखा गया संयम एवं किया गया तप मंगल या उत्कृष्ट नहीं हो सकता है।

अहिंसा के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुये प्रश्नव्याकरणसूत्र में कहा गया है अहिंसा भगवती है जो भयग्रस्त के लिए शरण तुल्य, पक्षियों के लिए गगन तुल्य, प्यासों के लिए जल तुल्य, भूखों के लिए अशन तुल्य, समुद्र में डूबते हुए के लिए जहाज तुल्य, बीमारों के लिए औषध तुल्य है। इन सब विशिष्टताओं से

१६ उत्तराध्ययनसूत्र - ३५/८ से १५।

१७ उत्तराध्ययनसूत्र - २/२५, २६; १२/१६, ३२।

१८ दशवैकालिक - १/१।

सुशोभित हुई अहिंसा त्रस और स्थावर सकल जीवों के लिए क्षेम और कल्याण करने वाली है।¹⁹

अहिंसा महाव्रत की भावनायें

आचारांग, समवायांग एवं प्रश्नव्याकरणसूत्र में अहिंसाव्रत की पांच भावनाओं का उल्लेख मिलता है।²⁰ आचारांग, समवायांग के अनुसार इनके नाम निम्न हैं : १. ईर्यासमिति २. मनोगुप्ति ३. वचनगुप्ति ४. आलोकित पान भोजन और ५. आदान भाण्ड मात्र निक्षेपण समिति तथा प्रश्नव्याकरण सूत्र के अनुसार इनके नाम निम्न हैं - १. ईर्यासमिति २. मनः समिति ३. भाषा समिति ४. एषणा समिति और ५. आदान निक्षेपण समिति।

सत्य महाव्रत

उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार क्रोध, हास्य, लोभ अथवा भय के कारणों के उपस्थित होने पर भी असत्य वचन नहीं बोलना सत्य महाव्रत है,²¹ साथ ही इसमें सत्य का निवृत्ति-प्रवृत्तिमूलक स्वरूप प्रतिपादन करते हुए कहा गया है : 'सदा अप्रमत्त भाव से मृषावाद का त्याग करना चाहिये तथा हर क्षण सावधान रहते हुए हितकारी एवं सत्य वचन बोलना चाहिये।'²²

सामान्यतः सत्य कथन का अभिप्राय बात का ज्यों का त्यों कहना है किन्तु जैन दर्शन में सत्य का स्वरूप अहिंसा पर आधारित है। दूसरी ओर सत्यानुभूति के अनुरूप आचरण ही अहिंसा है। वस्तुतः अहिंसा एवं सत्य परस्पर सापेक्ष या पूरक है। दूसरे शब्दों में सत्य का आधार अहिंसा है तथा अहिंसा को वाचिक स्तर पर पूर्णता प्रदान करने वाला तत्त्व सत्य है। अहिंसा की रक्षा के लिए यह आवश्यक है कि हम किसी के प्रति अप्रिय वचन न बोले क्योंकि कठोर एवं अप्रिय वाणी हृदय में व्यथा उत्पन्न करती है, अतः हिंसाकारक है।

१९ प्रश्नव्याकरण - ६/१/३

२० (क) आचारांग - २/१५/४४ से ४६

(ख) समवायांग - २५/१

(ग) प्रश्नव्याकरण - ६/१/१६

२१ उत्तराध्ययनसूत्र - २५/२४।

२२ उत्तराध्ययनसूत्र - १/२४, २५।

- (अंगसुत्ताणि, लाठनू, खण्ड ३, पृष्ठ ६८३)।

- (अंगसुत्ताणि, लाठनू, खण्ड १, पृष्ठ २४२ से ४३)।

- (अंगसुत्ताणि, लाठनू, खण्ड ३, पृष्ठ ८६२)।

- (अंगसुत्ताणि, लाठनू, खण्ड ३, पृष्ठ ६८६)।

उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि सत्य महाव्रती को असत्य वचन नहीं बोलना चाहिये। इसमें साधु को सावध अर्थात् ऐसे शब्द जो हिंसा के अनुमोदक हैं एवं निश्चयकारी वचन, जिसके अन्यथा होने की संभावना हो, बोलने का भी निषेध किया गया है; जैसे यह अच्छी तरह से काटा गया है; पकाया है;²³ ऐसी सावध वाणी साधु को नहीं बोलना चाहिये क्योंकि ये वचन भोजन के प्रति राग भाव को पुष्ट करते हैं अतः इसमें स्वहिंसा है। तथा भोजन पकाने की हिंसाकारक क्रिया का अनुमोदन है अतः इसमें परहिंसा है। इसी प्रकार साधु को 'आज मैं यह कार्य अवश्य कर लूंगा' तथा अवश्य ही ऐसा होगा इस प्रकार की निश्चयात्मक भाषा भी नहीं बोलनी चाहिये।²⁴

उत्तराध्ययनसूत्र, दशवैकालिकसूत्र आदि में भाषा के चार प्रकार प्रतिपादित किये गये हैं²⁵ - 1. सत्य भाषा, 2. असत्य भाषा 3. सत्यमृषा भाषा 4. व्यवहार भाषा। इनमें असत्य और सत्यमृषा भाषा का प्रयोग मुनि को नहीं करना चाहिये तथा सत्य भाषा और व्यवहार भाषा का प्रयोग देश-काल एवं परिस्थिति के अनुसार करना चाहिये। यही नहीं, सत्य भी यदि हिंसा का जनक है तो उसे भी नहीं बोलना चाहिये। भाषा के इन चार प्रकारों का विस्तृत विवेचन मनगुप्ति के सन्दर्भ में किया गया है।

उत्तराध्ययनसूत्र में सत्य के तीन प्रकारों का वर्णन किया गया है - १. भावसत्य २. करणसत्य और ३. योगसत्य। डॉ. सुदर्शनलाल जैन ने इनका सम्बन्ध उत्तराध्ययनसूत्र सूत्र में उल्लेखित १. सरंभ - (मन में बोलने का संकल्प) २. समारंभ - (बोलने का प्रयत्न) और ३. आरंभ - (बोलने की क्रिया) के साथ जोड़ते हुए लिखा है कि मन में सत्य बोलने का संकल्प करना भावसत्य, सत्य बोलने का प्रयत्न करना करण सत्य और सत्य बोलना योगसत्य है।²⁶ उत्तराध्ययनसूत्र के उनतीसवें अध्ययन में भावसत्य आदि का फल निम्न रूप से प्रतिपादित किया गया है²⁷ -

११ उत्तराध्ययनसूत्र - १/३६।

१४ उत्तराध्ययनसूत्र - १/३६, २४; २४/२०।

१५ (क) उत्तराध्ययनसूत्र - २४/२२;

(ख) दशवैकालिक - ७/२, ३।

२६ उत्तराध्ययनसूत्र एक परिशीलन - पृष्ठ २६५।

२७ उत्तराध्ययनसूत्र - २६/१०, ५१, ५२।

१) भावसत्य :

भाव सत्य से साधक के अन्तःकरण की विशुद्धि होती है तथा वह शुद्ध धर्म का आचरण कर इस जन्म एवं आगामी जन्म को सफल बना लेता है।

२) करणसत्य :

करण सत्य से साधक सत्यपूत आचरण करता है। वह जैसा कहत है वैसा ही करता है अर्थात् उसकी कथनी एवं करनी में एकरूपता होती है।

३) योगसत्य :

योगसत्य से योग की विशुद्धि होती है अर्थात् इसमें साधक मन, वचन एवं काया से सत्य का पालन करता है।

प्रज्ञापनासूत्र में सत्य वचन के दस भेद किये हैं^{२९}—

१. जनपद सत्य २. सम्मत सत्य ३. स्थापना सत्य ४. नाम सत्य ५. रूप सत्य ६. प्रतीत्य सत्य ७. व्यवहार सत्य ८. भाव सत्य ९. योग सत्य और १०. औपम्य सत्य।

दशवैकालिकसूत्र में तो यहां तक कहा गया है सत्य होने पर भी काने को काना, रोगी को रोगी, नपुंसक को नपुंसक, चोर को चोर नहीं कहना चाहिये। इसी प्रकार 'रे' 'तु' आदि अनादर सूचक शब्दों का प्रयोग भी नहीं करना चाहिये^{३०} तीर्थंकर एवं आचार्य आदि भी सामान्य जन के लिये देवानुप्रिय, आयुष्मान, सौम्य आदि सम्मान सूचक शब्दों का प्रयोग करते थे। इसका प्रमाण आगम ग्रन्थों में व्यापक रूप से उपलब्ध होता है।^{३०}

प्रश्नव्याकरणसूत्र में कहा गया है सत्य यदि संयम का विधातक हो तो उसे नहीं बोलना चाहिये। इसी प्रकार वैमनस्य एवं विवाद उत्पन्न करने वाले कलहकारक, अन्याय, अविवेक, अंहकार और धृष्टता से परिपूर्ण वचन सत्य होने पर भी साधु के लिए वर्जनीय हैं। साधु वर्ग को ऐसे वचन बोलने चाहिये जो हित, मित एवं प्रिय हों। सुविचारित, लोभ, भय, हास उपहास तथा

२८ प्रज्ञापना - ११/३३

२९ दशवैकालिक - ७/१४ से २२।

३० (क) आचारांग - १/१/१/१।

(ख) उत्तराध्ययनसूत्र - २/५; १६/१।

(ग) ज्ञाताधर्मकथा - १/१/१११।

- (उद्वंगसुत्ताणि, लाडनू, खण्ड २, पृष्ठ १७१)।

पूर्वापर विरोध से रहित निरवद्य वचन प्रयोग करने से ही साधु का सत्य महाव्रत अखण्डित रहता है। इस व्रत के अन्तर्गत अपनी प्रशंसा एवं दूसरों की निन्दा को भी त्याज्य बताया गया है।^{३१}

सत्य का महत्त्व

सत्य का महत्त्व स्पष्ट करते हुए आचारांगसूत्र में कहा गया है कि साधक को सत्य में स्थित होना चाहिये। सत्य में अधिष्ठित प्रज्ञावान साधक समस्त पापों का क्षय कर देता है और संसार सागर से पार हो जाता है। मात्र यही नहीं, इसमें सत्य को आत्म साक्षात्कार की कुंजी भी बताया है।^{३२}

प्रश्नव्याकरणसूत्र में तो यहां तक कहा गया है कि सत्य भगवान है तथा यह समूचे लोक में सारभूत तत्त्व है।^{३३} सत्यासत्य का भेद निरपेक्ष न होकर सापेक्ष है। दूसरों के अहित की दृष्टि से बोला गया सत्यवचन सत्य प्रतीत होने पर भी वस्तुतः असत्य है। वैदिक परम्परा में भी प्रिय सत्य बोलने का ही विधान किया गया है अप्रिय नहीं — 'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।

पूर्वोक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि सत्य भी वाचिक अहिंसा का एक रूप है।

सत्यमहाव्रत की भावनायें

सत्य महाव्रत के पालन के लिये निम्न पांच भावनाओं का विधान किया गया है जिनका उल्लेख आचारांगसूत्र एवं उत्तराध्ययनसूत्र की टीका में उपलब्ध होता है -

१) अनुविचिन्त्य भाषण (वाणी विवेक) :

विचारपूर्वक बोलना चाहिये। बिना सोचे-समझे अर्थात् बिना विचारे बोलने पर वचन कलहकारक एवं असत्य हो सकता है।

३१ प्रश्नव्याकरण २/२/१२० से १२६।

३२ अक्षरानु - १/३/२/४०, ४१

३३ प्रश्नव्याकरण - ७/२/१०

३४ (क) आचारांग - २/१५/५१ से ५६

(ख) उत्तराध्ययनसूत्रटीका पत्र -

- (अंगसुतांगि, लाडनू, खण्ड १, पृष्ठ ३०)।

- (अंगसुतांगि, लाडनू, खण्ड ३, पृष्ठ ६६०)।

- (अंगसुतांगि, लाडनू, खण्ड १, पृष्ठ २५३)।

- (शान्तिवार्थ)।

२) क्रोध विवेक :

क्रोध विवेक से तात्पर्य क्रोध के प्रति सजगता से है, क्रोध के आने पर व्यक्ति का विवेक कुंठित हो जाता है। अतः क्रोध की स्थिति में बोलना नहीं चाहिये। क्रोध की अभिव्यक्ति नहीं करनी चाहिये।

३) लोभ विवेक :

इसे लोभ त्याग भी कहा जाता है अर्थात् लोभ के वशीभूत होकर नहीं बोलना चाहिये क्योंकि लोभ के वशीभूत असत्य बोलने की संभावना रहती है।

४) मय विवेक :

मय का त्याग करके बोलना चाहिये क्योंकि मय के कारण भी असत्य बोला जाता है।

५) हास्य विवेक :

हास्य के प्रसंग में भी प्रायः असत्य बोलने की संभावना रहती ही है। अतः हास-परिहास का त्याग करना चाहिये।

इन पांच भावनाओं के पालन से सत्य महाव्रत पूर्णतः सुरक्षित रहता है। इस प्रकार जैन दर्शन में कौंसी भाषा बोलना चाहिये इस पर गहराई से विचार किया गया है।

अस्तेय महाव्रत

'अस्तेय' श्रमण का तीसरा महाव्रत है। इसका शास्त्रीय नाम 'सव्वाओ अदिन्नादाणाओ वेरमणं' अर्थात् सर्वथा रूप से अदत्तादान का त्याग है। किसी वस्तु को उसके स्वामी की स्वीकृति या अनुमति के बिना ग्रहण करना अदत्तादान है और उसका सर्वथा त्याग करना अस्तेय महाव्रत है।

निर्ग्रन्थ साधक कृत, कारित और अनुमोदित तथा मन, वचन और काया द्वारा चौर्य कर्म से अपनी आत्मा को सर्वथा विरत रखता है। संसार की कोई भी वस्तु, चाहे वह गांव, नगर या अरण्य (वन) में हो, अल्प हो या अधिक, सजीव हो या निर्जीव, उसे उसके स्वामी की आज्ञा के बिना स्वयं ग्रहण न करना, दूसरों से

ग्रहण नहीं करवाना और ग्रहण करते हुए व्यक्ति का अनुमोदन नहीं करना अस्तेयमहाव्रत है।

उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि मुनि अदत्त वस्तु का ग्रहण न करे तथा निर्दोष वस्तु का ही ग्रहण करे।^{३५} उत्तराध्ययनसूत्र के इस निर्देश में एक विशिष्ट रहस्य छिपा है कि किसी के द्वारा दत्त होने पर भी सचित्त वस्तु साधु के लिये अग्राह्य है क्योंकि चाहे व्यवहार में उस वस्तु का जो दाता है वह उसका स्वामी हो, किन्तु यथार्थ में तो उस दत्त वस्तु में रहा जीव ही उसका स्वामी है, उसकी आज्ञा के बिना वह वस्तु अकल्पनीय ही होती है।

अस्तेय महाव्रत अहिंसा एवं सत्य का परिपोषक है क्योंकि चौर्यकर्म व्यक्ति को हिंसक एवं असत्यभाषी बनाता है। चोरी करने से उस व्यक्ति को कष्ट होता है जिसकी वस्तु चुराई जाती है अथवा जिसको आर्थिक हानि पहुंचाई जाती है। अतः स्तेय कर्म हिंसा की सीमा में आ जाता है। शास्त्रों में धन को बाह्य प्राण कहा गया है। उसका अपहरण भी एक प्रकार की हिंसा है।^{३६}

जो व्यक्ति चोरी करता है, वह भी यही चाहता है कि उसकी वस्तु की कोई चोरी न करे। चौर्य कर्म असदाचरण है, अनैतिक है। अनैतिक होने से वह आत्म गुणों का घातक है। वह स्वहिंसा भी है, साथ ही वह व्यक्ति अपनी चोरी को प्रकट न होने देने के लिए असत्य का सहारा भी लेता है। इस प्रकार अहिंसा एवं सत्य की सुरक्षा के लिये भी अस्तेय व्रत का पालन आवश्यक है।

ब्रह्मचर्य महाव्रत

ब्रह्मचर्य श्रमण का चतुर्थ महाव्रत है। ब्रह्मचर्य को व्याख्यायित करते हुए उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है – मन, वचन और काया तथा कृत कारित और अनुमोदित रूप से नवकोटि सहित मनुष्य, तिर्यच और देव शरीर सम्बन्धी सब प्रकार के मैथुन सेवन का त्याग करना ब्रह्मचर्य महाव्रत है।^{३७}

३५ उत्तराध्ययनसूत्र - २५/२४।

३६ पुरुषार्थसिद्धयुपाय १०३।

३७ उत्तराध्ययनसूत्र - २५/२५।

उत्तराध्ययनसूत्र में ब्रह्मचर्य के अद्धार भेदों का संकेत भी मिलता है।^{३६} इस आधार पर उत्तराध्ययनसूत्र की टीका में इसके भेद निम्न प्रकार से प्राप्त होते हैं: औदारिक शरीर (मनुष्य एवं तिर्यच का शरीर) तथा वैक्रिय शरीर (देवता का शरीर) इन दोनों प्रकार के शरीरों से मन, वचन और काया तथा कृत-कारित एवं अनुमोदित रूप में मैथुन सेवन के त्याग रूप ब्रह्मचर्य के अद्धार भेद (२x३x३ = १८) होते हैं।^{३७}

ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के लिए आंतरिक सावधानी के साथ-साथ बाह्य वातावरण एवं बाह्य संयोगों के प्रति भी सावधानी की आवश्यकता होती है। वस्तुतः आन्तरिक सजगता की अपेक्षा भी बाह्य निमित्तों के प्रति विशेष सजग रहना चाहिये क्योंकि साधक के अंतर में दबी वासना बाह्य निमित्त को पाकर कभी भी प्रकट हो सकती है। उत्तराध्ययनसूत्र में साधक का ध्यान इस बात के लिए विशेष आकर्षित किया गया है कि वह ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के लिए जीवन में उपस्थित होने वाली विभिन्न परिस्थितियों के प्रति सदैव जाग्रत रहे। इसमें ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के लिए निम्न दस बातों को समाधिस्थान कहा गया है, क्योंकि इनके पालन से चिंत में समाधि रहती है।^{३८}

१. स्त्री, पशु एवं नपुंसक जिस स्थान पर रहते हो, वहां भिक्षु न ठहरे। उत्तराध्ययनसूत्र के बत्तीसवें अध्ययन में कहा गया है कि जैसे बिल्लियों के पास चूहों का रहना उचित नहीं है उसी प्रकार ब्रह्मचारी पुरुष का स्त्री के निकट या स्त्री का पुरुष के निकट रहना अनुचित है।^{३९}

हालांकि इसमें आगे यह भी कहा गया है कि यद्यपि तीन गुप्तियों से गुप्त मुनि को अलंकृत देवियां भी विचलित नहीं कर सकती तथापि एकान्त हित की दृष्टि से मुनि के लिये विविक्तवास अर्थात् स्त्री आदि के सम्पर्क से रहित एकान्त वास ही प्रशस्त है। इसके प्रथम अध्ययन में यह भी कहा गया है कि घरों में या सार्वजनिक स्थानों में भी एकाकी मुनि एकाकी स्त्री के साथ न रहे।^{४०}

२. भिक्षु श्रृंगार रसोत्पादक कथा भी न कहे।

३८ उत्तराध्ययनसूत्र - ३१/१४।

३९ उत्तराध्ययनसूत्र टीका पत्र ४२१

४० उत्तराध्ययनसूत्र - १६/११ से १३।

४१ उत्तराध्ययनसूत्र - ३२/१३।

४२ उत्तराध्ययनसूत्र - १/२६।

- (शान्त्यबायी)

३. भिक्षु को स्त्रियों के साथ एक आसन पर नहीं बैठना चाहिये। उत्तराध्ययनसूत्र के टीकाकार शान्त्याचार्य ने कहा है कि जिस स्थान पर कोई स्त्री बैठी हो उस स्थान पर उसके उठने के समय से लेकर एक मुहूर्त तक नहीं बैठना चाहिये।^{१३} आधुनिक काल में विज्ञान ने भी यह सिद्ध कर दिया है कि एक व्यक्ति जिस स्थान पर बैठता है उसके वहां से उठ जाने पर भी ४८ मिनट तक उसके परमाणु वहां बिखरे हुए रहते हैं। वैज्ञानिकों ने तो यहां तक सिद्ध कर दिया है कि किसी व्यक्ति का उस स्थान विशेष से चले जाने पर यदि वहां अन्य व्यक्ति या वस्तु का सम्पर्क न हो तो उस स्थान से ४८ मिनट तक उस व्यक्ति का चित्र भी लिया जा सकता है।

इससे यह स्पष्ट हुआ कि स्त्री या पुरुष जिस स्थान पर बैठे हों उस स्थान पर ब्रह्मचारी साधक को नहीं बैठना चाहिये क्योंकि वहां बैठने पर उनमें वासना जनित भावनाएँ उत्पन्न हो सकती हैं।

४. भिक्षु को स्त्री के रूप आदि के दर्शन का त्याग करना चाहिये। स्त्री के हाव-भाव, रूप आदि के देखने से काम-वासना के उत्पन्न होने की संभावना रहती है। अतः ब्रह्मचारी को स्त्रियों के रूप आदि नहीं देखना चाहिये। वस्तुतः चक्षु का कार्य देखना है अतः इस प्रकार के प्रसंग उत्पन्न होने पर भिक्षु को अपनी दृष्टि उधर से हटा लेनी चाहिये।

५. ब्रह्मचर्य में रत भिक्षु स्त्रियों के विविध प्रकार के शब्दों का श्रवण न करे। आसपास से आते हुए स्त्रियों के कुंजन, गायन, हास्य, क्रन्दन, रुदन और विरह से उत्पन्न विलाप आदि के श्रवण से काम-विकार उत्पन्न होने की संभावना रहती है, अतः भिक्षु को उस ओर से अपना ध्यान हटा लेना चाहिये।

६. ब्रह्मचारी साधक को पूर्व भोगे हुए काम-भोग का स्मरण भी नहीं करना चाहिये। इससे वासना के पुनः उदीप्त होने की संभावना रहती है।

७. ब्रह्मचारी साधक को सरस आहार का त्याग करना चाहिये। उत्तराध्ययनसूत्र के बत्तीसवें अध्ययन में कहा गया है कि जिस प्रकार स्वादिष्ट फल वाले वृक्ष को पक्षीगण पीड़ित करते हैं उसी प्रकार घी, दूध आदि सरस द्रव्यों के

सेवन से कामवासना उदीप्त होकर पीड़ित करती है अतः ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के लिये सरस आहार का त्याग आवश्यक है।⁴⁴

८. ब्रह्मचारी साधक को अतिमात्रा में आहार नहीं करना चाहिये। मर्यादा से अधिक आहार करने पर इन्द्रियां अनियन्त्रित हो जाती हैं ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के लिए साधक को आहार का त्याग भी करना पड़े तो करना चाहिये। आहार त्याग के छः कारणों में एक कारण ब्रह्मचर्य की सुरक्षा भी माना गया है।⁴⁵

९. ब्रह्मचारी साधु को, स्नान आदि के द्वारा शरीर का श्रृंगार नहीं करना चाहिये।

१०. साधक को पांचों इन्द्रियों सम्बन्धी भोगोपभोग का त्याग करना चाहिये। इन्द्रियों के विषयों को कामगुण कहा गया है। सभी प्रकार के काम-गुणों, ऐन्द्रिक विषयों की आसक्ति का ब्रह्मचारी को त्याग करना चाहिये।

इस प्रकार ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के लिये उत्तराध्ययनसूत्र में जितने भी ब्रह्मचर्य से विचलित होने की संभावना युक्त स्थान हैं उनसे दूर रहने की प्रेरणा दी गई है। ये स्थान ब्रह्मचर्य की साधना में तालपुट विष के समान घातक होते हैं।

अपरिग्रह महाव्रत

'अपरिग्रह' श्रमण का पांचवां महाव्रत है। इसको व्याख्यायित करते हुए उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है— धन, धान्य, दासवर्ग आदि जितने भी निर्जीव एवं सजीव द्रव्य हैं उन सबका कृत-कारित-अनुमोदित तथा मन, वचन और काया से त्याग करना अपरिग्रह महाव्रत है।⁴⁶ वस्तुतः अपरिग्रह महाव्रत निर्ममत्व भाव की साधना है। अपरिग्रह को समझने के लिए परिग्रह को समझना अति आवश्यक

४४ उत्तराध्ययनसूत्र - ३२/१० ।

४५ उत्तराध्ययनसूत्र - २६/३४ ।

४६ उत्तराध्ययनसूत्र - १६/२६ ।

है। तत्त्वार्थसूत्र में कहा गया है : 'मूर्च्छा परिग्रहः' अर्थात्, मूर्च्छा या आसक्ति ही परिग्रह है।⁴⁷

प्रशमरतिप्रकरण में भी यही कहा गया है - 'अध्यात्मविदो मूर्च्छा परिग्रहं वर्णयति' - अध्यात्मवेत्ता निश्चयतः मूर्च्छा को ही परिग्रह मानते हैं।⁴⁸ उत्तराध्ययनसूत्र में परिग्रह की परिभाषा नहीं दी गई है, परन्तु इसमें अपरिग्रह के रूप में जो भी कहा गया है उससे यही प्रतिफलित होता है कि आसक्ति या ममत्व ही परिग्रह है। इसके पच्चीसवें अध्ययन में कहा गया है कि ऐन्द्रिक विषयों की उपस्थिति में भी जल से अलिप्त कमल की तरह उनसे अलिप्त रहना अपरिग्रह महाव्रत है।⁴⁹ इस प्रकार परिग्रह का मुख्य तात्पर्य आन्तरिक आसक्ति एवं मूर्च्छाभाव है।

जैनागमों में परिग्रह के मुख्यतः दो विभाग किये गये हैं - बाह्य परिग्रह और आन्तरिक परिग्रह। बाह्य परिग्रह के अन्तर्गत १. क्षेत्र (खुली भूमि) २. वास्तु (भवन) ३. हिरण्य (चांदी) ४. स्वर्ण ५. धन ६. धान्य ७. द्विपद ८. चतुष्पद और ९. कुप्य (घर-गृहस्थी का सामान) आदि का ग्रहण किया जाता है। आन्तरिक परिग्रह १४ प्रकार का बताया गया है - १. मिथ्यात्व २. हास्य ३. रति ४. अरति ५. भय ६. शोक ७. जुगुप्सा ८. स्त्रीवेद ९. पुरुषवेद १०. नपुसकवेद ११. क्रोध १२. मान १३. माया और १४. लोभ।

यद्यपि श्रमण के लिये उपर्युक्त समस्त परिग्रह का त्याग अनिवार्य है, तथापि आचारांगसूत्र में साधना में सहायभूत होने से साधु के लिये वस्त्र, पात्र, कम्बल एवं रजोहरण, इन चार प्रकार के उपकरणों को रखने का विधान है।⁵⁰ आगे चलकर इन उपकरणों की संख्या १४ हो गई जो प्रश्नेव्याकरणसूत्र के अनुसार निम्न हैं - १. पात्र २. पात्रबन्ध ३. पात्र स्थापना ४. पात्रकैसरिका ५. पटल ६. रजस्त्राण ७. गोच्छक ८ - १०. तीन चंददर ११. रजोहरण १२. मुखवस्त्रिका १३. मात्रक और १४. चोलपट्ट।⁵¹

47 तत्त्वार्थसूत्र - ७/१२।

48 प्रशमरतिप्रकरण - भाग २ परिशिष्ट, पृष्ठ २०७।

49 उत्तराध्ययनसूत्र - २५/२६।

50 आचारांग - देखिए प्रथम श्रुतस्कन्ध का नवमा अध्याय।

51 प्रश्नेव्याकरण - १०/५/१०

- (अंगमुतापि, लाडलू, खण्ड ३, पृष्ठ ७०७)।

इस सन्दर्भ में श्वेताम्बर एवं दिगम्बर परम्परा में किंचित मतभेद है दिगम्बर परम्परा में श्रमण की आवश्यक वस्तुओं को तीन भागों में बांटा गया है। श्रमण की आवश्यक वस्तु को उपधि कहा जाता है १. ज्ञानोपधि—ज्ञान के उपकरण शास्त्र, पुस्तक आदि २. संयमोपधि—मोरपिच्छि और ३. शौचोपधि—शरीर शुद्धि के लिये जल ग्रहण करने का पात्र । दिगम्बर परम्परा में मुनि को वस्त्र रखने का निषेध है। वस्तुतः जैन श्रमण के लिये उपकरणों की जो संख्या निर्धारित की गई है उसका उद्देश्य संयम की सुरक्षा एवं अहिंसा महाव्रत का पालन ही है । अतः मुनि वे ही उपकरण अपने पास रख सकते हैं जिससे उनकी संयम-यात्रा का निर्वाह समुचित रूप से हो सके। परन्तु इस सन्दर्भ में विशेष ज्ञातव्य यह है कि मुनि को संयम के उपकरणों या साधनों पर भी ममत्व नहीं रखना चाहिये। यदि संयम के उपकरणों पर मुनि को आसक्ति हो तो वह परिग्रह के अन्तर्गत आ जाता है। इतना ही नहीं, मुनि को तो शरीर पर भी ममत्व नहीं रखना चाहिये । वस्तुतः शरीर भी एक प्रकार का परिग्रह है।

अपरिग्रह की पांच भावनायें

अपरिग्रह व्रत को सुरक्षित रखने के लिए पांच भावनाओं का विधान किया गया है।

१. मुनि को श्रोत्रेन्द्रिय के विषयरूप शब्द के प्रति राग-द्वेष नहीं करना चाहिये।
२. चक्षुरिन्द्रिय के विषयरूप के प्रति राग-द्वेष नहीं करना चाहिये।
३. घ्राणेन्द्रिय विषयरूप गंध के प्रति अनासक्त रहना चाहिये।
४. रसनेन्द्रिय के विषयरूप स्वाद में लोलुप नहीं रहना चाहिये ।
५. स्पर्शेन्द्रिय के विषयरूप स्पर्श के प्रति राग-द्वेष नहीं रखना चाहिये।

रात्रि भोजन विरमणव्रत

श्रमण का छद्दा व्रत रात्रिभोजन का त्याग है। उत्तराध्ययनसूत्र में श्रमण की आहार चर्या के विषय में विस्तृत वर्णन किया गया है। श्रमण अपनी संयमाराधना के लिए आहार करता है, वह दिन में ही आहार करता है, रात में नहीं। भगवान महावीर ने ब्रह्मचर्य के पालन एवं रात्रिभोजन के त्याग पर विशेष जोर दिया

है। सूत्रकृतांग में कहा गया है : 'से वारिया इत्थी सराइभत्त' अर्थात् भगवान महावीर ने स्त्री-संसर्ग सहित रात्रिभोजन का निषेध किया है।^{६२} इसका तात्पर्य यह नहीं है कि भगवान महावीर के पूर्व श्रमणों के लिए रात्रि भोजन का त्याग आवश्यक नहीं था। भगवान महावीर से पूर्व रात्रिभोजन त्याग को अहिंसा महाव्रत का ही एक अंग माना जाता था।

आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण के अनुसार 'रात को भोजन न करना' अहिंसा-महाव्रत का संरक्षक होने के कारण समिति की भांति उत्तरगुण है, किन्तु मुनि के लिये वह अहिंसा महाव्रत की तरह पालनीय है, अतः मूलगुण के अन्तर्गत भी है।^{६३} यहां ज्ञातव्य है कि साधना के आधारभूत मौलिक गुणों को 'मूलगुण' तथा मूलगुणों के सहयोगी संरक्षक गुणों को 'उत्तरगुण' कहा जाता है।

जहां तक उत्तराध्ययनसूत्र का प्रश्न है इसमें हमें रात्रिभोजन त्याग के सन्दर्भ में मूलगुण एवं उत्तरगुण सम्बन्धी कोई धर्चा उपलब्ध नहीं होती है। परन्तु इसके उन्नीसवें एवं तीसवें अध्ययन में पंचमहाव्रत की चर्चा के साथ ही रात्रिभोजन के निषेध का भी उल्लेख मिलता है।^{६४} इसके उन्नीसवें अध्ययन में कहा गया है कि श्रमण रात्रि में चतुर्विध आहार का त्याग करते हैं। तीसवें अध्ययन में पंचमहाव्रत के उल्लेख के तुरन्त बाद ही रात्रि भोजन विरमण व्रत का उल्लेख दिया गया है। इससे ऐसा लगता है कि उत्तराध्ययनसूत्र में भी दशवैकालिक के समान ही रात्रि भोजन त्याग को छड़े व्रत के रूप में स्वीकार किया गया है। उत्तराध्ययनसूत्र के सतरहवें अध्ययन में कहा गया है कि जो सूर्यास्त होते-होते भोजन करता है, वह पाप श्रमण है।^{६५}

रात्रिभोजन क्यों नहीं करना चाहिये इसे स्पष्ट करते हुए दशवैकालिकसूत्र में कहा गया है कि रात्रि में पृथ्वी पर सूक्ष्म, त्रस एवं स्थावर जीव व्याप्त रहते हैं, अतः रात्रि भोजन में उनकी हिंसा से नहीं बचा जा सकता है। यही कारण है कि निर्ग्रन्थ मुनियों के लिये रात्रिभोजन का निषेध है।^{६६} इस प्रकार अहिंसा महाव्रत की रक्षा के लिये साधु रात्रिभोजन का आजीवन परित्याग करता है।

दिगम्बर परम्परा में भी श्रमणों के लिये रात्रिभोजन विरमणव्रत का पालन अनिवार्य माना गया है। आचार्य अमृतचन्द्र रात्रिभोजन के दोषों का दर्पण

६२ सूत्रकृतांग - १/६/२८

६३ विशेषावश्यक भाष्य - १२४३।

६४ उत्तराध्ययनसूत्र - १६/३०; ३०/२

६५ उत्तराध्ययनसूत्र - १७/१६।

६६ दशवैकालिक - ६/२३।

- (अंगसुताणि, लाडनू, खण्ड १, पृष्ठ ३०४)।

करते हुये 'पुरुषार्थसिद्धयुपाय' में लिखते हैं कि दिन की अपेक्षा रात्रि में भोजन करने से ब्रह्मचर्य महाव्रत का निर्विघ्न पालन संभव नहीं होता। दूसरे, रात्रि में भोजन पकाने के लिए अथवा प्रकाश के लिये जो अग्नि या दीपक प्रज्वलित किया जाता है उसमें भी अनेक जन्तु आकर जल जाते हैं तथा भोजन में भी गिर जाते हैं, अतः रात्रिभोजन हिंसा से रहित नहीं है।⁵⁷ जैन परम्परा में तो रात्रिभोजन के निषेध का स्पष्ट विधान है ही पर वैदिक परम्परा में भी रात्रिभोजन को त्याज्य बताया गया है,⁵⁸ मार्कण्डेय ऋषि ने कहा है—

‘रात्रौ अन्नं मांसं समं प्रोक्तम् मार्कण्डेण महर्षिणा ।

महाभारत के शांति पर्व में कहा गया है—

वर्जनीय-महाराजन् निशीथे भोजन क्रिया ।

इस प्रकार श्रमण के लिये पंचमहाव्रत एवं रात्रिभोजन विरमण व्रत का पालन करना अनिवार्य है।

१०.२ अष्ट प्रवचन माता : समिति गुप्ति

जैन परम्परा में श्रमण जीवन के संरक्षण एवं संवर्धन के लिए पांच समितियों एवं तीन गुप्तियों का विधान किया गया है। 'उत्तराध्ययनसूत्र' में इन्हें 'अष्ट प्रवचन माता' कहा जाता है। भगवती आराधना के अनुसार समिति और गुप्ति, ज्ञान, दर्शन, चारित्र की वैसी ही रक्षा करती है जैसे माता अपने पुत्र की। अतः समिति, गुप्ति को माता कहा गया है।⁵⁹

प्राकृत के 'पवयणनायाओ' शब्द में पवयण अर्थात् प्रवचन का अर्थ है। जिनेश्वर देव प्रणीत सिद्धान्त और 'मायाओ' शब्द के 'माता' और 'मातरः' — ये दो संस्कृत रूप बनते हैं। पांच समितियों और तीन गुप्तियों — इन आठों में सम्पूर्ण प्रवचन का समावेश हो जाता है, इसलिए इन्हें 'प्रवचन-माता' कहा जाता है अथवा इन आठों से प्रवचन का प्रसव होता है, इसलिए भी इन्हें 'प्रवचन माता' कहा जाता है।

⁵⁷ पुरुषार्थसिद्धयुपाय - १३२ ।

⁵⁸ देखिये - जैन आधार : सिद्धान्त और स्वरूप पृष्ठ २७५ ।

⁵⁹ भगवती आराधना - १२० - उद्धृत उत्तराध्ययनानि, भाग २ पृष्ठ ६१ ।

श्रमण धर्म निवृत्ति प्रधान है, फिर भी जीवनचर्या के सम्यक् संचालन हेतु प्रवृत्ति की भी आवश्यकता होती है। अतः किससे निवृत्ति हो एवं किस में प्रवृत्ति हो ? इसे स्पष्ट करते हुए उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि मुनि असंयम से निवृत्त होकर संयम में प्रवृत्ति करे।^{६०} समितियां श्रमण जीवन के विधेयात्मक पक्ष को प्रस्तुत करती हैं और गुप्तियां उसके निषेधात्मक पक्ष को प्रस्तुत करती हैं।

वस्तुतः प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों ही परस्पर सापेक्ष हैं। निवृत्ति का अर्थ पूर्ण निषेध नहीं है और प्रवृत्ति का अर्थ पूर्ण विधि नहीं है। यही कारण है कि उत्तराध्ययनसूत्र में इन आठों ही अंगों के लिए 'समिति' शब्द का प्रयोग किया गया है।^{६१} निवृत्ति में प्रवृत्ति और प्रवृत्ति में निवृत्ति समाहित है। इसे हम एक दृष्टि से ऐसे भी समझ सकते हैं कि समितियों के द्वारा शुभ में प्रवृत्ति होती है तथा गुप्ति के द्वारा अशुभ से निवृत्ति होती है। प्रवृत्ति एवं निवृत्ति दोनों ही साधना के महत्त्वपूर्ण अंग हैं। मन, वचन और काया के योगों का सम्यक् रूप से प्रवर्तन प्रवृत्ति है एवं मन, वचन, काया के योगों का निवर्तन गुप्ति है। अब हम उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार पांच समितियों एवं तीन गुप्तियों का क्रमशः वर्णन प्रस्तुत करेंगे।

समिति

समिति के लिए उत्तराध्ययनसूत्र में 'समिई' शब्द प्रयुक्त हुआ है। समिति शब्द सम् उपसर्ग पूर्वक इण् (गतौ) धातु से बना है। सम् का अर्थ सम्यक् प्रकार से और इण् का अर्थ गति या प्रवृत्ति है। दूसरे शब्दों में विवेक पूर्वक आचरण करना 'समिति' है। उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार समितियां प्रवृत्ति मूलक हैं।

साधु को प्रतिदिन गमनादि पांच क्रियाओं की आवश्यकता पड़ती है। अतः उत्तराध्ययनसूत्र में समिति के पांच भेद वर्णित हैं। यथा १. ईर्यासमिति - गमनागमन क्रिया में सावधानी २. भाषा समिति- बोलने में सावधानी ३. एषणा समिति-आहार आदि की गवेषणा (अन्वेषण), ग्रहण एवं उपभोग में सावधानी

६० उत्तराध्ययनसूत्र - ३१/२ ।

६१ 'एकओ अइसमिईओ, समासेण विवाहिय'

- उत्तराध्ययनसूत्र २४/३ ।

४. आदान निक्षेप समिति – वस्त्र, पात्र आदि उपधि के उठाने एवं रखने में सावधान और ५. उच्चार प्रस्रवण समिति – मलमूत्रादि का विसर्जन करने में सावधानी।⁶²

१. ईर्या समिति – साधु को आवश्यक कार्य हेतु गमनागमन करना पड़ता है, अतः ईर्या समिति में साधु की गमनागमन क्रिया का विधान किया गया है ईर्या का अर्थ है चलना। चलने फिरने में सम्यक् प्रकार से प्रवृत्ति करना ही ईर्या समिति है। उत्तराध्ययनसूत्र में ईर्या समिति सम्बन्धी अनेक नियम प्रस्तुत किए गए हैं जो निम्न हैं –

(१) आलम्बन- आलम्बन से तात्पर्य है कि मुनि ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना के लिए ही गमन करे।⁶³ यहां यह ज्ञातव्य है कि मुनि के द्वारा गोचरी (आहार) हेतु जो गमन किया जाता है वह भी ज्ञान-दर्शन और चारित्र की साधना के लिए ही है। साधना के लिए शरीर की रक्षा करना आवश्यक है। श्रीमद् देवचन्द्रजी ने ईर्या-समिति की सज्जाय में आवागमन के चार कारण बताये हैं।⁶⁴

(क) जिनवन्दन (ख) विहार (ग) आहार और (घ) निहार।

(२) काल- ईर्या समिति का काल दिवस अर्थात् सूर्योदय से सूर्यास्त तक है। मुनि को दिन में ही चलना चाहिये, रात्रि में नहीं क्योंकि रात्रि में प्रकाश के अभाव में आवागमन करने पर प्राणीहिंसा की संभावना रहती है।

(३) मार्ग- ईर्यासमिति का मार्ग उत्पत्य अर्थात् कुमार्ग का वर्जन करके प्रासुक एवं निर्दोष मार्ग पर ही गमन करना चाहिये।

(४) यतना- यतना का अर्थ विवेक या सजगता है। उत्तराध्ययनसूत्र में यतना के चार प्रकार निरूपित किए गये हैं- (१) द्रव्य (२) क्षेत्र (३) काल और (४) भाव।

द्रव्य से यतना अर्थात् आंखों से देखकर चलना, क्षेत्र से युगमात्र अर्थात् चार हाथ परिमाण भूमि को देखकर चलना। काल से जब तक सूर्य का प्रकाश रहे तब तक चलना तथा भाव से गमन क्रिया में एकाग्र चित्त होकर चलना अर्थात् चलते समय मन, वचन, काया का पूरा उपयोग चलने की क्रिया में करना

६२ उत्तराध्ययनसूत्र - २४/२ ।

६३ उत्तराध्ययनसूत्र - २४/४, ५ ।

६४ जिनवन्दन नामांतरे जी के आहार निहार

- श्रीमद् देवचंद्र सञ्ज्ञायमाला भाग -१, पृष्ठ ७ ।

है।⁶⁶ मुनि के लिए चलते समय बातचीत करना, पढ़ना, चिंतन करना, आदि क्रियायें भी निषिद्ध है। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि मुनि को चलते समय पाचों इन्द्रियों के विषयों तथा पाचों प्रकार के स्वाध्यायों को छोड़कर मात्र चलने की क्रिया में ही लक्ष्य रखकर चलना चाहिये⁶⁶। इस प्रकार ईर्यासमिति का मुख्य प्रयोजन यही है कि साधु का आवश्यक आवागमन इस प्रकार हो जिसमें यथासंभव जीवों की हिंसा न हो और अहिंसा व्रत का सम्यक् रूप से पालन हो।

ईर्यासमिति के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए उत्तराध्ययनसूत्र में इसे धनुष की प्रत्यंचा कहा गया है,⁶⁷ जिस प्रकार प्रत्यंचा के बिना धनुष निरर्थक हो जाता है, उसी प्रकार ईर्या समिति के बिना संयम की साधना संभव नहीं होती है। 'आचारांगसूत्र' में भी ईर्यासमिति के विषय में विस्तृत विवेचन किया गया है।⁶⁸

भाषा समिति :

भाषा का संयम या वाणी का विवेक भाषा समिति है। उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार मुनि को क्रोध, मान, माया, लोभ, हांस्य, भय, मौखर्य और विकथा – इन आठ दोषों से रहित समयानुकूल, निरवद्य और परिमित वचन बोलना चाहिये।⁶⁹

समीक्षा पूर्वक बोलना ही भाषा समिति है। उत्तराध्ययनसूत्र की चूर्णि में कहा गया है कि पहले विवेक-बुद्धि से कथ्य की समीक्षा करके फिर वाणी का प्रयोग करना चाहिये।⁷⁰ इस सम्बन्ध में हिन्दी भाषा में एक मुहावरा प्रचलित है – 'पहले तोल पीछे बोल'।

स्थानांगसूत्र में असत्य भाषण के दस कारणों का निर्देश है, उनमें मौखर्य के अतिरिक्त सात उपर्युक्त ही हैं तथा प्रेयस् मिश्रित, द्वेष मिश्रित और उपघात मिश्रित ये तीन अधिक हैं।⁷¹

६६ उत्तराध्ययनसूत्र - २४/६, ७।

६६ उत्तराध्ययनसूत्र - २४/८।

६७ उत्तराध्ययनसूत्र - ६/२१।

६८ आचारंग - २/१३/२ - ११

- (अंगसुत्तापि, ताडगुं, खण्ड १, पृष्ठ २१६)।

६९ उत्तराध्ययनसूत्र - २४/६, १०।

७० उत्तराध्ययनसूत्र - पत्र २६७।

७१ स्थानांग - १०/६०।

एषणा समिति :

एषणा का सामान्य अर्थ अपेक्षित वस्तु की प्राप्ति का प्रयत्न होता है। मुनि को भी जीवन जीने के लिए कुछ आवश्यकतायें तो बनी रहती हैं। अतः साधु जीवन की आवश्यकताओं अर्थात् आहार, स्थान आदि की प्राप्ति में विवेक रखना एषणा समिति है। एषणा का एक अर्थ खोज या गवेषणा भी है। इस सन्दर्भ में प्रासुक (शुद्ध) आहार की खोज करना एषणा समिति है।

उत्तराध्ययनसूत्र में एषणा के तीन भेद प्रतिपादित किए गये हैं⁷²
 (१) गवेषणा - खोज की विधि (२) ग्रहणैषणा - ग्रहण (प्राप्त) करने की विधि और
 (३) परिभोगैषणा - आहार करने या वस्तु का उपयोग करने की विधि। ये तीनों प्रकार मुनि के आहार, उपधि (वस्त्र-पात्र) और शय्या (स्थान) के सम्बन्ध में बतलाए गये हैं, फिर भी इस समिति के पालन हेतु विशेष सावधानी आहार के सम्बन्ध में रखनी होती है। अतः उत्तराध्ययनसूत्र में आहार विषयक उद्गम, उत्पादन, एषणा (गवेषणा) एवं परिभोग सम्बन्धी दोषों का वर्णन किया गया है।⁷³

मुनि जीवन में आहारशुद्धि के लिए विशेष सतर्कता रखने के मुख्यतः दो कारण हैं। एक तो साधु का जीवन समाज पर भार रूप न बने और दूसरा साधु किसी भी हिंसा का निमित्त या भागीदार न बने। अतः मुनि की भिक्षाविधि को मधुकरी या गौचरी कहा जाता है। जैसे भ्रमर पुष्प को बिना पीड़ा पहुंचाये उसका रस ग्रहण कर लेता है तथा गाय खेत को उजाड़े-बिना ऊपर-ऊपर का घास खाकर अपना निर्वाह करते हैं वैसे ही मुनि भी दाता को किसी प्रकार का कष्ट दिये बिना आहार ग्रहण कर लेते हैं। इस प्रकार एषणा समिति का मुख्य सम्बन्ध मुनि की आहारचर्या से है।

आदाननिक्षेप समिति :

आदान का अर्थ है किसी वस्तु को उठाना या लेना तथा निक्षेप का अर्थ है किसी वस्तु को रखना। इस प्रकार वस्तु को उठाने एवं रखने में जो विवेक रखा जाता है, उसे आदाननिक्षेप समिति कहा जाता है।

७२ उत्तराध्ययनसूत्र - २४/११।

७३ उत्तराध्ययनसूत्र - २४/१२।

उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि मुनि अपने उपकरणों को प्रतिलेखन एवं प्रमार्जन पूर्वक सावधानी से रखे या उठाए ताकि किसी जीव की हिंसा न हो और वह टूटे फूटे नहीं।⁷⁴

उच्चार-प्रस्रवण समिति :

शरीर के साथ आहार एवं विहार की प्रक्रिया अनिवार्य रूप से जुड़ी हुई है, अतः मलमूत्र आदि का उत्सर्ग अर्थात् विसर्जन किस प्रकार करना चाहिये, इस विधि को उच्चारप्रस्रवण समिति में बताया गया है। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि मुनि को अपनी शारीरिक गंदगी को ऐसे स्थान पर डालना चाहिये जिससे जीवों की विराधना भी न हो तथा लोग घृणा भी न करें।⁷⁵ मलमूत्र, कफ, नाक एवं शरीर का मैल, अपथ्य आहार, अनुपयोगी उपधि (जीर्ण वस्त्र, खंडित पात्र) तथा मुनि का मृत शरीर इन सब परिहार योग्य वस्तुओं को मुनि एकान्त में निर्जीव भूमि पर विसर्जित तथा प्रतिस्थापित करे। उत्तराध्ययनसूत्र में व्युत्सर्ग की भूमि चार प्रकार की बताई गई है।⁷⁶

- १) अनापात असंलोक : जहां लोगों का आवागमन न हो और वह स्थान दूर से दिखाई न देता हो।
- २) अनापात संलोक : जहां लोगों का आवागमन न हो, किन्तु वह स्थान दूर से दिखाई देता हो।
- ३) आपात असंलोक : जहां लोगो का आवागमन तो हो, किन्तु दूर से दिखाई न देता हो।
- ४) आपात संलोक : जहां लोगों का आवागमन भी हो और दूर से दिखाई भी देता हो।

इनमें से जो भूमि अनापात एवं असंलोक हो, परोपघात से रहित हो, सम हो, अशुषिर अर्थात् पोली न हो, कुछ समय पूर्व निर्जीव हो चुकी हो विस्तृत हो, गांव से दूर हो, नीचे चार अंगुल तक अचित्त (निर्जीव) हो तथा बिल, बीज एवं ऋसंप्राणी से रहित हो, ऐसी भूमि पर ही मलमूत्र आदि का विसर्जन करना चाहिये।

७४ उत्तराध्ययनसूत्र - २४/१३, १४ ।

७५ उत्तराध्ययनसूत्र - २४/१५ ।

७६ उत्तराध्ययनसूत्र - २४/१६, १७ एवं १८ ।

गुप्ति :

उत्तराध्ययनसूत्र की शान्त्याचार्य कृत टीका में गुप्ति के दो अर्थ उपलब्ध होते हैं⁷⁷ (१) मन, वचन, काया की रागद्वेष रहित प्रवृत्ति गुप्ति है अथवा (२) मन, वचन और काया के व्यापार या प्रकृति का अभाव गुप्ति है। इसमें गुप्ति का प्रथम अर्थ प्रवृत्तिपरक है, इस रूप में गुप्ति भी समिति रूप ही है। यही कारण है कि उत्तराध्ययनसूत्र में इन्हें भी समिति कहा गया है। सामान्यतः गुप्ति का दूसरा निवृत्तिपरक अर्थ ही अधिक प्रचलित है। गुप्ति के तीन प्रकार निम्न हैं : मन गुप्ति, वचन गुप्ति और काय गुप्ति।

१. मनगुप्ति - अशुभ भावों से मन को हटाना अथवा प्रशस्त भावों के द्वारा आत्म गुणों की सुरक्षा करना मनोगुप्ति है। उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार संरम्भ (किसी कार्य की मानसिक योजना) समारम्भ (नियोजित कार्य हेतु साधन एकत्रित करना) तथा आरम्भ (कार्य को क्रियान्वित करना) की प्रवृत्तियों से मन को निर्वर्तित करना मनोगुप्ति है।⁷⁸

यहां प्रश्न हो सकता है कि मानसिक क्रिया को तो संरम्भ कहा है। फिर यहां मानसिक क्रिया के सन्दर्भ में समारम्भ एवं आरम्भ में यह क्यों कहा गया? श्वेताम्बर मान्यता के अनुसार द्रव्यमन की सत्ता शरीर रूप होती है, अतः समारम्भ एवं आरम्भ की शारीरिक क्रिया में भी मन का योगदान होता ही है। दूसरे शब्दों में समारम्भ और आरम्भ का भी मानसिक पक्ष होता है। क्रिया के पूर्व ये भी विचार रूप तो होते ही हैं।

उत्तराध्ययनसूत्र में मनोयोग चार प्रकार का होने से मनोगुप्ति के चार प्रकार प्रतिपादित किए गये हैं⁷⁹ - (१) सत्य (२) असत्य (३) सत्यमृषा (मिश्र) अर्थात् आंशिक सत्य तथा आंशिक असत्य से मिश्रित और (४) असत्यमृषा अर्थात् जो न सत्य है न असत्य केवल लोक व्यवहार रूप है।

७७ उत्तराध्ययनसूत्र टीका - पत्र - ११६, १२०

- (शान्त्याचार्य)।

७८ उत्तराध्ययनसूत्र - २४/२१।

७९ उत्तराध्ययनसूत्र - २४/२०।

(१) सत्यभाषा :

वस्तु जैसी हो उसको उसी रूप में जानना, कहना या समझना सत्यभाषा है। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो वस्तु के स्वरूप की यथार्थ समझ या कथन सत्यभाषा का विषय है, जैसे - जीव चेतनामय है।

(२) असत्यभाषा :

वस्तु-स्वरूप के विपरीत जानना, मानना या कहना असत्यता के अंतर्गत आता है। यथा, शरीर ही आत्मा है।

(३) सत्यमृषा :

जो आंशिक रूप से सत्य हो और आंशिक रूप से असत्य हो वह मिश्र या सत्यासत्य भाषा कहलाती है। जैसे - हजारों लोग मारे गए, इसमें दो हजार से नित्यानवें हजार तक लोग हो सकते हैं। इस कथन में निश्चित संख्या का निर्देश नहीं होने से आंशिक सत्यता और आंशिक असत्यता है। इस प्रकार - अश्वत्थामा मारा गया, मनुष्य अथवा हाथी ? इस वाक्य में भी आंशिक सत्यता है।

(४) असत्य-अमृषा :

इसे व्यवहार भाषा भी कहा जाता है; आदेश, उपदेश, आमंत्रण, निमंत्रण, प्रश्न आदि जिस भाषा में हो वह असत्य अमृषा भाषा कहलाती है। ये कथन न तो सत्य कहे जा सकते हैं और न ही असत्य, क्योंकि इनकी सत्यता असत्यता का निर्णय संभव नहीं है।

भाषा के ये चारों प्रारूप मनोगुप्ति के अन्तर्गत भी लिये गये हैं, क्योंकि मन के चिन्तन आदि क्रिया कलाप भी भाषा के माध्यम से ही सम्भव हैं। अतः जो भाषा के प्रारूप हैं वे ही मन के भी प्रारूप हैं। इस प्रकार चिन्तनात्मक रूप इन चारों प्रकार की भाषा से मन को विरत करना मनोगुप्ति है।

वचनगुप्ति :

अशुभ एवं असत्य वचनव्यवहार का निरोध करना वचन गुप्ति है उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है संरम्भ, समारम्भ एवं आरम्भ में प्रवर्तमान वचन का

निवर्तन करना वचन गुप्ति है। इसके भी चार प्रकार हैं— (१) सत्य वचन योग (२) असत्य वचन योग (३) मिश्र वचन योग और (४) व्यवहार वचन योग।^{१०}

वचन गुप्ति एवं भाषा समिति में अन्तर यह है कि वचन गुप्ति में जहाँ मौन अर्थात् चारों प्रकार के वचन योगों का निरोध करना होता है वहीं भाषा समिति में अशुभवचन योग अर्थात् असत्य एवं मिश्र वचन योग से निवृत्ति तथा शुभ वचन योग अर्थात् सत्य और व्यवहार वचन योग में प्रवृत्ति होती है।

वचन गुप्ति के भी वे ही चारों प्रकार बताये गये हैं, जो मनोगुप्ति के सम्बन्ध में पूर्व में उल्लिखित किये गये हैं — १. सत्य वचन २. असत्य वचन ३. सत्यासत्य या मिश्र वचन और ३. असत्य— अमृषा वचन । इनके अवान्तर भेद बयालीस हैं— सत्य वचन के दस, असत्य वचन के दस, मिश्र (सत्यासत्य) वचन के दस और असत्यअमृषा वचन के बारह भेद बताये गये हैं।

कायगुप्ति :

काया के व्यापार का नियंत्रण करना कायगुप्ति है। उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार उठने, बैठने, सोने तथा पांचों इन्द्रियों की प्रवृत्ति के विषय में जो संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ रूप काया का व्यापार है, उसका नियन्त्रण करना काय गुप्ति है।^{११}

उत्तराध्ययनसूत्र के उन्तीसवें अध्ययन में मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति के फल का निरूपण निम्न रूप से किया गया है^{१२}—

मनोगुप्ति अर्थात् मन को नियंत्रित करने से मन की एकाग्रता सधती है और एकाग्र चित्त वाला साधक संयम की आरधना करने वाला होता है।

वचनगुप्ति के द्वारा जीव निर्विचार अवस्था को उपलब्ध होता है और निर्विचारता से एकाग्रचित्त होकर अध्यात्मयोग एवं ध्यान में सुस्थित होता है। वचन गुप्ति से, निर्विचारता की उपलब्धि होती है, क्योंकि बिना विचार के वचनव्यापार सम्भव नहीं होता है।

१० उत्तराध्ययनसूत्र - २४/२२, २३ ।

११ उत्तराध्ययनसूत्र - २४/२४, २५ ।

१२ उत्तराध्ययनसूत्र - २६/५४ से ५६ ।

कायगुप्ति अर्थात् कायिक प्रवृत्तियों का निरोध करने से जीव संवर को प्राप्त करता है । कायगुप्ति के द्वारा पापकर्मों का बंध कराने वाले आश्रवों का निरोध हो जाता है।

१०.३ सामाचारी

मुनि जीवन की साधना के दो पक्ष होते हैं पहला वैयक्तिक, दूसरा सामुदायिक/संघीय-आचार। जो मुनि संघीय जीवन यापन करते हैं, उनके लिये संघीय - आचार का ज्ञान अत्यन्त उपयोगी होता है। उत्तराध्ययनसूत्र में मुनि की व्यक्तिगत आचार संहिता के साथ ही संघीय आचारसंहिता का भी प्रतिपादन किया गया है। जिसका विस्तृत विवेचन इसके छब्बीसवें 'सामाचारी' अध्ययन में किया गया है।

सामुदायिक जीवन का व्यवस्थित रूप से निर्वाह करना बहुत बड़ी कला है। मुनियों को सामुदायिक जीवन कैसे जीना है इसके लिए एक सामाचारी अर्थात् आचार व्यवस्था बनाई गई है। सामाचारी शब्द का अर्थ करते हुए उत्तराध्ययनसूत्र की टीका में कहा गया है— साधुजन की इति कर्तव्यता अर्थात् संघीय जीवन एवं व्यावहारिक साधना की आचार-संहिता सामाचारी है।^{६३} ओघनिर्मुक्ति टीका के अनुसार सम्यक् आचरण समाचार कहलाता है । अतः शिष्ट जनों के द्वारा आचरित क्रियाकलाप सामाचारी है।^{६४}

सामाचारी को समयाचारी भी कहा गया है । इसका अर्थ अहोरात्र/दिनरात में करने योग्य आगमोक्त क्रियाकलापों की सूची है। दिगम्बर साहित्य में सामाचारी के स्थान पर समाचार और सामाचार शब्द का प्रयोग हुआ है। मूलसूत्र के अनुसार इसके चार अर्थ हैं— १) समता का आचार २) सम्यक् आचार ३) सम् आचार और ४) समानता का आचार।^{६५}

६३ उत्तराध्ययनसूत्र टीका - पत्र ५३४ ।

६४ ओघनिर्मुक्ति टीका उद्धृत उत्तराध्ययनसूत्र मधुकरमुनि, पृष्ठ - ४३६ ।

६५ मूलसूत्र - ४/२ ।

सामाचारी शब्द का व्युत्पत्तिपरक अर्थ :

समाचारी एवं सामाचारी इन दोनों ही शब्दों का प्रयोग जैन-ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। पर जहां तक आगम ग्रन्थों का प्रश्न है वहां स्थानांग, समवायांग, भगवती, ज्ञाताधर्मकथा, उत्तराध्ययनसूत्र आदि आगमों में सामाचारी शब्द का प्रयोग हुआ है, अतः सामाचारी शब्द कैसे निष्पन्न हुआ इसे जानना आवश्यक है।⁸⁶

सम्यक् आचरणं समाचारं समाचरस्य भावं सामाचारी। 'सम् + आइ + चर् धातु से भाव अर्थ में 'गुण वचन ब्रह्मणादिभ्यो ष्यञ्' सूत्र में से ष्यञ् प्रत्यय हुआ। सम् + आ + चर् + य । (ष्यञ् प्रत्यय में ष एवं ज्ञ दोनों की इत् संज्ञा होकर लोप हो जाता है शेष य ही रहता है) 'तदितेष्वचामादे' सूत्र से आदि वृद्धि (आ) हुई। स्त्रीत्व विवक्षा में 'षिद्गौरादिभ्यडीष्' सूत्र से डीष् प्रत्यय हुआ। सम् + आ + चर् + य + डीष्। इस प्रकार का रूप बनने पर 'हलस्तद्धितेष्व' सूत्र से डीष् के पूर्व य का लोप हुआ (डीष् में ड् ष का लोप हो जाने पर ई शेष रहता है) इस प्रकार सामाचारी शब्द निष्पन्न होता है। अब हम क्रमशः मुनि की दैनिक सामाचारी एवं दशविध सामाचारी का विवेचन प्रस्तुत करेंगे।

१०.३.१ दैनिक सामाचारी :

उत्तराध्ययनसूत्र में समय के अनुसार साधु की दिनचर्या एवं रात्रिचर्या का निर्धारण किया गया है। इससे समय के महत्त्व का प्रतिपादन होता है। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है 'काले कालं समाचरे' अर्थात् सभी कार्य नियत समय पर करना चाहिये।⁸⁷ इसमें कालक्रम के अनुसार मुनि की दिनचर्या की रूपरेखा इस प्रकार निर्धारित की गई है— दिन के प्रथम प्रहर में स्वाध्याय, दूसरे प्रहर में ध्यान, तीसरे प्रहर में भिक्षाचर्या एवं आहार और चौथे प्रहर में पुनः स्वाध्याय। इस प्रकार रात्रि के प्रथम प्रहर में स्वाध्याय, दूसरे प्रहर में ध्यान, तीसरे प्रहर में नींद और चौथे प्रहर में स्वाध्याय।⁸⁸

८६ (क) स्थानांग - १०/१०२

(ख) समवायांग - ३६/१

(ग) भगवती - २६/५५६

(घ) ज्ञाताधर्मकथा - १६/२७७

(ङ) उत्तराध्ययनसूत्र - २६/१, ५, ७ ।

८७ उत्तराध्ययनसूत्र - १/३१ ।

८८ उत्तराध्ययनसूत्र - २६/११, १७ ।

- (अंगमुत्तानि, लाडनू, खण्ड १, पृष्ठ ८०६);

- (अंगमुत्तानि, लाडनू, खण्ड १, पृष्ठ ८८२);

- (अंगमुत्तानि, लाडनू, खण्ड २, पृष्ठ ६६८);

- (अंगमुत्तानि, लाडनू, खण्ड ३, पृष्ठ ३२७)

इस प्रकार मुनि इन आठ प्रहरों को किस प्रकार व्यतीत करे, इसका क्रमशः वर्णन किया गया है। साथ ही इसमें दिनचर्या के सम्बन्ध में कहा गया है कि 'विक्षण भिक्षु दिन के चार भाग करे और उनमें उत्तरगुणों अर्थात् स्वाध्याय, ध्यान आदि की आराधना करे। उत्तराध्ययनसूत्र की टीकाओं में उत्तरगुणों का अर्थ स्वाध्याय, ध्यान आदि किया गया है।^{९९} पंचमहाव्रत मूल गुण कहे जाते हैं इसलिये इनका पालन सदैव करना होता है। उत्तरगुण वे हैं जिनका पालन निर्धारित समय पर किया जाता है।

दिन का प्रथम प्रहर :

दिन का प्रथम प्रहर सामान्यतः स्वाध्याय का है, किन्तु स्वाध्याय में प्रवृत्त होने से पूर्व दिन के प्रथम प्रहर के प्रथम चतुर्थांश में अर्थात् सूर्योदय के पश्चात् मुनि सर्वप्रथम वस्त्र, पात्र की प्रतिलेखना करे, तत्पश्चात् गुरु की वंदना करके हाथ जोड़कर पूछे: "हे भगवन्त ! मैं वैयावृत्य करूँ या स्वाध्याय करूँ?" गुरु जिस कार्य की आज्ञा दें, शिष्य उसी कार्य में अग्लान भाव से प्रवृत्त हो जाए।^{१०}

द्वितीय प्रहर :

यह प्रहर मुनि के लिए ध्यान का होता है। नेमिचन्द्राचार्य आदि उत्तराध्ययनसूत्र के टीकाकारों ने ध्यान का अर्थ, अर्थचिंतन किया है।^{११} यहां अर्थ से तात्पर्य सूत्रों के अर्थ से है क्योंकि दिन के प्रथम प्रहर में सूत्र का स्वाध्याय किया जाता है। दूसरे प्रहर में सूत्रों के अर्थ का चिंतन किया जाता है। इन्हें आगमिक शब्दों में क्रमशः सूत्रपोरिसी एवं अर्थपोरिसी कहा जाता है।

तृतीय प्रहर :

दिन का तीसरा प्रहर मुनि की भिक्षाचर्या का होता है। इस प्रहर में मुनि गौचरी (आहार) लेने के लिये निकले एवं आहार ग्रहण करे।

९९ उत्तराध्ययनसूत्र टीका पत्र - २६८६, २६९०

१० उत्तराध्ययनसूत्र - २६/२२, ३७।

११ उत्तराध्ययनसूत्र टीका २६८२

- (शान्दाचार्य, लक्ष्मीविलासभाषि)।

- (नेमिचन्द्राचार्य)।

चतुर्थ प्रहर :

दिन के चतुर्थ प्रहर में मुनि को पुनः स्वाध्याय करना चाहिये । यह प्रहर स्वाध्याय का होता है ।

इसी प्रकार मुनि रात्रि के प्रथम प्रहर में स्वाध्याय, दूसरे प्रहर में ध्यान, तीसरे प्रहर में निद्रा एवं चौथे प्रहर में पुनः स्वाध्याय करे । यहां प्रयुक्त निद्रामोक्ष शब्द एक विशेष सूचना देता है - यहां निद्रा लेना ऐसा न कहकर निद्रामोक्ष शब्द का प्रयोग किया है अर्थात् शरीर की आवश्यकता हेतु नींद लेकर उससे छुटकारा पा लेना चाहिये, ताकि अग्रिम चर्या/स्वाध्याय में आलस (प्रमाद) बाधक न बने ।

उत्तराध्ययनसूत्र में मुनि की चर्या के सन्दर्भ में प्रतिलेखन एवं आहारचर्या की विस्तृत विवेचना की गई है जो निम्नानुसार है :-

प्रतिलेखन

प्रतिलेखन जैन धर्म का पारिभाषिक शब्द है । यह मुनिचर्या का अनिवार्य अंग है । प्रतिलेखन शब्द प्रतिपूर्वक लिख धातु से निष्पन्न हुआ है । लिख धातु का एक अर्थ देखना भी होता है, अतः प्रतिलेखन का अर्थ अवलोकन करना है । प्रतिलेखना का मुख्य हेतु जीवों की रक्षा अथवा अहिंसा व्रत का पालन करना है । उत्तराध्ययनसूत्र में प्रतिलेखना का समय उसके प्रकार, साधन आदि का विस्तृत रूप से विधान किया गया है ।

प्रतिलेखना द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव रूप से चार प्रकार की होती है- द्रव्य प्रतिलेखना के अन्तर्गत साधु के उपकरण-वस्त्र, पात्र, रजोहरण आदि का प्रतिलेखन किया जाता है । क्षेत्र प्रतिलेखन में उपाश्रय (आवास स्थान), स्वाध्याय भूमि, परिष्ठापन भूमि (मलमूत्र के उत्सर्ग स्थान), विहार भूमि आदि का प्रतिलेखन किया जाता है । काल प्रतिलेखन के अन्तर्गत स्वाध्याय काल, ध्यान काल, आदि का ध्यान रखना होता है तथा भाव प्रतिलेखन में अपने मन में उठने वाले शुभाशुभ भावों की प्रेक्षा करना होता है । उत्तराध्ययनसूत्र में इन चारों प्रकार की प्रतिलेखना का वर्णन

मिलता है। अब हम प्रतिलेखन के इन प्रकारों का क्रमशः वर्णन करेंगे। उत्तराध्ययनसूत्र में द्रव्य प्रतिलेखन के मुख्यतः तीन अंग निरूपित किये हैं^{३२}

१. प्रतिलेखन :

वस्त्र, पात्र, स्थान आदि दृष्टि द्वारा देखना कि कहीं इसमें जीव तो नहीं हैं। प्रतिलेखन का यह प्रकार प्रकाश में ही सम्भव है।

२. प्रस्फोटना :

जीवों को देखने के बाद धीरे से उन्हें हटाना ।

३. प्रमार्जना :

रजोहरण आदि ऊन से निर्मित कोमल स्पर्श वाले उपकरणों या भृहपत्ति के द्वारा जीवों को सावधानी पूर्वक उपयोगी क्षेत्र से दूर कर देना प्रमार्जना कहलाती है। प्रकाश के अभाव में भी इस क्रिया की आवश्यकता होती है।

वस्त्र प्रतिलेखन :

वस्त्र प्रतिलेखन की विधि का निरूपण करते हुए उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि मुनि प्रतिलेखन के समय उत्कट आसन से बैठे, वस्त्र को ऊंचा एवं स्थिर रखे तथा शीघ्रता किये बिना उसका प्रतिलेखन करे अर्थात् सावधानीपूर्वक उसका निरीक्षण करे, जिसे दृष्टिप्रतिलेखन भी कहा जाता है, फिर वस्त्र को धीरे से झटके ताकि कोई सूक्ष्म जीव जो दृष्टिगोचर नहीं हुए हों वे वस्त्र से अलग हो जायें, तात्पर्यात् वस्त्र का प्रमार्जन करे।

प्रतिलेखन करते समय वस्त्र या शरीर को नचाए नहीं अर्थात् व्यर्थ न हिलाए, न मोड़े, वस्त्र का कोई भी भाग दृष्टि से अलक्षित न रहे अर्थात् सम्पूर्ण वस्त्र का प्रतिलेखन करें, वस्त्र को दीवार आदि से स्पर्श न करे, छः पूर्व (विभाग) और नव खोटक करे। छः पूर्व अर्थात् वस्त्र के एक तरफ तीन विभाग कर प्रतिलेखन करे पुनः दूसरी तरफ तीन विभाग कर प्रतिलेखन करे, इस प्रकार ६ भाग कर प्रतिलेखन करना छः पूरिम या पूर्व कहलाता है।^{३३} नव खोटक का तात्पर्य है, हथेली

३२ उत्तराध्ययनसूत्र - २६/२४ ।

३३ उत्तराध्ययनसूत्र २६/२५ ।

को नौका के आकार का बनाकर उस पर वस्त्र आदि को सावधानी से झटकना ताकि कोई सूक्ष्म जीव हो तो उन्हें हाथ पर लेकर उनका प्रमार्जन किया जा सके।

पात्र-प्रतिलेखन :

उत्तराध्ययनसूत्र में प्रतिलेखना के क्रम की चर्चा करते हुए लिखा है कि सर्वप्रथम पात्र की, तत्पश्चात् मुहपत्ति, गोच्छग और फिर वस्त्र की प्रतिलेखना करनी चाहिये।⁹⁴ यहां यह विचारणीय है कि मुहपत्ति, गोच्छग तथा वस्त्र शब्द का क्या अर्थ है? उत्तराध्ययनसूत्र की टीकाओं में मुहपत्ति का अर्थ मुखवस्त्रिका, गोच्छग का अर्थ पात्र के ऊपर का उपकरण तथा वस्त्र का अर्थ पात्र-पटल अर्थात् पात्र के आच्छादन का वस्त्र किया गया है।⁹⁵

आचार्य आत्माराम जी ने गोच्छग का अर्थ रजोहरण किया है, इसके पीछे उनका आशय यह है कि उत्तराध्ययनसूत्र में अन्य कहीं रजोहरण की प्रतिलेखना का विधान नहीं आया है अतः यहां गोच्छग से रजोहरण अर्थ ही अभिप्रेत है⁹⁶ किन्तु, गोच्छग शब्द से रजोहरण शब्द का ग्रहण करने पर एक समस्या यह आती है कि दशवैकालिक, ओघनिर्युक्ति आदि परवर्ती ग्रन्थों में उपलब्ध उपकरण सूची में रजोहरण तथा गोच्छग ऐसे दो शब्द मिलते हैं।⁹⁷ जहां तक मुखवस्त्रिका का प्रश्न है यहां उससे पात्र के मुख के वस्त्र का ग्रहण किया जाय या व्यक्ति के मुख के वस्त्र का, इसका समाधान ओघनिर्युक्ति में निर्दिष्ट मुखवस्त्रिका के अर्थ से हो सकता है। उसमें मुहपत्ति के सन्दर्भ में कहा गया है - १. पात्र की प्रतिलेखन करने का वस्त्र, २. बोलते समय संपातिम जीवों से रक्षा का वस्त्र, ३. सचित्त पृथ्वी तथा रेणुकण के प्रमार्जन के काम आने वाला वस्त्र तथा ४. वसति (आवास-स्थल) का प्रमार्जन करते समय नाक और मुंह में रजकण प्रवेश न करे, इस हेतु नाक और मुंह पर बांधने का वस्त्र।⁹⁸

९४ उत्तराध्ययनसूत्र २६/२३।

९५ (क) उत्तराध्ययनसूत्र टीका - पत्र २७०१

- (नेमिबन्दाचार्य);

(ख) उत्तराध्ययनसूत्र टीका - पत्र २७०४

- (नेमिबन्दाचार्य)।

९६ उत्तराध्ययनसूत्र - तृतीय भाग - पृष्ठ ११६७

- (आत्मारामजी)।

९७ (क) दशवैकालिक - ४/२३;

(ख) ओघनिर्युक्ति - ६६८, ६६९

- (निर्युक्तिसंग्रह - पृष्ठ २५१-२५२)।

९८ ओघनिर्युक्ति - ७१३

- (निर्युक्तिसंग्रह)।

इससे ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन समय में जब उपकरणों की संख्या कम से कम होती थी, तब मुखवस्त्रिका जो वस्तुतः एक वस्त्र खण्ड है, उसका उपयोग पूर्वोक्त चारों परिस्थितियों में होता हो तथा गोच्छग भी ऐसा ही ऊन का एक उपकरण हो जिसका उपयोग पात्र एवं भूमि के प्रमार्जन आदि में होता होगा। शनैः शनैः देश, काल एवं परिस्थितिवश उपकरणों की संख्या में वृद्धि होने से मुखवस्त्रिका और पात्र केशरिका तथा गोच्छग और रजोहरण पृथक् पृथक् उपकरण हो गए। ओघनियुक्ति की वृत्ति के अनुसार पात्र-केशरिका का अर्थ पात्र की मुखवस्त्रिका भी होता है।⁹⁹ दशवैकालिक में मुखवस्त्रिका के लिए हत्थग (हस्तक) शब्द का भी प्रयोग हुआ है।¹⁰⁰

प्रवचनसारांद्धार, ओघनियुक्ति आदि ग्रन्थों में पात्र सम्बन्धी सात उपकरणों का उल्लेख मिलता है - १) पात्र, २) पात्र बन्ध, ३) पात्र स्थापन, ४) पात्र केशरिका ५) पटल, ६) रजस्त्राण और ७) गोच्छग। इन्हें पात्र-नियोग (पात्र-परिकर) भी कहा जाता है।¹⁰¹

पात्र को बांधने के लिए 'पात्रबन्ध' होता है, जिस पर पात्र रखा जाता है वह ऊन का टुकड़ा पात्रस्थापन कहलाता है, जिससे पात्रों का प्रमार्जन किया जाय वह पात्र की मुखवस्त्रिका या 'पात्रकेशरिका' कहलाती है। गोचरी (भिक्षा) लाने के समय पात्रों पर ढकने का वस्त्र 'पटल' कहलाता है। संभवतः यह आठ परतों वाला होने से पटल कहलाता हो। 'रजस्त्राण' के दो अर्थ दृष्टिगोचर होते हैं। ओघनियुक्ति के अनुसार चूहों तथा अन्य जीव जन्तुओं, बरसात के पानी एवं धूल आदि से बचाव के लिए 'रजस्त्राण' रखा जाता है।¹⁰² इससे एक अर्थ यह भी निकल सकता है कि यह पात्रों का ढक्कन है जो लकड़ी का होता है।

उत्तराध्ययनसूत्र की टीका में गोच्छग अर्थ पात्र के ऊपर का वस्त्र किया गया है,¹⁰³ उत्तराध्ययनसूत्र की गाथा में यह भी कहा गया है कि अंगुलियों से

९९ ओघनियुक्ति टीका - ६६४

१०० सांख्यलिक - ६/१/८३।

१०१ (क) प्रवचनसारांद्धार - ५६२।

(ख) ओघनियुक्ति - ६६८ - ६७०

१०२ ओघनियुक्ति - ७०४

१०३ उत्तराध्ययनसूत्र टीका - पत्र ५४०

- उद्धृत उत्तराध्ययनसूत्र भाग २, पृष्ठ ११४।

- (नियुक्तिसंग्रह - पृष्ठ २५२-२५२)।

- (नियुक्तिसंग्रह - पृष्ठ २५५)।

- (शान्पाचायी)।

गोच्छग को ग्रहण कर प्रतिलेखना करे।¹⁰⁴ ओघनिर्युक्ति में गोच्छग को पात्र के प्रमार्जन का उपकरण बताया गया है।¹⁰⁵

पूर्वोक्त इन सभी तथ्यों से यह फलित होता है कि गोच्छग ऊनी कम्बल के टुकड़े हैं जिन्हें पात्रों के ऊपर लपेटा भी जाता है, साथ ही कोमल होने से उनके द्वारा प्रमार्जन भी किया जा सकता है। यह प्रथा वर्तमान में भी सुरक्षित है। गोच्छग को आज भी श्रमण शब्दावली में गुच्छा कहा जाता है।

प्रतिलेखना के दोष :

उत्तराध्ययनसूत्र में प्रतिलेखना सम्बन्धित १३ दोषों का वर्णन किया गया है, जो निम्न हैं¹⁰⁶ -

१. **आरमटा** : विधि के विपरीत प्रतिलेखन करना अथवा एक वस्त्र का पूरा प्रतिलेखन किये बिना आकुलता से दूसरे वस्त्र को ग्रहण करना 'आरमटा' दोष है।
२. **सम्मर्दा** : प्रतिलेखन करते समय वस्त्र को इस प्रकार पकड़ना कि उसके बीच सलवटें पड़ जाये और वस्त्र या उसका कोई भाग दृष्टिगोचर ही नहीं हो अथवा प्रतिलेखनीय उपधि पर बैठकर प्रतिलेखन करना 'सम्मर्दा' दोष है।
३. **मोसली** : प्रतिलेखन करते समय वस्त्र का मूसल की तरह ऊपर, नीचे या तिरछे जमीन, दीवार आदि से स्पर्श कराना 'मोसली' दोष है।
४. **प्रस्फोटना** : प्रतिलेखन करते समय धूल आदि के कारण वस्त्र को गृहस्थ की तरह वेग से झटकना 'प्रस्फोटना' दोष है। यहां प्रश्न हो सकता है कि प्रस्फोटन प्रतिलेखन का अंग भी है और प्रतिलेखना का दोष भी है, यह कैसे ? इस सम्बन्ध में यह ज्ञातव्य है कि प्रस्फोटन शब्द का अर्थ प्रक्षेपण करना और झटकना दोनों है। जब इसे प्रतिलेखन का अंग माना जाता है, तो इसका अर्थ प्रक्षेपण करना अर्थात् सावधानी पूर्वक वस्त्र को धीरे से हिलाकर उस पर जो जीव या सचित रज आदि हो तो उससे यतनापूर्वक अलग करना है, और जब इसकी गणना प्रतिलेखन के दोषों में होती है, तब इसका अर्थ वस्त्र को जोर से झटकना किया जाता है। यह दोष इसलिए है कि वस्त्र के जोर से झटकने से वायुकाय के जीवों की हिंसा होती है।

१०४ उत्तराध्ययनसूत्र - २६/२३ ।

१०५ ओघनिर्युक्ति - ६६६

१०६ उत्तराध्ययनसूत्र - २६/२७ - २७ ।

- (निर्युक्तिसंग्रह - पृष्ठ २१४)।

५. **विक्षिप्ता** : प्रतिलेखित वस्त्रों को अप्रतिलेखित वस्त्रों पर रखना एवं उनसे ढकना आदि 'विक्षिप्ता' दोष है।

६. **वेदिका** : विपरीत आसन में बैठकर प्रतिलेखन करना 'वेदिका' दोष है। विपरीत आसन कौन कौन से है इसका विवेचन उत्तराध्ययनसूत्र की टीका में इस प्रकार किया गया है:¹⁰⁷

उर्ध्ववेदिका - दोनों जानुओं पर हाथ रख कर प्रतिलेखन करना उर्ध्ववेदिका आसन है।

अधोवेदिका - दोनों जानुओं के नीचे हाथ रखकर प्रतिलेखन करना अधोवेदिका आसन है।

तिर्यग्वेदिका - दोनों जानुओं के बीच में हाथ रखकर प्रतिलेखन करना तिर्यग्वेदिका आसन है।

उभयवेदिका - दोनों जानुओं को दोनों हाथों के बीच रखकर प्रतिलेखन करना उभयवेदिका आसन है।

एक वेदिका - एक जानु को दोनों हाथों के बीच रखकर प्रतिलेखन करना एक वेदिका आसन है।

७. **प्रशिथिल** : वस्त्र को ढीला पकड़ना 'प्रशिथिल' दोष है। ढीला पकड़ने से वस्त्र के गिरने की सम्भावना रहती है और वस्त्र के गिरने से वायुकाय के जीवों की हिंसा के साथ ही अन्य त्रस जीवों की हिंसा भी हो सकती है।

८. **प्रलम्ब** : वस्त्र को इस तरह से पकड़ना कि उसके कोने लटकते रहें, प्रलम्ब दोष है।

९. **लोल** : प्रतिलेख्यमान वस्तु का हाथ या भूमि से संघर्षण करना 'लोल' दोष है।

१०. **एकामर्शा** : वस्त्र को बीच में से पकड़ कर एक दृष्टि में ही पूरे वस्त्र को देख लेना 'एकामर्शा' दोष है।

११. **अनेक रूप धूनना** : प्रतिलेखन करते समय वस्त्र को बार बार झटकना या अनेक वस्त्रों को एक साथ झटकना 'अनेक रूप धूनना' दोष है।

१२. प्रमाणप्रमाद : प्रस्फोटन एवं प्रमार्जन की मर्यादाओं का उल्लंघन करना प्रमाणप्रमाद दोष है।

१३. गणनोपगणना : प्रस्फोटन और प्रमार्जन के निर्दिष्ट प्रमाण में शंका होने पर अंगुलियों के पर्वों पर गणना करना 'गणनोपगणना' दोष है।

इस प्रकार निर्दिष्ट मात्रा से न्यून, अतिरिक्त या विपरीत प्रतिलेखन करना दोषपूर्ण है तथा उससे अन्यून - अनतिरिक्त तथा अविपरीत प्रतिलेखन करना शुद्ध एवं निर्दोष प्रतिलेखन है। इन दोषों के अतिरिक्त प्रतिलेखन करते समय, काम कथा एवं जनपद (देश) कथा करना, प्रत्याख्यान करवाना अथवा अध्ययन एवं अध्यापन आदि कार्य करना वर्जित है, क्योंकि इससे प्रतिलेखना में असावधानी होने से पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति एवं त्रसकाय जीवों की विराधना सम्भव है। अतः प्रतिलेखना अन्य कार्यों से विरत होकर मौनपूर्वक करनी चाहिये।¹⁰⁸ अब हम अग्रिम क्रम में दिवस के तृतीय प्रहर की मुनि चर्या का वर्णन प्रस्तुत करेंगे।

आहारचर्या :

उत्तराध्ययनसूत्र में मुनि की आहारचर्या का प्रतिपादन करते हुए लिखा है कि मुनि को गवैषणा, ग्रहणैषणा तथा परिभोगैषणा का पालन करना चाहिये। इस में गवैषणा के अन्तर्गत उदगम एवं उत्पादन सम्बन्धी दोषों का, ग्रहणैषणा में एषणा सम्बन्धी दोषों का तथा परिभोगैषणा में दोषचतुष्क के वर्जन का निर्देश दिया गया है। इन दोषों के प्रभेदों का वर्णन उत्तराध्ययनसूत्र की टीकाओं में मिलता है। यहां लक्ष्मीवल्लभगणि कृत टीका के आधार पर इन सैंतालीस दोषों का विवेचन किया जा रहा है, जो निम्न हैं¹⁰⁹—

उदगम के १६ दोष

१. आधाकर्म : साधु विशेष के उद्देश्य से बनाया गया आहार लेना आधाकर्मिक दोष है।

१०८ उत्तराध्ययनसूत्र - २६/२८ - ३०।

१०९ उत्तराध्ययनसूत्र टीका - पत्र ७२६ - ७३४ - (लक्ष्मीवल्लभगणि)।

२. **औदशिक** : सामान्य साधुओं के उद्देश्य से बनाया गया आहार औदशिक दोष से ग्रसित होता है।
३. **पूतिकर्म** : दोष मिश्रित आहार ग्रहण करना पूतिकर्म दोष कहलाता है। शुद्ध आहार में अशुद्ध आहार (मद्य बिंदु आदि) का मिश्रण अथवा शुद्ध आहार में आघातकर्मिक आहार का मिश्रण पूतिकर्म है।
४. **मिश्रजात** : गृहस्थ द्वारा स्वयं के साथ साथ साधु के निमित्त से बनाया गया आहार मिश्रजात दोष से युक्त होता है।
५. **स्थापनाकर्म** : साधु के लिए कोई खाद्य पदार्थ अलग रख देना स्थापनाकर्म दोष कहलाता है।
६. **प्राप्तक** : साधु के आगमन की सम्भावना को दृष्टि में रखकर भोज आदि का दिन आगे पीछे कर देना।
७. **प्रादुष्करण** : दीपक/विद्युत् आदि का प्रकाश करके आहार देना प्रादुष्करण दोष युक्त आहार है।
८. **क्रीत** : साधु के निमित्त खरीद कर लाया गया पदार्थ क्रीत दोष वाला कहलाता है।
९. **प्राप्तित्य** : साधु को देने के लिये किसी से उधार लाना प्राप्तित्य दोष है।
१०. **परावर्त** : गृहस्थ किसी से आहार को अदल बदल कर साधु को दे तो वह परावर्त दोष है।
११. **अभिहृत** : अपने घर से या अन्य दूर गांव से लाए हुए आहार को मुनि के सम्मुख लाकर उन्हें वहोराना अभिहृत दोष है।
१२. **उदभिन्न** : सीलबंद डिब्बे एवं पैक शीशी आदि को खोलकर उसमें रखी गई वस्तु देना उदभिन्न दोष है।
१३. **मालापहृत** : ऊपर या नीचे की मंजिल, छींके, टान वगैरह या सीढ़ी आदि से उतार कर दिये जाने वाला आहार मालापहृत दोष युक्त होता है।
१४. **आच्छेद्य** : किसी निर्बल से छीन कर लाया गया आहार आच्छेद्य दोष वाला होता है।

१५. **अनिसृष्ट** : किसी द्रव्य पर जिन जिन व्यक्तियों का अधिकार हो उन सबकी आज्ञा के बिना किसी एक अधिकारी द्वारा दिया गया आहार अनिसृष्ट दोष से ग्रसित होता है।

१६. **अध्वपूरक दोष** : साधुओं को अपने गांव में आया जानकर अधिक भोजन बनाना अध्वपूरक दोष है।

आहार के ये सोलह दोष दाता अर्थात् गृहस्थ की अपेक्षा से होते हैं। ये उद्गम दोष कहलाते हैं। अब हम सोलह उत्पादन के दोषों का वर्णन करेंगे जो साधु के द्वारा उत्पादित दोष हैं -

उत्पादन के सोलह दोष

१. **धात्री दोष** : धाय की तरह गृहस्थ बालकों को, लाड़-प्यार, क्रीड़ा आदि द्वारा, खुश करके आहार ग्रहण करना धात्री दोष है।

२. **दूती दोष** : दूत की तरह संदेशवाहक का कार्य करके आहार ग्रहण करना दूती दोष है।

३. **निमित्त दोष** : हस्तरखा, शकुन आदि शुभ, अशुभ भविष्य बताकर आहार लेना निमित्त दोष है।

४. **आजीविका दोष** : अपनी जाति, कुल, वंश आदि का परिचय देकर आहार ग्रहण करना आजीविका दोष है।

५. **वनीपक दोष** : गृहस्थ के समक्ष अपनी दीनता का प्रदर्शन कर आहार ग्रहण करना वनीपक दोष है।

६. **चिकित्सा दोष** : औषध आदि बताकर आहार ग्रहण करना चिकित्सा दोष कहलाता है।

७. **क्रोधपिण्ड दोष** : गृहस्थ पर क्रोध करके अथवा श्राप आदि का भय दिखाकर आहार ग्रहण करना क्रोधपिण्ड दोष कहलाता है।

८. **मानपिण्ड दोष** : अपने प्रभुत्व का प्रदर्शन कर आहार ग्रहण करना मानपिण्ड दोष है।

९. **मायापिण्ड दोष** : छल कपट के द्वारा आहार ग्रहण करना मायापिण्ड दोष है।

१०. लोभपिण्ड दोष : सरस भिक्षा के लोभ से अधिक घूम घूम कर स्वादिष्ट आहार लेना लोभपिण्ड दोष है।
११. संस्तव दोष : दाता की या उस के माता पिता, सास श्वसुर आदि सम्बन्धियों की प्रशंसा करके आहार ग्रहण करना संस्तव दोष है।
१२. विद्या दोष : कोई विद्या सिखा कर आहार ग्रहण करना विद्या दोष है।
१३. मंत्र दोष : मंत्र-जप आदि की विधि बताकर आहार ग्रहण करना मंत्र दोष कहलाता है।
१४. चूर्ण दोष : वशीकरण चूर्ण आदि देकर आहार लेना चूर्ण दोष है।
१५. योगपिण्ड दोष : योग शक्ति का प्रदर्शन करके आहार ग्रहण करना योगपिण्ड दोष कहलाता है।
१६. मूल दोष : गृहस्थ की संतान के मूल आदि नक्षत्रों एवं ग्रह दोष निवारण के उपाय बताकर आहार ग्रहण करना मूल दोष कहलाता है।

एषणा के दस दोष

१. शक्ति : जिस आहार के प्रासुक एवं शुद्ध होने में शंका हो, ऐसा आहार शक्ति दोष युक्त कहलाता है।
 २. अक्षित : सचित्त द्रव्य से लिप्त आहार अक्षित दोष वाला होता है।
 ३. निक्षित : सचित्त वस्तु पर रखा हुआ आहार निक्षित दोष से दूषित होता है।
 ४. पिहित : सचित्त द्रव्य से आच्छादित आहार पिहित दोषयुक्त कहलाता है।
- उत्तरेष्ययनसूत्र के टीकाकार ने इसे स्पष्ट करने हेतु चार विकल्प दिये हैं^{१०} -
- १) सचित्त वस्तु से ढका हुआ सचित्त आहार।
 - २) अचित्त वस्तु से ढका हुआ अचित्त आहार।
 - ३) सचित्त से ढका हुआ अचित्त आहार।
 - ४) अचित्त से ढका हुआ सचित्त आहार।

इनमें से द्वितीय विकल्प निर्दोष है शेष विहित दोषयुक्त है।

५. **संहृत** : एक पात्र में से दूसरे पात्र में निकाल कर आहार आदि देना संहृत दोष है।

६. **दायक** : भिक्षा के अनधिकारी से भिक्षा ग्रहण करना दायक दोष कहलाता है।
यथा— अति बाल, अति वृद्ध, अंधा, पागल, गर्भवती स्त्री, मद्यपान किया हुआ, ज्वर पीड़ित, नपुंसक, कम्पित शरीर वाला, गलित हस्त, छिन्न पाद, मूक, बधिर; आदि से आहार लेना दायक दोष है।

७. **उन्मिश्र** : सचित्त द्रव्य से मिश्रित आहार उन्मिश्र दोष वाला होता है।

८. **अपरिणत** : अपरिणत दोष दो प्रकार का है— 1. द्रव्य अपरिणत दोष 2. भाव अपरिणत दोष । जो द्रव्य पूर्णतया अचित्त न बना हो उसे ग्रहण करना द्रव्य अपरिणत दोष है जैसे पूरी तरह पके बिना शाक आदि लेना । आहार के अधिकारी यदि दो व्यक्ति हों और उनमें से एक की इच्छा साधु को देने की न हो, ऐसा आहार ग्रहण करना भाव अपरिणत दोष है।

९. **लिप्त** : घृत आदि से लिप्त हाथ द्वारा आहार देना लिप्त दोष है ।

१०. **छर्दित** : नीचे गिराते हुये आहार देना/लेना छर्दित दोष युक्त कहलाता है।

ये १० एषणा के दोष साधु एवं गृहस्थ (दाता) दोनों के द्वारा सम्भावित हैं।

परिभोगैषणा के पांच दोष

'परिभोगैषणा' के दोष जो सामान्य बोलचाल की भाषा में मण्डली के दोष कहे जाते हैं, उत्तराध्ययनसूत्र की टीका में इन्हें ग्रासैषणा के दोष भी कहा गया है। इसके पांच भेद निम्न हैं—

(१) **संयोजना दोष** : रसलोलुपता के आहार में कारण दूध, शक्कर, घृत आदि मिलाकर खाना संयोजना दोष है।

(२) **अप्रमाण दोष** : प्रमाण से अधिक आहार करना अप्रमाण दोष कहलाता है।

(३) **अंगार दोष** : आहार की प्रशंसा करते हुए आहार करना अंगार दोष है।

इस सन्दर्भ में उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है — 'आहार करते समय मुनि भोज्य पदार्थों के सम्बन्ध में अच्छा बना है अच्छा पकाया है, अच्छा काटा है, इसका कड़वापन मिट गया है यह घृतादि से अच्छा स्वादिष्ट एवं रसयुक्त बना है, इस प्रकार के सावद्य वचनों का त्याग करे।'¹¹¹

(४) धूम : नीरस आहार की निन्दा करते हुए खाना धूम दोष है।

(५) अकारण : आहार करने के छः कारणों के अतिरिक्त मात्र शारीरिक पुष्टि हेतु आहार करना अकारण दोष है।

मुनि को आहार क्यों, कब एवं कैसे करना चाहिये, इसका उत्तराध्ययनसूत्र में विस्तृत विवेचन किया गया है।

आहार-ग्रहण के कारण :

उत्तराध्ययनसूत्र में आहार ग्रहण करने के मुख्य रूप से छः कारण प्रतिपादित किए गये हैं¹¹² -

१. क्षुधा निवृत्ति हेतु :

क्षुधा, जब साधना में विघ्न कारक बन जाय और मन की समाधि भंग होने की सम्भावना हो तो मुनि को आहार ग्रहण करना चाहिये।

२. वैयावृत्य के लिए :

अन्य साधुओं की सेवा सुश्रूषा के लिए मुनि को आहार ग्रहण करना चाहिये।

३. ईर्यापथ के शोधन के लिए :

साधु ईर्यापथ का सम्यक् प्रकार से पालन कर सकें अतः उन्हें आहार ग्रहण करना चाहिये दूसरे शब्दों में, गमनागमन की क्रिया में अहिंसा के पालन हेतु नैर्बल एवं शरीरबल को सुरक्षित रखने के लिए मुनि को आहार ग्रहण करना चाहिये। इस सन्दर्भ में मूलाचार में 'इरियद्वए' के स्थान पर 'किरियद्वए' पाठ मिलता है।¹¹³ उसका अर्थ है— षट् आवश्यक आदि क्रियाओं को सम्यक् रूप से

¹¹¹ 'सुद्धं ति सुपक्वं ति, सुच्छिन्ने सुहृडे मडे ।

सुनिष्ठिए सुलट्टे ति, सावज्जं वज्जे मुणी ॥'

- उत्तराध्ययनसूत्र १/३६ ।

¹¹² उत्तराध्ययनसूत्र - २६/३२ ।

¹¹³ मूलाचार - ६/६० ।

सम्पादित करने के लिए मुनि आहार करे।

४. संयम साधना के लिए :

संयम यात्रा के निर्वाह के लिए मुनि को आहार करना चाहिये, क्योंकि सामान्यतः आहार के अभाव में दीर्घकाल तक संयम साधना सम्भव नहीं होती है।

५. अहिंसा पालन के लिए :

अहिंसा के परिपालन के लिए भी मुनि को आहार करने की अनुज्ञा दी गई है। यदि मुनि आहार नहीं करेगा तो शरीरबल क्षीण होगा। और अशक्त साधक समितियों का सम्यक् प्रकार से परिपालन नहीं कर सकेगा। अतः अहिंसा की साधना के लिए मुनि को आहार ग्रहण करना चाहिये।

६. धर्म चिंतन के लिए :

उत्तराध्ययनसूत्र के टीकाकार शान्त्याचार्य ने धर्म के दो अर्थ किये हैं — धर्मध्यान और श्रुतधर्म।

१. धर्मध्यान : प्रशस्त ध्यान है, यह शुक्ल ध्यान का प्रारंभिक सोपान है।
२. श्रुतधर्म का अर्थ है — ज्ञान की आराधना।

धर्म-चिंतन में शारीरिक बल एवं मानसिक बल दोनों की आवश्यकता होती है। अतः शरीर बल एवं मनोबल की क्षमता को बनाए रखने के लिए मुनि को आहार ग्रहण करना चाहिये।

आहार त्याग के कारण :

मुनि को किन् परिस्थितियों में आहार-ग्रहण नहीं करना चाहिये, इसका उल्लेख करते हुए उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है^{१४} —

१. आंतक :

आकस्मिक प्राकृतिक अथवा अन्यकृत भयावह स्थितियां उत्पन्न होने पर मुनि आहार ग्रहण न करे जैसे भूकम्प, बाढ़ आदि की स्थिति।

^{१४} उत्तराध्ययनसूत्र २६/३४।

२. राज्य सम्बन्धी उपसर्ग :

राजा आदि के द्वारा उपसर्ग किये जाने पर मुनि आहार ग्रहण न करे।

३. ब्रह्मचर्य की सुरक्षा :

ब्रह्मचर्य व्रत की सुरक्षा के लिए मुनि आहार ग्रहण न करे। यदि आहार या सरस आहार के ग्रहण करने से वासना जागृत हो तो आहार का त्याग कर देना चाहिये।

४. प्राणीदया के लिए :

मुनि के आहार के निमित्त यदि अन्य किसी भी प्राणी को कष्ट होता है, तो ऐसी परिस्थिति में मुनि आहार ग्रहण न करे।

५. तपस्या के लिए :

पूर्वकृत कर्मों की निर्जरा का एक मात्र साधन तप है, अतः मुनि तपस्या के लिए आहार का त्याग करे।

६. शरीर व्युत्सर्ग के लिए :

मुनि शरीर का व्युत्सर्ग उसी परिस्थिति में करता है जब वह जान लेता है कि उसके शरीर एवं इन्द्रियों की शक्तियां क्षीण हो गई हैं, अब उस शरीर के द्वारा ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य रूपी धर्म का पालन सम्भव नहीं हो पा रहा है, तब वह आहार का त्याग कर समाधिमरण हेतु संलेखना व्रत को धारण कर ले।

इस प्रकार उत्तराध्ययनसूत्र में प्रतिपादित मुनि की दैनिक सामाचारी का विवेचन किया गया है।

१०.३.२ दशविघ्न सामाचारी

उत्तराध्ययनसूत्र में मुनि आचार के सन्दर्भ में दशविघ्न सामाचारी का संक्षेप में वर्णन किया गया है, जो निम्न है¹¹⁵ -

१. आवश्यकी :

साधु आवश्यक कार्य होने पर ही उपाश्रय से बाहर गमन करे। अनावश्यक रूप से गमनागमन नहीं करे। आचार्य हरिभद्र पंचाशकप्रकरण में लिखते हैं कि आवश्यक कार्य के लिए गुरु की आज्ञा से आगमोक्त ईर्यासमिति आदि का विधिपूर्वक पालन करते हुए वसति से बाहर निकलते हुए साधु की 'आवश्यकी' सामाचारी शुद्ध जानना चाहिये, क्योंकि उसमें आवश्यकी शब्द का अर्थ घटित होता है।¹⁶

मुनि को जब किसी आवश्यक कार्य से बाहर जाना हो तो वह 'आवस्सही' शब्द का उच्च स्वर से उच्चारण करके जाये ताकि अन्य मुनियों को भी उस मुनि के आवश्यक कार्य हेतु बाहर जाने की सूचना रहे। साथ ही उसे भी यह ध्यान रहे कि केवल आवश्यक कार्यों के सम्पादन हेतु वह उपाश्रय से निकला है अतः निश्चक परिभ्रमण अनुचित है। मुनि के आवश्यक कार्य क्या-क्या हैं इसकी चर्चा 'ईर्यासमिति' के सन्दर्भ में की जा चुकी है।

आवश्यकी सामाचारी से तीन बातें प्रतिफलित होती हैं:-

१. मुनि सप्रयोजन गमनागमन करे, निष्प्रयोजन नहीं।
२. अन्य मुनियों को उसके उपाश्रय से बाहर जाने की सूचना रहे, और
३. मुनि ईर्यासमिति का पालन करते हुए गमन करे।

२. नैषेधिकी :

उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि उपाश्रय में प्रविष्ट होने पर मुनि 'निस्सीहि' का उच्चारण करे।¹⁷ जिस प्रकार आवश्यक कार्यों के लिए वसति से बाहर निकलते समय 'आवस्सहि' शब्द का प्रयोग करना 'आवश्यकी' सामाचारी है, उसी प्रकार स्थान में प्रवेश करते समय 'निस्सीहि' शब्द का उच्चारण करना 'नैषेधिकी' सामाचारी है। इसका तात्पर्य यह है कि मुनि यह ध्यान रखे कि जब तक कोई अपरिहार्य कारण उपस्थित न हो तब तक उसे वसति या उपाश्रय से बाहर जाने का निषेध है।

११६ पंचाशकप्रकरण - १२/१८ ।

११७ उत्तराध्ययनसूत्र - २६/५ ।

इस प्रकार आवश्यक कार्य करने के लिए आवश्यकी और अकरणीय पाप कार्यों के निषेध के लिए नैवेधिकी सामाचारी है। इस सामाचारी का एक लाभ यह भी है कि स्थान में प्रवेश करते समय जब मुनि 'निरसीहि' का उच्च स्वर से उच्चारण करता है तो अन्य साधुओं को भी उसके आगमन की सूचना हो जाती है।

३. आपृच्छना :

अपना कोई भी कार्य करने के लिए गुरु एवं गुरु की अनुपस्थिति में अपने से दीक्षा में ज्येष्ठ साधु की अनुमति लेना आपृच्छना सामाचारी है।

गुरु की आज्ञापूर्वक कार्य करने से व्यक्ति की प्रवृत्ति आत्मा के लिए हितकारी एवं उचित कार्यों में ही होती है। उत्तराध्ययनसूत्र की टीका के अनुसार उच्छ्रवास, निश्वास के अतिरिक्त सभी कार्यों के लिए गुरु की अनुमति लेनी अनिवार्य है।¹¹⁸

आपृच्छना सामाचारी का फल बताते हुए 'पचाशकप्रकरण' में कहा गया है कि गुरु से पूछकर कार्य करने से, वर्तमान भव के पाप कर्मों का नाश होता है, पुण्यकर्मों का बन्ध होता है, आगामी भव में सद्गति, सद्गुरु का लाभ एवं सभी कार्यों की सिद्धि होती है।¹¹⁹

४. प्रतिपृच्छना :

उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार गुरु अथवा दूसरे साधुओं का कार्य सम्पादित करने हेतु गुरु से अनुमति लेना 'प्रतिपृच्छना' सामाचारी है। इस सन्दर्भ में उत्तराध्ययनसूत्र की टीका में यह भी कहा गया है कि एक बार किसी कार्य के लिए गुरु ने स्वीकृति दी हो किन्तु पुनः उसी काम को करना हो तो पुनः स्वीकृति प्राप्त करनी चाहिये।¹²⁰ कुछ आचार्य 'प्रतिपृच्छा' का पुनः पूछना अर्थ भी करते हैं। उनके अनुसार गुरु ने जिस कार्य को अनुचित होने के कारण मना किया था, आवश्यकता पड़ने पर उसी कार्य के लिए गुरु से पुनः आज्ञा लेना प्रतिपृच्छना सामाचारी है।

निषिद्ध कार्य हेतु पुनः पूछने का क्या औचित्य है ? इस सन्दर्भ में आचार्य हरिभद्र का मन्तव्य है कि इसमें दोष नहीं है, क्योंकि धर्म व्यवस्था में उत्सर्ग और अपवाद दोनों मार्ग हैं। उत्सर्ग से जो कार्य पहले अकरणीय था वह परिस्थिति

118 उत्तराध्ययनसूत्र टीका - पत्र - ५३५

- (शान्त्वाचार्य)।

119 पंचाशकप्रकरण १२/३८।

120 उत्तराध्ययनसूत्र टीका पत्र ५३५

- (शान्त्वाचार्य)।

विशेष में करणीय हो सकता है अतः पूर्वनिषिद्ध कार्य के सम्बन्ध में गुरु से पुनः पूछा जा सकता है, इसमें दोष नहीं है।¹²¹

५. छंदना :

स्वयं द्वारा लाये गये आहार, वस्त्र, पात्र आदि के लिए गुरु एवं अन्य साधुओं को आमंत्रित करना 'छंदना' सामाचारी है। 'छंद' शब्द का सामान्य अर्थ इच्छा होता है किन्तु 'प्राकृतहिन्दीशब्दकोश' में छंद शब्द के प्रार्थना, निमंत्रण, प्रणाम, ढक्कन आदि अनेक अर्थ किये गये हैं।¹²² प्रस्तुत प्रसंग में उसका अर्थ 'प्रार्थना' या 'निमंत्रण' है।

इस सामाचारी के पालन से संविभाग की चेतना का विकास होता है। उत्तराध्ययनसूत्र में असंविभागी मुनि को 'पाप श्रमण' कहा गया है।¹²³ 'दशवैकालिक' में भी कहा गया है कि असंविभागी को मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है।¹²⁴

६. इच्छाकार :

एक मुनि दूसरे मुनि से कोई कार्य करवाना चाहे, या स्वयं दूसरे का करना चाहे तो 'इच्छाकार' का प्रयोग करते हैं, यह इच्छाकार सामाचारी है अर्थात् कृपया आपकी इच्छा हो तो आप मेरा यह कार्य कर दीजिए या आपकी इच्छा हो तो आप मुझे आपका यह कार्य करने की अनुमति दीजिए। संघीय व्यवस्था में परस्पर सहयोग की आवश्यकता पड़ती है किन्तु वह सहयोग बल प्रेरित न होकर इच्छाप्रेरित होना चाहिये।¹²⁵ उत्सर्गमार्ग में बल प्रयोग सर्वथा वर्जित है किन्तु अपवाद मार्ग में दुर्विनीत को आदेश या आज्ञा देकर कोई कार्य करवाया जा सकता है।

उत्तराध्ययनसूत्र में 'सारणा' को इच्छाकार सामाचारी कहा गया है।¹²⁶ टीकाकार ने उसी को स्पष्ट करते हुए लिखा है औचित्यपूर्ण कार्य करना और करवाना 'इच्छाकार' सामाचारी है।¹²⁷ इस सामाचारी से सिद्ध होता है कि आध्यात्मिक क्षेत्र में व्यक्ति की स्वतंत्रता को विशेष रूप से सम्मान दिया गया है।

१२१ पंथासंस्कारण पृष्ठ २१२ ।

१२२ प्राकृतहिन्दीकोश, पृष्ठ ३२६ ।

१२३ उत्तराध्ययनसूत्र - १७/११ ।

१२४ दशवैकालिक ६/२/२२ ।

१२५ आवश्यकनिर्मुक्ति ६७७

१२६ उत्तराध्ययनसूत्र २६/६ ।

१२७ उत्तराध्ययनसूत्र टीका ५३५

- (निर्युक्तिप्रबन्ध, पृष्ठ ६७) ।

- (ज्ञान्यचार्या) ।

७. मिथ्याकार :

उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि अनुचित या अकरणीय कार्य करने पर उसकी निंदा करना मिथ्याकार सामाचारी है।¹²⁶ इसके स्पष्टीकरण में टीकाकार ने लिखा है कि यह 'मिथ्या' अर्थात् अनुचित है।¹²⁹ इस प्रकार मेरे द्वारा यह निन्दनीय कार्य किया गया; इसे स्वीकार करना मिथ्याकार सामाचारी है। गलती को गलती के रूप स्वीकार कर लेना 'मिथ्याकार' सामाचारी है।¹³⁰

स्वयं की भूल को स्वीकार कर लेने की यह मनोवैज्ञानिक पद्धति है। अपनी गलती को स्वीकार कर लेने का अर्थ है - उचित या अनुचित के प्रति आत्मसजगता। व्यक्ति जितने भी गलत, मिथ्या कार्य करता है सब असजगता अर्थात् प्रमत्तदशा में करता है, आत्मसजगता की स्थिति में कोई भी अशुभ कर्म / दुष्कृत्य हो ही नहीं सकता है। अतः यह सामाचारी स्वयं के व्यवहार की समालोचना की सूचक है; साथ ही भविष्य में उस गलती के पुनरावर्तन की संभावना भी कम होती है।

८. तथाकार :

गुरु के आदेश या उपदेश की सहज स्वीकृति तथाकार है। उत्तराध्ययनसूत्र की टीका में कहा गया है कि गुरु जब अध्ययन करवाये, आज्ञा या उपदेश दें तो मुनि 'तथाकार' सामाचारी का प्रयोग करे अर्थात् आप जो कह रहे हैं वह अवितथ है, सत्य है, वैसा ही है।¹³¹ ऐसे वचन का प्रयोग कर उसे आत्म स्वीकृति प्रदान करे। इस सामाचारी का पालन 'तहति' (तथ्य+इति) शब्द से किया जाता है।

इस सामाचारी के पालन से दो बातें प्रतिफलित होती हैं— १. स्वयं के ग्रह का विसर्जन होता है और २. गुरु के उल्लास में वृद्धि होती है। शिष्य जब गुरु की बात को स्वीकार करता है तो गुरु को इस बात का उल्लास होता है कि शिष्य मेरे द्वारा दिए गये ज्ञान को ग्रहण कर रहा है।

126 उत्तराध्ययनसूत्र २६/६।

127 उत्तराध्ययनसूत्र टीका - पत्र ५३५

128 अज्ञान धर्मों के आधार पर।

129 उत्तराध्ययनसूत्र टीका -पत्र ५३५

- (शान्त्याचार्य)।

- (शान्त्याचार्य)।

६. अभ्युत्थान .

उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार गुरु पूजा अर्थात् वरिष्ठजनों का सम्मान करना अभ्युत्थान सामाचारी है।¹³² वंदना आदि के द्वारा गुरु एवं गुरुजन का सत्कार, सम्मान करना, उनके आने पर आसन छोड़कर खड़े हो जाना आदि शिष्टाचार अभ्युत्थान सामाचारी है।

१०. उपसम्पदा :

उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है 'अच्छणे उपसम्पदा' अर्थात् किसी अन्य गुरु का शिष्यत्व अथवा सान्निध्य स्वीकार करना उपसम्पदा है।¹³³ उत्तराध्ययनसूत्र की टीका के अनुसार विशिष्ट ज्ञान आदि की प्राप्ति के लिए किसी आचार्य आदि के सान्निध्य को स्वीकार करना उपसम्पदा है। यह उपसम्पदा तीन प्रकार की है— ज्ञान सम्बन्धी, दर्शन सम्बन्धी और चारित्र सम्बन्धी।¹³⁴ आचार्य हरिभद्रसूरि ने पंचाशकप्रकरण में इसके चार प्रकार प्रतिपादित किये हैं जिसमें पूर्वोक्त तीन के साथ चौथी तप सम्बन्धी उपसम्पदा भी है।¹³⁵ वैसे इनमें कुछ अन्तर नहीं है क्योंकि चारित्र के अन्तर्गत तप का अन्तर्भाव किया जाता है।

उपसम्पदा ग्रहण करना, यह औत्सर्गिक विधि नहीं है, आपवादिक विधि है। जब मुनि वर्तमान में जिस गण की व्यवस्था में रह रहा है, वहां ज्ञान, दर्शनादि की विशिष्ट उपलब्धि कराने वाले मुनि न हों तो वह गुरु की आज्ञा से दूसरे गण के आचार्य आदि का सान्निध्य स्वीकार करता है। आवश्यकनिर्युक्ति एवं पंचाशकप्रकरण में उपसम्पदा की विधि का विस्तृत रूप से वर्णन किया गया है।¹³⁶ जैन एवं बौद्ध परम्पराओं में क्रमशः महाव्रतारोपण अथवा भिक्षुसंघ की सदस्यता प्रदान करने से सम्बन्धित जो दीक्षा दी जाती है उसे उपसम्पदा कहा जाता है।

१३२ उत्तराध्ययनसूत्र - २६/७ ।

१३३ उत्तराध्ययनसूत्र - २६/७ ।

१३४ उत्तराध्ययनसूत्र टीका - पत्र ५३५

- (शान्त्याचारी) ।

१३५ पंचाशकप्रकरण - १२/४२ ।

१३६ (क) आवश्यकनिर्युक्ति - ७००

- (निर्युक्तिसंग्रह, पृष्ठ ६६)

(ख) पंचाशकप्रकरण - १२/४४ ।

१०.४ बाईस परीषह

उत्तराध्ययनसूत्र के द्वितीय 'परीषह' अध्ययन में मुनि के बाईस परीषहों का निरूपण किया गया है। टीकाकार शान्ताचार्य के अनुसार साधना के क्षेत्र में जिन कठिनाईयों को सहन करना होता है उन्हें 'परीषह' कहा जाता है।^{१३७} स्थानांगसूत्र में भी कहा गया है समभाव पूर्वक परीषह सहन करने वाले साधक की कर्म निर्जरा होती है।^{१३८} तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार मोक्ष मार्ग से च्युत न होने तथा कर्म निर्जरा के लिए जो कुछ सहने योग्य हैं, वह परीषह है।^{१३९}

परीषह के शाब्दिक अर्थ पर विचार करने पर 'परि' अर्थात् समूचे रूप से अथवा अविचलित भाव से एवं 'षह' अर्थात् सहन करना इस प्रकार साधना मार्ग में आने वाली अनुकूल एवं प्रतिकूल परिस्थितियों को समभाव से सहन करना 'परीषह' है।

श्रमणसाधना का मुख्य साध्य 'समत्व' है। संयम यात्रा में समत्व से विचलन हेतु अनेक अनुकूल - प्रतिकूल परिस्थितियाँ आती हैं; उन परिस्थितियों में समभाव रखना या उन्हें समभाव से सह लेना ही परीषहजय है। उत्तराध्ययनसूत्र, समवायागसूत्र आदि में बाईस परीषहों का वर्णन किया गया है, साथ ही उन पर विजय प्राप्त करने की प्रेरणा भी दी गई है। ये बाईस परीषह निम्न हैं^{१४०} -

(१) क्षुधा परीषह :

क्षुधा के लिये सामान्य बोलचाल की भाषा में भूख शब्द का प्रयोग किया जाता है। भूख की पीड़ा को असाध्य माना गया है। क्षुधा की तीव्र वेदना होने पर भी यदि प्रासुक एवं निर्दोष आहार न मिले तो उस वेदना को समभाव से सहन करना क्षुधा परीषह जय है।

उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि भूख से पीड़ित होने पर अथवा शरीर के अत्यन्त कृश हो जाने पर भी मुनि क्षुधा शांति के लिए न तो स्वयं सचित्त

१३७ उत्तराध्ययनसूत्र टीका - पत्र १२६

- (शान्ताचार्य)।

१३८ स्थानांग - ६/१/७४

- (अंगसुताभि, ताडनू, खण्ड १, पृष्ठ ६६२)।

१३९ तत्त्वार्थसूत्र - ६/८।

१४० (क) उत्तराध्ययनसूत्र - द्वितीय 'परीषह' अध्ययन;

(ख) समवायाग - २२/१

- (अंगसुताभि, ताडनू, खण्ड १, पृष्ठ २५६)।

फलादि तोड़े, न दूसरे से तुड़वाए, न पकाये और न पकवाए अपितु क्षुधाजन्य कष्ट को समभाव से सहन करे, यह क्षुधा परीषह पर विजय है।¹⁴¹

(२) पिपासा परीषह :

तृषा वेदना को सहना पिपासा परीषह है । तीव्र प्यास से व्याकुल होने पर अहिंसक मुनि सचित्त जल की आकांक्षा नहीं करे और अदीन भाव से, समभाव से, अचित्त जल की ही एषणा करे, यह पिपासा परीषह पर विजय है।

(३) शीत परीषह :

ग्रामानुग्राम विचरण करते समय शीतजन्य कष्ट के आने पर चाहे शीत निवारक स्थान एवं वस्त्रादि का अभाव हो फिर भी मुनि को अग्नि से शरीर को तपाने आदि की आकांक्षा नहीं करना चाहिये । यह शीत परीषह जय है।

(४) उष्ण परीषह :

इसे आतप परीषह भी कहा जाता है। ग्रीष्मकाल में धूप में चलते हुए धूल, पसीने आदि से परेशान होने पर भी स्नान करना, मुख पर पानी छिड़कना, पंखा झलना आदि ताप निवारक उपायों की अभिलाषा न करना, उष्ण परीषह जय है।

(५) दंशमशक परीषह :

मच्छर आदि जन्तुओं से काटे जाने पर संग्राम में आगे रहने वाले हाथी की तरह अडिग रहकर उन रूधिर तथा मांस खाने वाले मच्छरों को न हटाना और न ही उन्हें पीड़ित करना, दंशमशक परीषह पर विजय है।

(६) अचेल परीषह :

वस्त्र के अभाव में या अल्प वस्त्र के होने पर वस्त्र प्राप्ति की आकांक्षा न रखना अथवा वस्त्र सम्बन्धी विकल्प न करना, अचेल परीषह जय है।

(७) अरति परीषह :

मुनि चर्या का पालन करते समय कभी मुनि को संयम के प्रति अरति/अरुचि हो सकती है। ऐसी परिस्थितियों में उत्तराध्ययनसूत्र में अहिंसक,

मुनि को अरति परीषह सहन करने की प्रेरणा दी गई है।¹⁴²

अरति परीषह को स्पष्ट करते हुए उत्तराध्ययनसूत्र के टीकाकार शान्त्याचार्य ने लिखा है कि मोहनीय कर्म के उदय से यदि मुनि को संयम के प्रति अरति अर्थात् अरुचि का भाव उत्पन्न हो जाए तो उसे धर्मारोधना में किञ्चनभूत मानकर सहना चाहिये।¹⁴³

(८) स्त्री परीषह :

उत्तराध्ययनसूत्र में स्त्रियों को संग कहा गया है।¹⁴⁴ मनुष्य को मोहित करने में स्त्रियों की विशेष भूमिका रहती है, अतः उन्हें उपचार से आसक्ति रूप 'संग' कहा गया है: आत्मगवेषक मुनि को स्त्रियों के द्वारा संयम से विचलित नहीं होना चाहिये; यही स्त्री परीषह पर विजय है। इसी प्रकार साध्वी को भी पुरुष की ओर आकर्षित न होकर इस परीषह पर विजय प्राप्त करना चाहिये।

उत्तराध्ययनसूत्र की टीका में इस सन्दर्भ में स्थूलभद्र मुनि की कथा उल्लिखित है।¹⁴⁵ स्थूलभद्र मुनि ने अपनी गृहस्थावस्था की परिचिता कोशा के यहां चातुर्मास किया। कोशा ने मुनि को संयम से विचलित करने हेतु अनेक प्रयास किये। किन्तु मुनि उसके हावभाव से जरा भी विचलित नहीं हुए। उन्होंने समभावपूर्वक केवल स्त्री परिषह को ही सहन नहीं किया वरन् वेश्या को जिनधर्म की आराधिका, बारह व्रतधारी श्राविका बना दिया।

(९) चर्या परीषह :

यहां चर्या का अर्थ 'गमन' किया गया है। मुनि अप्रतिबद्ध विहारी होते हैं, वे चातुर्मास के अतिरिक्त स्वतंत्र रूप से विचरण करते रहते हैं। वे मार्ग में चलते हुए परिचित-अपरिचित गांवों में अनुकूल, प्रतिकूल परिस्थितियों को समभाव पूर्वक सहन करते हैं, यही चर्या परीषह जय है।

¹⁴² उत्तराध्ययनसूत्र - २/१४, १५।

¹⁴³ उत्तराध्ययनसूत्र टीका - पृ. १३०

¹⁴⁴ उत्तराध्ययनसूत्र - २/१६।

¹⁴⁵ उत्तराध्ययनसूत्र टीका - पृ. १३१

- (शान्त्याचार्य)।

- (शान्त्याचार्य)।

(१०) निषेधिका परीषह :

श्मशान, शून्यगृह, वृक्षमूल आदि स्थानों में स्थित या ध्यानस्थ मुनि को यदि कोई कष्ट या भय आदि हो तो भी वह उस स्थान से अन्यत्र कहीं गमन नहीं करे तथा उपसर्गों को समभाव पूर्वक सहन करे यही निषेधिका परीषह पर विजय है।

(११) शय्या परीषह :

जैनपरम्परा में मुनिचर्या के सन्दर्भ में शय्या शब्द के दो अर्थ किये गये हैं - १. सोने का स्थान और २. आवास या ठहरने का स्थान। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि मुनि को सोने या ठहरने के लिए यदि ऊंचा-नीचा/असमतल अथवा प्रतिकूल स्थान मिले तो भी वह मन को समभाव में स्थिर रखे, विचलित न हो, यही शय्या परीषह जय है।

शय्या परीषह के सन्दर्भ में मुनि यह सोचकर समभाव धारण करे कि मात्र एक रात्रि तो रहना है, एक रात्रि के निवास मात्र में यह प्रतिकूल शय्या भेरा कौन सा बड़ा अहित कर देगी।¹⁴⁶ उत्तराध्ययनसूत्र के टीकाकार के अनुसार मूल गाथा में स्निहकल्पी मुनि की अपेक्षा से एक रात्रि का उल्लेख किया गया है।¹⁴⁷

(१२) आक्रोश परीषह :

दारुण कण्ठक के समान मर्म भेदक कठोर वचनों को सुनकर भी चुप रहना तथा उसके प्रति थोड़ा सा भी क्रोध नहीं करना आक्रोश परीषह जय है। सरल शब्दों में किसी के आक्रोश को समभाव से सहन करना ही आक्रोश परीषह जय है।

(१३) वध परीषह :

कोई अज्ञानी पुरुष डंडे आदि से मुनि पर प्रहार करे, केदाचित् उनका प्राणान्त करने के लिए भी तत्पर हो तो भी मुनि यह विचार करे कि आत्मा का कभी नाश नहीं होता है; तितिक्षा या क्षमा भाव धारण करे; प्रतिशोध की भावना नहीं रखे। यह वध परीषह को सहन करना है।

(१४) याचना परीषह :

मुनि के पास जो भी वस्तुएं होती हैं वे सब गृहस्थ से याचित होती हैं। उनके पास अयाचित कुछ नहीं होता है, किन्तु याचना करते समय अनेक बार

१४६ उत्तराध्ययनसूत्र - २/२२, २३ ।

१४७ उत्तराध्ययनसूत्र टीका - पत्र १३२

- (शान्त्यध्यायी) ।

अपेक्षा तो गृहस्थजीवन में रहना ही अच्छा है, इस प्रकार का याचनाजन्य दीनता का भाव न आने देना याचना परीषह जय है। याचना में मान कषाय पर विजय पाना होता है, जो अत्यन्त दुष्कर है।

(१५) अलाभ परीषह :

आहार आदि की अप्राप्ति या अल्प प्राप्ति में मुनि को दुःखी नहीं होना चाहिये; बल्कि इस भावना से मन को आश्वस्त करना चाहिये कि अभी मुझे भिक्षा नहीं मिली तो क्या हुआ, तप का लाभ तो मिला ।

मुनि की आवश्यकता की पूर्ति गृहस्थ पर आश्रित होती है, अतः उसे कभी अपेक्षित सभी कुछ मिल जाता है, तो कभी कुछ भी नहीं मिलता है अर्थात् उसको कभी लाभ होता है तो कभी अलाभ। लाभ में हर्ष तथा अलाभ में विषाद दोनों ही साधना में बाधक हैं। अतः मुनि को समत्व भाव के द्वारा इस परीषह को सहने की प्रेरणा दी गई है।

(१६) रोग परीषह :

शरीर में किसी प्रकार की व्याधि उत्पन्न हो जाने पर भी चिकित्सा नहीं करवाना तथा समभाव से रोग को सहन करना रोग परीषह पर विजय है।

उत्तराध्ययनसूत्र के टीकाकार शान्त्याचार्य के अनुसार चिकित्सा करने एवं करवाने का यह सर्वथा निषेध जिनकल्पी मुनि के लिए है। स्थविर कल्पी मुनि के लिए सावद्य चिकित्सा का निषेध है। शान्त्याचार्य ने अपवाद के रूप में सावद्य चिकित्सा को भी स्वीकार किया है। उन्होंने उसके पांच कारण भी प्रतिपादित किए हैं¹⁴⁸ -

उत्तराध्ययनसूत्र के मृगापुत्र नामक अध्ययन की साधुचर्या को मृगचर्या कहा गया है। हिरण की बीमारी में कौन दवा करता है ? वह बीमार होने पर एक जगह बैठ जाता है और थोड़ा स्वस्थ होते ही अपनी चर्या करने लगता है; साधु को भी इसी प्रकार का होना चाहिये।¹⁴⁹

(१७) तृणस्पर्श परीषह :

तृण आदि की स्पर्शजन्य पीड़ा को समभाव से सहन करना तृणस्पर्श परीषह है। जो मुनि अचेल होते हैं, वस्त्र रहित होते हैं, वे जब घास पर शयन करते

¹⁴⁸ उत्तराध्ययनसूत्र टीका - पत्र १२० ।

¹⁴⁹ उत्तराध्ययनसूत्र - ५६/७६-८४ ।

तृण आदि की स्पर्शजन्य पीड़ा को समभाव से सहन करना तृणस्पर्श परीषह है। जो मुनि अचेल होते हैं, वस्त्र रहित होते हैं, वे जब घास पर शयन करते हैं तो उनके शरीर में तृण आदि के चुभने से पीड़ा होती है, उसे समभावपूर्वक सहन करना तृणस्पर्श परीषह पर विजय प्राप्त करना है। चूर्णि एवं वृत्ति के अनुसार यह परीषह जिनकल्पी मुनि की अपेक्षा से है।¹⁵⁰ वर्तमान में दिगम्बर साधु को यह परीषह सहन करना होता है तथा श्वेताम्बर साधुओं को भी नंगे पैर चलने के कारण यह परीषह सहन करना होता है।

(१८) जल्ल परीषह :

शरीर यदि पसीने, धूल आदि से व्याप्त हो जाए तो भी मुनि को स्नान आदि की आकांक्षा नहीं करनी चाहिये और न ही पसीने आदि से युक्त शरीर से घृणा करनी चाहिये। यही जल्ल परीषह जय है।

(१९) सत्कार – पुरस्कार परीषह :

इस परीषह में सत्कार और पुरस्कार ये दो शब्द हैं। उत्तराध्ययनसूत्र के चूर्णिकार के अनुसार सत्कार का अर्थ है – अच्छा करना तथा सत्कार को ही पुरः अर्थात् आगे रखना सत्कार पुरस्कार है।¹⁵¹ उत्तराध्ययनसूत्र की टीका में परीषह अध्ययन के तीसरे सूत्र की व्याख्या में लिखा है – अतिथि की वस्त्रदान आदि से पूजा करना सत्कार है तथा अभ्युत्थान (खड़ा होना), आसन प्रदान करना आदि पुरस्कार है। दूसरे शब्दों में अभ्युत्थान एवं अभिवादन आदि के द्वारा किसी को सम्मान देना सत्कार पुरस्कार है।¹⁵²

तत्त्वार्थराजवार्तिक के अनुसार सत्कार का अर्थ पूजा प्रशंसा तथा पुरस्कार का अर्थ किसी कार्य के लिए किसी व्यक्ति को मुखिया बनाना या उसे आमंत्रित करना पुरस्कार है।¹⁵³ इस प्रकार सत्कार-सम्मान प्राप्त करना ही सत्कार पुरस्कार है। इसे परीषह इसलिए कहा गया है कि इससे आत्मसाधना में बाधा उत्पन्न होती है और मान कषाय का पोषण होता है। अतः ऐसी अवस्था में समभाव रखना, विचलित नहीं होना, सत्कार पुरस्कार परीषह जय है।

१५० (क) उत्तराध्ययनसूत्र चूर्णि पत्र - ८१;

(ख) उत्तराध्ययनसूत्र टीका पत्र - १३८

– (शान्त्याचार्य)।

१५१ उत्तराध्ययनसूत्र चूर्णि पत्र - ७६।

१५२ उत्तराध्ययनसूत्र टीका पत्र १३८

– (शान्त्याचार्य)।

१५३ तत्त्वार्थराजवार्तिक - ६/१०।

संक्षेप में अन्य साधु आदि का सम्मान होता देखकर स्वयं के लिए उसकी आकांक्षा न करना तथा स्वयं के सम्मानित होने पर अभिमान नहीं करना सत्कार पुरस्कार परीषद को सहन करना है।

(२०) प्रज्ञा परीषद :

विद्वान् मुनि से सभी अपनी जिज्ञासाओं का समाधान चाहते हैं, किन्तु वह सभी की जिज्ञासाओं का समाधान कर सके यह सम्भव नहीं होता है।

उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार किसी के पूछे जाने पर यदि मुनि उसका उत्तर न दे सके तो वह खेद न करे, वरन् यह चिन्तन करे कि ये मेरे ही पूर्वकृत अज्ञान रूपी कर्मों का फल है। यही प्रज्ञा परीषद जय है।¹⁵⁴

इस प्रकार उत्तराध्ययनसूत्र मूल में जहां प्रज्ञा के अपकर्ष को प्रज्ञा परीषद कहा है वहीं टीकाकार शान्त्याचार्य ने प्रज्ञा के अपकर्ष व उत्कर्ष दोनों को सहन करना प्रज्ञा परीषद बतलाया है। प्रज्ञा के उत्कर्ष में अहंकार न करना और अपकर्ष में दुःखी नहीं होना प्रज्ञा परीषद जय है।¹⁵⁵ कभी कभी प्रज्ञावान् मुनि को अपनी जिज्ञासाओं के समाधान आदि हेतु अनेक लोग घेरे रहते हैं, ऐसी स्थिति में कभी आत्मसाधना में, तो कभी शारीरिक सुख सुविधाओं में, बाधा उत्पन्न होती है। ऐसी परिस्थिति में समभाव रखना, आक्रोश नहीं करना, प्रज्ञा परीषद को जीतना है।

(२१) अज्ञान परीषद :

तप, साधना करने के बाद भी यदि प्रगाढ़ ज्ञानावरणीय कर्म के प्रभाव से अज्ञान का नाश नहीं हो तो भी मुनि उसे समभाव से सहन करे अर्थात् सत् पुरुषार्थ को व्यर्थ न समझे। यही अज्ञान परीषद को जीतना है। ज्ञान की अनुपलब्धि में भी समत्व धारण करना अज्ञान परीषद है।

(२२) दर्शन परीषद :

आस्था को विचलित करने वाली परिस्थितियों में भी अपनी आस्था को सुरक्षित रखना अर्थात् उनसे विचलित न होना, दर्शन परीषद है।

¹⁵⁴ उत्तराध्ययनसूत्र - २/४०-४१ ।

¹⁵⁵ उत्तराध्ययनसूत्र टीका पत्र - १२८

- (शान्त्याचार्य) ।

इन बाईस परिषदों में बीस परीषद प्रतिकूल एवं दो परीषद अनुकूल हैं। आचारागनिर्युक्ति में अनुकूल परीषदों को शीतपरीषद एवं प्रतिकूल परीषदों को उष्ण परीषद कहा गया है।¹⁵⁶ इस प्रकार हमने परीषदों की चर्चा को सामान्यतया परीषद, उपसर्ग और तप को समान मान लिया है, किन्तु इन तीनों में सूक्ष्म अन्तर है जिसकी चर्चा हम अग्रिम पृष्ठों में करेंगे।

परीषद : उपसर्ग : तप

मुनि जीवन के साधना काल में तीन महत्त्वपूर्ण स्थितियां होती हैं - परीषद, उपसर्ग एवं तप। उत्तराध्ययनसूत्र में परीषद एवं तप का विस्तृत विवेचन किया गया है। उपसर्ग के सन्दर्भ में उत्तराध्ययनसूत्र में एक गाथा उपलब्ध होती है जिसमें उपसर्ग देने वाले की अपेक्षा से उसके देवकृत, मनुष्यकृत एवं तिर्यचकृत ऐसे तीन भेद किये गये हैं।¹⁵⁷ सामान्य जन बहुधा परीषद, उपसर्ग एवं तप को समानार्थक समझ लेते हैं किन्तु वस्तुतः इन तीनों का प्रयोजन एक होते हुए भी इनमें मौलिक अन्तर है, जिन्हें हम निम्न बिन्दुओं के माध्यम से समझ सकते हैं-

१. परीषद :

साधक के जीवन में सहज रूप से आने वाली, साधना में बाधक परिस्थितियां परीषद कहलाती हैं। यद्यपि कुछ परीषद अनुकूल प्रतीत होते हैं, किन्तु साधना में विघ्नकारक होने से वस्तुतः तो वे भी प्रतिकूल ही हैं। ये परीषद देव, मनुष्य या तिर्यच के निमित्त भी हो सकते हैं, किन्तु उनके पीछे देवादि की दुर्भावना नहीं होती है। दुर्भावना होने पर वे उपसर्ग हो जाते हैं।

२. उपसर्ग :

साधना पथ पर चलने वाले साधक को दिये जाने वाले दुःख या कष्ट उपसर्ग कहलाते हैं। ये पूर्वकृत वैर के कारण या साधक की परीक्षा की भावना से देव, मनुष्य या तिर्यच के द्वारा दिये जाते हैं। उपसर्ग अनुकूल, प्रतिकूल दोनों प्रकार

के होते हैं, अनुकूल उपसर्ग भी साधना में बाधक होते हैं।

३. तप :

साधक तप के द्वारा स्वेच्छा पूर्वक कष्ट सहन करते हैं। पूर्वकृत कर्मों की निर्जरा का अथवा पूर्व कर्मों के ऋण से मुक्त होने का एक मात्र साधन तप ही है। साधक इन्हें स्वेच्छा से स्वीकार करते हैं। इस प्रकार इन तीनों के स्वरूप एवं संख्या में भी अन्तर है। जहां परीषह भूख, प्यास, शीत, उष्ण आदि बाईस होते हैं जिनका विस्तृत विवेचन हम कर चुके हैं, वहीं उपसर्ग अनेक प्रकार के होते हैं। कभी कभी परीषह भी उपसर्ग बन जाते हैं यदि वे किसी के द्वारा कष्ट देने की भावना से दिये जायें जैसे, प्रभु महावीर पर संगमदेव ने परीक्षा लेने की भावना से एक रात में बीस उपसर्ग किये थे।

जहां तक तप का प्रश्न है उसके बारह भेद हैं - अनशन, ऊणोदरी, वृत्तिसंक्षेप (भिक्षाचर्या), रसपरित्याग, कायक्लेश, संलीनता एवं प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और कायोत्सर्ग। इनका विवेचन स्वतन्त्र रूप से किया गया है। यहां तो हमारा उद्देश्य इन तीनों के पारस्परिक सम्बन्ध को स्पष्ट करना है।

क्षेत्र की अपेक्षा से यदि विचार किया जाय तो परीषह की अपेक्षा से उपसर्ग तथा तप का क्षेत्र व्यापक है क्योंकि परीषह के रूप में आने वाली ही परिस्थितियां यदि किसी के द्वारा कष्ट देने के प्रयोजन से प्रस्तुत की जायें तो वे ही उपसर्ग बन जाती हैं तथा परीषह में आने वाली कुछ परिस्थितियां जैसे भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी आदि को सहन करने की प्रतिज्ञा ले ली जायें तो वही तप के अन्तर्गत आ जाती हैं। वस्तुतः परीषह एवं उपसर्ग पर विजय भी तप के माध्यम से ही प्राप्त की जा सकती है क्योंकि ध्यान एवं कायोत्सर्ग करने वाला साधक ही प्रत्येक परिस्थिति में अविचलित रह सकता है।

तीनों में समरूपता :

परीषह, उपसर्ग तथा तप तीनों का लक्ष्य कठिन परिस्थितियों में क्षमनाव की साधना है। साधक इन तीनों स्थितियों में समता की ही साधना करता है और कर्मों की निर्जरा करके मोक्ष को प्राप्त करता है, फिर भी इन तीनों में जो

सूक्ष्म अन्तर है, उसे ध्यान में रखना चाहिये— परीषह स्वभाविक रूप से आते हैं, उपसर्ग दिये जाते हैं और तप किया जाता है।

१०.५ दशविध मुनिधर्म

जैन ग्रन्थों में 'दशविध श्रमणधर्म' का वर्णन व्यापक रूप से उपलब्ध होता है। उत्तराध्ययनसूत्र में इनसे सम्बन्धित चर्चा का वर्णन एक साथ नहीं मिलता है। इसके नवमें अध्ययन में आर्जव, मार्दव, क्षमा एवं मुक्ति इन चार धर्मों का ही उल्लेख मिलता है^{१५६}। साथ ही इसके इकतीसवें अध्ययन में स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि जो दशविध मुनिधर्म में उपयोग रखता है, वह संसार में परिश्रमण नहीं करता है। इस गाथा की व्याख्या में उत्तराध्ययनसूत्र के टीकाकार भावविजयगणि ने निम्न दस धर्मों का उल्लेख किया है^{१५७} — १. क्षमा २. मार्दव ३. आर्जव ४. मुक्ति ५. तप ६. संयम ७. सत्य ८. शौच ९. अकिंचन और १०. ब्रह्मचर्य।

प्रकारान्तर से इन दस धर्मों का वर्णन, आचारांग, स्थानांग, समवायांग, मूलाचार, बारसानुवेकखा, तत्त्वार्थसूत्र आदि अनेक ग्रन्थों में भी प्राप्त होता है।^{१५८} यहां यह विशेष रूप से ज्ञातव्य है कि यद्यपि इन दस धर्मों के साथ प्रायः श्रमण या यति शब्द का प्रयोग किया जाता है तथापि ये दशविध धर्म श्रमण एवं गृहस्थ दोनों के लिये आचरणीय हैं। यहां प्रयुक्त धर्म शब्द सदगुण या सदाचरण का परिचायक है। उपर्युक्त ग्रन्थों में इनके क्रम एवं नामों में कुछ अंतर अवश्य प्राप्त होता है फिर भी मूल भावना में कहीं कोई अंतर नहीं है। हम इनका विवेचन उत्तराध्ययनसूत्र की टीका के क्रम के अनुसार प्रस्तुत कर रहे हैं।

१५८ उत्तराध्ययनसूत्र - ६/५७।

१५९ उत्तराध्ययनसूत्र टीका पत्र - ३०१६ - (भावविजयगणि)।

१६० (क) आचारांग - १/६/५;

(ख) स्थानांग - १०/१४;

(ग) समवायांग - १०/६;

(घ) मूलाचार - ११/१५;

(ङ) तत्त्वार्थ - ६/१२।

(च) बारसानुवेकखा ७१।

१. क्षमा :

क्षमा आत्मा का प्रमुख धर्म है। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि साधक क्रोध से अपने आपको बचाये रखे।¹⁶¹ दशवैकालिकसूत्र में कहा गया है कि क्षमा के द्वारा ही क्रोध पर विजय प्राप्त की जा सकती है।¹⁶²

जैनपरम्परा में दूसरों को क्षमा करना एवं स्वयं के दोषों के लिये क्षमा याचना करना साधक का अनिवार्य कर्तव्य है। इसके लिये जैनपरम्परा में प्रत्येक साधक द्वारा सायंकाल, प्रातःकाल, पक्षान्त (पंद्रह दिवस) में, चार माह (चातुर्मास पूर्ण होने पर) में और संवत्सरि पर्व पर सभी प्राणियों से क्षमा याचना करने का विधान है। क्षमा की भावना से भावित होने पर साधक यह चिंतन करता है कि मैं सभी प्राणियों को क्षमा करता हूँ और सभी प्राणी भी मुझे क्षमा करें। मेरी सभी प्राणियों से मित्रता है। किसी से मेरा वैर नहीं है। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है 'मेतिं भूएसु कप्पए' अर्थात् सभी प्राणियों के प्रति मैत्रीभाव धारण करे।¹⁶³

२. मार्दव :

क्षमा के समान मार्दव भी आत्मा का स्वभाव है। मार्दव का शाब्दिक अर्थ मृदोभावः मार्दवः अर्थात् मृदुता कोमलता या विनम्रता है। मान कषाय के उपशांत होने पर मार्दव धर्म प्रकट होता है। कषायों में पहला स्थान क्रोध का एवं द्वितीय स्थान मान का है। दशविध धर्मों में भी पहला स्थान क्षमा (क्रोध का प्रतिपक्ष) का तथा दूसरा स्थान मार्दव (मान का प्रतिपक्ष) का है।

क्रोध का विपक्ष क्षमा एवं मान का विपक्ष मार्दव है। यद्यपि क्रोध एवं मान दोनों द्वेष रूप होते हैं फिर भी इनमें स्वभावगत अन्तर है; कोई हमारी निन्दा करे तो हमें क्रोध आता है और कोई हमारी प्रशंसा करे तो हमें मान हो जाता है। इस प्रकार निन्दा एवं प्रशंसा के क्षणों में कषाय रूप परिणति ही क्रमशः क्रोध और मान बन जाती है। जैसे, शारीरिक स्वास्थ्य के कमजोर होने पर व्यक्ति को सर्दी एवं गर्मी दोनों परेशान करती है; उसे सर्दी में जुखाम एवं गर्मी में लू आदि लग जाती है। इसी प्रकार आत्मिक बल के क्षीण होने पर अर्थात् समत्व से विचलन

१६१ उत्तराध्ययनसूत्र - ४/१२ ।

१६२ दशवैकालिक - ८/३८ ।

१६३ उत्तराध्ययनसूत्र - ६/२ ।

होने पर व्यक्ति को निन्दा एवं प्रशंसा दोनों ही मनोविकार परेशान करते हैं। उसे न निन्दा की गरम हवा सहन होती है न प्रशंसा की ठंडी हवा। फलतः वह क्रोध एवं मान कषाय रूपी रोग से ग्रस्त हो जाता है।

क्रोध पर विजय प्राप्त करने का उपाय जैसे क्षमा भाव है उसी प्रकार विनय से मान पर विजय प्राप्त की जाती है। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि साधक विनय के द्वारा अहंकार पर विजय प्राप्त करे।¹⁶⁴ इसमें विनय धर्म का अत्यन्त व्यापक रूप से वर्णन किया गया है। इसके प्रथम अध्ययन का नाम ही विनयश्रुत है। यह इस बात का सबल प्रमाण है कि उत्तराध्ययनसूत्र में विनय धर्म को प्रमुखता प्रदान की गई है। दशवैकालिकसूत्र में भी विनय का विस्तृत विवेचन किया गया है।¹⁶⁵

जैनाचार्यों ने विनय अर्थात् मार्दव भाव को धर्म का मूल कहा गया है। उत्तराध्ययनसूत्र में मान (मद) के आठ प्रकारों का उल्लेख किया गया है। इस की टीका के अनुसार इनके नाम निम्न हैं¹⁶⁶— १. जातिमद २. कुल मद ३. बल मद ४. रूप मद ५. तप मद ६. ऐश्वर्य मद ७. ज्ञानमद और ८. लाभ मद।¹⁶⁷ प्रकारान्तर से रत्नकरंडकश्रावकाचार में भी इन आठ मदों का उल्लेख प्राप्त होता है।¹⁶⁸ बौद्धदर्शन में यौवन, आरोग्य, जीवन, जाति, धन और गोत्र इन छः मदों से बचने का निर्देश दिया गया है। मार्दव धर्म का महत्त्व प्रतिपादन करते हुए उत्तराध्ययनसूत्र के उनतीसवें अध्ययन में कहा गया है कि मृदुता से जीव अनुद्धत भाव को प्राप्त होता है। अनुद्धतजीव मृदु-मार्दव भाव से सम्पन्न होता है और आठ मद स्थानों को विनष्ट करता है।¹⁶⁹

३. आर्जव :

निष्कपटता या सरलता का भाव आर्जव धर्म है। आर्जव धर्म के द्वारा माया या कपट वृत्ति पर विजय प्राप्त की जाती है। इस प्रकार मनसा, वाचा और कर्मणा कपटपूर्ण प्रवृत्ति का सर्वथा अभाव एवं ऋजुभाव अर्थात् सहजता का आविर्भाव ही आर्जव धर्म है।

१६४ विणसूत्र भाग - उत्तराध्ययनसूत्र - ४/१२ ।

१६५ दशवैकालिक - नवम् अध्ययन ।

१६६ उत्तराध्ययनसूत्र - ३३/१० ।

१६७ उत्तराध्ययनसूत्र टीका - पत्र २०१६

- (भावविजयजी) ।

१६८ रत्नकरंडक श्रावकाचार - १/२५ ।

१६९ उत्तराध्ययनसूत्र - २६/५० ।

ऋजोभावः आर्जवः तत्त्वार्थभाष्य के अनुसार आत्म परिणामों की विशुद्धि तथा विसंवाद रहित प्रवृत्ति आर्जव धर्म है। माया या कपटवृत्ति आत्म प्रवंचना है। वस्तुतः यह अपने आपको धोखा देने की प्रवृत्ति है। यह पारस्परिक स्नेहभाव का नाश करती है। उत्तराध्ययनसूत्र में धर्म की शुद्ध पहचान बताते हुए कहा गया है— 'सो हि उज्जु भूयस्य धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई' अर्थात् सरल हृदय में ही धर्म का वास हो सकता है।¹⁷⁰ दूसरे शब्दों में जहां सरलता है वहीं धर्म है। सरलता को पारिभाषित करते हुए आचारांगसूत्र में कहा गया है: — 'जहा अंतो तहा बाहिं जहा बाहिं तहा अंतो' अर्थात् कथनी एवं करनी में एकरूपता ही सरलता है।¹⁷¹ यह भी कहा गया है—

मन में होय सो वचन उचरिये।

वचन होय सो तन सों करिये।।

कथनी एवं करनी की विद्रूपता की निन्दा करते हुए उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि जो बन्ध और मोक्ष के सिद्धान्तों की मात्र स्थापना करते हैं अर्थात् कहते बहुत कुछ हैं किन्तु करते कुछ नहीं हैं वे व्यक्ति अपने आपको याणी के छल से आश्वस्त करते हैं अर्थात् स्वयं को धोखा देते हैं।¹⁷²

आर्जव धर्म का फल बताते हुए उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि ऋजुता से जीव मन, वचन एवं कर्म की सरलता एवं अविशंवाद (अवंचकता) को प्राप्त होता है तथा अविशंवाद सम्पन्न जीव धर्म का आराधक होता है।¹⁷³

इस प्रकार मायाचार को जो मन, वचन एवं कर्म की एकरूपता से जीतते हैं वे ही मुक्ति मार्ग में आगे बढ़ते हैं। इस सन्दर्भ में 'अणगारधर्माभूत' में कहा गया है कि जिन्होंने आर्जव रूपी नाव के द्वारा दुस्तर माया रूपी नदी को पार कर लिया है उनको इष्ट स्थान तक पहुंचने में कौन बाधक बन सकता है ?

बौद्ध दर्शन में ऋजुता को कुशलधर्म कहा गया है। 'अंगुत्तरनिकाय' में कहा गया है कि माया या शठता दुर्गति का कारण है जब कि ऋजुता, सुख, सुगति, स्वर्ग और मोक्ष के कारण है।¹⁷⁴

१७० उत्तराध्ययनसूत्र - ३/१२ ।

१७१ आचारांग - १/२/४/१२६

१७२ उत्तराध्ययनसूत्र - ६/६ ।

१७३ उत्तराध्ययनसूत्र - २६/४६ ।

१७४ अंगुत्तरनिकाय - २/१५, १७ ।

— (अंगुत्तराणि, लाडनू, खण्ड १, पृष्ठ २५) ।

४. मुक्ति :

मुक्ति का अर्थ 'निर्लोभता' है। लोभवृत्ति का त्याग ही मुक्तिधर्म है। कई मनीषियों ने मुक्ति को शौच, लाघव एवं अकिंचनता का पर्याय भी माना है। मुक्ति का वास्तविक अर्थ निर्लोभता है; यह लोभ कषाय का प्रतिपक्ष है। निर्लोभता में पवित्रता, लाघव (हल्कापन) और अकिंचनता (निष्परिग्रहता) अन्तर्निहित है। लोभ की पूर्ण निवृत्ति में ये गुण स्वाभाविक रूप से उपस्थित रहते हैं, चूँकि हमारे इस विवेचन का आधार उत्तराध्ययनसूत्र की टीका है और उसमें उल्लेखित दशविध धर्मों के नामों में मुक्ति एवं शौच को अलग अलग दर्शाया गया है अतः प्रस्तुत विवेचन में मुक्ति से तात्पर्य निर्लोभता ही है।¹⁷⁵

इसी प्रकार मुक्ति का अर्थ अकिंचनता भी किया जाता है किन्तु उत्तराध्ययनसूत्र के टीकाकारों द्वारा विवेचित दशविध धर्मों में अकिंचनता धर्म का भी पृथक् उल्लेख है। इस की टीका में मुक्ति के निर्लोभता एवं अकिंचनता दोनों अर्थ किये गये हैं। ज्ञातव्य है कि जहां उनतीसवें अध्ययन में प्रयुक्त मुक्ति का अर्थ निर्लोभता एवं अकिंचनता किया गया है, वहीं नवम अध्ययन में प्रयुक्त मुक्ति का अर्थ निर्लोभता किया है।¹⁷⁶ उत्तराध्ययनसूत्र के उनतीसवें अध्ययन में आकिंचन्य भाव को मुक्ति का फल कहा गया है। इससे प्रतिफलित होता है कि मुक्ति का अर्थ निर्लोभता है और इससे आकिंचन्य भाव की प्राप्ति होती है।

लोभकषाय को जीतने के लिए अर्थात् निर्लोभता की प्राप्ति के लिए उत्तराध्ययनसूत्र में व्यापक रूप से प्रेरणा दी गई है। इसके आठवें कापिलीय अध्ययन में लोभ से होने वाले दुष्परिणामों का उल्लेख किया गया है। साथ ही उसमें यह भी प्रतिपादित किया गया है कि लोभ पर विजय निर्लोभता (अलोभ) से पाई जा सकती है। आचारांगसूत्र में भी कहा गया है कि जो साधक अलोभ से लोभ को पराजित कर देता है वह प्राप्त काम भोगों का भी सेवन नहीं करता है।¹⁷⁷

निर्लोभता को प्राप्त करना अति दुष्कर है। अतः यह कहा गया है कि दयालु देखे जाते हैं, निरहंकारी भी देखे जाते हैं किन्तु इस संसार में लोभ रहित विरले ही देखे जाते हैं और नहीं भी देखे जाते हैं। निर्लोभता को प्रतिपादित करते हुए प्रश्नव्याकरणसूत्र में कहा गया है कि लोभ - मुक्ति अर्थात् निर्लोभता से भाषित

१७५ उत्तराध्ययनसूत्र टीका पत्र - ३०१६

१७६ (क) उत्तराध्ययनसूत्र टीका पत्र - ५६०

(ख) उत्तराध्ययनसूत्र टीका पत्र - ३१६

१७७ आचारांग - १/२/२/३६

- (भावविजयगणि)

- (शान्त्याचार्य) ;

- (शान्त्यचार्य) ।

- (अंगसुताभि, लाठनू, खण्ड १, पृष्ठ १६) ।

व्यक्ति अन्तरात्मा (संयमी) होता है वह अपने हाथ, पैर, आंख और जिह्वा की प्रवृत्तियों पर संयम रखने वाला तथा सत्य और सरलता से सम्पन्न होता है।¹⁷⁸

निर्लोभता को मुक्ति कहने का कारण यह हो सकता है कि पूर्ण निर्लोभता की प्राप्ति होने पर ही मुक्ति संभव है। लोभ कषाय पर विजय प्राप्त करना अति कठिन है। क्रोध, मान, माया इन तीन कषायों का अन्त हो जाने पर भी दसवें गुणस्थानक के प्रारम्भ तक सूक्ष्म लोभ की सत्ता बनी रहती है और उस पर विजय प्राप्त होने पर अन्तर्मुहूर्त में ही व्यक्ति कैवल्य को प्राप्त कर लेता है अर्थात् उसके घातिकर्म क्षय हो जाते हैं। और उसकी विदेह मुक्ति भी निश्चित हो जाती है।

५. तप :

कर्मों से मुक्त होने के लिए या आत्म विशुद्धि के लिए जो साधना की जाती है वह तप है। तप के मुख्यतः दो भेद हैं। बाह्य एवं आभ्यन्तर तथा इन दोनों के पुनः छः-छः भेद हैं। इस प्रकार तप के कुल बारह भेद हैं। इनका विस्तृत विवेचन हम उत्तराध्ययनसूत्र में प्रतिपादित मोक्षमार्ग नामक अध्याय में कर चुके हैं।

६. संयम :

मन, वचन एवं काया की प्रवृत्तियों का नियंत्रण करना अर्थात् विवेकपूर्वक प्रवृत्ति करना संयम है। जैसे पूर्वकृत कर्मों की निर्जरा के लिए तप धर्म की साधना आवश्यक है उसी प्रकार भावी कर्मों के आश्रवों का निरोध करने हेतु संयम धर्म की साधना भी अनिवार्य है। समवायांगसूत्र में संयम के निम्न सत्रह प्रकार बताये हैं¹⁷⁹। १. पृथ्वीकाय संयम २. अप्काय संयम ३. तेजस्काय संयम ४. वायुकाय संयम ५. वनस्पतिकाय संयम ६. द्वीन्द्रिय संयम ७. त्रीन्द्रिय संयम ८. चतुरिन्द्रिय संयम ९. पंचेन्द्रिय संयम १०. अजीवकाय संयम ११. प्रेक्षा संयम १२. उपेक्षा संयम १३. अपहृत्य संयम १४. प्रमार्जना संयम १५. मन संयम १६. वचन संयम १७. काय संयम। अन्य विवक्षा से संयम के सत्रह भेद निम्न प्रकार से भी किये गये हैं - पांच आश्रव द्वार अर्थात् हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रह का त्याग, चार कषायों का त्याग, पांच इन्द्रियों का संयम एवं मन, वचन और काया की प्रवृत्तियों का संयम।

¹⁷⁸ प्रश्नव्याकरण ७/२/१६

- (अंगसुताणि, ताडनू, खण्ड ३, पृष्ठ ६६२)।

¹⁷⁹ समवायांग - १७/२

- (अंगसुताणि, ताडनू, खण्ड १, पृष्ठ ८५१)।

¹⁷⁹ जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग -२, पृष्ठ ४१५।

७. सत्य :

सत्य धर्म से तात्पर्य सत्यता या ईमानदारी पूर्वक जीवनयापन करना है। जैन दर्शन में सत्य को चार रूपों में व्याख्यायित किया जाता है। १. सत्य महाव्रत २. भाषा समिति ३. वचन गुप्ति ४. सत्य धर्म। सत्य बोलना सत्य महाव्रत या सत्य अणुव्रत है। हित, मित, एवं प्रिय बोलना भाषा समिति है तथा वचन व्यापार से विरत होना अर्थात् मौन रहना वचन गुप्ति है और प्रामाणिक जीवन जीना सत्य धर्म है।

सत्य धर्म से तात्पर्य मात्र वाचिक सत्य नहीं है अपितु आचरण की प्रामाणिकता है। दूसरे शब्दों में यह वचन एवं कर्म की एकरूपता है। साधक का अपने व्रतों एवं मर्यादाओं के प्रति निष्ठावान रहकर उनका उसी रूप में पालन करना सत्य धर्म है।¹⁸⁰ एक दृष्टि से वास्तविकता में जीना या यथार्थता को उपलब्ध करना सत्य धर्म है।

८. शौच :

शुचेर्भावः शौचम् (शुचिता) अर्थात् पवित्रता का नाम शौच है। शौच का सामान्य अर्थ दैहिक पवित्रता या शारीरिक शुद्धि किया जाता है यथा स्नान, दंत प्रक्षालन आदि; किन्तु जैनपरम्परा में जिस शौच धर्म का विधान किया गया है उसका सम्बन्ध मानसिक पवित्रता से है। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है 'कलुष मनोभावों को दूर करने हेतु धर्मरूपी सरोवर में स्नान कर विभल एवं विशुद्ध बनाया जाता है।'¹⁸¹

विषय वासनाओं या कषायों की गंदगी हमारे चित्त को कलुषित करती है अतः उसकी शुद्धि ही शौच धर्म है।¹⁸² शौच का वास्तविक अर्थ आत्मपवित्रता या आत्मविशुद्धि है। मन, वचन और कर्म की निर्दोषता ही वास्तविक पवित्रता है और यही शौच धर्म है।

९. अकिंचनता :

अकिंचनता का व्युत्पत्तिपरक अर्थ नास्ति यस्य किंचन सः अकिंचनं अकिंचनस्य भाव इति अकिंचनम् अर्थात् आत्मा के अतिरिक्त मेरा कुछ भी नहीं है, इस प्रकार का भाव अकिंचन्य है। यह निर्लोभता और अपरिग्रहवृत्ति की परिपूर्णता

१८० जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग -२, पृष्ठ ४१५।

१८१ उत्तराध्ययनसूत्र - १२/४७।

१८२ जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग -२, पृष्ठ ४१७।

है और एकत्व भावना की साधना है। तत्त्वार्थभाष्य के अनुसार शरीर तथा धर्मापकरणों आदि में ममत्व भाव का सर्वथा अभाव अकिंचनता धर्म है।^{१८३}

मूलाचारवृत्ति के अनुसार परिग्रह का त्याग अकिंचनता है। इस प्रकार द्रव्य एवं भाव दोनों प्रकार के परिग्रह से मुक्त होना एवं शुद्ध आत्मस्वरूप में रमण करना अकिंचनता है।^{१८४} परिग्रह का विस्तृत विवेचन हम पंचमहाव्रत के सन्दर्भ में कर चुके हैं। अकिंचनता का महत्त्व प्रदर्शित करते हुए बौद्धदर्शन में भी कहा गया है कि अकिंचनता और अनासक्ति से बढ़कर कोई शरणदाता द्वीप नहीं है।

१०. ब्रह्मचर्य :

दसवां धर्म ब्रह्मचर्य है। परपदार्थों से विमुख होना अकिंचनता है तथा आत्मानुकूल प्रवृत्ति करना ब्रह्मचर्य है। विषयासक्ति मानव के चित्त को कलुषित करती है अतः इन्द्रियों के विषयों से विरत होकर आत्मभावों में लीन रहना ब्रह्मचर्य है। उत्तराध्ययनसूत्र में ब्रह्मचर्य धर्म का व्यापक रूप से विवेचन किया गया है जिसका वर्णन हम पंच महाव्रतों के सन्दर्भ में कर चुके हैं। अतः हम यहां यही कहकर विराम लेते हैं कि आत्मभावों में लीन रहना ब्रह्मचर्य है।

१०.६ षड् आवश्यक

'आवश्यक' जैन साधना का आधारभूत अंग है। जैनदृष्टि के अनुसार जीवन में दोषों की शुद्धि एवं सदगुणों की अभिवृद्धि के लिये इनकी अपरिहार्य आवश्यकता है। आवश्यक आत्मविशुद्धि हेतु प्रतिदिन करने योग्य धार्मिक अनुष्ठान है।

वैदिक परम्परा में 'सन्ध्या', बौद्ध-परम्परा में 'उपासना', ईसाई धर्म में प्रार्थना तथा इस्लाम धर्म में नमाज़ के समान जैनपरम्परा में आवश्यक अवश्य करने योग्य दैनिक कर्तव्य है। यह प्रातःकाल एवं सन्ध्या के समय किया जाता है।

'आवश्यक' की साधना श्रमण एवं श्रावक दोनों के लिये अनिवार्य है। अनुयोगद्वारा में कहा गया है श्रमणों एवं श्रावकों द्वारा दिन एवं रात्रि के अन्त में

^{१८३} तत्त्वार्थभाष्य, पृष्ठ-२१३।

^{१८४} वैशेषिक - मूलाचार एक तमीशात्मक अध्ययन, पृष्ठ २२६।

अवश्य करने योग्य साधना को आवश्यक कहा गया है। इस ग्रन्थ में आवश्यक के निम्न आठ नाम बतलाये हैं¹⁸⁵—

- (१) आवश्यक
- (२) अवश्यकरणीय
- (३) ध्रुवनिग्रह (कर्मफल रूप संसार का निग्रह करने वाला)
- (४) विशोधि (आत्मा की विशुद्धि करने वाला)
- (५) अध्ययन षट्क वर्ग
- (६) न्याय (कर्म का अपनयन करने वाला)
- (७) आराधना
- (८) मार्ग (मोक्ष का उपाय)

विशेषावश्यकभाष्य की टीका के आधार पर विद्वानों ने आवश्यक शब्द के निम्न अनेक अर्थ किये हैं —

- (१) जो अवश्य करने योग्य कार्य हो वे आवश्यक कहलाते हैं।
- (२) जो आध्यात्मिक सद्गुणों का आश्रय हो वह आवश्यक हैं।
- (३) जो आत्मा को दुर्गुणों से हटाकर सद्गुणों के वश (अधीन) करता है उसे आवश्यक कहते हैं।
- (४) जो इन्द्रिय, कषाय आदि भाव शत्रुओं को सर्वतः वश में करता है वह आवश्यक है।
- (५) जो आत्मा को ज्ञानादि गुणों से सुवासित एवं अनुरजित करता है उसे आवश्यक कहते हैं अथवा जो आत्मा को सद्गुणों से सुशोभित करते हैं वे आवश्यक हैं।

इस प्रकार आवश्यक, आत्मविशुद्धि हेतु अवश्य की जाने वाली एक श्रेष्ठ साधना पद्धति है। जैनगामों में निम्न छः आवश्यकों का उल्लेख मिलता है — (१) सामायिक (२) चतुर्विंशतिस्तव (३) वन्दन (४) प्रतिक्रमण (५) कायोत्सर्ग और (६) प्रत्याख्यान। यद्यपि उत्तराध्ययनसूत्र में इन छः आवश्यक कर्म को 'आवश्यक' नाम नहीं दिया गया है और न ही इनके स्वरूप का कहीं स्पष्ट वर्णन उपलब्ध होता है, पर इसके-उनतीसवें अध्ययन में इन छः आवश्यक कृत्यों के पालन से प्राप्त होने वाले फलों का निरूपण किया गया है।¹⁸⁶

¹⁸⁵ अनुयोगद्वार - २८/१

¹⁸⁶ उत्तराध्ययनसूत्र - २६/६ - १४ ।

(नवसुतापि, त्वाङ्गु, पृष्ठ २६६) ।

(१) सामायिक

समभाव की साधना सामायिक कहलाती है। सामायिक जैन साधना का प्राण है। जैन ग्रन्थों में इसे अनेक प्रकार से व्याख्यायित किया गया है¹⁶⁷ -

(१) सामायिक शब्द सम+आय+इक के संयोग से बना है; राग-द्वेष में मध्यस्थ रहना 'सम' है। आय का अर्थ लाभ है। इस प्रकार जिससे सम रूप मध्यस्थ भावों की प्राप्ति (आय) हो वह सामायिक है।

(२) सम्+अयन+इक से भी सामायिक शब्द निष्पन्न होता है अर्थात् मोक्ष मार्ग के साधन ज्ञान, दर्शन और चारित्र 'सम' है उसमें 'अयन' अर्थात् प्रवृत्ति करना सामायिक है।

(३) सम् शब्द सम्यक् का भी द्योतक है तथा अयन का एक अर्थ आचरण भी किया जाता है अतः श्रेष्ठ (सम्यक्) आचरण सामायिक है। उपर्युक्त तीनों अर्थों में यही प्रतिध्वनित होता है कि समताभाव की प्राप्ति सामायिक है। उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार सुख-दुःख, जीवन-मरण, लाभ-अलाभ, निन्दा-प्रशंसा में समभाव रखना सामायिक है।¹⁶⁸ यही बात गीता में भी कहीं गई है। उसके अनुसार सभी प्राणियों के प्रति आत्मवत् दृष्टि, सुख-दुःख, लौह-कंचन, प्रिय-अप्रिय, निन्दा-स्तुति, मान-अपमान और शत्रु-मित्र में समभाव रखना ही समत्व योग है। गीता में समत्व योग को योगों में सर्वश्रेष्ठ योग माना गया है।¹⁶⁹

उत्तराध्ययनसूत्र में 'सावद्योगविरति' को सामायिक का फल बताया है अर्थात् सामायिक फल असत् प्रवृत्ति (पाप कार्यों) से विरति है। 'सामायिक' एवं 'सावद्योगविरति' में कार्य-कारण सम्बन्ध है। इसमें 'सामायिक' कार्य है, 'सावद्योगविरति' कारण है। यहां प्रश्न होता है कार्य एवं कारण एक साथ कैसे हो सकते हैं? इसका उत्तर देते हुये टीकाकार शान्त्याचार्य ने कहा है - 'वृक्ष कारण है और छाया कार्य है फिर भी दोनों एक साथ उपलब्ध होते हैं इसी प्रकार सामायिक एवं सावद्योगविरति एक साथ हो सकते हैं'¹⁹⁰

१६७ अमरसूत्र, पृष्ठ ३५।

१६८ उत्तराध्ययनसूत्र - १६/६०।

१६९ गीता - ६/३२; १४/२४, २५।

१६० उत्तराध्ययनसूत्र टीका पत्र - ५८०

- (शान्त्याचार्य)।

सामायिक के दो पहलू हैं - (१) निषेधात्मक (२) विधेयात्मक। पापकार्यों से विरति इसका निषेधात्मक पक्ष है तथा समत्वभाव की प्राप्ति इसका विधेयात्मक पक्ष है।

गृहस्थ साधक के लिये सामायिक का समय एक अन्तर्मुहूर्त अर्थात् ४८ मिनट का है। यहां प्रश्न हो सकता है कि सामायिक का काल ४८ मिनट ही क्यों रखा गया है। इसके उत्तर में व्याख्यासाहित्य में कहा गया है -

‘अंतोमुहुत्तकालं चित्तस्सेगगया हयइ ज्ञाणं’

सामान्य व्यक्ति का एक विचार, एक भाव, एक संकल्प, एक ध्यान अधिक से अधिक अन्तर्मुहूर्त तक ही रह सकता है। अतः भावों की एक धारा की दृष्टि से ही सामायिक का यह काल निर्धारित किया गया है।

(२) चतुर्विंशतिस्तव

यह दूसरा आवश्यक है। सामायिक की साधना में सावद्योग से निवृत्ति होती है। तदनन्तर साधक को किसी न किसी आलम्बन की आवश्यकता होती है। अतः साधक अपने साधनाकाल में समभाव में रहें इस हेतु चौबीस तीर्थकरों की स्तुति रूप ‘चतुर्विंशतिस्तव’ इस द्वितीय आवश्यक का विधान किया गया है।

उत्तराध्ययनसूत्र में चतुर्विंशतिस्तव करने से जीव को क्या प्राप्त होता है इसके उत्तर में कहा गया है ‘चतुर्विंशतिस्तव करने से जीव दर्शन-विशुद्धि को प्राप्त होता है।’^{११} इसके ही उनतीसवें अध्ययन के पन्द्रहवें सूत्र में यह भी कहा गया है कि स्तवनस्तुति रूप मंगल से मोक्ष की प्राप्ति भी होती है अर्थात् भगवद्भक्ति के फलस्वरूप पूर्वसंचित कर्मों का क्षय होता है। भगवद्भक्ति के माध्यम से प्राप्त होने वाली मुक्ति या कर्मनिर्जरा परमात्मा की कृपा का परिणाम नहीं है वरन् स्वयं के दृष्टिकोण की विशुद्धि का ही परिणाम है।

जैनदर्शन के अनुसार तीर्थकर या वीतरागदेव साधक की साधना के आदर्श हैं। वीतराग का आलम्बन लेकर साधक यह चिन्तन करता है कि वस्तुतः तीर्थकर की आत्मा और मेरी आत्मा आत्मतत्त्व के रूप में समान है, यदि मैं प्रयत्न करूँ तो मैं भी उनके समान बन सकता हूँ; परमात्मा का अतीत और मेरा अतीत एक समान है, वर्तमान में अन्तर हो गया है और यह अन्तर किस कारण से हुआ है

उस कारण को जानकर दूर करने पर, दोनों की भविष्य में एकरूपता हो सकती है अर्थात् मेरी आत्मा भी परमात्मा बन सकती है।

इस प्रकार आत्मा के विकारों को दूर करने के लिये चतुर्विंशतिस्तव आवश्यक का विधान किया गया है।

(३) वन्दन

तीसरा आवश्यक 'वन्दन' है। चतुर्विंशतिस्तव में साधना के आदर्श के रूप में तीर्थंकरों की उपासना के पश्चात् साधना के पथ-प्रदर्शक गुरु को वन्दन करना भी अति आवश्यक है। गुरु का विनय करना, उनके प्रति अहोभाव रखना वन्दन है।

उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार वन्दन करने वाला व्यक्ति विनय के द्वारा उच्चगोत्र, अबाधित सौभाग्य एवं लोकप्रियता को प्राप्त करता है। वन्दन का मूल उद्देश्य अहंकार का विसर्जन करना है। उत्तराध्ययनसूत्र में विनयगुण को धर्म का आधार कहा गया है¹⁹²। इसका प्रथम अध्ययन विनयाचार की व्यापक व्याख्या प्रस्तुत करता है। विनय से सम्बन्धित विशेष चर्चा इसी ग्रन्थ के बारहवें अध्याय 'उत्तराध्ययनसूत्र के शिक्षादर्शन' में द्रष्टव्य है।

वन्दन के सन्दर्भ में बौद्ध ग्रन्थ धम्मपद में कहा गया है कि पुण्य का अभिलाषी व्यक्ति वर्ष भर में जो कुछ यज्ञ एवं हवन करता है उसका फल पुण्यात्माओं के अभिवादन के फल का चौथा भाग भी नहीं होता है। अतः सरलवृत्ति महात्माओं का अभिवादन करना ही श्रेयस्कर है। अभिवादन करने से व्यक्ति को आयु, सौन्दर्य, सुख एवं बल की प्राप्ति होती है¹⁹³। इस सन्दर्भ में मनुस्मृति में भी कहा है कि अभिवादन एवं सेवा, आयु, विद्या, कीर्ति एवं बल की निरन्तर वृद्धि का कारण है।¹⁹⁴

इस प्रकार साधना के क्षेत्र में वन्दन का विशिष्ट महत्त्व प्रतिपादित किया गया है।

¹⁹² उत्तराध्ययनसूत्र - १/४५।

¹⁹³ कैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग -२, पृष्ठ ३६८।

¹⁹⁴ मनुस्मृति - १/१२१।

(४) प्रतिक्रमण

प्रतिक्रमण आत्म शोधन की सर्वश्रेष्ठ प्रक्रिया है जैसा कि इसके नाम से स्पष्ट है। प्रतिक्रमण शब्द प्रति+क्रमण के योग से बना है। प्रति का अर्थ है वापस एवं क्रमण का अर्थ है लौटना। इस प्रकार विभाव दशा की ओर उन्मुख आत्मा का स्वभाव दशा में लौटना प्रतिक्रमण है।

उत्तराध्ययनसूत्र में प्रतिक्रमण के निम्न फल प्ररूपित किये गये हैं^{१९५} -

- (१) ब्रतों के छिद्र आच्छादित होते हैं।
- (२) आश्रव का निरोध होता है।
- (३) अशुभ प्रवृत्ति से होने वाले चारित्र के दूषण समाप्त होते हैं।
- (४) अष्ट प्रवचन माताओं के प्रति जागरूकता की वृद्धि होती है।
- (५) संयम के प्रति एकरसता उत्पन्न होती है।
- (६) समाधि की उपलब्धि होती है।

प्रतिक्रमण किन कारणों से किया जाता है, इसका संक्षिप्त उल्लेख 'वदितुसूत्र' में निम्न रूप से उपलब्ध होता है^{१९६} -

- (१) अकरणीय कार्यों को करना।
- (२) करणीय कार्यों को न करना।
- (३) जिनवचन में अश्रद्धा करना।
- (४) विपरीत मार्ग की प्ररूपण करना।

इस प्रकार प्रतिक्रमण पापों के प्रक्षालन की विशिष्ट साधना है। जैसे पानी एवं साबुन के द्वारा कपड़ों पर लगी कालिमा दूर होती है उसी प्रकार आत्मा पर लगी हुई विषय कषाय की मलिनता प्रतिक्रमण से दूर होती है।

बौद्ध परम्परा के अनुसार आलोचित पाप, पाप नहीं रहता अर्थात् पापाचरण की आलोचना करने पर व्यक्ति पाप के भार से हल्का हो जाता है। बौद्ध धर्म में 'प्रतिक्रमण' के स्थान पर प्रतिकर्म, प्रवारणा और पापदेशना शब्दों का प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार वैदिक परम्परा में सन्ध्या, पारसी, ईसाई आदि धर्मों में किसी न किसी रूप में 'प्रतिक्रमण' की पद्धति को स्वीकार किया गया है। इनका तुलनात्मक विस्तृत वर्णन डॉ. सागरमल जैन के शोधप्रबन्ध 'जैन, बौद्ध और गीता के

१९५ उत्तराध्ययनसूत्र - २६/१२।

१९६ वदितुसूत्र - ४८।

आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' (द्वितीय भाग) में उपलब्ध होता है। इच्छुक पाठक वहाँ देख सकते हैं।¹⁹⁷

(५) कायोत्सर्ग

जैन साधना में कायोत्सर्ग का महत्वपूर्ण स्थान है। इसमें प्रत्येक धार्मिक अनुष्ठान से पूर्व कायोत्सर्ग करने का विधान है। शरीर के प्रति आसक्ति को कम करना कायोत्सर्ग है। कायोत्सर्ग दो शब्दों के संयोजन से बना है काया+उत्सर्ग अर्थात् काया का उत्सर्ग या त्याग करना कायोत्सर्ग है। लेकिन जीवित रहते हुये देह का त्याग सम्भव नहीं है। इस सन्दर्भ में उत्तराध्ययनसूत्र के टीकाकार शान्त्याचार्य ने लिखा है कि आगमोक्त नीति के अनुसार शरीर का त्याग करना कायोत्सर्ग है।¹⁹⁸ आगमोक्त नीति को स्पष्ट करते हुये आचार्य महाप्रज्ञ ने लिखा है कि क्रिया-विसर्जन एवं ममत्व-विसर्जन आगमोक्त नीति के दो अंग हैं।¹⁹⁹ इस प्रकार देह के प्रति ममत्व का त्याग करना या देहाध्यास से उपर उठना कायोत्सर्ग है।

प्रतिक्रमण से भी यदि आत्मा पर लगी विषय-कषाय रूपी कालिमा शेष रह जाती है तो कायोत्सर्ग द्वारा स्वच्छ हो जाती है। आवश्यकसूत्र में कहा गया है - 'आत्मा की विशेष शुद्धि के लिये, प्रायश्चित्त करने के लिये, अपने आपको विशुद्ध करने के लिये, शल्य (माया, मिथ्यात्व एवं निदान शल्य) से मुक्त होने के लिये तथा पापकर्मों के नाश के लिये कायोत्सर्ग किया जाता है'।²⁰⁰

उत्तराध्ययनसूत्र एवं उसकी टीकाओं में कायोत्सर्ग तप के सन्दर्भ में व्यापक रूप से विवेचन किया गया है जिसकी चर्चा हम इस शोधग्रन्थ के नवम अध्याय (सभ्यकृतप) में कर चुके हैं।

(६) प्रत्याख्यान

इच्छाओं को सीमित एवं मर्यादित करने की प्रक्रिया 'प्रत्याख्यान' आवश्यक है, जहाँ प्रतिक्रमण पूर्वकृत पापों से मुक्त होने का साधन है। कायोत्सर्ग वर्तमान कालिक पापकार्यों से मुक्ति दिलाता है; तथा प्रत्याख्यान भविष्य सम्बन्धी पापों से बचाये रखता है।

¹⁹⁷ टीका पृष्ठ ४०२-४०३।

¹⁹⁸ उत्तराध्ययनसूत्र टीका पत्र - ५८१

¹⁹⁹ उत्तराध्ययनसूत्र, भाग २, पृष्ठ १६८।

²⁰⁰ आलम्बकसूत्र, ६/३।

- (शान्त्याचार्य)।

- (नवमुत्तमि, लाडलू, पृष्ठ १५)।

इस प्रकार मुख्यतः प्रतिक्रमण का सम्बन्ध अतीत से, कायोत्सर्ग का वर्तमान से एवं प्रत्याख्यान का भविष्य से है।

उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार प्रत्याख्यान के द्वारा साधक आश्रव द्वारा का निरोध करता है, अर्थात् पापकर्मों के आगमन को रोक देता है।^{२०१}

कहावत की भाषा में यदि कहा जाय तो प्रत्याख्यान 'पानी आने से पहले पाल बांधना' है।

१०.७ सचेलक अचेलक का प्रश्न

उत्तराध्ययनसूत्र के तेईसवें अध्ययन में केशीश्रमण एवं गौतमस्वामी के प्रश्नोत्तर का संकलन है। इसमें केशीश्रमण, गौतमस्वामी से प्रश्न करते हैं कि वर्धमान स्वामी की आचार-व्यवस्था अचेलक है और पार्श्वनाथ स्वामी की आचार व्यवस्था सचेलक है या सान्तरोत्तर (अन्तर वस्त्र तथा उत्तरीय वस्त्र) की है। एक ही लक्ष्य के अनुगामी होने पर भी इस आचारगत भिन्नता का कारण क्या है ? इसके समाधान में दिया गया गौतमस्वामी का उत्तर सचेलत्व और अचेलत्व की समस्या का समुचित समाधान देता है। वस्तुतः यह समस्या ही जैन धर्म के विभाजन अर्थात् दिगम्बर - श्वेताम्बर तथा यापनीय^{२०२} परम्पराओं के उद्भव का आधार रही है। इस समस्या का सम्बन्ध मुख्यतः मुनि जीवन से है, क्योंकि गृहस्थ उपासकों, उपासिकाओं तथा साध्वियों की सचेलता (सवस्त्रता) तो तीनों ही परम्पराओं द्वारा स्वीकृत रही है। यहां आगमों और विशेषरूप से उत्तराध्ययनसूत्र के आधार पर इस समस्या का समाधान प्रस्तुत करने के पूर्व इस सम्बन्ध में तीनों परम्पराओं की मान्यताओं पर दृष्टिपात कर लेना प्रासंगिक प्रतीत होता है।

दिगम्बरपरम्परा के अनुसार मात्र अचेल (निःवस्त्र) व्यक्ति ही मुनिपद का अधिकारी है। जिसके पास वस्त्र है, चाहे वह लंगोटी मात्र क्यों न हो वह मुनि पद का अधिकारी नहीं हो सकता है और उसकी मुक्ति भी संभव नहीं है। श्वेताम्बर परम्परा अचेलत्व एवं सचेलत्व दोनों साधना को स्वीकार करती है। उत्तराध्ययनसूत्र

२०१ उत्तराध्ययनसूत्र - २६/१४।

२०२ यापनीय सम्प्रदाय जैनधर्म का ही एक विस्तृत सम्प्रदाय है पर उसका साहित्य आज भी उपलब्ध है; विस्तृत जानकारी के लिये देखिए - जैन धर्म का यापनीय सम्प्रदाय - डॉ. सागरमल जैन।

में स्पष्टतः कहा गया है कि मुनि अचेल होता है और सचेल भी होता है।²⁰³ इसके अनुसार मुनि की सचेलता तथा अचेलता दोनों ही मोक्ष मार्ग हैं, उन्मार्ग नहीं है और दोनों ही प्रकार के मुनि मुक्ति के अधिकारी हैं। इस परम्परा ने वर्तमान कालीन परिस्थितियों में मुनि के अचेलत्व को समुचित नहीं माना है।

यापनीय परम्परा के अनुसार अचेलता ही श्रेष्ठमार्ग है किन्तु आपवादिक स्थितियों में मुनि वस्त्र रख सकते हैं। इस परम्परा के अनुसार सचेल की मुक्ति में कोई बाधा नहीं है किन्तु मुनि की सचेलता अपवाद मार्ग है, मूल मार्ग नहीं। इस प्रकार जहां दिगम्बर परम्परा एकांत रूप से अचेलता की पोषक है, वहां श्वेताम्बर परम्परा वर्तमान में जिनकल्प (अचेल-मार्ग) का उच्छेद मानकर सचेलता पर ही बल देती है किन्तु यापनीय परम्परा अचेल तथा सचेल दोनों ही मार्गों को क्रमशः उत्सर्ग मार्ग तथा अपवाद मार्ग के रूप में स्वीकार करता है। समर्थ व्यक्ति के लिए उसका झुकाव अचेलत्व के प्रति ही है। उपर्युक्त मान्यताओं का ऐतिहासिक विकासक्रम कैसे एवं किस परिस्थितियों में हुआ है इसे जानना आवश्यक है।

श्वेताम्बर परम्परा द्वारा मान्य प्राचीन स्तर के आगम आचारांग, सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययनसूत्र एवं दशवैकालिक में सचेल एवं अचेल के सम्बन्ध में चर्चा उपलब्ध होती है। इन ग्रन्थों की प्राचीनता तथा सम्प्रदाय निरपेक्षता अनेक भारतीय एवं पश्चात्य विद्वानों द्वारा मान्य है। जहां तक दिगम्बर परम्परा का प्रश्न है, उसके द्वारा मान्य प्राचीन स्तर के ग्रन्थ कसायपाहुड एवं षट्खण्डागम में वस्त्र, पात्र के सम्बन्ध में कोई चर्चा उपलब्ध नहीं है, वैसे तो विद्वानों की दृष्टि में ये दोनों ग्रन्थ यापनीय परम्परा के हैं।

उत्तराध्ययनसूत्र में भगवान् ऋषभ के आचार-व्यवस्था आदि के सन्दर्भ में कोई स्पष्ट विवरण नहीं मिलता है। इसमें इतना निर्देश अवश्य मिलता है कि उनके साधुओं की प्रकृति ऋजु-जड़ होती थी। पुनः यह भी मान्यता है कि ऋषभदेव की आचार-व्यवस्था महावीर के समान ही अचेल ही थी। भ. ऋषभ के पश्चात् और भ. महावीर के पूर्व मध्य के बार्हस्पती तीर्थकरों में भ. पार्वनाथ के अतिरिक्त अन्य तीर्थकरों की आचार-व्यवस्था स्पष्टतः साक्ष्य आगम ग्रन्थों में अनुपलब्ध है।

उत्तराध्ययनसूत्र में मध्यवर्तीय २२ तीर्थकरों में से बाईसवें तीर्थकर अरिष्टनेमि एवं तेईसवें तीर्थकर पार्श्वनाथ का वर्णन उसके बाईसवें एवं तेईसवें अध्ययनों में मिलता है। किन्तु इसमें भी बाईसवें तीर्थकर की आचार व्यवस्था का तथा विशेष रूप से वस्त्र सम्बन्धी व्यवस्था का कोई निर्देश नहीं है। अरिष्टनेमी के शासन-काल में साधवियां सवस्त्र होती थीं। इस तथ्य की पुष्टि उत्तराध्ययनसूत्र के बाईसवें अध्ययन से होती है। इसमें राजीमति के द्वारा गुफा में वर्षा के कारण भीगा हुआ अपना वस्त्र सुखाने का उल्लेख है। पर उसी गुफा में साधना में स्थित साधु रथनेमि सवस्त्र थे या निर्वस्त्र इसका वहां कोई संकेत नहीं किया गया है।

इस प्रकार दूसरे तीर्थकर से लेकर बाईसवें तीर्थकर तक की परम्परा सचेल थी या अचेल इसका कोई उल्लेख आगम ग्रन्थों में नहीं मिलता है। किन्तु निर्युक्तियों के आधार पर आचार्यों तथा विद्वानों ने इतना अवश्य माना है कि प्रथम एवं अंतिम तीर्थकर की आचार व्यवस्था एक समान होती थी। अतः यह अनुमान लगाया जा सकता है कि ऋषभदेव की परम्परा भी अचेल ही थी। उसी प्रकार मध्यवर्ती बाईस तीर्थकरों की आचार व्यवस्था एक समान होती थी, इस निर्देश के आधार पर पार्श्वनाथ तक की परम्परा सचेल थी, यह माना जा सकता है।

इतना अवश्य सत्य है कि चाहे तीर्थकरों की सैद्धांतिक व्यवस्था में कोई भिन्नता नहीं हो किन्तु आचारगत व्यवस्थाएँ भिन्न-भिन्न थीं क्योंकि आचार देश, काल एवं व्यक्ति सापेक्ष होता है। उत्तराध्ययनसूत्र में स्पष्टतः कहा है कि प्रथम तीर्थकर के युग में मनुष्य ऋजु-जड अर्थात् सरल किन्तु मन्द बुद्धि होते थे, जबकि मध्यवर्ती बाईस तीर्थकरों के काल में मनुष्य ऋजु प्राज्ञ अर्थात् सरल, और समझदार होते थे, और महावीर स्वामी के काल में मनुष्य वक्रजड अर्थात् कुटिल और अविवेकी होते हैं। अतः मनुष्य की स्वभावगत विभिन्नता के आधार पर इन तीर्थकरों की आचार व्यवस्था में भी कुछ भिन्नता अवश्य उपलब्ध होती है।²⁰⁴

उत्तराध्ययनसूत्र में पार्श्वनाथ के धर्म को सान्तरौत्तर अर्थात् सचेल और भगवान महावीर के धर्म को अचेल कहा गया है। इससे सिद्ध होता है कि वस्त्र के सन्दर्भ में भगवान पार्श्व और भगवान महावीर की परम्परा भिन्न थी किन्तु पार्श्व की परम्परा के लिए प्रयुक्त सान्तरौत्तर शब्द का अर्थ विचारणीय है।

उत्तराध्ययनसूत्र के टीकाकार नेमिचन्द्राचार्य तथा शान्त्याचार्य के अनुसार सान्तर अर्थात् वर्धमानस्वामी के साधुओं के वस्त्रों की अपेक्षा परिमाण और वर्ण में विशिष्ट तथा उत्तर अर्थात् महामूल्यवान् ऐसे वस्त्र जिस परम्परा में धारण किए जाते हो, वह धर्म सान्तरोत्तर है।²⁰⁶ वस्तुतः अचेल शब्द का अर्थ अल्प चेल करना और सान्तरोत्तर शब्द का अर्थ विशिष्ट रंगों के महा मूल्यवान् वस्त्र करना उचित प्रतीत नहीं होता है। क्योंकि प्रथम तो सान्तरोत्तर शब्द का व्युत्पत्तिभ्य अर्थ न तो विशिष्ट होता है और न ही महामूल्यवान्।

व्युत्पत्ति की दृष्टि से सान्तरोत्तर शब्द का संधि विच्छेद दो तरह से किया जाता है -

(१) स + अन्तर + उत्तर (उत्तरीय) और

(२) स + अन्तर (आंतरिक वस्त्र) + उत्तर (उत्तरीय)

प्रथम अर्थ की दृष्टि से जिस परम्परा में उत्तरीय वस्त्र अन्तर सहित हो, कभी धारण किया जाता हो और कभी नहीं अर्थात् ग्रीष्म आदि ऋतुओं में धारण नहीं किया जाता हो, वह सान्तरोत्तर है। यहां अन्तर को क्रिया विशेषण के रूप में और उत्तर को वस्त्र के अर्थ में अर्थात् संज्ञा के रूप में ग्रहण किया गया है। यद्यपि आचार्य शीलांक ने आचारांग टीका में और दिगम्बर विद्वान् पं. कैलाशचन्द्रजी ने यही अर्थ ग्रहण किया है,²⁰⁶ किन्तु यह अर्थ विचारणीय है। यदि उत्तर को उत्तरीय अर्थात् वस्त्र के अर्थ में ग्रहण करते हैं तो अन्तर को भी वस्त्र के अर्थ में अर्थात् अन्तर वस्त्र के अर्थ में ग्रहण करना होगा। आचारांग एवं उत्तराध्ययनसूत्र के सन्दर्भों को देखते हुए यही अर्थ समुचित प्रतीत होता है।

भगवान् पार्श्व की परम्परा में मर्यादित वस्त्र धारण किये जाते थे जबकि महावीर ने वस्त्र के सन्दर्भ में अचेलत्व को प्रमुखता दी, फिर भी उन्होंने निर्ग्रन्थ संघ में सचेलत्व एवं अचेलत्व दोनों को ही यथाशक्ति एवं यथारुचि स्थान दिया। उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार मुक्ति के लिये मुख्य एवं पारमार्थिक लिंग/साधन तो ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य रूप आध्यात्मिक सम्पत्ति है। अचेलत्व एवं सचेलत्व तो लौकिक/बाह्य लिंग मात्र है।²⁰⁷

२०६ (क) उत्तराध्ययनसूत्र टीका पत्र - २११६।

(ख) उत्तराध्ययनसूत्र टीका पत्र - २११८।

२०६ आचारांग टीका १/६/३।

२०७ उत्तराध्ययनसूत्र - २३/३३।

निर्णयात्मक रूप से हम यह कह सकते हैं कि भगवान महावीर सचेल एवं अचेल दोनों ही परम्पराओं के समर्थक थे। उन्होंने गृहत्याग के समय एक वस्त्र धारण किया था फिर उसे भी छोड़ दिया अर्थात् पूर्णतया अचेलत्व को स्वीकार कर लिया इससे यह स्पष्ट होता है कि महावीर ने सचेलकत्व से अचेलत्व की ओर कदम बढ़ाया था।

सचेलत्व और अचेलत्व की समस्या के साथ ही एक दूसरी समस्या मुनि के आवास के सम्बन्ध में भी रही हुई है। जैनधर्म में चैत्यवास और वनवास की परम्परायें विकसित हुईं। चैत्यवास वस्तुतः एक परवर्ती काल में विकसित परम्परा है जिसके परिणामस्वरूप जैनमुनि मठाधीश का रूप ले रहे थे किन्तु उत्तराध्ययनसूत्र में इस चैत्यवासी परम्परा का कहीं कोई उल्लेख नहीं है; फिर भी उत्तराध्ययनसूत्र इस सन्दर्भ में विस्तार से चर्चा करता है कि मुनि को किस प्रकार के स्थानों में ठहरना चाहिये।

उपाश्रय

मुनि के निवास स्थल को उपाश्रय या वसति कहते हैं। इसका शास्त्रीय नाम 'शय्या' भी है। शय्या का सामान्य अर्थ है जिस पर शयन किया जाए, किन्तु शय्या शब्द मुनि के ठहरने के स्थान के अर्थ में भी रूढ़ हो गया है। इसी सन्दर्भ में आचारांग में 'शय्येषणा' अध्ययन है, जिसमें मुनि को कैसे आवास में निवास करना चाहिये इसकी चर्चा है। प्राचीन समय में मुनि प्रायः नगर के बाहर उद्यानों में निवास करते थे। उत्तराध्ययनसूत्र में मुनियों के उद्यान में निवास करने के अनेक उल्लेख मिलते हैं।^{२०८} मुनि, ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए नगर के बाहर उद्यान में आकर ठहर जाते थे, किन्तु वर्तमान काल में परिवर्तन हो गया। मुनियों के उपाश्रय गांव में होने लगे। वातावरण मन को प्रभावित करता है। इसलिये मुनियों के रहने का स्थान शुद्ध, संयम एवं स्वाध्याय के अनुकूल होना चाहिये। उत्तराध्ययनसूत्र में मुनि के ठहरने के स्थान के विषय में जो निर्देश दिये गये हैं वे निम्न हैं।^{२०९} -

२०८ उत्तराध्ययनसूत्र - १८/४; २०/४।

२०९ उत्तराध्ययनसूत्र - ३१/४, ५, ६ एवं ७।

१. उपाश्रय सुसज्जित न हो :

मन को लुभाने वाला, चित्रों से सुशोभित, पुष्पमालाओं एवं अगर-चंदनादि सुगन्धित द्रव्यों से सुवासित, सुंदर वस्त्रों (परदे आदि) से सुसज्जित एवं सुंदर दरवाजों (कलाकारी आदि से सुसज्जित) से युक्त उपाश्रय साधु के निवास योग्य नहीं है क्योंकि ऐसे उपाश्रय में साधु की निर्विकार साधना में बाधा उत्पन्न होने की संभावना रहती है।

२. उपाश्रय एकान्त एवं शांत हो :

जिस स्थान पर गृहस्थ का अधिक आवागमन न हो, उनके घनिष्ठ सम्पर्क से रहित हो ऐसे श्मशान, उद्यान, शून्यगृह, वृक्ष, लतामण्डप का तल भाग आदि एकान्त स्थलों पर साधु निवास करे। उत्तराध्ययनसूत्र में अनेक स्थलों पर मुनि को 'विविक्तशयनासन' अर्थात् एकान्त में रहने वाला कहा गया है।

३. जो उपाश्रय परकृत हो :

जो उपाश्रय साधु के निमित्त से बनाया गया न हो अर्थात् गृहस्थ ने जिसे स्वयं की आराधना के लिए बनवाया हो ऐसे उपाश्रय में ही मुनियों को ठहरना चाहिये। भवन के निर्माण में षट्जीवनिकाय के जीवों की विराधना होती है, और उसमें साधु का निमित्त होने से साधु भी उस हिंसा के सहभागी होते हैं।

४. जो मुनि के लिये परिष्कृत न हो :

साधु ठहरने वाले हैं इस आशय से उपाश्रय की सफाई, लिपाई, पोताई ती गई हो तो साधु उस स्थान में न ठहरे। इसी प्रकार वह स्थान यदि प्रकुरोत्पादक बीजों से आकीर्ण हो और मुनि के ठहरने के लिए उन्हें हटाया जाये तो भी वहां नहीं ठहरे। इसका प्रयोजन यह है कि साधु के निमित्त किसी प्रकार का हेसादि का कार्य नहीं होना चाहिये।

५. जीवादि से रहित हो :

मुनि को प्रासुक भूमि में रहना चाहिये अर्थात् जहां मुनि ठहरे उस स्थान में यदि अधिक जीवों की उत्पत्ति की संभावना हो तो मुनि ऐसे स्थान पर निवास न करे।

६. जो ब्रह्मचर्य के पालन में सहायक हो :

जिस स्थान में ब्रह्मचर्य का पालन सम्यक् प्रकार से होता हो अर्थात् आसपास का वातावरण कामवासना को जागृत करने वाला न हो ऐसे उपाश्रय में साधुओं को निवास करना चाहिये।

इस प्रकार उत्तराध्ययनसूत्र में श्रमणाचार का समुचित वर्णन उपलब्ध होता है।

अध्याय - ११

उत्तराध्ययनसूत्र में प्रतिपादित
श्रावकाचार



उत्तराध्ययनसूत्र में प्रतिपादित श्रावकाचार

साधना का प्रवेशद्वार सम्यग्दर्शन है तो इसकी चरमपरिणति मुक्ति है। जैन परम्परा में साधना के क्षेत्र में गतिमान साधक के दो प्रकार हैं – श्रमण एवं श्रावक। साधकों का यह विभाजन चारित्र (आचरण) के आधार पर किया गया है। सम्यग्ज्ञान एवं सम्यग्दर्शन की साधना तो दोनों की समान हो सकती है। क्योंकि आत्मतत्त्व के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान तथा नवतत्त्वों या साधना के आदर्श देव-गुरु एवं धर्म पर अविचल श्रद्धा रखना श्रमण एवं श्रावक दोनों के लिये अनिवार्य है। श्रावकाचार एवं श्रमणाचार शब्द भी आचारगत भिन्नता को ही प्रस्तुत करते हैं।

जैनागम स्थानांगसूत्र में धर्म के दो प्रकार प्रतिपादित किये गये हैं –

१. श्रुत धर्म २. चारित्र धर्म।^१ श्रुतधर्म के अन्तर्गत सम्यग्ज्ञान एवं सम्यग्दर्शन की आराधना की जाती है अर्थात् नवतत्त्वों के स्वरूप का ज्ञान तथा उन पर श्रद्धा रखना और चारित्रधर्म के अन्तर्गत संयम और तप की साधना की जाती है। इसमें श्रुतधर्म श्रमण एवं श्रावक दोनों के लिये समान रूप से आराध्य है। चारित्र धर्म के दो भेद किये गये हैं— सागार धर्म तथा अनगार धर्म। गृहस्थ उपासक या श्रावक का आचार सागार धर्म तथा श्रमण का आचार अनगार धर्म कहलाता है।

आगार शब्द का अर्थ गृह या आवास होता है। गृह या घरों में रहकर की जाने वाली साधना सागार धर्म कहलाती है। अभिधानराजेन्द्रकोश के अनुसार पारिवारिक जीवन में रहकर धर्म का पालन करना सागार धर्म है।^२ गृहस्थ साधक के लिये जैन परम्परा में 'श्रावक' शब्द का प्रयोग किया जाता है इसमें तीन अक्षर हैं— 'श्र', 'व' एवं 'क'। यहाँ 'श्र' से श्रद्धा, 'व' से विवेक तथा 'क' से क्रिया को ग्रहण किया जाता है अर्थात् जो श्रद्धापूर्वक, विवेकपूर्ण क्रिया/आचरण

१. स्थानांग २/१।

२. अभिधानराजेन्द्रकोश, खण्ड-२, पृष्ठ १०६।

करता है, वह श्रावक है। श्रावक शब्द का दूसरा अर्थ सुनने वाला भी है अर्थात् जो धर्म मार्ग का श्रवण कर विवेकपूर्वक आशिक रूप से उसका आचरण करता है, वह श्रावक है। यह निर्विवाद सत्य है कि जैन परम्परा में श्रमणधर्म को श्रेष्ठ एवं प्रधान धर्म माना गया है। तथापि, इसमें गृहस्थ साधकों को भी महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। यही नहीं उत्तराध्ययनसूत्र में तो स्पष्टतः यह कहा गया है कुछ गृहस्थ भी श्रमणों की अपेक्षा संयम के परिपालन में श्रेष्ठ होते हैं। यहां किया गया श्रेष्ठता का निर्धारण भावचारित्र की अपेक्षा से है; द्रव्य चारित्र से नहीं। उत्तराध्ययनसूत्र के छतीसवें अध्ययन में गृहस्थलिंग सिद्ध का उल्लेख है^३ अर्थात् गृहस्थ भी मुक्ति का अधिकारी है यद्यपि दिगम्बर परम्परा इसे मान्य नहीं करती है। तथापि श्वेताम्बर जैन परम्परा के कथानकों में मरुदेवी माता एवं भरत चक्रवर्ती के गृहस्थ जीवन में मुक्ति प्राप्त करने का वर्णन उपलब्ध होता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि मुक्ति का सम्बन्ध मात्र वेश से नहीं वरन् आचरण की पवित्रता तथा कषाय विजय से है। फिर भी श्रमण जीवन को प्रमुखता देने का प्रयोजन यह है कि श्रमण उन बाह्य निमित्तों से जिनके द्वारा आत्मा विषय-वासना की ओर उन्मुख होती है, दूर रहते हैं अर्थात् वे साधना की अनुकूल परिस्थिति में रहते हैं।

श्रावक जीवन की पूर्व पीठिका

गृहस्थ व्यक्ति व्यसनमुक्त तथा कुछ विशिष्ट गुणों से युक्त होने पर ही श्रावक कहलाने का अधिकारी होता है। श्रावक के आचार को चार भूमिकाओं में विभाजित किया जा सकता है -

1. सप्त व्यसन त्याग
2. मार्गानुसारी के पैंतीस गुण
3. श्रावक के बारह व्रत
4. ग्यारह प्रतिमा

श्रावक की पूर्वोक्त स्थितियों का वर्णन आगम ग्रन्थों में क्रमपूर्वक नहीं मिलता है। इसका कारण यह भी हो सकता है कि सामान्यतः एक सद्गृहस्थ में इन गुणों का होना तो आवश्यक है ही। जहां तक हमारे शोधग्रन्थ उत्तराध्ययनसूत्र का प्रश्न है उसमें हमें श्रावकाचार का सुव्यवस्थित एवं क्रमबद्ध वर्णन प्राप्त नहीं होता है। फिर भी इसमें श्रावकाचार से सम्बन्धित विषयों का जो कुछ विवरण उपलब्ध होता है उसके आधार पर हम यहां श्रावकाचार का वर्णन प्रस्तुत कर रहे हैं।

३. उत्तराध्ययनसूत्र ३६/४६।

11.1 सप्तव्यसन का त्याग (दुर्व्यसनमुक्ति)

व्यसन शब्द मूलतः संस्कृत शब्द है। संस्कृतकोश के अनुसार इसका तात्पर्य वे आदतें हैं जिनका परिणाम विपत्तिकारक या कष्टप्रद होता है^१। प्रस्तुत विवेचन में जिन्हें व्यसन कहा जा रहा है वे विपत्ति के हेतु हैं। यहां हेतु में परिणाम का उपचार किया गया है अर्थात् जिन प्रवृत्तियों का परिणाम विपत्तिकारक या कष्टप्रद है वे प्रवृत्तियां दुर्व्यसन कही गयी हैं।

वैदिक परम्परा में अठारह दुर्व्यसनों का उल्लेख प्राप्त होता है^२ जैनाचार्यों ने दुर्व्यसनों के मुख्य सात प्रकार प्रतिपादित किये हैं - १. जुआ २. मांसाहार ३. सुरापान ४. वेश्यागमन ५. शिकार ६. चोरी और ७. परस्त्रीगमन। सामान्यतः ये सातों नरक की प्राप्ति के मूल कारण माने गये हैं। उत्तराध्ययनसूत्र में इन व्यसनों का आंशिक रूप से उल्लेख प्राप्त होता है। अतः हम ज्यादा विस्तार में न जाकर इनका संक्षिप्त वर्णन कर रहे हैं :-

१. जुआ :

जुआ एक निन्दनीय कर्म है। इसमें बिना परिश्रम के धन प्राप्ति की चाह बनी रहती है। इसके स्वरूप को स्पष्ट करते हुए एक पाश्चात्य विचारक ने कहा है कि जुआ लोभ की संतान है, फिजूलखर्ची का जनक है। उत्तराध्ययनसूत्र में जुआ के सम्बन्ध में कोई स्पष्ट उल्लेख उपलब्ध नहीं होता है, किन्तु इसके पांचवें अध्ययन की सोलहवीं गाथा में 'धुत्तेव' शब्द का प्रयोग हुआ है। टीकाकार शान्त्याचार्य ने इसका अर्थ धूतकार अर्थात् जुआरी किया है^३ प्राकृत हिन्दी कोश में भी धुत्त शब्द का एक अर्थ जुआ खेलने वाला किया गया है^४।

उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि अज्ञानी जीव मृत्यु के समय हारे हुये जुआरी की तरह शोकग्रस्त होता है और अकाम मरण को प्राप्त होता

१. संस्कृत-हिन्दी-कोश पृष्ठ ६८८।

२. वैश्वे - जैनाचार सिद्धान्त और स्वरूप, पृष्ठ २६५।

३. उत्तराध्ययनसूत्रटीका पत्र - २४८

४. प्राकृत-हिन्दी-कोश, पृष्ठ ५८८।

- (शान्त्याचार्य)।

है। जुआरी के इस उदाहरण से जुए के दुष्परिणाम ज्ञात होते हैं।^{१०} सूत्रकृतांग में भी जुआ खेलने का निषेध किया गया है।^{११} जुए के कारण कभी-कभी पारिवारिक जीवन भी संकटग्रस्त हो जाता है। इतिहास इस बात का साक्षी है। पाण्डवों के धूत व्यसन के कारण ही द्रौपदी का चीर हरण एवं महाभारत का युद्ध हुआ।

२. मांसाहार :

जुए के समान मांसाहार भी एक व्यसन है। मांसभक्षण निर्दयता का प्रतीक है। यह मानवीय प्रकृति के प्रतिकूल है। उत्तराध्ययनसूत्र का सातवां 'उरभ्रीय' अध्ययन मांसाहार के दुष्परिणाम का उल्लेख करता है। इस के बाईसवें अध्ययन में अरिष्टनेमि भगवान के तोरण से लौट जाने का जो प्रसंग उल्लेखित है उसका कारण भी बारातियों के आहार के लिए एकत्रित पशुओं के प्रति भगवान की करुणा ही थी। इस प्रकार मांसाहार निन्दनीय माना गया है।

३. सुरापान :

जो पेय पदार्थ मादकता उत्पन्न करते हैं, विवेक को कुण्ठित करते हैं, वे मद्यपान या सुरापान के अन्तर्गत आते हैं। इसका प्रचलित शब्द 'शराब' है किन्तु इसके अन्तर्गत सभी प्रकार के नशीले पदार्थों का सेवन समाहित है। उत्तराध्ययनसूत्र में अनेक स्थलों पर मदिरापान का निषेध किया गया है। इसके पांचवें अध्ययन में कहा गया है कि हिंसक, मायावी, अज्ञानी, चुगलखोर, धूर्त व्यक्ति मांस एवं मदिरा का सेवन करते हैं अतएव सज्जन पुरुष इनसे दूर रहते हैं।^{१०}

मदिरापान के दुष्परिणाम का उल्लेख करते हुए हेमचन्द्राचार्य ने योगशास्त्र में लिखा है कि जैसे अग्नि की एक चिनगारी घास के ढेर को समाप्त कर देती है वैसे मदिरापान से विवेक, संयम, ज्ञान, सत्य, शौच, दया आदि सभी गुण नष्ट हो जाते हैं।^{११}

८. तवो से मरुर्षतिभि, बाले संतस्सई मया ।

अक्राममरणं भर्षे, धुतेव क्लिना विण ।।

- उत्तराध्ययनसूत्र ५/१६ ।

९. सूत्रकृतांक ६/११० ।

१०. उत्तराध्ययनसूत्र ५/६ ।

११. योगशास्त्र ३/४२ ।

आचार्य हरिभद्रसूरि के अनुसार मद्यपान करने वाले में निम्न सोलह दोष उत्पन्न होते हैं -- १. शरीर का विद्रुप होना २. विविध रोगों से ग्रस्त होना ३. परिवार से तिरस्कृत होना ४. समय पर काम करने की क्षमता का न रहना ५. अन्तर्मानस में द्वेष पैदा होना ६. ज्ञानतंतुओं का कुण्ठित होना ७. स्मृति का क्षीण होना ८. बुद्धि का विकृत होना ९. सत्संग के प्रति अरुचि १०. वाणी में कठोरता होना ११. निम्न स्तरीय व्यक्तियों का संपर्क होना १२. कुलहीनता को प्राप्त होना १३. शक्ति का हास होना १४. धर्म का पालन नहीं कर पाना १५. अर्थ का नाश एवं १६. काम का नाश। संक्षेप में कहा जाय तो एक शराबी व्यक्ति में सभी प्रकार के दोषों की संभावना बनी रहती है।

४. वेश्यागमन :

उत्तराध्ययनसूत्र में यद्यपि वेश्यागमन के निषेध का स्पष्ट रूप से कहीं उल्लेख नहीं आया है फिर भी इसके सोलहवें ब्रह्मचर्यसमाधिस्थान नामक अध्ययन में ब्रह्मचर्य का पालन करने के लिए कितनी सतर्कता आवश्यक है इस पर व्यापक रूप से प्रकाश डाला गया है। इससे वेश्यागमन का निषेध स्वतः हो जाता है। इसमें ब्रह्मचर्य की साधना करने वाले साधक के लिए निम्न दस बातें वर्जित हैं¹²—

१. स्त्री, पशु और नपुंसक से आकीर्ण शयन एवं आसन का त्याग करे;
२. स्त्रियों के बीच कथा-वार्ता न करे;
३. स्त्रियों के साथ एक आसन पर न बैठे;
४. स्त्रियों की ओर एकाग्र दृष्टि से न देखे;
५. स्त्रियों के कूजन, रोदन, गीत, हास्य, विलाप आदि को न सुने;
६. पूर्वकृत कामभोगों का स्मरण न करे;
७. प्रणीत आहार का ग्रहण न करे;
८. अतिमात्रा में आहार का ग्रहण न करे;
९. विभूषा आदि न करे;
१०. शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श में आसक्त न रहे।

५. शिकार :

उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार शिकार खेलना क्रूर एवं हिंसक कर्म है। इसमें व्यर्थ ही बेचारे निरीह प्राणियों का हनन किया जाता है। अहिंसा की साधना में अग्रसर होने वाले साधक को इसका सर्वथा त्याग करना चाहिए। उत्तराध्ययनसूत्र के अठारहवें अध्ययन में शिकार-त्याग का उपदेश दिया है। इसमें संजय राजा शिकार खेलने के उद्देश्य से जंगल में जाता है, वह अपने शौक के कारण हिरणों का शिकार करता है। वहाँ ध्यानस्थ मुनि राजा को इस हिंसक कर्म से विरत होने की प्रेरणा देते हैं।

६. चौर्यकर्म :

उत्तराध्ययनसूत्र में चौर्यकर्म को निन्दनीय एवं त्याज्य बताया गया है। इसमें साधक को बिना आज्ञा के दन्तशोधन हेतु एक तिनका भी लेने का निषेध किया गया है।^{१३} चौर्यकर्म का विस्तृत वर्णन हमने इस ग्रन्थ में अदत्तादानविरमणमहाव्रत तथा अस्तेय अणुव्रत के अंतर्गत किया है।

७. परस्त्रीगमन :

स्वपत्नी के अतिरिक्त अन्य किसी के साथ कामवासनाजन्य व्यवहार करना परस्त्रीगमन सम्बन्धी दोष है। पुरुषों के लिये तिर्यचिनी (मादा पशु-पक्षी) मानव-स्त्री, देवी, अथवा काष्ठ या पाषाण की पुतली आदि के साथ भी कामभोग सम्बन्धी चेष्टा करना परस्त्रीगमन रूप व्यापार माना गया है।

इस प्रकार उत्तराध्ययनसूत्र की शिक्षाओं में पूर्वोक्त व्यसन के त्याग की प्रेरणा अन्तर्निहित है। व्यसनी तथा निर्व्यसनी की दशा का चित्रण करते हुए किसी कवि ने कहा है—

‘व्यसन’ मृत्यु से भी अधिक कष्टप्रद है क्योंकि मृत्यु एक बार ही कष्ट देती है पर व्यसन जीवन भर कष्ट देते रहते हैं और व्यसनी व्यक्ति मृत्यु के बाद परलोक में भी विविध कष्टों को प्राप्त होता है जबकि निर्व्यसनी व्यक्ति यहाँ भी सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करता है तथा परलोक में भी स्वर्ग सुख का उपभोग करता है।’

१३. उत्तराध्ययनसूत्र - १६/२७।

11.2 मार्गानुसारी के पैंतीस गुण (श्रावक के मुख्य गुण)

आचार्य हरिभद्रसूरि, आचार्य हेमचन्द्र, आचार्य नेमिचन्द्र तथा पं. आशाधर जी ने श्रावक जीवन की पूर्व भूमिका के रूप में कुछ सदगुणों का उल्लेख किया है। आचार्य हरिभद्र एवं आचार्य हेमचन्द्र ने इन्हें 'मार्गानुसारी गुण' कहा है। मार्गानुसारी गुण से तात्पर्य श्रावक जीवन जीने की प्राथमिक शर्त है। श्रावक के ये मार्गानुसारी गुण इस बात के परिचायक हैं कि व्यक्ति को धार्मिक या आध्यात्मिक साधना करने के लिये पहले कुछ व्यवहारिक एवं सामाजिक नियमों का पालन करना चाहिए, तभी वह अणुव्रतों की साधना का अधिकारी बन सकता है। धर्मबिन्दुप्रकरण एवं योगशास्त्र में मार्गानुसारी के निम्न पैंतीस गुणों का उल्लेख किया गया है जो सक्षेप में निम्न हैं^{१४} :

१. न्यायनीतिपूर्वक धन का उपार्जन करना।
२. शिष्ट पुरुषों के आचरण की प्रशंसा करना।
३. कुल एवं शील में अपने समान स्तर वालों से परिणय संबंध करना।
४. पापों से भय रखना अर्थात् पापाचार का त्याग करना।
५. अपने देश के आचार का पालन करना।
६. दूसरों की निंदा नहीं करना।
७. ऐसे घर में निवास करना जो सुरक्षावाला तथा वायु, प्रकाश आदि से युक्त हो।
८. घर के द्वार अधिक नहीं रखना।
९. सत्पुरुषों की संगति करना।
१०. माता-पिता की सेवा करना।
११. चित्त में क्षोभ उत्पन्न करने वाले स्थानों से दूर रहना।
१२. निन्दनीय कार्यों का त्याग करना।
१३. आय के अनुसार व्यय करना।
१४. देश एवं कुल के अनुरूप वस्त्र धारण करना।
१५. बुद्धि के निम्न आठ गुणों से संपन्न होना-

१. धर्म श्रवण की इच्छा। २. अवसर मिलने पर धर्म श्रवण करना। ३. शास्त्रों का अध्ययन करना। ४. उन्हें स्मृति में रखना। ५. जिज्ञासा से प्रेरित होकर

१४. (क) धर्मबिन्दुप्रकरण - १/४-५८।

(ख) योगशास्त्र - १/४७-५६।

शास्त्र चर्चा करना। ६. शास्त्रों के विपरीत अर्थ से बचना ७. वस्तु स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करना। ८. तत्त्वज्ञ बनना।

१६. अजीर्ण होने पर भोजन नहीं करना।
१७. नियत समय पर भोजन करना।
- ✓ १८. धर्म, अर्थ एवं काम का अवसरोचित सेवन करना— गृहस्थ जीवन में अर्थ एवं काम पुरुषार्थ का सर्वथा त्याग नहीं हो सकता है, अतः उनका सेवन इस प्रकार करना चाहिए ताकि धर्म पुरुषार्थ उपेक्षित न हों।
१९. अतिथि, साधु आदि का सत्कार करना।
२०. आग्रह से दूर रहना।
२१. गुणानुरागी होना।
२२. अयोग्य देश और काल में गमन नहीं करना।
२३. स्वसामर्थ्य के अनुसार कार्य करना।
२४. सदाचारी पुरुषों को उचित सम्मान देना, उनकी सेवा करना।
- ✓ २५. अपने आश्रितों का पालन-पोषण करना।
२६. दीर्घदर्शी होना।
२७. विवेकशील होना अर्थात् अपने हित-अहित को समझना।
- ✓ २८. कृतज्ञ होना अर्थात् उपकारी के उपकार का विस्मरण नहीं करना।
२९. सदाचार एवं सेवा के द्वारा जनता का प्रेमपात्र बनना।
३०. लज्जाशील होना।
- ✓ ३१. करुणाशील होना।
३२. सौम्य होना।
- ✓ ३३. यथाशक्ति परोपकार करना।
३४. काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह और मात्सर्य आदि आंतरिक शत्रुओं से बचने का प्रयत्न करना।
- ✓ ३५. इन्द्रियों को वश में रखना।

जैसा पहले संकेत किया जा चुका है कि इन गुणों की संख्या विभिन्न आचार्यों ने अलग-अलग बताई है फिर भी जहां आचार्य हरिभद्र एवं आचार्य हेमचंद्र ने इनकी संख्या ३५ मानी है, वहीं प्रवचनसारोद्धार में २१ एवं सागारधर्माभूत में १७ गुणों का उल्लेख हुआ है, लेकिन ये सभी गुण इन ३५ गुणों के

अन्तर्गत समाहित हो जाते हैं। अतः हम विस्तार भय से यहां उनकी अलग से चर्चा नहीं कर रहे हैं।¹⁵

जहां तक उत्तराध्ययनसूत्र का प्रश्न है उसमें हमें मार्गानुसारी गुणों का कहीं कोई स्पष्ट वर्णन प्राप्त नहीं होता है किन्तु इसकी शिक्षाओं एवं कथानकों में इनसे संबंधित चर्चा अवश्य उपलब्ध होती है जैसे, न्यायपूर्वक धन अर्जन करने के सन्दर्भ में इसके चतुर्थ 'असंस्कृत' अध्ययन में कहा गया है कि पापकर्म से उपार्जित धन नरक का कारण है।¹⁶ इसी प्रकार इस का विनय अध्ययन शिष्टजन की सेवा शुश्रूषा की शिक्षा देता है तथा योग्य निवास स्थल की चर्चा साधु के उपाश्रय के संबंध में की गई है।

उत्तराध्ययनसूत्र के तीसरे चतुरंगीय अध्ययन में मनुष्यत्व को दुर्लभ बताया गया है।¹⁷ मानवोचित गुणों से युक्त होना ही मनुष्यत्व है। दूसरे शब्दों में हम यह भी कह सकते हैं कि मार्गानुसारी गुणों से युक्त होना ही मनुष्यत्व है। मार्गानुसारी का एक गुण यह भी है कि देश एवं कुल के अनुरूप आचरण करें। उत्तराध्ययनसूत्र भी देश-काल परिस्थिति के अनुरूप आचरण की शिक्षा देता है। कुल की मर्यादा का उल्लंघन न करने की शिक्षा उत्तराध्ययनसूत्र के बाईसवें अध्ययन में राजमति ने स्थनेमि को प्रतिबोध देते हुए दी थी।¹⁸

उत्तराध्ययनसूत्र के इष्टकारीय अध्ययन में पुरोहित के पुत्रों को जिन विशेषणों से अलंकृत किया गया है वस्तुतः वे मार्गानुसारी गुण ही हैं। यथा— 'निविष्णसंसारभया' अर्थात् पापभीरुता, श्रद्धासम्पन्नता, कामभोगों में अनासक्ति आदि। इस प्रकार उत्तराध्ययनसूत्र में मार्गानुसारी गुणों में से कुछ गुणों का स्पष्ट वर्णन मिलता है।

11.३ श्रावक के बारह व्रत :

'व्रत' को व्याख्यायित करते हुए कहा गया है — त्रियते प्राप्यते सद्गतिरनेनेति व्रत—नियमः इत्यर्थः अर्थात् जिससे सद्गति की प्राप्ति होती है, उसे

15. (क) प्रवचनसरोद्धार - २३६;
(ख) सागराध्याय - अध्याय १।
16. उत्तराध्ययनसूत्र ४/२।
17. उत्तराध्ययनसूत्र - ४/१।
18. उत्तराध्ययनसूत्र - २२/४०।

व्रत कहा जाता है अथवा 'विरतिव्रतम्' अर्थात् हिंसा आदि से विरत होना या इनका त्याग करना व्रत है। हिंसा आदि से निवृत्ति आशिक भी होती है और पूर्ण भी। हिंसादि से आशिक विरति को अणुव्रत तथा इससे सर्वथा निवृत्ति को महाव्रत कहते हैं। प्रस्तुत सन्दर्भ में हमारा विवेच्य विषय श्रावक के बारह व्रत हैं।

उत्तराध्ययनसूत्र में बारहव्रत सम्बन्धी कोई स्पष्ट उल्लेख उपलब्ध नहीं होता है, किन्तु इसमें हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील एवं परिग्रह से विरत होने की प्रेरणा अवश्य दी गई है। साथ ही इसकी टीकाओं में अनेक स्थलों पर श्रावक के, देशविरति रूप सामान्य धर्म का उल्लेख मिलता है। देशविरति व्रत वस्तुतः बारहव्रतों का ही द्योतक है। श्रावक के बारह व्रतों का विस्तृत विवरण उपासकदशांगसूत्र में किया गया है।^{१९}

बारह व्रतों को मुख्यतः तीन भागों में विभाजित किया जाता है— पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत। अपेक्षाभेद से इन्हें निम्न दो भागों में भी बांटा गया है— पांच अणुव्रत एवं सात शिक्षाव्रत किन्तु वर्तमान में पूर्वोक्त विभाग ही प्रचलित है।

एक गृहस्थ श्रावक अहिंसादि व्रतों का पालन पूर्ण रूप से नहीं कर पाता है। अतः वह उन्हें उतने ही अंश में स्वीकार करता है जहां तक वह उनका प्रामाणिकता से पालन कर सके; वह अणु अर्थात् सीमित रूप में ही व्रत ग्रहण करता है। यही कारण है कि श्रावक के ये अहिंसादि पांच व्रत अणुव्रत कहलाते हैं।

गुण का एक अर्थ विशेषता भी होता है। अतः श्रावक के पांच अणुव्रतों के पालन में जो व्रत विशेष सहायक एवं उपकारक होते हैं, वे गुणव्रत कहलाते हैं। शिक्षा का अर्थ अभ्यास या प्रशिक्षण होता है। अतः आध्यात्मिक जीवन के अभ्यास के हेतुभूत जो सामायिक, पौषध आदि व्रत हैं, वे शिक्षाव्रत कहलाते हैं।

इन बारह व्रतों में अणुव्रत के क्रम में कोई अन्तर नहीं है परन्तु गुणव्रतों एवं शिक्षाव्रतों के क्रम में कुछ भिन्नता पाई जाती है। जहां तक दिगम्बर परम्परा का प्रश्न है उसमें भी अणुव्रतों के नाम एवं क्रम में कहीं कोई भिन्नता नहीं है। किन्तु गुणव्रत एवं शिक्षाव्रत के संदर्भ में कुछ भिन्नता अवश्य है जिसका स्पष्टीकरण हम इन व्रतों की स्वतंत्र चर्चा के संदर्भ में प्रस्तुत करेंगे —

१. अहिंसा—अणुव्रत

इस अणुव्रत का शास्त्रीय नाम 'स्थूलप्राणातिपात विरमणव्रत' है।^{२०} अर्थात् गृहस्थ साधक स्थूल (त्रस) जीवों की हिंसा से विरत होता है। उपासकदशांगसूत्र में आनंद श्रावक द्वारा अहिंसा—अणुव्रत की प्रतिज्ञा निम्न रूप से स्वीकार की गई है — 'मैं यावज्जीवन मन, वचन व कर्म से स्थूल प्राणातिपात न स्वयं करूंगा न दूसरों से कराऊंगा।'^{२१}

'रत्नकरण्डकश्रावकचार', कार्तिकेयानुप्रेक्षा, पुरुषार्थसिद्धयुपाय आदि ग्रन्थों में अहिंसा अणुव्रत का पालन तीन करण (कृत, कारित एवं अनुमोदित) तथा तीन योग (मन, वचन एवं काया) से बताया गया है।^{२२} पं. आशाधरजी के अनुसार श्रावक अनुमोदना से विरत नहीं हो सकता है। अतः वह तीन योग और दो करण से हिंसा का त्याग करता है।^{२३}

इस प्रकार श्रावक स्थूल हिंसा का त्याग करता है। जीव दो प्रकार के कहे गये हैं— सूक्ष्म और स्थूल। पृथ्वी, पानी, वायु, अग्नि तथा वनस्पति के जीव जिनकी चेतना स्पष्ट रूप से परिलक्षित नहीं होती है, वे सूक्ष्म जीव कहलाते हैं। इसके विपरीत जो उद्देश्य पूर्वक गमनागमन कर सकते हैं, वे दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय एवं पांच इन्द्रिय वाले जीव स्थूल जीव कहलाते हैं। जैन पारिभाषिक शब्दावली में सूक्ष्म एवं स्थूल जीवों को क्रमशः 'स्थावर' एवं 'त्रस' कहा जाता है।

गृहस्थ स्थावर जीवों की हिंसा का सर्वथा परित्याग नहीं कर सकता क्योंकि उसकी दैनंदिन आवश्यकतायें जैसे — रोटी, कपड़ा, मकान आदि की पूर्ति में उसे स्थावर जीवों की हिंसा करनी पड़ती है परन्तु इतना अवश्य है कि वह इन आवश्यकताओं को परिमित कर सकता है और व्यर्थ हिंसा से बच सकता है। इसी प्रकार गृहस्थ श्रावक त्रस जीवों की हिंसा का भी पूर्ण रूपेण त्याग नहीं कर सकता है क्योंकि उसे कदाचित् अपने देश, समाज, परिवार, धर्म तथा शरीर की रक्षा करने के लिये विरोधी या आततायी का प्रतीकार करना पड़ता है इस प्रकार

२०. स्थानांग ५/१/२ ।

२१. उपासकदशांग १/२४ - (साठनू) ।

२२. (क) रत्नकरण्डकश्रावकचार ५३ ।

(ख) कार्तिकेयानुप्रेक्षा - ३०-३२ ।

(ग) पुरुषार्थसिद्धयुपाय - ७५ ।

२३. ज्ञानपरमामृत - पृष्ठ १३६ ।

जैनदर्शन के अनुसार अन्यायी, दोषी एवं आक्रमणकारी के प्रतिकार हेतु की गई हिंसा से गृहस्थ पूर्णतया विरत नहीं होता है।

पूर्वोक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रावक के अणुव्रत के अन्तर्गत संकल्पपूर्वक निरपराध त्रस जीवों की हिंसा का त्याग किया जाता है। लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं है कि श्रावक के लिये स्थावर जीवों की हिंसा का निषेध नहीं है। श्रावक के लिये भी अनावश्यक स्थावर प्राणियों की हिंसा का तो निषेध ही है, किन्तु अपराध करने वालों की हिंसा का और एकेन्द्रिय जीवों जैसे वनस्पति आदि की हिंसा का पूर्ण त्याग गृहस्थ जीवन में अशक्य है। हिंसा के चार रूप हैं— संकल्पजा, विरोधजा, उद्योगजा और आरम्भजा। इनमें गृहस्थ केवल संकल्पजा हिंसा का त्याग करता है। गृहस्थ के अहिंसा व्रत की सुरक्षा के लिये निम्न पांच नियम प्रतिपादित किये गये हैं —

१. बन्धन :

किसी भी प्राणी को बांधना, उसकी स्वतंत्रता में बाधा डालना, पिंजरे आदि में बंद कर देना तथा अपने आश्रित नौकर आदि के प्रति अमानवीय व्यवहार करना अहिंसा अणुव्रत का अतिघार है।

२. वध :

प्राणियों पर लकड़ी, चाबुक आदि से घातक प्रहार करना श्रावक के लिये वर्जित है।

३. छविच्छेद :

क्रोध या मनोरंजन वश किसी भी प्राणी के अंगोपांग का छेदन करना, अंग-भंग करना आदि श्रावक के लिये अकरणीय है। डॉ. सागरमल जैन ने इसका लाक्षणिक अर्थ वृत्तिच्छेद करते हुये लिखा है कि किसी की आजीविका छीन लेना या उसे उचित पारिश्रमिक नहीं देना भी अहिंसा के साधक के लिये अनाचरणीय है।

४. अतिभार :

प्राणियों पर उनकी शक्ति से अधिक भार डालना तथा किसी प्राणी की शक्ति से अधिक उससे कार्य करवाना अतिभार अतिचार है । यह भी श्रावक के लिये निषिद्ध है ।

५. अन्न पान निरोध :

आश्रित प्राणियों को समय पर भोजन नहीं देना एवं नौकर आदि को समय पर वेतन नहीं देना भी इस अतिचार के अन्तर्गत माना जाता है । अतः श्रावक के लिये यह दोष माना गया है ।

२. सत्य अणुव्रत

यह श्रावक का द्वितीय अणुव्रत है; इसका अपर नाम 'स्थूलमृषावादादविरमणव्रत' है। आचार्य हेमचन्द्र ने स्थूल मृषावाद या स्थूल असत्य वचन के पांच प्रकार बर्तलाये हैं²⁴ वर, कन्या, पशु एवं भूमि संबंधी असत्य भाषण करना, झूठी गवाही देना तथा झूठे दस्तावेज तैयार करना श्रावक के लिये निषिद्ध कर्म है।

सत्य अणुव्रत के पांच अतिचार

उपासकदशांगसूत्र में सत्य अणुव्रत के निम्न पांच अतिचार प्रतिपादित किये गये हैं²⁵—

१. बिना सोचे विचारे किसी पर मिथ्या दोषारोपण करना;
२. एकान्त में वार्तालाप करने वालों पर मिथ्या दोषारोपण करना;
३. स्वस्त्री अथवा स्वपुरुष की गुप्त एवं मार्मिक बात को प्रकट करना;
४. मिथ्या उपदेश या झूठी सलाह देना;
५. झूठे दस्तावेज लिखवाना।

२४. बोधिसूत्र - २/५४ ।

२५. उपासकदशांग - १/३३

- (ताडन, पृष्ठ ५०४) ।

वदित्तुसूत्र में भी इन्हीं पांच अतिचारों का वर्णन किया गया है^{२६}। तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार इनके क्रम व नाम निम्न हैं- १. मिथ्योपदेश २. असत्य दोषारोपण ३. कूटलेख क्रिया ४. न्यासापहार और ५. मर्मभेद अर्थात् गुप्त बात प्रकट करना।^{२७}

३. अचौर्य अणुव्रत

श्रावक के इस तीसरे अचौर्य व्रत को 'स्थूल अदत्तादान विरमणव्रत' भी कहा जाता है। अदत्तादान का सामान्य अर्थ अदत्त अर्थात् बिना दी हुई वस्तु का ग्रहण करना है। आचार्य हरिभद्र सूरि ने शास्त्रवार्तासमुच्चय में कहा है कि स्वामी एवं जीव की आज्ञा के बिना दूसरे व्यक्ति की वस्तु का ग्रहण अदत्तादान है।^{२८}

जैनाचार्यों ने स्थूल चोरी के निम्न रूप प्रतिपादित किये हैं - १. खत खनना:- संध लगाकर वस्तु ले जाना। २. गांठ काटना - बिना पूछे किसी की गांठ खोलकर वस्तु निकाल लेना; जब काटना इसके अंतर्गत ही है। ३. ताला तोड़कर या नकली चामी के द्वारा ताला खोल के वस्तुएं चुराना और ४. अन्य किसी साधन द्वारा वस्तु के स्वामी की आज्ञा के बिना वस्तु लेना।

उपासकदशांगसूत्र, वदित्तुसूत्र आदि में अदत्तादान के निम्न पांच अतिचार प्रतिपादित किये गये हैं^{२९}-

१. चोरी का माल खरीदना। २. चोर को चोरी के लिए प्रोत्साहित करना या उसके कार्यों में सहयोग देना। ३. राज्य विरुद्ध व्यापार आदि करना ४. नापतौल में कमी करके ग्राहक को माल देना और वृद्धि करके लेना और ५. माल में भिलावट करके बेचना।

४. ब्रह्मचर्य-अणुव्रत

ब्रह्मचर्य श्रावक का चौथा अणुव्रत है। इसे स्वदारसंतोषव्रत या स्वपति संतोषव्रत भी कहा जाता है। 'उपासकदशांगसूत्र' में आनन्द श्रावक द्वारा ब्रह्मचर्य

२६. वदित्तुसूत्र - १२।

२७. तत्त्वार्थसूत्र - ७/२३।

२८. शास्त्रवार्तासमुच्चय - १/४।

२९. (क) उपासकदशांग - १/३४

(ख) वदित्तुसूत्र - १४।

- (सतजगु);

अणुव्रत की प्रतिज्ञा निम्न रूप से ग्रहण की गई है— “मैं स्वपत्नीसंतोषव्रत ग्रहण करता हूँ । शिवानन्दा नामक अपनी पत्नी के अतिरिक्त सब प्रकार के मैथुन का त्याग करता हूँ।^{३०} आवश्यकसूत्र में भी अपनी विवाहिता स्त्री में संतोष रखकर अन्य सभी मैथुन का त्याग करना ब्रह्मचर्य अणुव्रत माना गया है।^{३१} सर्वार्थसिद्धि के अनुसार चारित्र मोहनीय का उदय होने पर राग से आक्रान्त स्त्री-पुरुष में परस्पर स्पर्श की आकांक्षा जन्य क्रिया मैथुन कहलाती है।^{३२} ब्रह्मचर्य अणुव्रत का पालन करने वाला श्रावक स्वस्त्री के संबंध में भी मैथुन की मर्यादा निर्धारित करता है ।

ब्रह्मचर्य अणुव्रत के ग्रहण से श्रावक श्रमण की तरह कामवासना से पूर्णतः विरक्त नहीं होता है, परन्तु वह संयत हो जाता है अर्थात् पत्नी के अतिरिक्त अन्य सभी स्त्रियों के संसर्ग का त्यागी हो जाता है। वसुनन्दीश्रावकाचार के अनुसार अष्टमी, चतुर्विंशती आदि पर्व के दिनों में स्त्रीसेवन एवं अनंगक्रीडा का त्याग करने वाले को स्थूल ब्रह्मचारी कहा जाता है।^{३३}

ब्रह्मचर्य अणुव्रत के अतिचार :

१. इत्वरपरिगृहीतागमन :

आचार्यों ने इत्वर शब्द के दो अर्थ किये हैं— अल्पकाल और अल्पवयस्का (स्त्री)

इस प्रकार अल्पकाल के लिये रखी हुई स्त्री के साथ मैथुन का सेवन करना या अल्पवयस्का के साथ समागम करना इत्वरपरिगृहीतागमन अतिचार है ।

२. अपरिगृहीतागमन :

अपरिगृहीता अर्थात् किसी के द्वारा ग्रहण न की गई कन्या या वेश्यादि के साथ संसर्ग करना। अपरिगृहीत का एक अर्थ है स्वयं द्वारा अपरिगृहीत अर्थात्

३०. उपासकदशांग १/२७ (लडनू, पृष्ठ ४००) ।

३१. आवश्यकसूत्र - (परिशिष्ट, पृष्ठ २२) ।

३२. तत्त्वार्थसूत्र ७/१६ (सर्वार्थसिद्धि) ।

३३. वसुनन्दीश्रावकाचार - २/२

- उद्धृत - उपासकदशांग और उसका श्रावकाचार - पृष्ठ, १०८ ।

जिसके साथ विवाह नहीं हुआ हो, ऐसी स्त्री । इस आधार पर इसका अर्थ परस्त्रीगमन भी किया है। आचार्य अमोलकऋषि के अनुसार पाणीग्रहण होने से पहले ही जिस स्त्री के साथ वाग्दान संबंध हुआ है उसके साथ सम्पर्क करना भी अपरिगृहीतागमन अतिचार है।³⁴ दूसरे शब्दों में अपरिगृहीता अर्थात् वह स्त्री जिस पर किसी का अधिकार नहीं है अर्थात् वेश्या के साथ समागम करना अपरिगृहीतागमन अतिचार है।³⁵

३. अनंगक्रीड़ा :

उपासकदशांग को टीका के अनुसार कामसेवन के अंग जैसे योनि, लिंग आदि से भिन्न अंग जैसे स्तन, कक्षा, मुख आदि इनमें कामवश रमण करना अनंगक्रीड़ा है अर्थात् कामक्रीड़ा को उद्दीप्त करने वाली जैसे चुम्बन, आलिंगन आदि कामचेष्टायें करना अनंगक्रीड़ा अतिचार है।³⁶

४. परविवाहकरण :

अपने परिवार के सदस्यों के अतिरिक्त दूसरों के विवाह सम्बन्ध करवाना परविवाहकरण अतिचार है किन्तु कुछ आचार्यों के अनुसार व्रतगहण के पश्चात् दूसरा विवाह करना भी परविवाहकरण है।

५. कामभोगतीव्राभिलाषा :

कामभोग की तीव्र अभिलाषा रखना कामभोगतीव्राभिलाषा अतिचार है। श्रोत्रेन्द्रिय एवं चक्षुन्द्रिय का विषय काम कहलाता है तथा घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय स्पर्शेन्द्रिय आदि के विषय भोग कहलाते हैं। इस प्रकार पांचों इन्द्रियों के विषय भोग की तीव्र आकांक्षा करना कामभोगतीव्राभिलाषा अतिचार है। एक अपेक्षा से काम उद्दीपन के लिये मादक पदार्थ का सेवन करना भी कामभोग तीव्राभिलाषा अतिचार है।

३४. जैनतत्वप्रकाश, पृष्ठ ६०३ ।

३५. तत्कार्य सूत्र पृ. १८८ (पं. सुखतालनी)

३६. उपासकदशांग टीका पत्र ८ ।

बौद्धदर्शन में भी गृहस्थ साधक के लिये स्वपत्नी संतोषव्रत का विधान किया गया है। 'सुतनिपात' में कहा गया है कि साधक यदि ब्रह्मचर्य का पालन न कर सके तो कम से कम स्वस्त्री का अतिक्रमण न करे।^{३७}

इस प्रकार ब्रह्मचर्य अणुव्रत के अन्तर्गत गृहस्थ साधक के लिये वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन को संयमित करने का विधान किया गया है, जिससे व्यक्ति काम विकृतियों से दूर रहता हुआ स्वपत्नी से ही संतुष्ट रहे।

५. अपरिग्रह अणुव्रत

अपरिग्रह अणुव्रत के अन्तर्गत अपरिग्रह शब्द अभाव का सूचक न होकर अल्पता, न्यूनता का सूचक है। इसीलिये इसे परिग्रह परिमाणव्रत भी कहा जाता है। श्रावक साधु की तरह पूर्ण रूप से निष्परिग्रही नहीं हो सकता है। यह कहा जाता है कि साधु कौड़ी रखे तो कौड़ी का और गृहस्थ के पास कौड़ी न हो तो कौड़ी का अर्थात् गृहस्थ जीवन में अर्थ की भी आवश्यकता होती है। पर आवश्यकता की अपेक्षा आकांक्षा अधिक होती है। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि जैसे-जैसे लाभ होता जाता है वैसे-वैसे लोभ बढ़ता जाता है। अतः इससे बचने के लिये गृहस्थ श्रावक के व्रतों में परिग्रह की सीमा निर्धारित की गई है।^{३८}

जैन ग्रन्थों में निम्न नौ प्रकार से परिग्रह की सीमा निर्धारित की गई है— १. क्षेत्र, कृषि योग्य क्षेत्र (खेत) या अन्य खुला हुआ भूमि भाग, २. वास्तुनिर्मित भवन आदि, ३. हिरण्य अर्थात् चांदी ४. स्वर्ण अर्थात् सोना, ५. द्विपद, दास, दासी आदि नौकर, ६. चतुष्पद — गाय बैल आदि, ७. धन — मुद्रा आदि ८. धान्य—अनाज आदि ९. कुच्य—घर गृहस्थी का फुटकर सामान।^{३९}

इन नौ प्रकार के परिग्रह का परिसीमन गृहस्थ श्रावक के लिये आवश्यक है। राग—द्वेष, कषाय आदि आन्तरिक परिग्रह है। अतः गृहस्थ के लिए इनका त्याग एवं परिसीमन भी आवश्यक है। उपासकदशांगसूत्र में परिग्रह परिमाण

३७. सुतनिपात - २६/११ - उद्धृत जैन बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग २, पृष्ठ २२२।

३८. उत्तराध्ययनसूत्र - ८/१७।

३९. वैदित्तसूत्र - १८।

व्रत को 'इच्छापरिमाणव्रत' भी कहा गया है।^{४०} परिग्रह का आन्तरिक कारण इच्छा है। अतः उस पर नियन्त्रण करना अत्यावश्यक है, चूँकि इच्छा का सम्बन्ध बाह्य वस्तुओं से है अतः उनकी मर्यादा रखना भी आवश्यक है।

इस प्रकार इच्छाओं एवं वस्तुओं को मर्यादित करते हुए उपलब्ध वस्तुओं पर भी ममत्व नहीं रखना अपरिग्रह-अणुव्रत या परिग्रह परिमाण व्रत है।

अपरिग्रह-अणुव्रत के अतिचार :

- (१) क्षेत्र, वस्तु आदि के परिमाण का अतिक्रमण करना।
- (२) हिरण्य स्वर्ण के परिमाण का अतिक्रमण करना।
- (३) द्विपद, चतुष्पद के परिमाण का अतिक्रमण करना।
- (४) धन-धान्य के परिमाण का अतिक्रमण करना।
- (५) गृहस्थ-जीवन के लिए आवश्यक अन्य सामान की सीमा का अतिक्रमण करना।

इस प्रकार परिग्रह की मर्यादा का अतिक्रमण करना परिग्रह परिमाणव्रत के अतिचार है।

६. दिग्परिमाणव्रत

यह श्रावक का प्रथम गुणव्रत है। दिशाओं में गमनागमन की मर्यादा को निश्चित करना दिग्परिमाण व्रत है। दिशाओं की संख्या विभिन्न प्रकार की मानी गई है।

योगशास्त्र के अनुसार चारों दिशा (पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण) विदिशा (ईशान, आग्नेय, नैऋत्य, वायव्य) ऊर्ध्वदिशा एवं अधोदिशा इन दस दिशाओं में व्यवसाय एवं भोगोपभोग के निमित्त गमनागमन की सीमा निश्चित करना दिग्परिमाणव्रत है।^{४१}

४०. उपासकशांख १/२८ (ताडनुं, पृष्ठ ४००)।

४१. योगशास्त्र ३/१।

श्रावक का यह व्रत अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है :-

- (१) सर्वप्रथम व्यापार क्षेत्र की निश्चित सीमा रेखा निर्धारित हो जाती है।
- (२) उसकी अधिक भागदौड़ मिट जाती है।
- (३) वह अनावश्यक गमनागमन से होने वाले कर्म बन्ध से बच जाता है।

दिग्परिमाणव्रत के अतिचार :

- (१) ऊर्ध्वदिशा के परिमाण का अतिक्रमण।
- (२) अधोदिशा के परिमाण का अतिक्रमण।
- (३) तिर्यक् (मध्य) दिशा के परिमाण का अतिक्रमण।
- (४) क्षेत्र (दिशा) के परिमाण को बढ़ा लेना अर्थात् एक दिशा के परिमाण को दूसरी दिशा के परिमाण में मिला देना यथा पूर्व दिशा, पश्चिम दिशा आदि में १००-१०० कि.मी. की छूट रखी हो और पूर्व दिशा में १०० कि.मी. से अधिक जाना हो तो पश्चिम दिशा के ५० कि.मी. मिलाकर पूर्व दिशा में १५० कि.मी. की यात्रा कर लेना।

(५) किये हुये परिमाण का यदि भूल से अतिक्रमण हो जाय तो पुनः ध्यान आने पर भी आगे गमन करना।

७. उपभोग परिभोग परिमाणव्रत

श्रावक के इस सातवें व्रत में प्रयुक्त उपभोग के अर्थ में विभिन्न ग्रन्थों में अन्तर देखा जाता है। अभिधानराजेन्द्रकोश में भगवतीसूत्र के आधार पर उपभोग का अर्थ बार-बार उपयोग में आने वाली सामग्री किया गया है।^{४२} आवश्यकसूत्र की वृत्ति भी इसी अर्थ का समर्थन करती है तथा धर्म संग्रह में भी यही अर्थ प्राप्त होता है।^{४३}

आचार्य अभयदेवसूरि ने उपासकदशांगसूत्र की टीका में उपभोग का अनेक बार उपयोग में आने वाली सामग्री तथा परिभोग का अर्थ एक बार उपयोग में

४२. अभिधानराजेन्द्रकोश, द्वितीय भाग, पृष्ठ ८६६।

४३. (क) उद्धृत - जैन आचार्य : सिद्धान्त और स्वरूप पृष्ठ ४२०;

(ख) धर्मसंग्रह - भाग ३३०।

आने वाली सामग्री भी किया है।⁴⁴ 'योगशास्त्र' एवं 'रत्नकरण्डकश्रावकाचार' में भोग एवं उपभोग शब्दों का प्रयोग किया गया है।⁴⁵ वहाँ भोग का अर्थ एक बार भोगने योग्य पदार्थ तथा उपभोग का अर्थ बार-बार भोगने योग्य पदार्थ किया है।

इस प्रकार अधिकांश आचार्यों के मत से परिभोग के साथ आने वाले उपभोग का अर्थ एक बार भोग में आने वाली सामग्री तथा परिभोग का अर्थ अनेक बार भोगने योग्य सामग्री किया है। किन्तु उपभोग शब्द जब भोग के साथ प्रयुक्त होता है वहाँ इसका अर्थ बार-बार उपयोग में आने वाली वस्तुएं तथा भोग का अर्थ एक बार उपयोग में आने वाली सामग्री किया जाता है।

आचार्य देवेन्द्रमुनि के अनुसार उपभोग-परिभोग की एक अन्य व्याख्या भी शास्त्रों में उपलब्ध होती है। जो पदार्थ शरीर के आंतरिक भाग से भोगे जाते हैं वे उपभोग हैं तथा जो पदार्थ शरीर के बाह्य भाग से भोगे जाते हैं वे परिभोग हैं।⁴⁶

रत्नकरण्डकश्रावकाचार के अनुसार परिग्रह परिमाण व्रत में दी हुई मर्यादा के अनुरूप ही भोगों के प्रति राग और आसक्ति को कृश करना तथा प्रयोजनभूत इन्द्रियों के विषयों की संख्या को सीमित करना भोगोपभोग परिमाणव्रत है।⁴⁷

इस प्रकार उपभोग तथा परिभोग की मर्यादा को निश्चित करना उपभोग परिभोग परिमाणव्रत कहा जाता है। उपासकदशांगसूत्र में उपभोग परिभोग परिमाण व्रत में निम्न वस्तुओं की मर्यादा निर्धारित की गई है⁴⁸ -

- (१) **उद्धवणिका विधि** : शरीर पौछने के लिये रखे जाने वाले वस्त्र (रूमाल, तौलिये) की संख्या सीमित करना।
- (२) **दन्तधावन विधि** : दन्तमंजन की मर्यादा।
- (३) **फल विधि** : खाने योग्य फलों को छोड़कर अन्य फलों का त्याग।

४४. उपासकदशांग दीक्षा पत्र १०।

४५. (क) योगशास्त्र ५/३।

(ख) रत्नकरण्डक श्रावकाचार ३/३७।

४६. जैन आचार सिद्धान्त और स्वरूप - ३२१।

४७. रत्नकरण्डक श्रावकाचार ३/३६।

४८. उपासकदशांग - १/२६ (लाडनु, पृष्ठ ४०१)।

- (४) अभ्यंगनविधि : मालिश हेतु काम आने वाले तैलों की संख्या एवं मात्रा निश्चित करना।
- (५) उद्वर्तन विधि : शरीर पर लगाने वाले उबटन आदि का परिमाण करना।
- (६) स्नान विधि : स्नान के लिये जल की मर्यादा निर्धारित करना।
- (७) वस्त्र विधि : वस्त्रों के प्रकार तथा संख्या निश्चित करना।
- (८) विलेपन विधि : शरीर पर लेप करने वाले द्रव्य जैसे चंदन, अगर आदि की सीमा निर्धारित करना।
- (९) पुष्प विधि : पुष्प के प्रकार एवं संख्या का निर्धारण।
- (१०) आमरण विधि : आमूषणों के प्रकार एवं संख्या की सीमा निश्चित करना।
- (११) धूप विधि : अगरबत्ती आदि धूपनीय सामग्री को सीमित करना।
- (१२) भोजन विधि : भोजन विधि के अन्तर्गत निम्न दस प्रकार से अन्नपानादि की मर्यादा का निर्धारण किया गया है -
१. पेय विधि : शर्बत आदि।
 २. भक्ष्य विधि : पकवान, मिष्ठान्न आदि।
 ३. ओदनविधि : चावल, खिचड़ी आदि।
 ४. सूप विधि : चना, मूंग, उड़द आदि की दाल।
 ५. घृत विधि : घृत, दूध, दही आदि विगय।
 ६. शाक विधि : बथुआ, ककड़ी आदि साग-सब्जी।
 ७. माधुरक विधि : मधुर रसीले फल, पालक का रस।
 ८. जेमण विधि : दही बड़े, पकौड़े आदि चटपटे पदार्थ।
 ९. पानी विधि : नदी, कुएँ, जल आदि का पानी।
 १०. मुखवास विधि : पान, सुपारी, सौंफ, पापड़ आदि।

श्रावक प्रतिक्रमणसूत्र में द्रव्य परिमाण की संख्या छब्बीस बताई गई है जिसमें २१ तो उपर्युक्त ही है तथा पांच निम्न हैं-

- (१) वाहन : बस, ट्रेन, टेक्सी, स्कूटर आदि वाहनों का परिमाण।

(२) उपानह : जूते, चम्पल आदि की सीमा को निश्चित करना।

(३) शय्यासन : पलंग, खाट आदि की संख्या का निर्धारण।

(४) सचित्त द्रव्य : सचित्त वस्तु की मर्यादा करना।

(५) द्रव्य : अन्य वस्तुओं की जाति व मात्रा को सीमित करना।

यहां ज्ञातव्य है कि जितने स्वाद बदलते हैं उतने ही द्रव्य होते हैं। जैसे, गेहूं एक वस्तु है पर उससे बनी रोटी, पूड़ी, सीरा आदि अलग-अलग द्रव्य है।

सातवें व्रत के पांच अतिचार :

(१) सचित्त आहार : मर्यादा से अतिरिक्त सचित्त आहार करना।

(२) सचित्त प्रतिबद्ध : सचित्त-अचित्त ऐसी मिश्र वस्तु का आहार करना।

(३) अपक्वाहार : बिना पका हुआ आहार करना।

(४) दुष्पक्वाहार : पूरी तरह नहीं पका हुआ आहार करना।

(५) तुच्छ औषधि भक्षण : यहां औषधी से तात्पर्य वनस्पति है।^{१९} अर्थात् ऐसे पदार्थों का भक्षण करना जो खाने योग्य नहीं है अर्थात् अभक्ष्य है अथवा जिन पदार्थों में खाद्य अंश कम एवं फेंकने योग्य अंश अधिक हो उनका भक्षण करना।

ये उपर्युक्त अतिचार भोजन सम्बन्धी कहे गये हैं। इसी के अन्तर्गत कर्म आश्रित १५ अतिचारों का भी उल्लेख किया जाता है। इन पंद्रह कर्मों का सम्बन्ध कर्म से है। भोग-उपभोग के साधन जुटाने के लिये अर्थ की आवश्यकता होती है अतः उस अर्थ का उपार्जन कैसे करना यह जानना भी आवश्यक है। उपासकदशांगसूत्र में पंद्रह कर्मों अर्थात् व्यवसायों को जो महारम्भ एवं महा हिंसा का कारण हैं श्रावक के लिये निषिद्ध बताया गया है। वे निम्न हैं^{२०} -

(१) अंगार कर्म : अग्नि संबंधी व्यवसाय जैसे- कोयले बनाना, जंगल में आग लगाना।

(२) वन कर्म : वन संबंधी कर्म जैसे हरे वृक्ष काटकर लकड़ियां बेचना आदि।

(३) शकटकर्म : वाहन संबंधी व्यापार।

१९. प्राकृत-हिन्दी-कोश, पृष्ठ ६६।

२०. उपासकदशांग १/३८ - (ताडनं, पृष्ठ ४०५)।

- (४) भाटककर्म : वाहन एवं पशु आदि किराये पर देना ।
- (५) स्फोटक कर्म : भूमि पत्थर आदि के फोड़ने का कर्म जैसे -- खान खुदवाना ।
- (६) दन्तवाणिज्य : हाथी के दांत आदि का व्यवसाय करना । उपासकदशांग की टीका में चमड़े, हड्डी आदि के व्यापार को भी इसमें सम्मिलित किया गया है।^६
- (७) रसवाणिज्य : मदिरा आदि विकृत रस वाले द्रव्यों का व्यापार ।
- (८) विषवाणिज्य : जहरीले पदार्थों एवं हिंसक अस्त्र-शस्त्रों का व्यापार ।
- (९) केशवाणिज्य : केश (बालों) तथा केशवाले (बाल वाले) प्राणियों को बेचने आदि का घंघा करना ।
- (१०) यंत्रपीड़न कर्म : घाणी, कोल्हू आदि यंत्रों के द्वारा तैलीय पदार्थों को पीसने का घंघा करना ।
- (११) निर्लाछन कर्म : प्राणियों के अंगों का छेदन-भेदन करना ।
- (१२) दावाग्निदापन : जंगल, खेत आदि में आग लगाने का कार्य ।
- (१३) संरद्रहतडागशोषन कर्म : तालाब, जलाशय, झील आदि को सुखाने का कर्म ।
- (१४) असतीजन पोषण कर्म : असती अर्थात् दुराचारिणी स्त्रियों (वेश्या) का पोषण करना, उनसे दुराचार करवाकर अर्थोपार्जन करना । चूहे आदि को मारने के लिये कुत्ते, बिल्ली आदि को पालना ।

उपर्युक्त पंद्रह प्रकार के कर्मों में त्रसजीवों की हिंसा की प्रधानता है तथा इनमें से कई कर्म समाजविरोधी एवं निन्दनीय भी है । अतः श्रावक के लिए इन व्यवसायों का निषेध किया गया है ।

८. अनर्थदण्ड विरमणव्रत

अनर्थदण्ड का सीधा सा तात्पर्य है अनर्थ अर्थात् निष्प्रयोजन/व्यर्थ में दण्ड का भागी बनना । व्यक्ति अपने जीवन-व्यवहार में कुछ सार्थक क्रियायें करता है, कुछ निरर्थक । सार्थक क्रियायें आवश्यक होती हैं, निरर्थक

६. उपासकदशांग टीका - पृ. ६ ।

क्रियायें अनावश्यक होती हैं। सार्थक सावद्य क्रिया करना अर्थदण्ड है, जबकि निरर्थक पापपूर्ण प्रवृत्तियों का करना अनर्थदण्ड है।⁵²

जैन आगमों में दण्ड शब्द हिंसा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अतः सप्रयोजन हिंसा अर्थदण्ड कहलाती है, जो शरीर, परिवार आदि के लिए होती है। इसके विपरीत निष्प्रयोजन हिंसा अर्थात् अकारण की गई हिंसा अनर्थ दण्ड हिंसा जैसे दूसरों को व्यर्थ पीड़ा पहुंचाने का कार्य, चलते-चलते पशुओं को मार देना, फूल एवं पतियों आदि को तोड़ लेना, तालाब आदि में पत्थर फेंकना। आवश्यक कार्य के पूर्ण हो जाने पर भी पाप प्रवृत्तियों से विमुख नहीं होना भी अनर्थदण्ड कहलाता है जैसे कार्य समाप्ति के बाद भी नल, पंखे, बिजली को खुला छोड़ देना। आवश्यकता से अधिक वस्तु का उपयोग और संग्रह करना भी अनर्थदण्ड है।

अनर्थ दण्ड के चार प्रकार :

(१) **अपध्यान :** सामान्यतः दुर्विचार अपध्यान, कहलाता है। सर्वार्थसिद्धि रत्नकरण्डकश्रावकाचार तथा पुरुषार्थसिद्धयुपाय के अनुसार द्वेषवश किसी प्राणी के वध, बन्ध और छेदन आदि का चिंतन करना तथा परस्त्री का चिंतन करना अपध्यान है।⁵³ योगशास्त्र तथा सागारधर्माभूत में आर्तध्यान, रौद्रध्यान, रूप अशुभ चिंतन को अपध्यान कहा है।⁵⁴

(२) **प्रमादाचरण :** जागरूकता या सजगता के अभाव में किया गया आचरण प्रमादाचरण है। सर्वार्थसिद्धि आदि ग्रन्थों में निष्प्रयोजन भूमि खोदना, पानी बहाना, अग्नि जलाना, वनस्पति का छेदन आदि करने को प्रमादाचरण कहा है।⁵⁵

५२. जैन बौद्ध और गीता के आधार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग २, पृष्ठ २८६।

५३. (क) तत्त्वार्थसूत्र ७/२१ - (सर्वार्थसिद्धि);

(ख) रत्नकरण्डकश्रावकाचार - ७८;

(ग) पुरुषार्थसिद्धयुपाय - १४१, १४६।

५४. (क) योगशास्त्र - ३/७५।

(ख) सागार धर्माभूत - ५/६।

५५. (क) तत्त्वार्थसूत्र ७/२१ - सर्वार्थसिद्धि ;

(ख) पुरुषार्थसिद्धयुपाय १४३।

डॉ. सागरमल जैन ने आगमों के आधार पर इसके पांच भेद प्रतिपादित किये हैं^{६६} : (१) अहंकार (२) कषाय (३) विषय-चिंतन (४) निद्रा और (५) विकथा।

(३) हिंसक उपकरणों का प्रदान : जिनसे हिंसा होती है वह शस्त्र, अस्त्र, आग, विष आदि हिंसा के साधनों को क्रोधाविष्ट व्यक्ति के हाथों में देना हिंसक उपकरणों का प्रदान है।

(४) पापकर्मोपदेश : पापकर्म हेतु उपदेश देना पापकर्मोपदेश है। जैसे किसी मानव या पशु को मारने या उसे परेशान करने के लिए किसी अन्य को उकसाना या पास में खड़े रहकर तमाशा देखना आदि । दिगम्बरसाहित्य में अनर्थदण्ड के पांच प्रकार उपलब्ध होते हैं । उनमें चार प्रकार तो उपर्युक्त ही हैं तथा पांचवां प्रकार दुःश्रुति है।^{६७}

(५) दुःश्रुति : पुरुषार्थ के अनुसार समाधि को बढ़ाने वाली बुरी कथाओं को सुनना, संग्रह करना एवं उनकी शिक्षा देना दुःश्रुति है। श्वेताम्बर संप्रदाय के ग्रन्थों में प्रमादाचरण के भेद के रूप में जिसे 'विकथा' कहा गया है उसे ही दिगम्बर परम्परा में दुःश्रुति कहा गया है। दुःश्रुति प्रमादाचरण का ही एक रूप है।

इस प्रकार अनर्थदण्ड अर्थात् निष्प्रयोजन किये जाने वाले पापकर्मों का त्याग करना अनर्थदण्ड विरमण है।

अनर्थदण्ड के पांच अतिचार :

अनर्थदण्ड विरमण व्रत के निर्विघ्न पालन के लिये निम्न पांच बातों से बचना आवश्यक है :

(१) कन्दर्प : विकार-वासना उत्पन्न करने वाले वचन बोलना या सुनना।

(२) कौत्कुच्य : आख, मुंह, हाथ से अशोभनीय चेष्टायें करना।

(३) मौखर्य : अधिक वाचाल होना अथवा हास्यादि के निमित्त अशालीन वचन बोलना मौखर्य है।

६६. जैन बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग २, पृष्ठ २६०।

६७. पुरुषार्थ सिद्धयुगाय - १४१।

(४) **संयुक्ताधिकरण** : आवश्यकता के बिना हिंसक साधनों का संग्रह करके रखना संयुक्ताधिकरण है। जैसे बंदूक में कारतूस या बारूद भरकर रखना। इसका तात्पर्य यही है कि हिंसा के साधन तैयार होने पर अनर्थ की संभावना अधिक रहती है।

(५) **उपभोगपरिभोगातिरेक** : उपभोग-परिभोग के साधनों का आवश्यकता से अधिक संचय करना उपभोग-परिभोगातिरेक है।

६. सामायिक व्रत

'सामायिक' जैन साधना पद्धति का केन्द्र बिंदु है। इसकी साधना श्रमण जीवन पर्यन्त तथा श्रावक नियत समय तक करता है। यह श्रावक का प्रथम शिक्षाव्रत है। नियत समय तक हिंसादि पाप कार्यों का मन, वचन, काया से करने एवं करवाने का त्याग करना श्रावक का सामायिक व्रत है।

उत्तराध्ययनसूत्र-सूत्र में सामायिक व्रत की चर्चा आवश्यक के रूप में की गई है, साथ ही उस का मूल प्रतिपाद्य समभाव की साधना ही है।

सामायिक की साधना के लिये चार प्रकार की विशुद्धियां निर्धारित की गई हैं-

(१) काल विशुद्धि (२) क्षेत्र विशुद्धि (३) द्रव्य विशुद्धि और (४) भाव विशुद्धि।

(१) **कालविशुद्धि** : श्रमण की सामायिक आजीवन की होती है। अतः उनके लिये सामायिक का कोई काल निर्धारित नहीं किया गया है। किन्तु गृहस्थ साधक के लिये इसकी काल मर्यादा निश्चित की गई है।

सामायिक व्रत की समयावधि ४८ मिनट (एक मुहूर्त) की मानी जाती है। सामायिक हेतु समय-सीमा निर्धारित करने का आधार जैनाचार्यों की यह मान्यता है कि व्यक्ति एक विषय पर ४८ मिनट से अधिक अस्खलित रूप से ध्यान केंद्रित नहीं कर सकता है। अतः सामायिक की काल मर्यादा ४८ मिनट की रखी गई है। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि व्यक्ति एक से अधिक सामायिक नहीं कर सकता है। वह अंतराल से या निरन्तर रूप में भी एक से अधिक सामायिक कर सकता है, किन्तु प्रत्येक सामायिक की निर्धारित कालावधि ४८ मिनट की ही होगी।

(२) **क्षेत्रविशुद्धि** : सामायिक साधना का स्थान एकान्त, शान्त, पवित्र एवं ध्यान साधना के अनुकूल होना चाहिए, यह क्षेत्र विशुद्धि है।

(३) **द्रव्यविशुद्धि** : सामायिक की साधना में गृहस्थ की वेशभूषा तथा श्रृंगार आदि त्याग आवश्यक होता है। इस प्रकार सामायिक की वेशभूषा तथा उसके उपकरण का सादगीपूर्ण एवं स्वच्छ होना द्रव्यविशुद्धि है।

(४) **भावविशुद्धि** : सामायिक में भावों की विशुद्धि का रहना भाव विशुद्धि है। द्रव्य विशुद्धि, काल विशुद्धि, क्षेत्र विशुद्धि, बाह्य विशुद्धि है तथा भाव विशुद्धि आंतरिक शुद्धि है। संक्षेप में अप्रशस्त, अशुभ विचारों का परित्याग तथा प्रशस्त एवं शुभ विचारों में रत रहना भाव विशुद्धि है।

सामायिक व्रत के पांच अतिचार :

(१) **मनोदुष्प्रणिधान** : मन में अशुभ विचार करना मनोदुष्प्रणिधान है। यहां मन को समभाव में स्थिर न रखकर सांसारिक विषयों या विकल्पों में लगाना मनोदुष्प्रणिधान है।

(२) **वाचोदुष्प्रणिधान** : अशुभ वचन व्यापार वाचोदुष्प्रणिधान है। सामायिक में कठोर, फर्कश, निष्ठुर शब्दों का प्रयोग करना वाचोदुष्प्रणिधान है।

(३) **कायदुष्प्रणिधान** : शरीर के द्वारा अशुभ प्रवृत्ति करना अर्थात् सामायिक में अनावश्यक हाथ-पांव का हलन-चलन करना कायदुष्प्रणिधान है।

(४) **स्मृत्यकरण** : सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक के अनुसार सामायिक के विषय में एकाग्रता नहीं रखना स्मृत्यकरण अतिचार है।⁵⁸ वस्तुतः सामायिक में सजगता का अभाव या प्रमादाचरण ही स्मृत्यकरण है। सामायिक की समय-मर्यादा को विस्मृत करना भी स्मृत्यकरण कहा जाता है।

(५) **अनवस्थितता** : अव्यवस्थित रूप से सामायिक करना अर्थात् सामायिक में शीघ्रता करना, विधि के अनुसार नहीं करना, अनवस्थितता दोष है।

१०. देशावकासिक व्रत

दिशापरिमाण व्रत में गृहीत परिमाण को किसी नियत समय के लिये पुनः मर्यादित करना देशावकासिक व्रत कहलाता है।

जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश के अनुसार – दिग्ब्रत में प्रमाण किये हुये विशाल देश में काल के विभाग से प्रतिदिन क्षेत्र का त्याग करना अणुव्रत धारियों का देशावकासिक व्रत है।^{५९}

उपासकदशांगसूत्र में इस व्रत के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि निश्चित समय के लिए क्षेत्र की मर्यादा कर उससे बाहर किसी प्रकार की सांसारिक प्रवृत्ति नहीं करना देशावकासिक व्रत है। यह दिग्ब्रत का संक्षिप्त रूप है।^{६०}

देशविरति व्रत सर्वकाल अर्थात् यावज्जीवन के लिये होता है जब कि देशावकासिक व्रत नियत काल के लिए होता है। दिग्ब्रत में केवल क्षेत्र मर्यादा की जाती है, जबकि देशावकासिक व्रत में देश, काल और उपभोगपरिभोग इन तीनों की मर्यादा की जाती है।

देशावकासिक व्रत की साधना में साधक एक, दो या अधिक दिनों के लिये लौकिक प्रवृत्तियों एवं भोग-उपभोग की सामग्री की मर्यादा को और अधिक सीमित कर लेता है। इस प्रकार इस व्रत के द्वारा साधक गृहस्थ जीवन में रहकर भी साधुत्व की साधना करता है।

वर्तमान में व्रतधारी श्रावक इस व्रत का नियमित रूप से पालन कर सके अतः इसके लिये निम्न चौदह नियमों का निर्धारण किया गया है –

- (१) सचित्त : सचित्त वस्तु फल, शाक-सब्जी आदि की संख्या, मात्रा आदि को सीमित करना।
- (२) द्रव्य : खाने-पीने के द्रव्यों की संख्या का निर्धारण करना तथा आज खाने में निर्धारित संख्या से ज्यादा नहीं लूंगा ऐसा संकल्प करना।
- (३) विगय : घी, तैल, दूध, दही, गुड़ (शक्कर) एवं तले हुये इन छः विगयों में से किसी एक, दो या उनसे अधिक का त्याग करना।

५९. जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश- भाग २, पृष्ठ ४१०।

६०. उपासकदशांग - १/४१ -

- (ताडन, पृष्ठ ४०६)।

- (४) उपानह : जूते, चप्पल, मौजे आदि की मर्यादा करना ।
- (५) कुसुम : फूल, इत्र आदि सुगन्धित पदार्थों की सीमा का नियम करना ।
- (६) वस्त्र : वस्त्र एवं आभूषण को सीमित करना ।
- (७) वाहन : स्कूटर, कार, बस, ट्रेन आदि मर्यादा को निश्चित करना ।
- (८) शयन : पंलग, खाट, गादी, चटाई आदि बिछाने की वस्तुओं की मर्यादा रखना ।
- (९) विलेपन : केसर, चंदन, तैल आदि लेप किये जाने वाले पदार्थों को सीमित करना ।
- (१०) ब्रह्मचर्य : ब्रह्मचर्य की मर्यादा का निर्धारण करना ।
- (११) दिशा : दिशाओं में गमनागमन की प्रवृत्तियों को मर्यादित करना ।
- (१२) स्नान : स्नान तथा वस्त्र प्रक्षालन की मर्यादा रखना ।
- (१३) तम्बोल : पान, सुपारी, इलायची आदि का संख्या या वजन से प्रमाण करना ।
- (१४) भक्त : अशन, पान, खादिम, स्वादिम – इन चारों प्रकार के आहार की सीमा निश्चित करना ।

इस प्रकार इन चौदह नियमों के द्वारा देशावकासिक व्रत का पालन किया जाता है। श्रावक रात को पुनः इसका चिंतन करता है कि ली हुई मर्यादा का पालन किस प्रकार किया गया है। कहीं भूल से मर्यादित वस्तु से अधिक उपयोग में ली हो तो उसके लिये प्रायश्चित्त करता है।

उपासकदशांगसूत्र, योगशास्त्र, धर्मबिन्दुप्रकरण, रत्नकरण्डकश्रावकाचार, सागारधर्माभूत, कार्तिकयानुप्रेक्षा आदि ग्रन्थों में देशावकासिक व्रत की गणना शिक्षाव्रत के अन्तर्गत की है। तत्त्वार्थसूत्र, पुरुषार्थसिद्धयुपाय, वसुनन्दिश्रावकाचार आदि ग्रन्थों में इस व्रत को गुणव्रत के अंतर्गत स्वीकार किया गया है। देशावकासिक व्रत को चाहे गुणव्रत माना जाय या शिक्षाव्रत इसके स्वरूप में कहीं कोई अंतर नहीं पड़ता है। हां इतना अवश्य है कि 'सागारधर्माभूत' में जिन व्रतों से मुनि जीवन की शिक्षा प्राप्त होती है उन्हें शिक्षाव्रत कहा जाता है।⁶¹ उसके अनुसार देशावकासिक व्रत की गणना शिक्षाव्रत में करना अधिक उचित प्रतीत होता है। पुनश्च दिक्परिमाणव्रत, उपभोग-परिभोग-परिमाणव्रत तथा अनर्थदण्डविरमणव्रत आजीवन के लिये ग्रहण

किये जाते हैं। जब कि सामायिक व्रत, देशावकासिक व्रत, पौषधोपवासव्रत एवं अतिथिसविभाग व्रत एक नियत समय के लिये ग्रहण किये जाते हैं।

देशावकाशिकव्रत के पांच अतिचार :

(१) **आनयन प्रयोग** : अपने मर्यादित क्षेत्र के बाहर से वस्तु लाना या मंगवाना।

(२) **प्रेष्य प्रयोग** : सेवक आदि के द्वारा मर्यादित क्षेत्र से बाहर वस्तु भिजवाना।

(३) **शब्दानुपात** : स्वीकृत मर्यादा के बाहर शाब्दिक आदेश आदि के द्वारा काम करवाना।

(४) **रूपानुपात** : संकेत, इशारे आदि के द्वारा मर्यादित क्षेत्र से बाहर खड़े व्यक्ति से कार्य करवाना।

(५) **पुद्गल प्रक्षेप** : यहाँ पुद्गल से तात्पर्य है -- कंकड़, पत्थर आदि को फेंककर किसी को अपने पास बुलाना, उसे अपना अभिप्राय समझाना।

इस प्रकार संकेत के द्वारा एवं कंकड़ आदि फेंककर अपने कार्य की सिद्धि करना देशावकासिक व्रत के दोष हैं।

११. पौषधोपवास

इसमें दो शब्द हैं पौषध+उपवास। उपासकदशांग सूत्र की टीका में पौषध शब्द का अर्थ पर्वकाल (अष्टमी, चतुर्दशी आदि) तथा उपवास का अर्थ चारों प्रकार के आहार का त्याग किया गया है इस प्रकार पर्वकाल में चारों प्रकार के आहार का त्याग करना पौषधोपवास है। इसमें उपवास के साथ-साथ पापमय प्रवृत्तियों का भी त्याग किया जाता है।

श्रावक प्रतिक्रमण सूत्र के अनुसार एक दिन-रात के लिये चारों प्रकार के आहार के त्याग, ब्रह्मचर्य के पालन, तथा मणि, स्वर्ण, पुष्पमाला, सुगन्धित पदार्थ, तलवार, हल, मूसल आदि सावद्ययोगों के त्याग करने को पौषधोपवास कहा है।

पौषध शब्द के व्युत्पत्ति परक अर्थ के अनुसार अपने आपके निकट रहना अर्थात् पर-पदार्थों (विषय भोगों) से अलग हटकर स्वस्वरूप में स्थित रहना पौषध है।⁶²

इस व्रत के ग्रहण करने पर गृहस्थ साधक, साधु की तरह अपना आचरण करता है। इस प्रकार यह कहना अनुचित नहीं होगा कि यह अल्पकाल के लिए मुनिचर्या का पालन है।

पौषधोपवास के पांच अतिचार :

(१) अप्रतिलेखित दुष्प्रतिलेखित संस्तारक : सम्यक् प्रकार से देखे बिना ही सोने बैठने के साधनों एवं स्थान का उपयोग करना।

(२) अप्रमार्जित दुष्प्रमार्जित शय्यासंस्तारक : आसन आदि का प्रमार्जन नहीं करना अथवा असावधानी से प्रमार्जन करना।

(३) अप्रतिलेखित दुष्प्रतिलेखित उच्चारप्रसावण भूमि : सम्यक् प्रकार से देखे बिना शौच या लघुशंका के स्थानों का उपयोग करना।

(४) अप्रमार्जित दुष्प्रमार्जित उच्चार प्रस्त्रवण भूमि : अप्रमार्जित शौच या लघुशंका के स्थानों का उपयोग करना।

(५) पौषध सम्यगननुपालनता : पौषध के नियमों का सम्यक् प्रकार से पालन नहीं करना अर्थात् पौषध में निन्दा विकथा, प्रमाद आदि करना।

१२. अतिथिसंविभाग

जिसके आने की तिथि (समय) निश्चित न हो उसे अतिथि कहा जाता है। सामान्यतः अतिथि का अर्थ साधु किया जाता है। किन्तु श्रावकप्रज्ञप्ति

६२. देखिए - जैन बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग २, पृष्ठ २६७।

में श्रमण, श्रमणी, श्रावक एवं श्राविका इन चारों को अतिथि कहा गया है।^{१३}

अपने अधिकार की वस्तुओं में से अतिथि के लिये समुचित विभाग करना – उसे अपेक्षित वस्तु का दान करना अतिथिसंविभाग व्रत है।

वर्तमान में श्वेताम्बर मूर्ति पूजक संप्रदाय में श्रावक प्रथम दिन पौषध करता है, पश्चात् दूसरे दिन एकासना करके अपने घर साधु-साध्वी एवं श्रावक-श्राविका को आमंत्रित कर उन्हें आहार आदि प्रदान करता है, यह अतिथि-संविभाग व्रत माना जाता है। योग्य अवसर पर श्रावक को इस व्रत का पालन अवश्य करना चाहिए।

अतिथिसंविभाग व्रत व्यक्ति को इस बात की प्रेरणा देता है कि गृहस्थ के कर्तव्यों की सीमा रेखा सिर्फ परिवार एवं प्रियजन तक ही सीमित नहीं है वरन् निःस्वार्थ भाव से समाज सेवा करना भी उसका कर्तव्य है।

अतिथिसंविभाग के अतिचार (दोष) :

- (१) सचित्त निक्षेपण : दान न देने की भावना से साधु के दिये जाने योग्य प्राप्तुक आहार पर सचित्त वस्तुओं का निक्षेप करना, ताकि साधु उस आहार को ग्रहण न कर सके।
- (२) सचित्तपिधान : अदान बुद्धि से सचित्त (सजीव) वस्तु से अचित्त (निर्जीव) वस्तु को ढक देना।
- (३) कालातिक्रम : श्रमण की भिक्षा का समय व्यतीत हो जाने पर भोजन तैयार करना।
- (४) परव्यपदेश : देने की इच्छा नहीं होने पर अपनी वस्तु को दूसरों की बताना।
- (५) मत्सरिता : ईर्ष्या अथवा अहंकार वश दान देना।

१३. देखिये - अभिधानराजेन्द्रकोश, भाग ७, पृष्ठ ८१२।

11.४ श्रावक की ग्यारह—प्रतिमाएं

जैन परम्परा में गृहस्थ साधक के आध्यात्मिक विकास के लिये धर्म साधना की एक सुव्यवस्थित प्रक्रिया निर्धारित की गई है। गृहस्थ श्रावक अपने आध्यात्मिक विकास के लिये सर्वप्रथम मार्गानुसारी आदि गुणों को, तत्पश्चात् बारह व्रतों को ग्रहण करता है, इसके बाद वह क्रमशः ग्यारह प्रतिमाओं को धारण करता हुआ आध्यात्मिक विकास की ओर अग्रसर होता है।

उत्तराध्ययनसूत्र के इकतीसवें अध्ययन में उपासक की ग्यारह प्रतिमाओं का उल्लेख किया है।⁶⁴ इस के टीकाकार गणिवर भावविजयजी ने ग्यारह प्रतिमाओं का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया है, जो निम्नानुसार है⁶⁵

१. दर्शन प्रतिमा :

उत्तराध्ययनसूत्र की टीका के अनुसार प्रशमादि गुणों को धारण कर, दुराग्रहों का सर्वथा त्याग कर, निर्दोष सम्यक्त्व को स्वीकार करना दर्शन प्रतिमा है।⁶⁶ उपासकदशांगसूत्र की टीका में भी निर्दोष अर्थात् शंका, आकांक्षा आदि दोषों से रहित सम्यग् दर्शन की साधना को दर्शन प्रतिमा कहा गया है।⁶⁷

२. व्रत प्रतिमा :

उत्तराध्ययनसूत्र की टीका के अनुसार निरतिचार अणुव्रतों का पालन व्रत प्रतिमा है।⁶⁸ पंचाशकप्रकरण में भी पांच अणुव्रतों के निरतिचार पालन को व्रत प्रतिमा कहा गया है।⁶⁹

६४ उत्तराध्ययनसूत्र - ३१/११ ।

६५ उत्तराध्ययनसूत्र टीका पत्र ३०१७

६६ उत्तराध्ययनसूत्र टीका पत्र ३०१७

६७ उपासकदशांग टीका - पत्र १५ ।

६८ उत्तराध्ययनसूत्र टीका पत्र ३०१७

६९ पंचाशक प्रकरण - १० ।

- (गणिवरभावविजय जी)।

- (गणिवरभावविजय जी) ।

- (शान्त्वाचार्य) ।

३. सामायिक प्रतिमा :

उत्तराध्ययनसूत्र की टीका में नियमित रूप से उभय संख्या अर्थात् प्रातःकाल एवं सायंकाल में सामायिक करने को सामायिक प्रतिमा कहा गया है;⁷⁰ किन्तु उपासकदशांग की टीका के अनुसार प्रतिदिन तीन बार सामायिक करना सामायिक प्रतिमा है।⁷¹

४. पौषध प्रतिमा :

अष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्व दिनों में निरतिचार, प्रतिपूर्ण (दिन-रात का) पौषध करना पौषध प्रतिमा है। गृहस्थ साधक प्रवृत्तिमय जीवन में रहते हुए भी पर्व दिनों में पौषध करके पूर्ण निवृत्तिमय जीवन जीता है। प्रत्येक उत्तरवर्ती प्रतिमा में पूर्ववर्ती प्रतिमा के नियम का अवश्य पालन करना होता है।

५. प्रतिमा-प्रतिमा :

इस प्रतिमा को कायोत्सर्ग प्रतिमा या दिवामैथुनकिरत प्रतिमा भी कहा जाता है। इसमें पांच विशेष नियम पालन किये जाते हैं— (१) स्नान नहीं करना (२) रात्रिभोजन नहीं करना (३) धोती की लांग नहीं लगाना (४) दिन में ब्रह्मचर्य का पालन करना तथा रात्रि में मैथुन की मर्यादा निश्चित करना और (५) अष्टमी, चतुर्दशी को कायोत्सर्ग करना।

६. ब्रह्मचर्य प्रतिमा :

पूर्ण रूप से ब्रह्मचर्य का पालन करना ब्रह्मचर्य प्रतिमा है।

७०. उत्तराध्ययनसूत्र टीका पत्र ३०१७।

७१. उपासकदशांग टीका पत्र १५।

७. सचित्त आहारवर्जन प्रतिमा :

सचित्त आहार का पूर्णतया त्याग करना श्रावक की सातवीं प्रतिमा है। इस प्रतिमा को स्वीकार करने पर साधक अचित्त जल (गर्म किया हुआ जल) तथा अचित्त आहार को ही ग्रहण करता है।

इस प्रतिमा को स्वीकार करने वाला साधक सभी प्रकार के बीजयुक्त/सचित्त आहार का त्याग कर देता है। फिर भी पारिवारिक, सामाजिक आदि उत्तरदायित्व से विमुख नहीं होने के कारण आरम्भ का त्याग नहीं करता है अर्थात् दूसरों को आहार आदि बना कर दे सकता है। पुनश्च इसमें गृहस्थ साधक स्वयं भी सचित्त पदार्थों को अचित्त कर खा सकता है।

८. आरम्भत्याग प्रतिमा :

इस प्रतिमा के अन्तर्गत साधक आरम्भ का पूर्णरूपेण त्याग कर देता है। साधना की इस भूमिका में आने से पूर्व वह अपने पारिवारिक आदि उत्तरदायित्वों को उत्तराधिकारी को सुपुर्द कर देता है और स्वयं निवृत्त होकर अपना समय धर्म कार्य में लगाता है।

९. प्रेथ्यारम्भ वर्जन प्रतिमा :

प्रेथ्य अर्थात् सेवक वर्ग आदि के द्वारा कार्य करवाने का त्याग करना प्रेथ्यारम्भ प्रतिमा है। आठवीं प्रतिमा में साधक स्वयं आरंभ आदि कार्यों से विरत हो जाता है पर वह अपने उत्तराधिकारी आदि को मार्गदर्शन दे सकता है अर्थात् उनके द्वारा कृषि आदि करवा सकता है। उसमें कृत का निषेध होता है, कारित का नहीं किंतु इस नवमी प्रतिमा में गृहस्थ साधक अन्य किसी के द्वारा भी आरम्भ नहीं करवाता है।

दिग्म्बर परम्परा में इस प्रतिमा को परिग्रह त्याग प्रतिमा कहा गया है। इसका स्वरूप स्पष्ट करते हुये रत्नकरण्डकश्रावकाचार में कहा गया है कि जो धन धान्यादि दस प्रकार के परिग्रह एवं मायाचार का त्याग कर परम संतोष को धारण करता है वह परिग्रहविरत श्रावक कहलाता है।⁷²

७२. रत्नकरण्डकश्रावकाचार - १४६।

१०. उद्दिष्टभक्तवर्जन प्रतिमा :

उत्तराध्ययनसूत्र की टीका के अनुसार इस प्रतिमा में गृहस्थ अपने निमित्त से बने भोजन का भी त्याग कर देता है। सिर उस्तरे से मुड़ाता है केवल शिखा रखता है।⁷³

दिगम्बर परम्परा से इसे अनुमति त्याग प्रतिमा भी कहा गया है अनुमति त्याग प्रतिमा का स्वरूप निरूपित करते हुये 'रत्नकरण्डकश्रावकाचार' तथा 'सागारधर्माभूत' में लिखा है: 'जो आरम्भ, कृषि तथा लौकिक कार्यों में रुचि नहीं रखता, साथ ही उनका अनुमोदन भी नहीं करता है, वह अनुमति त्यागी श्रावक है।'⁷⁴

११. श्रमणभूत प्रतिमा :

जैसा कि इस प्रतिमा के नाम से ही स्पष्ट है यहां भूत शब्द सदृश के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अतः इस प्रतिमा को धारण करने वाला गृहस्थ श्रमण के सदृश बन जाता है।

उत्तराध्ययनसूत्र की टीका के अनुसार श्रमणभूत प्रतिमा धारी श्रावक सारे अनुष्ठान श्रमण के समान ही करता है।⁷⁵ जैसे लोच करवाना, साधु के समान संयमोपकरण रखना, भिक्षा द्वारा क्षुधा निवृत्ति करना, आदि। यहां विशेष रूप से यह ज्ञातव्य है कि यद्यपि श्रमणभूत प्रतिमाधारी श्रावक श्रमणवत् जीवन चर्या का पालन करता है, फिर भी उसकी चर्या में श्रमण से निम्न आंशिक भिन्नता होती है, जैसे श्रमण लोच करता है, प्रतिमाधारी श्रावक शक्ति न होने पर उस्तरे से केश उतार सकता है।

इस प्रकार ये ग्यारह प्रतिमाएं गृहस्थ साधक के नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास की सीढ़ियां हैं जिन्हें व्यक्ति क्रमशः यथाशक्ति ग्रहण करता चला जाता है और वह साधु जीवन के समीप पहुंच जाता है।

७३. उत्तराध्ययनसूत्र टीका पत्र ३०१७।

- (शान्तिचर्या)।

७४. (क) रत्नकरण्डकश्रावकाचार - १४६।

(ख) सागारधर्माभूत - ७/३।

७५. उत्तराध्ययनसूत्र टीका पत्र. ३०३०

- (नेपिचन्द्राचर्या)।

अध्याय - १२

उत्तराध्ययनसूत्र का शिक्षादर्शन



उत्तराध्ययनसूत्र का शिक्षादर्शन

शिक्षा जीवन की अनिवार्य आवश्यकता है। शिक्षा के बिना व्यक्ति न तो रोजी रोटी कमा सकता है और न अच्छा जीवन जी सकता है। उस दृष्टि से शिक्षा की जीवन में महत्त्वपूर्ण उपयोगिता है। मानव के जीवन में शिक्षा का महत्त्व क्या है ? क्यों है ? और कैसे है ? इसका समाधान हम उत्तराध्ययनसूत्र के अन्तर्गत खोजने का प्रयास करेंगे।

उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार शिक्षादर्शन के महत्त्वपूर्ण अंग है - शिक्षा का उद्देश्य, विनयाचार, गुरुशिष्य सम्बन्ध एवं स्वाध्याय। इसमें इन चारों अंगों पर सम्यक् रूप से प्रकाश डाला गया है। यहां हम क्रमशः इन चारों अंगों का विवेचन प्रस्तुत कर रहे हैं -

१२.१ शिक्षा का उद्देश्य

इस जगत में कोई प्रवृत्ति निष्प्रयोजन नहीं की जाती है। कहा भी है 'प्रयोजन विना मन्दोपि न प्रवर्तते' अर्थात् प्रयोजन के बिना सामान्यजन भी किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होते हैं। तो फिर प्रश्न होता है कि शिक्षा प्राप्त करने का प्रयोजन क्या है ? वस्तुतः ज्ञान का यथार्थ उद्देश्य तो मानवजीवन में व्यवहार का पथ-प्रदर्शन करना है ताकि वह अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सके।

वर्तमान में शिक्षा का उद्देश्य आजीविका की पूर्ति एवं सुख सुविधापूर्ण जीवन-यापन रह गया है, किन्तु शिक्षा को मात्र रोटी-रोजी से जोड़ना, नितान्त अनुचित है। यद्यपि रोटी के बिना मनुष्य का काम नहीं चल सकता, फिर भी इसे शिक्षा का एक मात्र उद्देश्य मानना गलत है, क्योंकि एक अशिक्षित व्यक्ति भी अपनी उदर पूर्ति करता हुआ पाया जाता है। यहां तक कि पशु पक्षी भी अपना पेट भरते हैं। मनुष्य एवं पशु पक्षी की भेद रेखा का दिग्दर्शन हितोपदेश के निम्न श्लोक में होता है-

‘आहारनिद्रामयमैथुनं च सामान्यमेतद् पशुभिर्नराणाम्।
ज्ञानं हि तेषामधिको विशेषो ज्ञानेन हीनाः पशुभिः समानाः ॥’^१

पुनश्च यदि सुख सुविधापूर्ण जीवन व्यतीत करना शिक्षा का लक्ष्य हो तो यह भी मिथ्या है क्योंकि दुःख एवं पीड़ा मात्र दैहिक ही नहीं है; वे मानसिक भी हैं, वरन् स्वार्थलिप्सा, भोगेच्छा एवं तृष्णाजन्य मानसिक दुःख अधिक पीड़ाजनक हैं। यदि भौतिक सुख सुविधा के विस्तार से ही सुख होता तो आज अतिसुविधा सम्पन्न अमेरिका जैसे देश के व्यक्ति संत्रास एवं तनावग्रस्त नहीं होते। इस प्रकार हम देखते हैं कि शिक्षा का उद्देश्य इनसे परे है और वह है मानवीय जीवन मूल्यों का विकास। भारतीय संस्कृति में शिक्षा का उद्देश्य ‘सा विद्या या विमुक्तये’ रहा है अर्थात् सच्ची शिक्षा वही है जो विमुक्ति की ओर ले जाये।

प्रकारान्तर से जैनसंस्कृति के प्रमुख ग्रन्थ ‘ऋषिभाषित’ में ‘सा विज्जा जा दुक्खमोयणी’ कहा गया है अर्थात् विद्या वही है जो दुःखों से मुक्ति प्रदान करे।^२ प्रश्न उठता है कि विमुक्ति का तात्पर्य क्या है ? इसका उत्तर हमें ‘दुक्खमोयणी’ शब्द में उपलब्ध हो जाता है कि दुःख से मुक्ति पाना। दुःख का मूल है राग-द्वेष, अहंकार, आसक्ति और तृष्णा। इनसे मुक्ति पाने पर ही व्यक्ति तनाव एवं संत्रास से मुक्त हो सकता है।

इसी परिप्रेक्ष्य में उत्तराध्ययनसूत्र में शिक्षा के प्रयोजन को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि (श्रुत (ज्ञान) की आराधना करने से जीव के अज्ञान, मोह एवं रागद्वेष का नाश होता है और वह संक्लेश को प्राप्त नहीं होता है।) यहाँ यह भी स्पष्ट होता है कि ज्ञान साधना का प्रयोजन अज्ञान के साथ-साथ मोह से भी मुक्त होना है।^३ जैनदृष्टि अज्ञान एवं मोह में भिन्नता प्रदर्शित करती है। जैनदर्शन में अज्ञान तीन प्रकार का माना गया है - (१) अज्ञान (२) संशय और (३) विपर्यय।^४ वस्तुतः ज्ञान का अभाव ही अज्ञान नहीं है; अपितु विपरीत ज्ञान भी अज्ञान है। जैनदृष्टि से सही शिक्षा सम्यक्दर्शन की उपलब्धि है।

मोह अनात्म विषयों में आत्मबुद्धि है अर्थात् जो अपना नहीं है उसे अपना मानना यही ‘मोह’ है।^५ यह राग एवं आसक्ति को जन्म देता है तथा मानव

१ सागर जैन विद्या भारती भाग १, पृष्ठ १६३।

२ ऋषिभाषित - १७/२।

३ उत्तराध्ययनसूत्र २६/२५।

४ प्रमाणनपतत्सालोक - १/८

५ व्यक्तिगत धर्मा के आधार पर।

व्यवहार में क्रोध, मान, माया, एवं लोभ रूपी कषायों के रूप में प्रकट होता है। जो व्यक्ति क्रोध, मान, माया, लोभ, जुगुप्सा आदि कुत्सित चित्तवृत्तियों को नियन्त्रित करे, वही सच्ची शिक्षा है।^६

इस प्रकार हम देखते हैं कि शिक्षा का उद्देश्य मात्र वस्तु के विषय में जानकारी प्राप्त कराना ही नहीं वरन् व्यक्ति को वासनाओं एवं विकारों से मुक्त कराना है। ऋषिभाषितसूत्र के अनुसार वही विद्या, विद्या है और वही विद्या समस्त विद्याओं में उत्तम है, जिसकी साधना करने से समस्त दुःखों से मुक्ति मिलती है। विद्या दुःख मोचनी है एवं आत्मा के शुद्ध स्वरूप का साक्षात्कार कराने वाली है।^७ शिक्षा का सम्बन्ध केवल साक्षर होने से नहीं है। अक्षरों का हाथ पकड़कर चलना यात्रा की एक शुरुआत है पर अक्षरों के माध्यम से जो कुछ कहा जाता है वह जीवन-में नहीं उतरता है तो शिक्षा की सार्थकता के आगे प्रश्नचिन्ह लग जाता है। दशवैकालिकसूत्र में शिक्षा के चार प्रयोजन प्रतिपादित किये हैं -

- (१) श्रुतज्ञान (आगमज्ञान) की प्राप्ति के लिये;
- (२) चित्त की एकाग्रता के लिये;
- (३) धर्म में स्थिरता के लिये; और
- (४) स्वयं के साथ-साथ दूसरों को भी धर्ममार्ग में स्थिर करने के लिये।^८

पूर्वोक्त विवेचन के अतिरिक्त जैन शिक्षापद्धति के निम्न उद्देश्य भी पाये जाते हैं-

(१) व्यक्ति में अनन्तचतुष्टय के अनावरण की जो क्षमता है उसे बढ़ाते चले जाना और पूर्ण ज्ञान को प्राप्त कर लेना ही शिक्षा का मूल प्रयोजन है। जैनगम उत्तराख्ययनसूत्र में इसके विनय आदि साधनों का व्यवस्थितरूप से निरूपण किया गया है। जिसकी विस्तृत चर्चा हम विनय के प्रकरण में करेंगे।

(२) जैनदर्शन में शिक्षा का दूसरा उद्देश्य सम्यग्दृष्टि बनना है। जैनदर्शन की यह मान्यता है कि व्यक्ति की जीवनदृष्टि सम्यक् हुए बिना उसका ज्ञान और आचरण सम्यक् नहीं हो सकता। इसके लिए तीव्रतम कषायों (वासनाओं) का क्षयोपशम करना होता है। अतिक्रोधी, अहंकारी, कपटी या लोभी व्यक्ति की

६ उत्तराख्ययनसूत्र ३२/१०२ से १०६।

७ ऋषिभाषित - १७/१ एवं २।

८ दशवैकालिक - ६/४१

जीवनदृष्टि सम्यक् नहीं हो सकती। अतः जैन शिक्षा का उद्देश्य इन तीव्रतम वासनाओं पर विजय प्राप्त कर सम्यक्दृष्टि को उपलब्ध करना है।

(३) व्यक्ति में अपनी आदतों को बदलने की क्षमता है। जैसे भूल प्रत्येक प्राणी कर सकता है, परन्तु भूल को सुधारने की क्षमता सिर्फ मानव में ही है। व्यक्ति स्वयं की भूल का परिष्कार उसके प्रति सजग (अप्रमत्त) होकर कर सकता है अतः उत्तराध्ययनसूत्र में अप्रमत्त रहने की शिक्षा कदम-कदम पर दी गई है। दसवें अध्ययन की तो प्रत्येक गाथा की समाप्ति इसी उद्बोधन से की गई है: 'हे गौतम क्षणमात्र भी प्रमाद न कर (समयं गोयम मा पमायए)।' यद्यपि यहां सम्बोधन केवल गौतम को है पर प्रतिबोध सभी के लिए है। यह अन्तर्मन के जाग्रण का महान् उद्घोष है। इस प्रकार सजगता को उपलब्ध करना भी शिक्षा का लक्ष्य है।

(४) संयम में शक्ति का प्रयोग— शक्ति प्रत्येक प्राणी में है, किन्तु वह उसका उपयोग वासनाओं के पोषण में ही अधिक करता है। जैन शिक्षा प्रणाली का उद्देश्य है कि व्यक्ति अपनी आत्मशक्ति को संयम के क्षेत्र में नियोजित करे।

(५) शिक्षा के माध्यम से मानव का बौद्धिक, मानसिक, भावात्मक एवं शारीरिक विकास भी होता है। प्रत्येक सफलता का कोई न कोई सोपान होता है। मन्जिल/गन्तव्य के लिये मार्ग या सीढ़ियाँ अनिवार्य हैं। अतः आत्मविकास को उपलब्ध करने का भी एक क्रम है। बौद्धिकविकास, मानसिकविकास एवं भावात्मकविकास की प्रक्रियाओं से गुजर कर ही व्यक्ति आत्मिकविकास कर सकता है। बौद्धिक, मानसिक एवं भावात्मक विकास के स्वरूप एवं उपयोगिता पर संक्षेपतः विचार करना यहां प्रासंगिक होगा।

(१) बौद्धिक विकास

व्यक्तित्व निर्माण में बौद्धिक विकास आवश्यक है। बौद्धिक विकास का अर्थ अपनी ज्ञानात्मकशक्ति का विकास करना है। ज्ञानात्मक विकास में श्रुत का अध्ययन एवं स्वाध्याय आवश्यक माना गया है।

(२) मानसिकविकास

व्यक्तित्व निर्माण का दूसरा घटक है - मानसिक विकास। व्यक्ति के जीवन में अनेक समस्याएँ आती हैं। अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों में उसे निर्णय लेने होते हैं। इस निर्णय की सामर्थ्य उसके ज्ञान के विकास पर आधारित होती है। समस्याओं को समझने और उनके सुलझाने की शक्ति मानसिक विकास से ही प्राप्त होती है। अतः मानसिक सामर्थ्य को विकसित करना शिक्षा का महत्त्वपूर्ण उद्देश्य है। मानसिक विकास और मन को साधने की कला का चित्रण उत्तराध्ययनसूत्र में अति सूक्ष्मता से किया गया है। उस के तेवीसवें अध्ययन में मन को नियमित करने की विधि दी गई है।^९

(३) भावात्मकविकास

शिक्षा का एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य भावात्मक विकास है। जिसका अर्थ है- दायित्वबोध या कर्तव्यबोध। भावात्मक विकास की अधिकांश समस्याएँ एवं अव्यवस्थायें दायित्व बोध एवं दायित्व निर्वाह के अभाव में ही उत्पन्न होती हैं। अतः (दायित्व या कर्तव्य बोध की शिक्षा हर मानव के लिये अनिवार्य है।

उत्तराध्ययनसूत्र में बहुश्रुत की तुलना उस बैल से की गई है, जो गृहीत भार को बीच में नहीं डालता, अपितु उसे लक्ष्य तक पहुँचा देता है।^{१०} बहुश्रुत को धुरीण कहा गया है। दायित्व बोध और दायित्व का निर्वाह जीवन के आवश्यक तत्त्व हैं। लक्ष्य के प्रति स्पष्टता ही व्यक्ति के दायित्वनिर्वाह का आधार है और भावात्मक शिक्षा का कार्य जीवन के लक्ष्यों को स्पष्ट करना है। उत्तराध्ययनसूत्र में अनेक स्थानों पर भावात्मक विकास की शिक्षा दी गई है। जैसे अहंकार पर विजय प्राप्त करने के लिए विनयभाव और क्रोध पर नियन्त्रण के लिये क्षमाभाव का विकास करना आवश्यक है। इसी प्रकार माया या कपट का प्रतिषेध करने के लिए ऋजुता के भाव का और लोभ पर विजय पाने हेतु सन्तोष के भाव का विकास करना होता है। विनम्रता, क्षमा आदि मनोभाव, मनोविकारों को जीतने के सफल साधन हैं। (भावात्मक विकास के लिए जीवन में सदगुणों को अपनाना आवश्यक है।

९ उत्तराध्ययनसूत्र - २३/१५ ।

१० उत्तराध्ययनसूत्र - ११/१६ ।

शारीरिक विकास

जैन शिक्षापद्धति केवल बौद्धिक विकास तक ही सीमित नहीं है वरन् वह जीवन के समग्र विकास एवं स्वास्थ्य से भी सम्बन्धित है। शारीरिक विकास में आहार और विवेक का महत्त्वपूर्ण योगदान है। विज्ञान की मान्यता है कि व्यक्ति जैसा आहार करता है वैसे ही उसके शारीरिक रसायन बनते हैं। शारीरिक रसायन यदि सन्तुलित न हो तो व्यक्ति का बौद्धिक, मानसिक एवं भावात्मक विकास कुण्ठित हो जाता है। शारीरिक रसायनों का विकास सन्तुलित हो इस हेतु तप-साधना आवश्यक है। उत्तराध्ययनसूत्र में बारह प्रकार के तप के अन्तर्गत अनशन और उणोदरी तप-साधना का उल्लेख मिलता है जो शारीरिक रसायनों को सन्तुलित बनाये रखने में अत्यन्त सहायक है। शारीरिक रसायनों का विकास सन्तुलित हो इस हेतु आहार-विवेक आवश्यक है।

विद्यार्थी जीवन

वैदिक संस्कृति के अनुसार विद्यार्थी जीवन का प्रारम्भ उपनयन संस्कार से होता है। महर्षि पाणिनि के अनुसार उपनयन का अर्थ— 'शिक्षा ग्रहण हेतु आचार्य के समीप ले जाना है'।¹¹

अध्ययनकाल —

वेदों के अनुसार १२ वर्ष की अवस्था से अध्ययन का प्रारम्भ होता था, किन्तु जैनपरम्परा के अनुसार सामान्य शिक्षा के लिए ८ वर्ष की आयु उचित मानी गई थी और व्यक्ति सम्पूर्ण ७२ कलाओं का पारंगत होने तक अध्ययन करता था।¹²

आध्यात्मिक शिक्षा के लिए भी न्यूनतम आयु तो यही थी, किन्तु व्यक्ति जब भी चाहे इस आध्यात्मिक शिक्षा को प्राप्त कर सकता था।

बौद्धसंस्कृति में किसी भी अवस्था में गृहस्थ अपने कुटुम्ब का त्याग कर बौद्धधर्म — संघ की शरण में विद्याध्ययन कर सकता था।

११ उद्धृत् - 'जैन अंगशास्त्र के अनुसार मानव व्यक्तित्व का विकास - पृष्ठ २२४।'

१२ ज्ञानाप्तमंथना - १/२४

- (अंगसुत्तापि, लाङ्गू, खंड ३, पृष्ठ १०)।

प्रत्येक शिक्षापद्धति इन दो प्रश्नों पर निर्भर रहती है - (१) वह व्यक्ति को क्या मानती है ? (२) वह व्यक्ति को क्या बनाना चाहती है ?

व्यक्ति की योग्यता -

जैन शिक्षापद्धति के अनुसार व्यक्ति क्षायोपशमिक योग्यता वाला है।

अर्थात् -

- (१) प्रत्येक व्यक्ति में अपने ज्ञान को अनावरित करने की क्षमता है;
- (२) प्रत्येक व्यक्ति में चारित्रिक विकास की क्षमता है;
- (३) प्रत्येक व्यक्ति में अपने स्वभाव को परिवर्तित करने की क्षमता है;
- (४) प्रत्येक व्यक्ति में ज्ञान शक्ति को वृद्धिगंत करने की क्षमता है।

जैनदर्शन की मान्यता है कि प्रत्येक व्यक्ति में अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन अनन्तसुख और अनन्तवीर्य की क्षमता है किन्तु ज्ञानावरणीय आदि कर्मों के कारण व्यक्ति की ये ज्ञानात्मक शक्तियां कुण्ठित हो जाती हैं। पर सम्यक्पुरुषार्थ के द्वारा व्यक्ति इन कर्मों का क्षयोपशम कर सकता है अर्थात् इन शक्तियों का विकास कर सकता है। इस प्रकार अज्ञान के आवरण को हटाया जा सकता है; चारित्र का परिष्कार किया जा सकता है, स्वभाव में परिवर्तन किया जा सकता है तथा आत्मशक्ति का संवर्धन किया जा सकता है।

व्यक्तित्व के विकास एवं पतन की इस परिकल्पना के साथ जैनदर्शन के चार घाती कर्मों का सम्बन्ध जुड़ा हुआ है।

शिक्षा के अधिकारी

वैदिककाल में आचार्य अध्ययन उन्हें ही करवाते थे जिनकी अध्ययन के प्रति अभिरुचि होती थी। इसके विपरीत, जिनकी प्रतिभा ज्ञानप्राप्ति में असमर्थ होती थी, उन्हें अन्य रुचिकर कलाओं का शिक्षण दिया जाता था।

जैनागम उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार विद्यार्थी को योग्य शिक्षा के लिए गुरुकुल में अर्थात् गुरुजनों के समीप रहना आवश्यक है। साथ ही उसे विनम्र एवं मधुर भाषी होना चाहिए और गुरु के आदेशों के परिपालन हेतु तत्पर होना चाहिये।^{१३}

इस सूत्र में शिक्षार्थी की योग्यता पर विस्तृत प्रकाश डालते हुए उसके निम्न आठ गुणों का उल्लेख किया गया है -

- (१) अति हास्य नहीं करना;
- (२) इन्द्रियां एवं मन पर संयम करना;
- (३) किसी के भर्म का प्रकाशन नहीं करना;
- (४) चारित्रवान होना;
- (५) सुशील होना;
- (६) रसों में आसक्त न होना;
- (७) क्रोध न करना;
- (८) सत्य में रत रहना।^{१४}

शिक्षा की बाधाएं

उत्तराध्ययनसूत्र में शिक्षा प्राप्ति में सहायक एवं बाधक दोनों प्रवृत्तियों का वर्णन किया गया है। इसका उद्देश्य व्यक्ति में हेय एवं उपादेय का विवेक जागृत करना है। उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार इन पांच कारणों से व्यक्ति को शिक्षा प्राप्त नहीं होती^{१५} -

- (१) मान; (२) क्रोध; (३) प्रमाद; (४) आलस्य और (५) रोग।

इन बाधाओं पर विजय प्राप्त करने वाला व्यक्ति ही शिक्षा का अधिकारी होता है।

१३ उत्तराध्ययनसूत्र - ११/१४ ।

१४ उत्तराध्ययनसूत्र - ११/ ४ एवं ५ ।

१५ उत्तराध्ययनसूत्र - ११/ ३ ।

शिक्षक की योग्यता

उत्तराध्ययनसूत्र में गुरु की क्या योग्यता होनी चाहिए इसका स्पष्ट निर्देश देखने को नहीं मिलता है। फिर भी शिक्षक के लिये प्रयुक्त शब्द ही उसकी योग्यता का प्रतिपादन कर देते हैं जैसे प्रथम अध्ययन की गाथाओं में शिक्षक के लिये जहां प्रायः 'बुद्ध' शब्द का प्रयोग हुआ है,¹⁶ वहीं आचार्य, कृतकृत्य एवं गुरु शब्द का प्रयोग भी दृष्टिगोचर होता है।¹⁷ शिक्षक के लिए प्रयुक्त इन विशेषणों से उसकी महत्ता एवं योग्यता के संकेत अवश्य मिल जाते हैं।

बोध को प्राप्त करने वाला बुद्ध होता है। आचारसम्पन्न होना यह आचार्य शब्द का अर्थ है। कृतकृत्य का अर्थ है - वन्दना करने योग्य होना। कृतकृत्य का एक और अर्थ - जिसके लिए करणीय कुछ शेष नहीं रहा हो, ऐसा वन्दनीय साधक भी होता है।¹⁸

उत्तराध्ययननिर्युक्ति में आचार्य को दीपक के समान बतलाया है जो स्वयं प्रकाशमान होता है और दूसरों को भी प्रकाशित करता है।¹⁹

निशीथभाष्य में आचार्य को राग-द्वेष से मुक्त शीतगृह के समान कहा गया है।²⁰

जैनदर्शन के अनुसार आचार्य ३६ गुणों से युक्त होते हैं। आचार्य के ३६ गुण 'सम्बोध सप्ततिका' के अनुसार निम्न हैं -

प्रतिरूपादि चौदह गुण (प्रभावशाली व्यक्तित्व से युक्त, तेजस्वी, युगप्रधान, मधुरवक्ता, गम्भीर, धृतिमान, कुशलउपदेशक, आचारसम्पन्न, अप्रतिस्वभावी, सौम्य, अभिग्रहमत्तिक, अल्पभाषी, स्थिरस्वभावी एवं शान्तहृदयी); क्षमादि दसविध धर्म (क्षमा, आर्जव, मार्दव, त्याग, तप, संयम, सत्य, शौच, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य), एवं

१६ उत्तराध्ययनसूत्र - १/८, १७, २७, २६, ४०, ४२; ६/३; १०/३६, ३७; ११/३; १४/५१, १८/२१, २४, ३२; २३/३, ७, २५/३२; ३५/१ एवं ३६/२६८।

१७(क) उत्तराध्ययनसूत्र - १/२०, ४०, ४१, ४३; ८/२२;

(ख) उत्तराध्ययनसूत्र - १/१८, ४४, ४५; १४/१५; ३२/१०८;

(ग) उत्तराध्ययनसूत्र - १/२, ३, १६, २०; ७/६, १७/१०; २६/७, ८, २१, २२, ३७, ४०, ४१, ४३, ४५; ४८ से ५१; ३०/३२; ३२/३।

१८ उत्तराध्ययनसूत्र-टीका-पत्र - ५४

- (शान्त्याचार्य)

१९ उत्तराध्ययननिर्युक्ति - ८

- (निर्युक्तिसंग्रह, पृष्ठ ३६५)।

२० निशीथ भाष्य - २७६४

- (उद्धृत - प्राकृतसूक्ति कोश पृष्ठ ४७)।

अनित्यादि बारह भावनाएं (अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आश्रव, संवर, निर्जरा, धर्म, लोक एवं बोधि दुर्लभ)।²¹

आचार्य के ३६ गुण निम्न रूप में भी उपलब्ध होते हैं – पांचों इन्द्रियों का निग्रह करने वाले, नौ ब्रह्मचर्य की गुप्तियों को धारण करने वाले, चार कषायों का त्याग करने वाले, पंचमहाव्रत धारी, पंचाचार के पालक, एवं पंच समिति व तीन गुप्ति के धारक इस प्रकार ये ५ + ९ + ४ + ५ + ५ + ५ + ३ = ३६ छत्तीस गुण आचार्य के हैं।²²

शिक्षा और विनय

शिक्षा की विनय के साथ अभिन्न मित्रता है। विनय के अभाव में ज्ञान एवं ज्ञान के अभाव में विनय की कल्पना आकाशकुसुमवत् निरर्थक है। जो विनीत होता है वही शिक्षित हो सकता है। अविनीत को शिक्षा प्राप्त नहीं हो सकती। अतः उत्तराध्ययनसूत्र का प्रारम्भ ही विनय की शिक्षा से होता है।

१२.२ विनयाचार

जैनधर्म में विनय गुण की विवेचना विविध दृष्टियों से की गई है। उसके अनुसार 'विनय मूलो धम्मो' अर्थात् धर्म का मूल विनय कहा गया है। व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक दोनों क्षेत्रों में विनय गुण का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

विनय का स्वरूप

विनय शब्द वि+नय इन दो शब्दों के संयोग से बना है। यहां 'वि' शब्द का अर्थ विशिष्ट है तथा 'नय' शब्द के सहवर्तन, जीवनशैली, नीति, सिद्धान्त आदि अनेक अर्थ दिये गये हैं। इस प्रकार प्रस्तुत प्रसंग में विनय से तात्पर्य साथ-साथ जीवन जीने की कला है। यह पारस्परिक सद्भाव एवं वरिष्ठजनों के प्रति आदरपूर्ण व्यवहार का सूचक है।

२१ सम्बोध सप्ततिका पृष्ठ १६९ -
२२ जैनधर्म प्रवेशिका - पृष्ठ १६९

- (साध्वी हेमप्रिया श्रीनी)।

उत्तराध्ययनसूत्र के टीकाकार ने 'विनय' शब्द के दो संस्कृत रूप किये हैं विनय और विनत। उन्होंने विनय का अर्थ आचार, नियम तथा विनत का अर्थ नम्रता किया है।^{२३}

विनय शब्द की विविध व्याख्यायें

उत्तराध्ययनसूत्र की टीका में 'विनय' शब्द की अनेक व्याख्यायें उपलब्ध होती हैं। उनमें से कुछ निम्न हैं -

'विनीयत अपनीयतेऽनेन कर्मेति विनयः' अर्थात् जिसके द्वारा कर्मों का अपनयन किया जाय वह विनय है।^{२४}

'विशेषण मयनीति विनयः' - जो विशेषता की ओर ले जाये वह विनय है।

'पूज्येषु आदरः विनयः' - पूज्य या सम्माननीय व्यक्ति के प्रति आदर पूर्ण व्यवहार करना विनय है।

'गुणाधिकेषु नीचैर्वृत्ति विनयः' - गुणवान् व्यक्तियों के प्रति नम्रता का भाव विनय है।

'रत्नत्रयवस्तु नीचैर्वृत्ति विनयः' - रत्नाधिक अर्थात् ज्ञान, दर्शन और चारित्र आदि गुणों से सम्पन्न आत्मा के प्रति विनम्रवृत्ति रखना विनय है।

'कषाय-इन्द्रिय विनयनं विनयः' - यहां विनय का आशय नियन्त्रण है अर्थात् जिसके द्वारा कषाय एवं इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखा जाय वह विनय कहलाता है। प्रसंगान्तर से इसे आचार-नियम का सूचक भी कह सकते हैं।

'विशिष्टो विविधो वा नयो विनयः' - विविध या विशिष्ट प्रकार के नय या सिद्धान्त विनय कहलाते हैं।

'विशिष्टो विविधो वा नयो नीति इति विनयः' - विशिष्ट या विविध प्रकार की नीति अर्थात् आचार व्यवहार विनय है।

२३ उत्तराध्ययनसूत्र टीका - पृष्ठ १६

- (शान्त्वाचार्य)

२४ उत्तराध्ययनसूत्र टीका - पृष्ठ १६

- (शान्त्वाचार्य)

'विलयं नयति कर्ममलं अनेन इति विनयः' - जो कर्ममल को विलय की ओर ले जाये अर्थात् उनका नाश कर दे वह विनय है।

'अनाशातना बहुमानकरणं च विनयः' - अशातना नहीं करना एवं बहुमान करना विनय है।²⁵

इस प्रकार पूर्वोक्त व्याख्याओं से स्पष्ट होता है कि जैनवाङ्मय में 'विनय' शब्द आचार के विविध रूपों के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। सामान्यतः विनय शब्द नम्रता का सूचक माना गया है, किन्तु जैनागमों में प्रयुक्त विनय शब्द नम्रता तक ही सीमित नहीं है वरन् वह आचार व्यवहार के व्यापक अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है। यद्यपि नम्रभाव भी आचार की ही एक विधि है पर यह विनय का प्रारम्भ बिन्दु है। इसकी परिणति तो मोक्ष मार्ग की साधना में है। इसे स्पष्ट करते हुए उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि देव, गन्धर्व और मनुष्यों से पूजित विनीत आत्मा या तो शाश्वत् सिद्धि को प्राप्त करती है या अत्यकर्म वाला महाऋद्धि सम्पन्न देव होता है।²⁶

'विनय शब्द आचार धर्म का प्रतिपादक है। यह तथ्य ज्ञाताधर्मकथांगसूत्र द्वारा भी समर्थित है। इसमें सुदर्शनसेठ थावच्चापुत्र से पूछता है : 'भन्ते ! आपके धर्म का मूल क्या है ?' उत्तर में थावच्चापुत्र ने कहा कि धर्म का मूल विनय है और वह दो प्रकार की है - आगारविनय और अनगारविनय । इसमें बारहव्रत और ग्यारह प्रतिमा आगारविनय है तथा पंचमहाव्रत, छठा रात्रि भोजनत्यागव्रत, अठारह पापों का विरमणव्रत, प्रत्याख्यान और बारह भिक्षु प्रतिमायें यह अनगारविनय है।²⁷

बौद्धसाहित्य में भी विनय शब्द संघीयव्यवस्था, आचारनियम एवं अनुशासन के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इसका सबल साक्ष्य यह है कि बौद्धभिक्षुओं के आचारनियमों के विवेचन करने वाले ग्रन्थ को विनयपिटक कहा गया है।

२५ उत्तराध्ययनसूत्र टीका - पत्र २०

२६ उत्तराध्ययनसूत्र - १/४८ ।

- (शान्त्यन्वये) ।

विनय का महत्त्व

विनय आत्मा का गुण है यह अविरतिधर (संसारी) एवं सर्वविरतिधर (संयमी) दोनों आत्माओं में पाया जाता है। यह अन्तरंग में भी होता है तथा साथ ही व्यवहार में भी प्रकट होता है।

उत्तराध्ययनसूत्र में विनीत शिष्य के माध्यम से विनय का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए लिखा है कि विनीत शिष्य पूज्यशास्त्र होता है अर्थात् उसके शास्त्रीयज्ञान का सर्वत्र सम्मान होता है; उसके सारे संशय मिट जाते हैं। वह गुरु के मन को प्रिय होता है। वह आचार सम्पदा से सम्पन्न होता है अर्थात् दशविध समाचारी से सम्पन्न होता है और तप समाचारी एवं समाधि से संवृत होकर पंचमहाव्रतों का पालन कर महान तेजस्वी होता है।²⁸

विनय की महत्ता को प्रकट करते हुए आचार्य वट्टकेर ने मूलाचार में लिखा है: शिक्षा का फल विनय है और विनय का फल सभी का कल्याण है, विनय विहीन व्यक्ति की सारी शिक्षा व्यर्थ है। इसमें विनय की पृष्ठभूमि में रहे हुए निम्न गुणों का उल्लेख भी किया गया है।²⁹

आत्मशुद्धि, निर्द्वन्द्व, ऋजुता, मृदुता, लाघव, भक्ति, प्रह्लादकरण, कीर्ति, मैत्री इत्यादि गुणों के साथ विनीत आत्मा अपने अभिमान का निरसन, गुरुजनों का बहुमान, तीर्थंकर की आज्ञा का पालन और गुणों का अनुमोदन करती है।

विनीत आत्मा को सर्वोत्कृष्ट स्थान देते हुये उत्तराध्ययन सूत्रकार ने तो यहां तक कह दिया कि जिस प्रकार पृथ्वी समस्त प्राणियों के लिये आधारभूत होती है, उसी प्रकार विनीत व्यक्ति धर्माचरण करने वालों के लिये आधारभूत होते हैं।³⁰

दशवैकालिकसूत्र में विनय के महत्त्व को अत्यन्त संक्षेप में प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि अविनीत को विपत्ति तथा विनीत को सम्पत्ति की प्राप्ति होती है।³¹

निष्कर्षतः उत्तराध्ययनसूत्र में विनय का महत्त्व अत्यन्त व्यापक रूप से प्रतिपादित किया गया है। इसका प्रथम विनयश्रुत अध्ययन इस बात का श्रेष्ठ प्रमाण है।

२८ उत्तराध्ययनसूत्र - १/४७ ।

२९ मूलाचार - ५/१९० एवं १९१ (पृष्ठ २५२) ।

३० उत्तराध्ययनसूत्र - १/४५ ।

३१ दशवैकालिक - ६/२३ ।

विनय के प्रकार

जैन साहित्य में विनय की विविध व्याख्या के साथ इसके विविध प्रकारों का भी वर्णन किया गया है। यद्यपि हमारे शोधग्रन्थ के आधार उत्तराध्ययनसूत्र में विनय के प्रकारों की कहीं कोई स्पष्ट चर्चा उपलब्ध नहीं होती है फिर भी इसके टीका साहित्य तथा औपपातिकसूत्र, विशेषावश्यकभाष्य आदि ग्रन्थों में विनय के अनेक प्रकारों का उल्लेख किया गया है।^{३२} ये संक्षेप में निम्न हैं -

(१) लोकोपचार विनय -- शिष्टाचार का पालन, पारिवारिक एवं सामाजिक अनुशासन का पालन, अतिथि पूजा, वृद्धजनों का सम्मान आदि लोकोपचार विनय के अन्तर्गत आते हैं।

औपपातिकसूत्र में लोकोपचार विनय के सात भेद किये गये हैं -

- | | |
|-------------------------|---|
| (क) अभ्यासवृत्तिता | - गुरुजन के समीप रहना; |
| (ख) परछन्दानुवृत्तिता | - दूसरों के आदेशों का अनुवर्तन करना; |
| (ग) कार्यहेतु | - लक्ष्यसिद्धि के अनुकूल कार्य करना; |
| (घ) कृतप्रतिक्रिया | - किये हुए उपकार के प्रति प्रत्युपकार करने की भावना रखना; |
| (ङ) आर्तगवेषणा | - आर्त एवं पीडित व्यक्ति की खोज करके उनके दुःख दूर करना; |
| (च) देशकालज्ञता | - देश एवं काल की मर्यादा को जानना; |
| (छ) स्वार्थ अप्रतिलोमता | - यथार्थ स्वहित को समझकर उसकी सिद्धि का प्रयत्न करना। |

(२) अर्थ विनय-- प्रयोजन की सिद्धि हेतु विनय करना अर्थ विनय कहलाता है।

(३) काम विनय-- कामनाओं की पूर्ति के लिये विनय करना काम विनय है।

(४) भय विनय -- भयवश नम्रता का व्यवहार करना भय विनय है।

३२ (क) उत्तराध्ययनसूत्र टीका-पत्र - १६
(ख) औपपातिकसूत्र - ४०

- (शान्तिशास्त्र) ;
- (उत्तराध्ययनसूत्र, लाडलू, खंड १, पृष्ठ २४);

(५) मोक्ष विनय -- मोक्ष के अनुकूल प्रवृत्ति करना मोक्ष विनय है। उत्तराध्ययनसूत्र की टीका में इसके पांच भेद किये गये हैं -- ज्ञानविनय, दर्शनविनय, चारित्रविनय, तपविनय और औपचारिकविनय।

औपपातिकसूत्र में विनय के निम्न सात प्रकार बतलाये गये हैं --

- (१) ज्ञानविनय (२) दर्शनविनय (३) चारित्रविनय (४) मनविनय
(५) वचनविनय (६) कायविनय और (७) लोकोपचारविनय।

इसके अतिरिक्त आवश्यकचूर्णि आदि में भी विनय के भेद-प्रभेदों की विस्तृत चर्चा की गई है। उन सभी का यहां वर्णन करना अतिप्रसंग का कारण होगा। अतः हम यही कहकर विनय के प्रकारों की चर्चा को विराम देना चाहेंगे कि विनय के उपरोक्त समस्त प्रकारों को निम्न दो भागों में विभाजित किया जा सकता है - (१) लौकिकविनय और (२) लोकोत्तरविनय।

'लौकिक विनय' विनय का व्यवहारिक पक्ष है तो 'लोकोत्तर विनय' आध्यात्मिक पक्ष है।

लौकिक विनय के अन्तर्गत - लोकोपचार विनय, स्वार्थ अप्रतिलोम विनय, अर्थ विनय, काम विनय, भय विनय आदि सभी का समावेश किया जा सकता है तथा मोक्ष विनय या ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप रूप विनय लोकोत्तर विनय में समाविष्ट हो सकते हैं।

विनीत एवं अविनीत शिष्य के लक्षण

(विनय का अर्थ व्यापक है मात्र तन को झुकाना ही विनय धर्म नहीं है। शारीरिक रूप से तो नृत्यांगना एवं नौकर भी झुकते हैं।) पर उनका झुकना स्वार्थ-सम्बद्ध होने से कोई अर्थ नहीं रखता, जबकि महाश्रमण बाहुबली के मन का झुकना इतना चमत्कारिक सिद्ध हुआ कि उन्हें केवलज्ञान उपलब्ध हो गया।

उत्तराध्ययनसूत्र के प्रथम अध्ययन की प्रारम्भिक गाथाओं में विनय शब्द अनुशासन के रूप में प्रयुक्त हुआ है। मानव समाज में अनुशासन का बड़ा महत्त्व है। समाज और विधि-विधान/ अनुशासन दो नहीं हैं। जहाँ समाज है वहाँ अनुशासन है; जहाँ संघ है वहाँ अनुशासन है। संघ और अनुशासन को कभी पृथक् नहीं किया जा सकता; अनुशासित संघ ही समाज कहलाता है।

अनुशासन का अभिप्राय यहाँ दासता, दीनता या गुरु की गुलामी नहीं है, स्वार्थसिद्धि के लिए कोई चाल नहीं है, सामाजिक व्यवस्था मात्र भी नहीं है और न वह कोई आरोपित औपचारिकता है। अपितु अनुशासन पवित्र गुणों के प्रति सहज प्रमोदभाव का प्रतिफलन है। यह प्रमोद भाव ही विनय है, जो गुरु एवं शिष्य के मध्य सेतु का काम करता है। इसके माध्यम से गुरु अपने शिष्य को ज्ञान से लाभान्वित करते हैं। अनुशासन की महिमा का वर्णन करते हुए आचार्य महाप्रज्ञ ने लिखा है³³ -

किं स्रोतः किं स्वरूपं च, किं फलं चानुशासनं ।
स्वतन्त्रता भवेत् स्रोतः, परस्वातंत्र्यरक्षिका ॥
इच्छारोधः स्वरूपं स्यात्, प्रसादः समता फलम् ।
सुस्थिरो जायते लोको, विद्यमानेऽनुशासने ॥

अर्थात् दूसरों की स्वतन्त्रता का संरक्षण करने वाली स्वतन्त्रता अनुशासन का स्रोत है। अनुशासन का स्वरूप है - इच्छा का निरोध। उसका फल है प्रसाद और समता। अनुशासन में रहने वाला व्यक्ति सुस्थिर बन जाता है।

प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्रता चाहता है किन्तु व्यक्ति स्वतन्त्र तभी हो सकता है जब वह दूसरे की स्वतन्त्रता में बाधक न बने। दूसरे की स्वतन्त्रता को संरक्षण देने वाली अपनी स्वतन्त्रता अनुशासन का आधार बनती है। इस परापेक्षी स्वतन्त्रता से अनुशासन का स्रोत फूटता है। अनुशासन परतन्त्र बनने एवं बनाने के लिए नहीं; किन्तु दूसरों के स्वतन्त्रताधिकार को सुरक्षित रखने के लिए है। दूसरे व्यक्ति की स्वतन्त्रता का सम्मान ही अनुशासन का उद्गम स्थल है।

गुरु एक दक्षशिल्पी की भांति होता है। जैसे शिल्पी पत्थर पर चोट करता है किन्तु उसका लक्ष्य पत्थर को तोड़ना नहीं वरन् उसे एक सुन्दर रूप देना होता है; उसी प्रकार गुरु का अनुशासन भी शिष्य की अन्तरात्मा में छिपे हुए आध्यात्मिक सौन्दर्य को प्रकट करने के लिए होता है। शिष्य का कर्तव्य है कि गुरु

के मनोगत अभिप्राय को समझे और गुरु के साथ योग्य सद्व्यवहार करे। विनीत शिष्य की व्याख्या करते हुए उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है :-

‘जो गुरु की आज्ञा का पालन करता है, गुरु के सान्निध्य में रहता है, गुरु के इंगित एवं आकार अर्थात् संकेत और मनोभावों को जानता है, वह विनीत कहलाता है।’³⁴

गुरु ज्ञान के सागर होते हैं। उनकी आज्ञा एवं निर्देश का पालन करके ज्ञान-गंगा में अवगाहन का आनन्द लेना चाहिये। गुरु ज्ञानी एवं अनुभवी होते हैं, उनकी आज्ञा और उनका मार्गदर्शन शिष्य की सफलता का आधार होता है। (गुरु की आज्ञा एवं निर्देश के अनुरूप आचरण करना शिष्य की प्रथम विशेषता है।)

विनीत शिष्य की द्वितीय विशेषता है - ‘गुरुणमुववायकार’ अर्थात् गुरु के सान्निध्य में रहना। ऐसे स्थान पर बैठना, जहां गुरु की दृष्टि पड़े, गुरु की पावन तेजोमयी दृष्टि से शिष्य के तन, मन एवं वचन के सारे विकार नष्ट हो जाते हैं और गुरु के तप-त्याग के दिव्यसाम्राज्य से शिष्य के विषय, कषाय और ईर्ष्या के तूफान शान्त हो जाते हैं। गुरु के सान्निध्य में निवास करना ज्ञान जगत में निवास करना है।

शिष्य का तीसरा गुण है ‘इंगियागारसंपन्न’। विनीत शिष्य गुरु के हावभाव एवं मनोभावों को जानने वाला होता है। इंगित का अर्थ है - शरीर की सूक्ष्मचेष्टा, जैसे- किसी कार्य की विधि या निषेध के लिए सिर हिलाना, आंख से इशारा करना आदि। आकार - शरीर की स्थूल चेष्टा जैसे - उठने के लिए आसन की पकड़ ढीली करना, घड़ी की ओर देखना या जम्माई लेना आदि।

विनय के विधि एवं निषेध दोनों मार्गों पर प्रकाश डालते हुए उत्तराध्ययनसूत्र में विनीत के साथ अविनीत की परिभाषा का भी प्रकाशन किया गया है। अविनीत का व्यवहार विनीत के व्यवहार से विपरीत होता है अर्थात् वह गुरु के प्रतिकूल प्रवर्तन करता है। उनके सान्निध्य में नहीं रहता है। अविनीत शीलघ्न होकर सड़े हुए कान वाली कुंतिया की तरह सब तरफ से तिरस्कार प्राप्त करता है।³⁵

34 ‘अपनिदेशको, गुरुणमुववायकार ।
इंगियागारसम्पन्ने, से विनीत इति उच्यते ॥’
35 उत्तराध्ययनसूत्र - १/४ ।

जिस प्रकार अनाज की टोकरी छोड़कर शूकर विष्टा खाता है वैसे ही दुःशील शिष्य पशुवत् शील अर्थात् गुरु द्वारा मार्गदर्शित विनयाचार छोड़कर कुशील में आनन्द मानता है।^{३६}

अविनीत की दुर्दशा का निरूपण करते हुए दशवैकालिकसूत्र में भी कहा गया है कि अविनीतात्मा संसारस्रोत में वैसे ही प्रवाहित होती रहती है, जैसे जल के प्रबल स्रोत में पड़ा हुआ काष्ठ।^{३७}

उत्तराध्ययनसूत्र में अविनीत को इन धृणित उपमाओं से उपमित कर उसे सन्मार्ग की ओर प्रेरित करने का सुन्दर मार्ग दर्शाया है।

निष्कर्षतः अविनीत की संसार में कहीं भी सराहना नहीं हो सकती। कहा गया है कि :- 'अविनीत व्यक्ति अपने पैर पर स्वयं कुल्हाड़ी मारने के समान अपना अहित करता है।' इसे दशवैकालिकसूत्र में सुन्दर ढंग से दर्शाया गया है -

'जो (साधक) गर्व, क्रोध, माया और प्रमादयश्च गुरुदेव के समीप विनय नहीं सीखता तो उसके अहंकारादि दुर्गुण उसके ज्ञानादि वैभव के विनाश का कारण बन जाते हैं, जैसे बांस का फल उसी के विनाश के लिये होता है।'^{३८}

विनय धर्म का पालन करने की प्रेरणा देते हुए उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि अपना हित चाहने वाले मनुष्य को चाहिए कि वह कुतिया एवं सूअर की दुःस्थिति से प्रेरित होकर अपने में विनय गुण को प्रतिष्ठित करे।^{३९}

कुतिया एवं सूअर के विगर्हित आचरण ही उनकी दुर्गति के कारण होते हैं। कुत्सित आचरण के हीन कुल का विचार करके साधुपुरुष दुराचार से पराङ्मुख होकर सदाचारयुक्त विनयधर्म में अपने आपको स्थिर करे। विनय को धारण करने वाला कहीं से भी प्रताड़ित नहीं होता है। वह सर्वत्र सम्मानित होता है।^{४०}

इस प्रकार विनयाचार की समीचीन एवं सटीक शिक्षा प्रणाली को व्यक्ति सद्गुणसम्पन्न एवं दुर्गुणविपन्न बनाने की अद्भुत कला है।

३६ उत्तराध्ययनसूत्र - १/५।

३७ दशवैकालिक - ६/२/३।

३८ उत्तराध्ययनसूत्र - ६/१/१।

३९ उत्तराध्ययनसूत्र - १/६।

४० उत्तराध्ययनसूत्र - १/७।

१२.३ गुरुशिष्य सम्बन्ध

गुरु-शिष्य का सम्बन्ध एक आध्यात्मिक सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध आत्मविकास एवं आत्मकल्याण में अत्यन्त सहायक होता है। शिष्य के जीवन में गुरु का अद्वितीय स्थान होता है।

व्यक्ति जिसके आश्रय में रहता है उसके साथ सामंजस्य एवं सौहार्दपूर्ण सम्बन्धों का होना अति आवश्यक है। सम्बन्धों की इस गरिमा को अखण्डित रखने के लिये व्यक्ति को कई प्रकार के कर्तव्यों का निर्वाह करना पड़ता है।

उत्तराध्ययनसूत्र में गुरुशिष्य के सम्बन्धों को सुरक्षित रखने के अनेक उपाय निर्देशित किये गये हैं। इसमें शिष्य गुरु के साथ किस प्रकार का व्यवहार करे, इसका उल्लेख निम्न रूप से उपलब्ध होता है^{११} -

- (१) गुरु की आज्ञा का पालन करना;
- (२) गुरु के सान्निध्य में रहना;
- (३) गुरु के इंगित (निर्देश) एवं आकार अर्थात् मनोभावों को जानना;
- (४) गुरु के पास प्रशान्त भाव से रहना;
- (५) गुरु के सम्मुख अधिक नहीं बोलना;
- (६) गुरु के द्वारा अनुशासित होने पर क्रुद्ध नहीं होना;
- (७) गुरु से कुछ भी नहीं छुपाना । अपराध हो जाने पर गुरु के सम्मुख तुरन्त प्रकट कर देना;
- (८) उत्तम प्रकार के घोड़े के समान संकेत मात्र से गुरु के आशय को समझना;
- (९) लोगों के सम्मुख या एकान्त में, वाणी या वर्तन द्वारा कभी भी गुरु के प्रतिकूल आचरण नहीं करना;
- (१०) गुरु के बुलाने पर शीघ्र ही गुरु के सम्मुख उपस्थित होना;
- (११) गुरु के कठोर अनुशासन को भी प्रिय एवं हितकर मानना;
- (१२) स्वयं के द्वारा अपराध हो जाने पर यदि आचार्य अप्रसन्न हो जायें तो उन्हें विनयपूर्वक प्रीतिकर वचनों से प्रसन्न करने का प्रयास करना;
- (१३) गुरु के कुछ पूछने पर मौन न रहना।

११ उत्तराध्ययनसूत्र - १/२ से १४, २५, २८ एवं २९।

(१४) गुरु के समक्ष शिष्य किस प्रकार बैठे, इसे स्पष्ट करते हुए इसमें कहा गया है कि शिष्य को^{४२} -

- (१) गुरु के बराबर अर्थात् एक सीध में नहीं बैठना चाहिए;
- (२) गुरु के आगे नहीं बैठना चाहिये;
- (३) गुरु के ठीक पीछे भी नहीं बैठना चाहिये; गुरु के ठीक पीछे बैठने पर यदि गुरु को कुछ कहना होगा तो उन्हें परेशानी होगी;
- (४) गुरु के अति निकट सटकर अर्थात् गुरु के शरीर का स्पर्श होता हो ऐसे नहीं बैठना चाहिये;
- (५) गुरु के समक्ष पालकी लगाकर नहीं बैठना चाहिए;
- (६) दोनों हाथों से शरीर को बांधकर नहीं बैठना चाहिए;
- (७) पैरों को फैलाकर भी नहीं बैठना चाहिये;

उत्तराध्ययनसूत्र में गुरुशिष्य के सम्बन्धों को सुरक्षित रखने के लिये शिष्य के प्रति गुरु के क्या कर्तव्य है, इसका उल्लेख निम्न रूप में किया गया है।^{४३}

- (१) ज्ञानदान; (२) वात्सल्य; (३) समता और (४) संहिष्णुता

१२.४ स्वाध्याय का स्वरूप एवं महत्त्व

(स्वाध्याय मानव जीवन का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। यह तनाव मुक्ति का अमोघ उपाय भी है। सत्साहित्य का स्वाध्याय जीवन की प्रत्येक परिस्थिति में सहायक होता है।

स्वाध्याय का अर्थ

स्वाध्याय शब्द की व्याख्या दो प्रकार से उपलब्ध होती है। स्व + अधि + इण् - 'स्वस्य स्वस्मिन् वा अध्याय स्वाध्याय' अर्थात् - स्व का अध्ययन करना स्वाध्याय है। दूसरे शब्दों में आत्मा के स्वरूप का अध्ययन करना स्वाध्याय है। स्वाध्याय स्वयं का अध्ययन है, अपने आपको देखना, या अपने आपको जानना,

४२ उत्तराध्ययनसूत्र - १/१८ एवं १९।

४३ उत्तराध्ययनसूत्र - १/२३।

स्वाध्याय है। 'अपने विकारों, वासनाओं एवं अनुभूतियों को जानने व समझने का प्रयत्न ही स्वाध्याय है।'^{४४}

स्वाध्याय शब्द की द्वितीय व्याख्या सु + आ + अधि + ईण् के रूप में उपलब्ध होती है। इस दृष्टि से 'सुष्ठु - शोभन अध्यायः स्वाध्यायः' अर्थात् - सत्साहित्य का अध्ययन करना स्वाध्याय है। यहां ध्यान रखने योग्य बात यह है कि प्रत्येक साहित्य या ग्रन्थ का अध्ययन स्वाध्याय की श्रेणी में नहीं आ सकता। वही साहित्य जो व्यक्ति को स्व-स्वभाव की ओर उन्मुख करे, स्व-वृत्तियों के विश्लेषण में सहायक बने, हेय, उपादेय, ज्ञेय का बोध कराये और श्रेय-प्रेय की सम्यक समझ दे सत्साहित्य की श्रेणी में आता है। उनका अध्ययन स्वाध्याय है।

स्वाध्याय की दोनों व्याख्याओं का विश्लेषण करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि स्वतः या सत्साहित्य के माध्यम से आत्मदृष्टा बनना, आत्मानुभूति करना, अन्तर्बुद्धि को उद्घाटित करना स्वाध्याय है। स्व अध्ययन की सार्थकता अथवा आत्म-सजगता के महत्त्व को स्थापित करते हुए आवश्यकनिर्मुक्ति में कहा गया है -

'जैसे अन्धे व्यक्ति के लिए करोड़ों दीपकों का प्रकाश व्यर्थ है किन्तु आंख वाले व्यक्ति के लिए एक दीपक के प्रकाश की भी सार्थकता है; उसी प्रकार अन्तःबुद्धि प्राप्त अध्यात्मिक साधक के लिए स्वल्प अध्ययन भी लाभप्रद होता है; जबकि आत्मविमुख व्यक्ति के लिए विपुल साहित्य भी निरर्थक है।'^{४५}

सद्ग्रन्थ रूपी साधन से आत्म-शुद्धि रूपी साध्य को उपलब्ध करना स्वाध्याय है। स्वाध्याय की प्रथम व्याख्या जहां आत्मपरक है - अपने द्वारा अपने को जानना है वहीं दूसरी पराश्रित है अर्थात् - सत्साहित्य के माध्यम से अपने को जानना है। मूलतः स्वाध्याय का अर्थ स्वयं को ज्ञाता-दृष्टा भाव में रखना, राग-द्वेष से परे रहना है।

स्वाध्याय का महत्त्व

जैनपरम्परा में स्वाध्याय का विशिष्ट महत्त्व है। (यह जैन साधना का प्राण है।) जैनपरम्परा के अनुसार तप के बारह भेद हैं; उनमें स्वाध्याय का स्थान आन्तरिक तप के अन्तर्गत है। तप क्या है, इसकी अनेक व्याख्यायें की गई हैं जैसे- (जिससे तनावों का पलायन हो वह तप है) अथवा (जो आत्मा को तत्काल पवित्र करे

^{४४} 'संगर जैन विद्या भारती' - भाग १, पृष्ठ ३८ ।

^{४५} ज्ञानसंज्ञिक, ६८ एवं ६९

- (निर्मुक्तिसंग्रह, पृष्ठ १०) ।

वह तप है। तप की विस्तृत चर्चा इसी ग्रन्थ के नवम अध्याय 'उत्तराध्ययनसूत्र' का साधनात्मक पक्ष : मोक्ष मार्ग' के अन्तर्गत की गई है।

उत्तराध्ययनसूत्र में स्वाध्याय के पांच अंगों एवं उनकी उपलब्धियों की विस्तृत चर्चा की गई है। स्वाध्याय के त्रैकालिक महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए वृहत्कल्पभाष्य में यह कहा गया है: 'नवि अस्थि, व नवि अ होही सज्जाय समं तवोकम्मं' स्वाध्याय के समान तप न है और न कभी होगा। 'स्वाध्याय तप का सर्वश्रेष्ठ रूप है।'^{४६)}

स्वाध्याय को सुख प्राप्ति एवं दुःख मुक्ति का महत्त्वपूर्ण साधन सिद्ध करते हुए कहा गया है: 'सम्पूर्ण ज्ञान के प्रकाशन से, अज्ञान और मोह के परिहार से और राग-द्वेष के पूर्ण क्षय से जीव एकान्त रूप मोक्ष को प्राप्त करता है।'^{४७)} गुरुजनों की सेवा करना, अज्ञानी लोगों के सम्पर्क से दूर रहना, सूत्र और अर्थ का चिन्तन करना, स्वाध्याय करना और धैर्य रखना - ये दुःख-मुक्ति के अमोघ उपाय हैं। वस्तुतः 'ज्ञान ही जीवन का प्रकाश है; कष्टों से मुक्ति का उपाय है। कहा गया है: 'अज्ञानं खलु कष्टं' - अज्ञान से बढ़कर कोई कष्ट नहीं है - अज्ञान ही कष्ट है।

स्वाध्याय की परम्परा अति प्राचीन काल से चली आ रही है। 'शतपथ ब्राह्मण' में स्वाध्याय के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है: 'स्वाध्याय और प्रवचन से मनुष्य का चित्त एकाग्र हो जाता है; वह स्वतन्त्र होता है; उसे नित्य धन प्राप्त होता है; वह सुख से सोता है; स्वयं का चिकित्सक बन जाता है; इन्द्रियों पर संयम कर लेता है; उसकी प्रज्ञा प्रखर हो जाती है और उसे यश मिलता है।'^{४८)}

औपनैषदिक शिक्षा का भी महत्त्वपूर्ण सूत्र रहा है: 'स्वाध्यायान् मा प्रमदः' अर्थात् स्वाध्याय में प्रमाद मत करना। शिष्य जब गुरु के आश्रम से विदाई लेता था, तब गुरु द्वारा यह शिक्षा शिष्य को दी जाती थी। 'स्वाध्याय एक ऐसी प्रवृत्ति है जो गुरु की अनुपस्थिति में भी गुरु का कार्य करती है।'

(स्वाध्याय तनाव से मुक्ति दिलाता है। इस विषय में गांधीजी के उद्गार हैं: 'मैं जब भी किसी कठिनाई में होता हूँ, मेरे सामने कोई जटिल समस्या

४६ उद्धृत - 'सागर जैन विद्या भारती', भाग १, पृष्ठ ३८।

४७ उत्तराध्ययनसूत्र - ३२/२।

४८ शतपथ ब्राह्मण - ११-६,७

- उद्धृत - 'जैन अंगशास्त्र में मानव व्यक्तित्व विकास' पृष्ठ २२५।

होती है, जिसका निदान मुझे स्पष्ट रूप से प्रतीत नहीं होता है तो मैं गीता माता की गोद में चला जाता हूँ। वहाँ मुझे कोई न कोई समाधान अवश्य मिल जाता है।' वास्तव में तनाव ग्रस्त बने मानव के लिये स्वाध्याय एक मानसिक औषध है, मार्गदर्शक है।

स्वाध्याय के प्रकार

उत्तराध्ययनसूत्र के तीसवें अध्ययन 'तपोमार्ग-गति' में स्वाध्याय के निम्न पांच अंग बतलाये हैं ⁴⁹ -

(१) वाचना - ग्रन्थों का पठन-पाठन वाचना है। वाचना में अपने आप पढ़ना, दूसरे से पढ़ना और दूसरे को पढ़ाना तीनों का समावेश है। इस प्रकार पठन-पाठन वाचना है;

(२) प्रतिपृच्छना - पठित ग्रन्थ के अर्थबोध में सन्देह की निवृत्ति हेतु या विषय के स्पष्टीकरण के लिए प्रश्न पूछना प्रतिपृच्छना है;

(३) परावर्तना - पठित विषय का पुनः आवर्तन या परायण करना परावर्तना है;

(४) अनुप्रेक्षा - पठित विषय के सन्दर्भ में चिन्तन/मनन करना अनुप्रेक्षा है;

(५) धर्मकथा - अध्ययन से प्राप्त ज्ञान को दूसरों को प्रदान करना अर्थात् धर्मोपदेश देना धर्मकथा है।

स्वाध्याय के इन पांचों अंगों का एक क्रम है। इनमें प्रथम स्थान वाचना का है। वाचना के पश्चात् पृच्छना सम्भव होती है, क्योंकि वह अधीत विषय के स्पष्टीकरण के लिए या उत्पन्न शंका के निवारण हेतु की जाती है; अतः उसका क्रम दूसरा है। तत्पश्चात् परावर्तना-उस विषय के स्थिरीकरण के लिये की जाती है। फिर अनुप्रेक्षा/चिन्तन का क्रम आता है। इससे व्यक्ति अध्ययन की गहराई में पहुँचता है एवं स्वतः अनुभूति के स्तर पर अर्थबोध की योग्यता उपलब्ध कर लेता है।

स्पष्ट हो जाने पर ही व्यक्ति धर्मोपदेश का अधिकारी माना जाता है; अतः धर्मोपदेश का क्रम सबके पश्चात् रखा गया है।

स्वाध्याय से लाभ

उत्तराध्ययनसूत्र के उन्तीसवें अध्ययन में स्वाध्याय से होने वाले लाभ का विवेचन किया गया है। प्रश्नोत्तर शैली में स्वाध्याय की प्रत्येक प्रक्रिया से होने वाले लाभ का क्रमशः वर्णन इस अध्ययन में किया गया है। इसमें प्रथम स्वाध्याय के सामान्य लाभ की चर्चा में बतलाया गया है कि स्वाध्याय से ज्ञानावरणीकर्म का क्षय होता है। आत्मा मिथ्याज्ञान से मुक्त होकर सम्यक्ज्ञान का उपार्जन करती है। इसके अग्रिम सूत्रों में क्रमशः स्वाध्याय की प्रत्येक अवस्था की उपयोगिता प्रदर्शित की गई है जो निम्न रूप में है^{६०}—

(१) वाचना से जीव कर्मों का क्षय करता है, श्रुत की उपेक्षा के दोष से मुक्त होता है। श्रुतदान का अधिकारी होता है। तीर्थ धर्म का अवलम्बन लेने वाला होता है और संसार का अन्त करने वाला अर्थात् मोक्षपद को प्राप्त करने वाला होता है।

(२) प्रतिपृच्छना से जीव सूत्र अर्थ के विषय में होने वाली कांक्षामोहनीय (संशय) का निराकरण करता है। कांक्षामोहनीय का अर्थ बृहद्वृत्तिकार ने अनभिग्रहिक मिथ्यात्व किया है।

(३) परावर्तना अर्थात् पठित पाठ के पुनः पुनः दोहराने से जीव का ज्ञान स्थिर अर्थात् सुरक्षित रहता है एवं जीव पदानुसारिता आदि व्यंजनलब्धि को प्राप्त करता है।

एक पद को सुनकर शेष पदों अर्थात् वाक्यार्थ की प्राप्ति हो जाय उस शक्ति का नाम पदानुसारितालब्धि है। इसी प्रकार एक व्यंजन (अक्षर) को सुनकर शेष व्यंजनों का अनुसरण करते हुए शब्दार्थ को प्राप्त करने वाली क्षमता का नाम व्यंजनलब्धि है।

(४) जीव अनुप्रेक्षा/तत्त्व चिन्तन से आयुष्यकर्म के अतिरिक्त शेष सातों कर्मों का पाश शिथिल करता है। इनकी दीर्घकालीन स्थिति अल्पकालीन होती है।

(५) धर्मकथा से जीव कर्मों की निर्जरा करता है एवं शुद्ध धर्ममार्ग की प्रभायना करता है।

इसी प्रकार स्थानांगसूत्र में भी शास्त्राध्ययन की उपयोगिता की चर्चा मिलती है। इसमें बतलाया है कि सूत्र की वाचना के पांच लाभ हैं^१ -

- (१) वाचना से श्रुत का संग्रह होता है अर्थात् श्रुत की परम्परा अविच्छिन्न/अक्षुण्ण रूप से चलती रहती है;
- (२) शिष्यों पर उपकार होता है अथवा ज्ञान का अर्जन होता है;
- (३) ज्ञानावरणीयकर्म की निर्जरा होती है। अज्ञान का नाश होता है;
- (४) आगम-ग्रन्थों के विस्मृत होने की सम्भावना नहीं रहती है; और
- (५) श्रुत के अर्थ का बोध होता है।

इस प्रकार स्वाध्याय से होने वाले लाभ की विवेचना करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि स्वाध्याय आत्मविशुद्धि का प्रथम सोपान है। स्वाध्याय के माध्यम से ही व्यक्ति अपनी कमियों एवं खामियों को जान सकता है और उनसे मुक्ति का उपाय खोज सकता है। स्वाध्याय से ज्ञाना-दृष्टा भाव में रहने का अभ्यास होता है और यह अभ्यास ही आगे जाकर आत्मा की मुक्ति का कारण बन जाता है और मुक्ति ही शिक्षा का सार तत्त्व है।

अध्याय - १३

उत्तराध्ययनसूत्र में
प्रतिपादित मनोविज्ञान



उत्तराध्ययनसूत्र में प्रतिपादित मनोविज्ञान

यह सत्य है कि-उत्तराध्ययनसूत्र मूलतः धर्मदर्शन का ग्रन्थ है। यह हमें जीवन के आदर्शों या आध्यात्मिक मूल्यों की शिक्षा देता है। धर्मदर्शन का कार्य जीवन के आदर्शों का निर्धारण कर उनकी उपलब्धि के मार्ग का निर्धारण करना है; जबकि मनोविज्ञान मानव प्रकृति का अध्ययन करता है। मनोविज्ञान तथ्यात्मक होता है। यह मानवीय प्रवृत्तियों की व्याख्या करता है, जबकि धर्मदर्शन आदर्शात्मक होता है, फिर भी हमें यह समझ लेना चाहिए कि आदर्शों का निर्धारण तथ्यों की उपेक्षा करके नहीं हो सकता। 'हमें क्या होना चाहिए' यह बहुत कुछ इस बात पर निर्भर है कि 'हम क्या हैं' अथवा 'हमारी क्षमता क्या है'। मनोतथ्यों अर्थात् मानव प्रकृति की अवहेलना करके धार्मिक आदर्शों का निर्धारण सम्भव नहीं है। जिस साध्य को उपलब्ध करने की क्षमता मानव में न हो उसे मानव जीवन का साध्य नहीं बनाया जा सकता। 'हमें क्या होना है', यह समझने के लिये यह जानना आवश्यक है कि हम क्या हैं और हमारे में उस आदर्श को आत्मसात् करने की क्षमतायें कितनी हैं ?

हम गहराई से विचार करें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि उत्तराध्ययनसूत्र का दर्शन मानव जीवन की यथार्थता और मानव की क्षमता की उपेक्षा करके नहीं चलता है। वस्तुतः धर्मदर्शन या साधना पद्धति का कार्य यथार्थ को आदर्शों से जोड़ना है। आदर्शों को यथार्थ जीवन में साकार करना है। अतः धर्मदर्शन और मनोविज्ञान एक दूसरे के पूरक हैं। पुनश्च हम क्या हैं, और हमें क्या होना चाहिये, इन दोनों के सम्बन्धों की व्याख्या करना मनोविज्ञान का वास्तविक कार्य है।

मनुष्य वासना और विवेक का समन्वित रूप है और धार्मिक साधना का कार्य वासनाओं पर विवेक का अंकुश लगाना है। मानवजीवन की वासनायें, आकांक्षायें या इच्छायें क्या हैं, यह बताना मनोविज्ञान का काम है और उनको किस प्रकार से संयमित करके मानव जीवन के आदर्श को यथार्थ में परिणत किया जाय यह बताना धर्मदर्शन का कार्य है। उत्तराध्ययनसूत्र में हमें ऐसे अनेक सन्दर्भ उपलब्ध

होते हैं। जिसमें एक ओर मानव प्रकृति की व्याख्या है तो दूसरी ओर मानवजीवन के आदर्शों का प्रस्तुतीकरण। इस प्रकार हम देखते हैं कि किसी भी धर्मदर्शन के लिये मानव प्रकृति का विश्लेषण आवश्यक है, उसके अभाव में मानव जीवन के आदर्शों को साकार नहीं किया जा सकता है। धर्मदर्शन के आदर्शों को साकार करने के लिये उत्तराध्ययनसूत्र में वर्णित मानव प्रकृति का विवेचन आवश्यक है। इसमें मनुष्य में निहित वासनाओं या कषायों का जहां एक ओर यथार्थ चित्रण है, वहीं दूसरी ओर उनसे ऊपर उठने का मार्ग भी बताया गया है।

हम यहां सर्वप्रथम मानव जीवन की मूल प्रवृत्तियां, जिन्हें जैनदर्शन की पारिभाषिक शब्दावली में संज्ञा कहा गया है और उसके बाद हम कषाय की अवधारणा की, विस्तृत विवेचना करेंगे। उसके पश्चात् यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि वासनामय जीवन से ऊपर उठकर व्यक्ति आदर्श की दिशा में कैसे अभिभूत हो सकता है। इसे ही स्पष्ट करने के लिए लेश्यासिद्धान्त की विवेचना करेंगे। लेश्यासिद्धान्त हमें यह बताता है की यथार्थ से आदर्शों की ओर संक्रमण कैसे सम्भव है। अग्रिम क्रम में उत्तराध्ययनसूत्र के मनोविज्ञान का मुख्य प्रतिपाद्य ध्यान के स्वरूप को प्रकाशित करेंगे।

संज्ञा

प्राणी की मूलप्रवृत्ति को संज्ञा कहा गया है। ये प्रवृत्तियां जन्मजात होती हैं। प्राणी इनके साथ ही जन्म लेता है, जन्म के बाद नहीं सीखता है। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि प्राणी के व्यवहार की प्रेरक या संचालक वृत्ति संज्ञा है। जैनागमों में संज्ञा को अनेक भेदों में विभाजित किया गया है। यह विभाजन हमें चतुर्विध, दशविध, पंचदशविध एवं षोडशविध संज्ञा के रूपों में उपलब्ध होता है। प्रवचनसारोद्धार में चतुर्विध और दशविध वर्गीकरण के साथ पंचदशविध वर्गीकरण भी उपलब्ध होता है।^१

उत्तराध्ययनसूत्र में संज्ञा के सम्बन्ध में कहीं कोई स्पष्ट चर्चा उपलब्ध नहीं होती है। मात्र इसके इकतीसवें अध्ययन में 'संज्ञा' शब्द का प्रयोग मिलता है।^२ टीकाकारों ने इसी के आधार पर चार संज्ञाओं का नामोल्लेख किया है।^३

संज्ञा का चतुर्विध वर्गीकरण

(१) आहारसंज्ञा – क्षुधावेदनीयकर्म के उदय से आहार करने की लालसा आहार संज्ञा है। स्थानांगसूत्र में इसकी उत्पत्ति के निम्न चार कारण बताये हैं^४ –

- (१) पेट के खाली होने से;
- (२) क्षुधा वेदनीयकर्म के उदय से;
- (३) आहार सम्बन्धी चर्चा से;
- (४) आहार का चिन्तन करने से।

(२) भयसंज्ञा – भय मोहनीयकर्म के उदय से उत्पन्न होने वाला आयेग भय संज्ञा है। स्थानांगसूत्र के अनुसार इसकी उत्पत्ति के चार कारण निम्न हैं^५ –

- (१) सत्य (शौर्य) की हीनता से;
- (२) भय मोहनीयकर्म के उदय से;
- (३) भयोत्पादक वचनों को सुनकर;
- (४) भय सम्बन्धी घटनाओं के चिन्तन से।

(३) मैथुनसंज्ञा – कामवासना जन्य आवेग मैथुनसंज्ञा है। इसके भी स्थानांगसूत्र में निम्न चार कारण बताये हैं^६ –

- (१) शरीर में मांस, वीर्य, रक्त आदि की मात्रा बढ़ जाने से;
- (२) मोहनीयकर्म के उदय से;
- (३) काम सम्बन्धी चर्चा करने से;
- (४) वासनात्मक चिन्तन करने से।

२ उत्तराध्ययनसूत्र ३१/६।

३ (क) उत्तराध्ययनसूत्र टीका पत्र - ६१३

(ख) उत्तराध्ययनसूत्र टीका पत्र - ६०३

४ स्थानांग ४/४/५७६

५ स्थानांग ४/४/५८०

६ स्थानांग ४/४/५८१

- (शान्दाचार्य)।

- (लक्ष्मीवल्तमभगिणि)।

- (अंगमुत्ताणि, लाडनू, खण्ड १, पृष्ठ ६७०)।

- (अंगमुत्ताणि, लाडनू, खण्ड १, पृष्ठ ६७०)।

- (अंगमुत्ताणि, लाडनू, खण्ड १, पृष्ठ ६७०)।

(४) परिग्रहसंज्ञा - प्राणी की संचयात्मक वृत्ति परिग्रहसंज्ञा कहलाती है। उपर्युक्त तीनों संज्ञाओं के समान स्थानांगसूत्र में इसकी उत्पत्ति के भी निम्न चार प्रकार बतलाये हैं -

- (१) परिग्रह का त्याग न होने से या संचय वृत्ति से;
- (२) लोभ मोहनीयकर्म के उदय से;
- (३) परिग्रह वर्धक चर्चा सुनने से;
- (४) परिग्रह सम्बन्धी विचार करने से।

दशविध वर्गीकरण

प्रज्ञापनासूत्र में दशविध संज्ञाओं का वर्गीकरण उपलब्ध होता है। इसमें आहार, मय, मैथुन एवं परिग्रह संज्ञाओं के साथ-साथ क्रोध, मान, माया, लोभ, लोक एवं ओघ संज्ञा को भी समाहित किया है।^१ इनमें से आहार आदि चार संज्ञाओं का विवरण पूर्व में दिया गया है। शेष छः संज्ञाओं का विवरण निम्न है -

- (५) क्रोधसंज्ञा - क्रोधादि आवेशात्मक भाव क्रोध संज्ञा है;
- (६) मानसंज्ञा - अहंकार की मनोवृत्ति मान संज्ञा है;
- (७) मायासंज्ञा - कपट वृत्ति माया संज्ञा है;
- (८) लोभसंज्ञा - लालसा की भावना लोभ संज्ञा है;
- (९) ओघसंज्ञा - प्राणी मात्र में रहने वाली सामान्य अनुकरण की वृत्ति या सामुदायिकता की भावना ओघसंज्ञा है अर्थात् अपनी जाति, वर्ग, आदि के अनुकरण की वृत्ति ओघसंज्ञा है;
- (१०) लोकसंज्ञा - लोक व्यवहार से चेतना का प्रभावित होना लोकसंज्ञा है। जैसे सर्प देवता है, धान यक्ष है, ब्राह्मण देवता है आदि।

संज्ञा का षोडशविध वर्गीकरण

संज्ञा के चतुर्विध एवं दशविध वर्गीकरण के अतिरिक्त पंचदशविध एवं षोडशविध वर्गीकरण भी प्राप्त होता है। जिसमें दस तक तो पूर्वाक्त ही हैं। उसके आगे के छः भेद निम्न हैं -

(११) **सुखसंज्ञा** - सातावेदनीयकर्म के उदय से होने वाली सुखद अनुभूति सुखसंज्ञा है;

(१२) **दुःखसंज्ञा** - असातावेदनीयकर्म के उदय से होने वाली दुःखद अनुभूति दुःख संज्ञा है;

(१३) **मोहसंज्ञा** - मिथ्यादर्शन रूप जीव की मनोवृत्ति मोहसंज्ञा है। दूसरे शब्दों में मोहग्रसित चेतना ही मोहसंज्ञा है;

(१४) **विचिकित्सासंज्ञा** - चित्त की अस्थिर समीक्षकवृत्ति विचिकित्सासंज्ञा है;

(१५) **धर्मसंज्ञा** - आत्मा की कर्मक्षय के निमित्त से होने वाली स्वभाव परिणति धर्मसंज्ञा है। स्वस्वभाव में उपस्थिति और परपरिणति से निवृत्ति धर्मसंज्ञा है;

(१६) **शोकसंज्ञा** - इष्टवियोग से उत्पन्न होने वाली विलाप रूप मनोवृत्ति शोकसंज्ञा है।

कषाय

'कषाय' जैन मनोविज्ञान एवं जैन कर्मशास्त्र का मुख्य प्रत्यय है। जैनदर्शन में राग-द्वेष से जनित क्रोध, मान, माया, लोभ रूप मलिन चित्तवृत्तियों को कषाय कहा गया है।

जैनागमों में कषाय कसैलेपन के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है। उत्तराध्ययनसूत्र के छत्तीसवें अध्ययन की अठारहवीं एवं इकतीसवीं गाथा में प्रयुक्त कषाय शब्द कसैलेपन का द्योतक है। आचारांगसूत्र में भी कषाय शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।^१ सूत्रकृतांग में कषाय का अर्थ कटुवचन भी किया

गया है।¹⁰ किन्तु सामान्यतः आगमिक एवं जैन दार्शनिक ग्रन्थों में कषाय शब्द मलिन चित्तवृत्तियों के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

उत्तराध्ययनसूत्र एवं उसकी टीकाओं में कषाय के स्वरूप की कोई स्पष्ट व्याख्या उपलब्ध नहीं होती है। फिर भी इसमें क्रोधादि कषायों से विमुक्ति की चर्चा अनेक स्थलों पर की गई है।¹¹

कषाय की पारिभाषिक व्याख्यायें

अभिधानराजेन्द्रकोश के अनुसार 'आत्मानं कषयतीति कषायः' अर्थात् जो आत्मा को कसते हैं - कर्मों के बन्धन में बांधते हैं, वे कषाय हैं।¹²

जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण के अनुसार जिनसे दुःखों की प्राप्ति होती है, वे कषाय हैं।¹³

'तत्त्वार्थराजवार्तिक' में कषाय के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि चारित्रमोहनीयकर्म के उदय से जो क्रोधादि रूप कालुष्यपूर्ण मनोभाव उत्पन्न होते हैं तथा जो आत्मस्वरूप को आवृत करते हैं, उसे बन्धन में डालते हैं, वे कषाय हैं।¹⁴

कषाय का शाब्दिक अर्थ

कषाय शब्द कष + आय इन दो शब्दों के संयोग से बना है। 'कष' का अर्थ है संसार अथवा जन्म-मरण एवं आय का अर्थ है लाभ। इस प्रकार संसार की अभिवृद्धि कराने वाली चित्तवृत्ति कषाय है।

संस्कृतहिन्दीकोश में कषाय शब्द के अनेक अर्थ किये गये हैं। उनमें से कुछ प्रस्तुत प्रसंग से सम्बन्धित हैं - मैल, अस्वच्छता, आवेश तथा सांसारिक विषयों में आसक्ति भाव कषाय है।¹⁵

१० सूत्रकूटांग २/१/१६

११ उत्तराध्ययनसूत्र १/६; २/२६; ४/१२ ।

१२ अभिधानराजेन्द्रकोश, तृतीयखण्ड, पृष्ठ ३६५ ।

१३ विशेषादर्शकभाष्य भाष्या २६७८ (भाग - २, पृष्ठ ४७८)।

१४ तत्त्वार्थराजवार्तिक २/६, पृष्ठ १०८ ।

१५ संस्कृतहिन्दीकोश, पृष्ठ २६० एवं २६१ ।

- (जंगसुतांगि, साठनु, खण्ड १, पृष्ठ ३५१)।

कषाय का व्युत्पत्तिपरक अर्थ

कषाय शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से प्राप्त होती है -

- (१) 'कष् हिंसायाम्' अर्थात् हिंसार्थक कष् धातु से; और
- (२) कृष् विलेखने अर्थात् जोतनार्थक कृष् धातु से।

उपर्युक्त दोनों धातुओं के आधार पर गोमटसार में कषाय के निम्न दो अर्थ उपलब्ध होते हैं^{१६} -

(१) कष् धातु की अपेक्षा से जो सम्यक्त्व तथा वीतरागता आदि विशुद्ध भावों का हनन करते हैं, वे कषाय हैं।

(२) कृष् धातु की अपेक्षा से जो कर्मरूपी खेत को जोतकर सुख दुःख रूपी फलों को उत्पन्न करते हैं, वह कषाय हैं।

कषाय की उपर्युक्त व्याख्याओं के परिप्रेक्ष्य में हमने देखा कि आत्मा को क्लृप्त, विकृत या मलिन करने वाली चित्तवृत्तियां कषाय हैं। मनोविज्ञान की भाषा में हम इन्हें आवेशात्मक अवस्थायें कह सकते हैं।

आत्मा में उत्पन्न होने वाली इन आवेशात्मक अवस्थाओं को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। उत्तराध्ययनसूत्र में इन्हें कषाय एवं नोकषाय (सहयोगी आवेग) के रूप में अभिहित किया गया है।^{१७}

जैनदर्शन में आवेगों की दो कोटियां निर्धारित की गई हैं - तीव्र और मन्द। तीव्र आवेग कषायरूप हैं तथा मन्द आवेग नोकषाय रूप हैं। पुनश्च कषाय के क्रोध, मान, माया एवं लोभ आदि चारों भेदों को भी तीव्रता एवं मन्दता के आधार पर चार-चार भागों में विभाजित किया गया है। अब हम क्रमशः कषाय एवं नोकषाय के भेद-प्रभेदों की चर्चा करेंगे।

कषाय के भेद

उत्तराध्ययनसूत्र में कषाय के निम्न चार भेद प्रतिपादित किये गये हैं-- क्रोध, मान माया और लोभ।^{१८} सामान्यतः जैन धर्म-दर्शन में कषाय के उपर्युक्त चार

^{१६} गोमटसार ६/८२ एवं ८३।

^{१७} उत्तराध्ययनसूत्र ३३/१०।

^{१८} उत्तराध्ययनसूत्र ४/१२; २६/६८ से ७१।

भेद ही स्वीकार किये जाते हैं किन्तु कहीं-कहीं राग-द्वेष को भी कषाय के अन्तर्गत माना जाता है।

आचार्य उमास्वाति ने प्रशमरतिप्रकरण ग्रन्थ में कषाय के दो भेद राग और द्वेष के रूप में वर्णित किये हैं। उत्तराध्ययनसूत्र में एक स्थान पर यह कहा गया है कि 'रागो य दोसो य कम्मबीयं' अर्थात् राग एवं द्वेष ही कर्मबीज हैं।¹⁹ इससे भी यह प्रतिध्वनित होता है कि कषाय राग-द्वेष रूप हैं क्योंकि संसार परिभ्रमण का मुख्य कारण कषाय को ही माना गया है। क्रोधादि चारों कषायों का समावेश राग-एवं द्वेष इन दोनों में हो जाता है। उत्तराध्ययनसूत्र में कषाय को अग्नि भी कहा गया है, जो आत्मा के सदगुणों को जलाकर नष्ट कर देती है।²⁰

विशेषावश्यकभाष्य में नैगमनय एवं संगहनय की अपेक्षा से क्रोध एवं मान को द्वेष रूप तथा माया एवं लोभ को राग रूप माना गया है।²¹ व्यवहारनय की अपेक्षा से क्रोध, मान एवं माया द्वेष रूप तथा लोभ राग रूप है। ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा से क्रोध द्वेष रूप तथा मान-माया एवं लोभ उभयरूप अर्थात् कभी राग रूप तथा कभी द्वेषरूप होते हैं। यह वर्तमानकालसापेक्ष है। अतः प्रसंगानुसार मान आदि को राग अथवा द्वेष रूप कहा गया है। लोकव्यवहार में कषाय को क्रोध, मान, माया और लोभ के रूप में जाना जाता है।

क्रोध

क्रोध एक आवेगात्मक अवस्था है जो व्यक्ति के शारीरिक, वाचिक एवं मानसिक सन्तुलन को विकृत करती है। क्रोध के स्वरूप को स्पष्ट करते हुये आचार्य हेमचन्द्र ने लिखा है - 'क्रोध शरीर एवं मन को सन्ताप देता है; क्रोध वैर का कारण है; क्रोध दुर्गति की पगडण्डी है और क्रोध मोक्ष की प्राप्ति में अर्गला के समान है'।²²

भगवतीसूत्र में क्रोध के निम्न समानार्थक शब्द उपलब्ध होते हैं।²³

(१) क्रोध - आवेशात्मक अवस्था क्रोध है।

१९ प्रशमरतिप्रकरण ३२।

२० उत्तराध्ययनसूत्र ३२/७।

२१ उत्तराध्ययनसूत्र २३/५३।

२२ योगशास्त्र ४/६।

२३ भगवती १२/५/३।

-(अंगसुताणि, ताडनं, खण्ड २, पृष्ठ ५६४)।

(२) कोप — कामाग्नि से उत्पन्न होने वाली चित्तवृत्ति कोप है।

(३) रोष — क्रोधभाव को अभिव्यक्ति प्रदान करने वाला रूप रोष है।

(४) दोष — स्वयं या दूसरे पर दोषारोपण करना दोष है। कई व्यक्ति क्रोधाविष्ट होकर स्वयं को दोषी घोषित करते हैं जैसे— हाँ भई; हम तो ऐसे ही हैं, हम तो झूठ ही बोलते हैं। दूसरी ओर, कई व्यक्ति दूसरों को दोषी बताते हैं, जैसे तुमने ऐसा किया, तुमने वैसा किया, तुम तो झूठे हो आदि।

(५) अक्षमा — दूसरों के अपराध को क्षमा न करना अक्षमा है।

(६) संज्वलन — सम् ज्वलन शब्द के योग से संज्वलन शब्द बना है किन्तु यहां सम् उपसर्ग सम्बन्ध के अर्थ में प्रयुक्त न होकर पुनः पुनः के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है अर्थात् क्रोध में बार-बार आगबबूला होना संज्वलन है।

(७) कलह — अनुचित शब्दावली का प्रयोग करना कलह है।

(८) चांडिक्य — उग्ररूप धारण करना चांडिक्य है।

उत्तराध्ययनसूत्र में भी क्रोधयुक्त कर्मों को चांडालिककर्म कहा गया है^{२४} टीकाकार शान्त्याचार्य ने चांडालिक शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है कि चण्ड का अर्थ क्रोध एवं अलीक का अर्थ असत्य है। इस प्रकार क्रोधवश असत्य बोलना चाण्डालीककर्म है। इस टीका में भी चण्डाल का एक लाक्षणिक अर्थ क्रूरता भी किया है^{२५} अतः क्रूरकर्म चाण्डालीककर्म है।

(९) मण्डन — दूसरों के प्रति अन्याय करना, मारपीट करना आदि मण्डन है।

(१०) विवाद — उत्तेजक रूप से वाद प्रतिवाद करना विवाद है।

इस प्रकार उपर्युक्त दस ही शब्द जीव की आवेशात्मक अभिव्यक्तियां हैं, जिन्हें क्रोध के रूप में पहचाना जाता है।

क्रोध के प्रकार

आवेग की तीव्रता एवं मन्दता के आधार पर क्रोध के निम्न चार भेद प्रतिपादित किये गये हैं —

^{२४} उत्तराध्ययनसूत्र १/१० ।

^{२५} उत्तराध्ययनसूत्र टीका पत्र ४७

— (शान्त्याचार्य) ।

(१) अनन्तानुबन्धी क्रोध — यह क्रोध का तीव्रतम रूप है। पर्वत में पड़ी दरार के समान जो क्रोध किसी के प्रति एक बार उत्पन्न होने के बाद जीवनपर्यन्त बना रहे, कभी समाप्त न हो, वह अनन्तानुबन्धी क्रोध है। दूसरे शब्दों में जो क्रोध संसार में अनन्तकाल तक भ्रमण कराये; जिस क्रोध का चक्र कभी समाप्त न हो वह अनन्तानुबन्धी क्रोध है।

(२) अप्रत्याख्यानी क्रोध — तीव्रतर क्रोध अप्रत्याख्यानी क्रोध कहलाता है। इस की उपमा सूखे हुए जलाशय की भूमि में पड़ी दरार से दी जाती है। जैसे जलाशय की भूमि में पड़ी दरार आगामी वर्षा में मिट जाती है, उसी प्रकार जो क्रोध वर्ष पर्यन्त बना रहे, वह अप्रत्याख्यानी क्रोध है।

(३) प्रत्याख्यानी क्रोध — क्रोध का वह आवेग प्रत्याख्यानी है जिस पर नियन्त्रण रखा जा सके। वह रेत की लकीर के समान है। जैसे रेत की लकीर हवा के झोंकों से मिट जाती है वैसे ही यह क्रोध चार माह पर्यन्त बना रहता है फिर समाप्त हो जाता है।

(४) संज्वलन — यह अल्पकालीन क्रोध है। जैसे पानी में खींची जाने वाली रेखाएं अस्थायी होती हैं अर्थात् शीघ्र मिटती चली जाती हैं, उसी प्रकार जिस क्रोध में स्थायित्व नहीं है वह संज्वलन क्रोध है। इसकी अधिकतम अवधि पन्द्रह दिन है।

बौद्धदर्शन के ग्रन्थ अंगुत्तरनिकाय में तीन प्रकार के क्रोध का वर्णन मिलता है^{२६} —

- (१) पत्थर में पड़ी दरार के समान चिरस्थायी क्रोध;
- (२) पृथ्वी में पड़ी दरार के समान अल्पस्थायी क्रोध;
- (३) पानी में खींची रेखा के समान तत्काल समाप्त हो जाने वाला क्रोध है।

क्रोधविमुक्ति से लाभ

उत्तराध्ययनसूत्र में अनेक स्थलों पर क्रोध के त्याग की प्रेरणा दी गई है। इसके चतुर्थ अध्यायन में कहा गया है कि साधक को क्रोध से अपनी रक्षा करनी

चाहिये।²⁷ क्रोध रूपी बुराई से अपने आपको बचाना चाहिये। इसके उनतीसवें अध्ययन में क्रोध विभक्ति से होने वाले लाभ को वर्णित करते हुए लिखा है कि क्रोध विजय से जीव शान्ति एवं क्षमाभाव को धारण करता है, क्रोधवेदनीयकर्म का बन्ध नहीं करता है तथा पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा करता है।²⁸

मान

स्वयं को श्रेष्ठ एवं दूसरों को हीन मानने की मानसिकता मान है। इसे अहंकार, गर्व, घमण्ड आदि नामों से भी पुकारा जाता है। अहंकारी व्यक्ति की मानसिकता को स्पष्ट करते हुए सूत्र कृतांग में कहा गया है कि अभिमानी व्यक्ति अहंकार से ग्रस्त होकर दूसरों को तुच्छ मानता है।²⁹

उत्तराध्ययनसूत्र में मान के आठ भेद किये गये हैं।³⁰ जिनका नामोल्लेख इसकी टीकाओं में निम्न रूप से मिलता है³¹ --

(१) जाति (२) कुल (३) बल (शक्ति) (४) ऐश्वर्य (५) बुद्धि (६) ज्ञान (७) सौन्दर्य और (८) अहंकार।

मान के भी अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानी और संज्वलन ऐसे चार भेद किये गये हैं।

- (१) अनन्तानुबन्धी मान - पत्थर के स्तम्भ के समान जो कभी झुकता ही नहीं, चाहे टूट जाये।
- (२) अप्रत्याख्यानी मान - जो अस्थि के समान विशेष प्रयत्न करने से झुक जाता है।
- (३) प्रत्याख्यानी मान - जो लकड़ी के समान प्रयत्न करने पर झुक जाता है।
- (४) संज्वलन मान - जो तृण के समान झुक जाता है।

२७ उत्तराध्ययनसूत्र ४/१२ ।

२८ उत्तराध्ययनसूत्र २६/६८ ।

२९ सूत्रकृतांग १/१३/८ ।

३० उत्तराध्ययनसूत्र ३१/१० ।

३१ (क) उत्तराध्ययनसूत्र टीका पत्र - ३०१६

(ख) उत्तराध्ययनसूत्र टीका पत्र - ३०२६

- (भावविजयजी) ।

- (नेमिचन्द्राचार्य) ।

मान मुक्ति से लाभ

उत्तराध्ययनसूत्र के चतुर्थ अध्ययन में मान का विलय करने अर्थात् मान से आत्मा को विलग रखने का निर्देश है। इसका गूढ़ अर्थ यह है कि विनय भाव (दिनम्रता) से मान पर विजय प्राप्त करना चाहिये।

इसके अनतीसवें अध्ययन में मान विजय से होने वाले लाभ का वर्णन करते हुए लिखा गया है कि मान-विजय से जीव मृदुता को प्राप्त होता है। मान वेदनीय कर्म का बन्ध नहीं करता है तथा पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा करता है।^{३२}

माया

माया शब्द मा + या से बना है। 'या' का अर्थ 'जो' तथा 'मा' का अर्थ 'नहीं' है। इस प्रकार जो नहीं है उसको प्रस्तुत करना 'माया' है इसे दूसरे शब्दों में कपटाचार भी कहा जा सकता है। माया के भी निम्न चार प्रकार हैं -

- (१) अनन्तानुबन्धी माया - बांस की जड़ के समान कपटवृत्ति;
- (२) अप्रत्याख्यानी माया - मेंढक के सींग के समान कपटवृत्ति;
- (३) प्रत्याख्यानी माया - गोमूत्र की धारा की भांति वृत्ति;
- (४) संज्वलन माया - बांस के छिलके के समान होने वाली मायावृत्ति।

माया-मुक्ति से लाभ

उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि माया को जीतने पर ऋजुभाव अर्थात् सरलता की प्राप्ति होती है। मायावेदनीय कर्म का बन्ध नहीं होता है तथा पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा होती है। इसमें यह भी कहा गया है कि सरल हृदय वाले व्यक्ति के जीवन में ही धर्म का निवास होता है। माया से मुक्त होने पर ही धर्म का लाभ प्राप्त होता है।^{३३}

३२ उत्तराध्ययनसूत्र २६/६६।

३३ उत्तराध्ययनसूत्र २६/७०।

लोभ

लोभ कषाय अत्यन्त दूषित मनोवृत्ति है। ज्ञानियों की दृष्टि में यह भवभ्रमण का मुख्य कारण तथा सारे पापों की जड़ है।

उत्तराध्ययनसूत्र के आठवें अध्ययन में लोभ कषाय की स्थिति एवं उससे मुक्ति की व्यापक चर्चा प्रस्तुत की गई है। इसमें कहा गया है कि जैसे जैसे लाभ होता जाता है वैसे वैसे लोभ बढ़ता जाता है। इसके नवम अध्ययन में यह कहा गया है कि व्यक्ति के पास सोने चांदी के असंख्य पर्वत भी हो जायें फिर भी आकांक्षायें तृप्त नहीं होती हैं।³⁴

लोभ कषाय के प्रकार

क्रोध, मान एवं माया के समान लोभ कषाय के भी निम्न चार भेद किये जाते हैं -

(१) अनन्तानुबन्धी लोभ - किरमची रंग के समान प्रयत्न करने पर भी जो दूर नहीं होता है ऐसा लोभ अनन्तानुबन्धी लोभ कहलाता है।

(२) अप्रत्याख्यानी लोभ - गाड़ी के पहिये में लगे हुए खंजन के समान जो अतिकष्ट के बाद दूर हो, ऐसा लोभ अप्रत्याख्यानी है।

(३) प्रत्याख्यानी लोभ - दीपक के काजल के समान जो थोड़े से प्रयास के बाद दूर होता है वह प्रत्याख्यानी लोभ है।

(४) संज्वलन लोभ - हल्दी के रंग के समान सहज छूटने वाला लोभ संज्वलन लोभ है। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो संयमित लोभ संज्वलन लोभ है।

लोभ विमुक्ति से लाभ

उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार लोभ विजय से सन्तोष भाव की प्राप्ति होती है तथा लोभ वेदनीय कर्म का बन्ध नहीं होता है, साथ ही पूर्वकृत कर्मों की निर्जरा भी होती है।^{३५}

कषाय के सन्दर्भ में गुरुवर्या श्री हेमप्रभाश्रीजी म.सा. ने प्रवचनसारोद्धार में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाया है कि अनन्तानुबन्धी कषाय की स्थिति में शेष तीन कषायों की सत्ता अवश्य रहती है। अनन्तानुबन्धी के साथ उनकी परम्परा भी अनन्तभव तक चलती है तो उन्हें भी अनन्तानुबन्धी क्यों नहीं कहा जाता ? इसके समाधान में गुरुवर्या श्री ने लिखा है कि यद्यपि अनन्तानुबन्धी कषाय कभी भी प्रत्याख्यानी आदि के अभाव में नहीं होता; अनन्तानुबन्धी के साथ शेष तीन कषायें निश्चित रूप से रहते हैं, तथापि वे अनन्तानुबन्धी इसलिये नहीं कहलाते क्योंकि अनन्तानुबन्धी कषाय का अस्तित्व मिथ्यात्व के उदय के बिना नहीं हो सकता; जबकि शेष तीन कषायों के लिये ऐसा कुछ भी नियम नहीं है। इसलिये उन्हें अनन्तानुबन्धी नहीं कहा जा सकता है।^{३६}

नोकषाय

नोकषाय शब्द नो + कषाय से मिलकर बना है। जैनदर्शन में नो शब्द का ग्रहण साहचर्य के अर्थ में किया गया है। इस प्रकार क्रोध, मान, माया एवं लोभ — इन चारों कषाय के सहचारी भावों अथवा उन कषायों को उद्दीप्त करने वाली मनोवृत्तियों को नोकषाय कहा जाता है। वस्तुतः नोकषाय कषायों के प्रेरक और सहचारी भाव होते हैं, जिनकी आवेशात्मकता कषायों से कम तीव्र होती है; फिर भी ये कषायों के जनक बन जाते हैं।

३५ उत्तराध्ययनसूत्र २६/७१।

३६ प्रवचनसारोद्धार ५४७

- साखी हेमप्रभा श्री।

नोकषाय के प्रकार

उत्तराध्ययनसूत्र में नोकषाय को सात अथवा नौ भागों में विभक्त किया गया है।^{३७} टीकाकार शान्त्याचार्य ने इसे स्पष्ट करते हुये लिखा है कि वेद के तीन अलग नाम न देकर सिर्फ वेद का ही ग्रहण करने पर इसके सात भेद, तथा तीनों को अलग-अलग करने पर, इसके नौ भेद होते हैं।^{३८} अब हम क्रमशः इन नौ नोकषायों का वर्णन कर रहे हैं -

- (१) हास्य — जिस कर्म के उदय से सकारण या अकारण हंसी आती हो वह हास्य नोकषाय कर्म है।
- (२) रति — पदार्थों में अनुरक्ति रति कहलाती है।
- (३) अरति — विषयों में अप्रीति (द्वेष) का होना अरति है।
- (४) भय — जीव में भयमूलक भावों का उत्पन्न होना भय कषाय है।
- (५) शोक — इष्ट विषयों के वियोग होने पर किया जाने वाला रुदन, विलाप आदि शोक है।
- (६) जुगुप्सा — अशुचिमय पदार्थों को देखकर घृणा के भाव करना जुगुप्सा है।
- (७) स्त्रीवेद — पुरुष के साथ कामभोग की आकांक्षा स्त्रीवेद है।
- (८) पुरुषवेद — स्त्री के साथ कामभोग की अभिलाषा पुरुषवेद है।
- (९) नपुंसकवेद — स्त्री एवं पुरुष दोनों के साथ होने वाली कामभोग की आकांक्षा नपुंसकवेद कहलाती है।

कषाय मुक्ति के लाम

उत्तराध्ययनसूत्र के उन्तीसवें अध्ययन में कषाय-प्रत्याख्यान का लाभ बतलाते हुये कहा गया है कि कषाय के प्रत्याख्यान से वीतराग भाव की प्राप्ति होती है तथा वीतराग भाव को प्राप्त जीव सुख एवं दुःख दोनों में सम रहता है।^{३९}

३७ उत्तराध्ययनसूत्र ३३/११ ।

३८ उत्तराध्ययनसूत्र टीका पत्र - ६४३

३९ उत्तराध्ययनसूत्र २६/२६ ।

- (शान्त्याचार्य) ।

लेश्या-सिद्धान्त

'लेश्या' जैनदर्शन का एक परिभाषिक एवं महत्त्वपूर्ण शब्द है। जैनाचार्यों ने इसका सूक्ष्म एवं तार्किक विश्लेषण किया है। उत्तराध्ययनसूत्र में लेश्या वृत्ति का व्यापक रूप से निरूपण किया गया है।

जीव को प्रभावित करने वाले पुद्गलों के अनेक वर्ग हैं; उनमें से एक वर्ग का नाम लेश्या है। विभिन्न संयोगों द्वारा जनित जीव के शुभाशुभ भावरूप अध्यवसायों को लेश्या कहा जाता है।

लेश्या की परिभाषा

उत्तराध्ययनसूत्र का चौतीसवां 'लेश्या-अध्ययन' लेश्या विषयक वर्णन प्रस्तुत करता है, किन्तु इसमें इसकी कोई परिभाषा उपलब्ध नहीं होती है। सम्भवतः इसका प्रमुख कारण आगमिक प्राचीन शैली होना चाहिए। प्राचीन स्तर के ग्रन्थों में प्रायः किसी भी सिद्धान्त का स्वरूप परिभाषात्मक रूप से स्पष्ट न करके उसके भेद-प्रभेदों से समझाया जाता था। अतः उत्तराध्ययनसूत्र में भी लेश्या के भेद-प्रभेदों का ही वर्णन किया गया है।

शान्त्याचार्य ने लेश्या की अनेक परिभाषायें प्रस्तुत की हैं, जो इसके स्वरूप को स्पष्ट करने में अत्यन्त सहायक हैं। अब हम क्रमशः उनका वर्णन प्रस्तुत करेंगे।⁴⁰

योग परिणाम लेश्या

लेश्या की एक परिभाषा है: 'योगः परिणामो लेश्या' अर्थात् लेश्या योग का परिणाम है। योग के परिणाम को लेश्या कहा गया है। शान्त्याचार्य ने प्रज्ञापनासूत्र की वृत्ति के आधार पर इसकी व्याख्या की है।

लेश्या एवं योग का अविनाभावी सम्बन्ध है अर्थात् जहां लेश्या है वहां योग है, जहा योग है वहां लेश्या है। दूसरे शब्दों में जहां योग का विच्छेद होता है वहां लेश्या का भी परिस्मापन हो जाता है। लेश्या एवं योग में अविनाभावी सम्बन्ध होते हुए भी लेश्या योगवर्णारूप पुद्गलों के अन्तर्गत नहीं हैं। वह एक स्वतन्त्र पुद्गलवर्णना है।

योग क्या है? इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि मन, वचन और काया की जो प्रवृत्तियाँ हैं वे योग हैं और इन प्रवृत्तियों के निमित्त रूप पुद्गल समूह योगवर्गणा है, फिर भी यह लेश्या योगवर्गणा से इस अर्थ में भिन्न है कि योगवर्गणा योगात्मक प्रवृत्तिओं की प्रेरक है जबकि लेश्या उन प्रवृत्तियों के साथ रहते हुए शुभाशुभ भावरूप है अर्थात् जो योग रूप प्रवृत्ति में शुभाशुभ रंग देती हैं, वे लेश्या हैं। उदाहरण के रूप में योग को कपड़ा और लेश्या को रंग कहा जा सकता है। फलतः योग के सद्भाव में ही लेश्या का सद्भाव होता है तथा योग के अभाव में लेश्या का अभाव होता है।

दूसरे शब्दों में वर्गणाओं का प्रवृत्ति रूप स्थूल परिणमन योग है तथा उसके मूल में शुभाशुभ भाव रूप सूक्ष्म परिणमन लेश्या है।

कर्मनिस्यन्द लेश्या

कर्म के उदय से उत्पन्न जीव की भावधारा लेश्या कहलाती है। शान्त्याचार्य कृत टीका में इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है: 'कर्मनिस्यन्दो लेश्या यतः कर्म स्थिति हेतवो लेश्या' अर्थात् जिसके द्वारा कर्म की स्थिति का निर्धारण होता है वह लेश्या है। वस्तुतः कर्मों के बन्ध में योग की अपेक्षा शुभाशुभ भावों का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। इन भावों के आधार पर ही स्थिति बन्ध होता है। अतः कर्मों के स्थितिबन्ध का हेतु लेश्या है। योग से कर्म के प्रदेश और प्रकृति का आश्रय होता है और कषाय से स्थिति और अनुभाग बन्ध होता है। उसमें शुभाशुभ भाव रूप लेश्या वह रस डालती है जिससे स्थितिबन्ध होता है।

जिस प्रकार आटा, बेसन, शक्कर आदि के होने पर भी जब तक घी नहीं होता है, तब तक लड्डू नहीं बनता। इसी प्रकार लेश्या कर्मबन्ध में घी रूप सिग्धता है, उसके सद्भाव में ही कर्मबन्ध होता है। अतः लेश्या कर्मद्रव्य का एक विशिष्ट प्रकार है।

इस प्रकार लेश्या योग और कषाय दोनों से भिन्न है। जिस प्रकार योग के सद्भाव में लेश्या का सद्भाव है उसी प्रकार विशिष्ट कर्मद्रव्य के सद्भावों में ही लेश्या सम्भव है। कषाय से वह इस अर्थ में भिन्न है कि कषाय का अभाव होने पर भी तेरहवें गुणस्थान में शुक्ललेश्या का सद्भाव माना गया है।

कर्मवर्गणा निष्पन्न लेश्या

लेश्या का निर्माण कर्मवर्गणा से होता है। लेश्या कर्मरूप होते हुए भी उससे पृथक् है क्योंकि दोनों का स्वरूप भिन्न-भिन्न है। अयोगी केवली की स्थिति में लेश्या का अभाव हो जाता है जबकि वहाँ अघाती कर्मों की सत्ता रहती है। इससे भी इन दोनों का भिन्नत्व सिद्ध होता है।

इस परिभाषा के सन्दर्भ में डॉ. शान्ता भानावत का मत है कि जीव जब तक कर्मण वर्गणाओं का आकर्षण करता रहता है तब तक ही लेश्या का अस्तित्व रहता है। उसके पश्चात् जीव अलेशी हो जाता है।⁴¹

इसके अतिरिक्त लेश्या की एक निम्न परिभाषा भी उपलब्ध होती है— 'कषायोदयरंजित योग प्रवृत्ति' । इसके अनुसार योग के परिणाम को लेश्या कहा जाता है। इस परिणमन रूप लेश्या के प्रवाह को प्रवाहित करने का कार्य कषाय का है। अतः लेश्या की एक परिभाषा यह भी मिलती है कि कषाय के उदय से अनुरंजित योग की प्रवृत्ति लेश्या है।

लेश्या को परिभाषित करने वाली एक प्राचीन गाथा का भी उल्लेख अनेक ग्रन्थों में किया गया है —

‘कृष्णादि द्रव्य साचिध्यात् परिणामो च आत्मनः
स्फटिकस्येव तत्रायं लेश्या शब्द प्रयुज्यते’

इसके अनुसार स्फटिक रत्न में जिस वर्ण (रंग) का धागा पिरोया जाता है वैसा प्रतिबिंबित होने लगता है। इसी प्रकार जैसे ही लेश्या की वर्गणायें जीव के सम्मुख आती हैं, वैसे ही तदनु रूप उसके आत्मपरिणाम बन जाते हैं।

इस प्रकार लेश्या—आत्मपरिणाम रूप भी है तथा आत्मपरिणाम की संवाहिका भी है। कार्य भी है, कारण भी ।

यह परिभाषा लेश्या के द्रव्य एवं भाव दोनों पक्षों का प्रतिनिधित्व करती है।

उत्तराध्ययनसूत्र में लेश्याओं के निम्न छः प्रकार प्रतिपादित किये गये हैं— (१) कृष्णलेश्या (२) नीललेश्या (३) कापोतलेश्या (४) तेजोलेश्या (५) पद्मलेश्या और (६) शुक्ललेश्या। इसमें उपर्युक्त छः ही लेश्याओं का नाम, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, परिणाम, लक्ष्य, स्थान, स्थिति, गति और आयुष्य इन ग्यारह अपेक्षाओं से विस्तृत वर्णन किया गया है। भगवती एवं प्रजापना में पन्द्रह द्वारों से लेश्या का विवेचन किया गया है⁴² तथा तत्त्वार्थराजवार्तिक एवं गोम्मतसार में लेश्या की चर्चा सोलह द्वारों से की गई है।⁴³ उसमें नामद्वार के स्थान पर निर्देश शब्द का प्रयोग किया गया है। लेश्याओं का नामकरण वर्ण अर्थात् रंग के आधार पर किया गया है। ये वर्ण वस्तुतः मनोदशाओं के ही सूचक हैं यथा कृष्णवर्ण निकृष्टतम मनोदशा का सूचक है। आगे उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार उपर्युक्त छः ही लेश्याओं का क्रमशः विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है—

१. कृष्णलेश्या

कृष्णलेश्या प्राणी की निकृष्टतम अवस्था की परिचायक है। उत्तराध्ययनसूत्र में प्रतीकात्मक रूप से इसके वर्ण का परिचय देते हुए कहा गया है कि कृष्णलेश्या का वर्ण रिनन्धमेघ (सजलबादल), भैंस, द्रौणकाक, खंजनपक्षी, अंजन एवं नयनतास के सदृश होता है। इसका तात्पर्य यह है कि कृष्णलेश्या का रंग गहरा काला होता है। इसका रस कडुवे तुम्बे, नीम आदि के समान और गन्ध, गाय, कुत्ते एवं सर्प के भृत कलेवर तथा स्पर्श शाकवृक्षों के समान है।⁴⁴ जहां तक कृष्णलेश्या के परिणाम का प्रश्न है उत्तराध्ययनसूत्र में मानसिक परिणामों की तरतमता के आधार पर सभी लेश्याओं के तीन, नौ, सत्ताईस, इक्यासी एवं दो सौ तैयालिस विकल्पों का उल्लेख मिलता है।⁴⁵

कृष्णलेश्या वाले जीवों की प्रकृति तथा लक्षणों का वर्णन करते हुए इसमें कहा गया है कि जो पांचों आश्रवों अर्थात् हिंसा, असत्य, चोरी, व्यभिचार एवं

41 लेश्या और मनोविवेचन, पृष्ठ २७

42 (क) भगवती ४/१०/८

(ख) प्रजापना १७/४/१

43 (क) तत्त्वार्थराजवार्तिक पृष्ठ २३८;

(ख) गोम्मतसार जीवकाण्ड ४६१ एवं ६२।

44 उत्तराध्ययनसूत्र ३४/४, १०, १६ एवं १८।

45 उत्तराध्ययनसूत्र ३४/२०।

— (छ). शान्ता भानवत)

— (अंगसुत्ताणि, लाङ्गु, खण्ड २, पृष्ठ १८५)।

— (उपसुत्ताणि, लाङ्गु, खण्ड २, पृष्ठ २२६)।

संग्रह में निरत है, तीव्र-आरम्भी, क्षुद्र, निर्दयी, नृशंस एवं अविचारित कार्य करने वाले हैं, ऐन्द्रिक विषयों की पूर्ति में सतत प्रयत्नशील तथा अपने छोटे से छोटे कार्य या स्वार्थ के लिए दूसरों का बड़े से बड़ा अहित करने वाले हैं, वे कृष्णलेश्या युक्त जीव हैं।^{४६} इनकी जघन्य स्थिति एक मुहूर्त एवं उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त अधिक तैंतीस सागरोपम है। सातवीं नरक के जीवों की उत्कृष्ट आयु तैंतीस सागरोपम है और वे सदैव द्रव्यापेक्षा कृष्णलेश्या वाले ही होते हैं। कृष्ण लेश्या दुर्गति का कारण होती है।^{४७}

इस प्रकार कृष्णलेशी जीवों का आभामण्डल कृष्णवर्ण से युक्त होता है। उनके अन्तर्मानस में निकृष्टतम दुर्गुणों का साम्राज्य होता है। वैदिक साहित्य के अनुसार मृत्यु के देवता 'यम' का रंग काला है; क्योंकि यम, सतत इन्हीं भावों में रहता है कि कब कोई मरे और वह उसे ले जाये।

२. नीललेश्या

नीललेश्या द्वितीय लेश्या है। इसमें कालापन कुछ हल्का हो जाता है यह कृष्णलेश्या से कम अहितकर है। इसका रंग नील-अशोक वृक्ष, चासपक्षी के पंख तथा स्निग्ध वैदूर्यमणि के समान नीला होता है। रस त्रिकूट (सूँट, कालीमिर्च और पीपल का मिश्रण) एवं गजपीपल के रस से अनन्तगुणा तित्त होता है^{४८} तथा इसकी गन्ध, रस एवं परिणाम कृष्णलेश्या के सदृश होते हैं।

नीललेश्या वाले जीव ईर्ष्यालु, कदाग्रही, अतपस्वी, अज्ञानी, मायावी, निर्लज्ज, गृहप्रद्वेषी, शठ, प्रमत्त, रसलोलुपी सुख के गवेषक होते हैं।^{४९} ये स्वार्थी भी होते हैं। किन्तु कृष्णलेश्या की अपेक्षा इनके विचार कुछ सन्तुलित होते हैं। इनकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति पत्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक दस सागरोपम की होती है। इस लेश्या वाले जीव दुर्गति में जाते हैं।^{५०}

४६ उत्तराध्ययनसूत्र ३४/२१ एवं २२ ।

४७ उत्तराध्ययनसूत्र ३४/३४ एवं ५६ ।

४८ उत्तराध्ययनसूत्र ३४/५ एवं ११ ।

४९ उत्तराध्ययनसूत्र ३४/२३ एवं २४ ।

५० उत्तराध्ययनसूत्र ३४/३५ एवं ५६ ।

३. कापोतलेश्या

यह तृतीय लेश्या है। इसका रंग अलसी के पुष्प, तेल-कंटक एवं कबूतर की ग्रीवा के समान है तथा इसका रस कच्चे आम के रस से अनन्तगुणा अधिक कसैला होता है।^{५१} इसकी गन्ध, स्पर्श एवं परिणाम कृष्णलेश्या के सदृश हैं।

कापोतलेश्या वाले जीवों के भावों में यद्यपि कृष्ण एवं नीललेश्या की अपेक्षा अशुभता कम होती है फिर भी ये कुटिल होते हैं अर्थात् इनकी कथनी और कनी में भिन्नता होती है। मनोभावों में सरलता नहीं होती। ये जीव अपने दुर्गुणों को छिपाकर सदगुणों को प्रकट करते हैं।^{५२} कापोतलेश्या की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त एवं उत्कृष्ट स्थिति पत्योपम का असंख्यातवां भाग अधिक तीन सागरुपम है। यह भी अधर्म लेश्या है, अतः दुर्गति प्रदायक है।^{५३}

४. तेजोलेश्या

चतुर्थ लेश्या का नाम तेजोलेश्या है। इसके रंग का विश्लेषण करते हुए उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि इसका रंग हिंगुल गेरू, उदीयमान बालसूर्य, तोते की चोंच तथा प्रदीप की लौ के समान अर्थात् रक्त वर्ण होता है।^{५४} साम्यवादियों की दृष्टि से लाल रंग क्रांति का प्रतीक है। अधर्मलेश्या से धर्मलेश्या की ओर उन्मुख होना एक क्रांतिकारी कदम है अतः इस दृष्टि से भी इस लेश्या के वर्ण की सार्थकता प्रतीत होती है। इसका रस पके हुए आम एवं कबीट के रस से अनन्तगुणा खट्टामीठा होता है।^{५५}

तेजोलेश्या की गन्ध सुगन्धित पुष्प तथा पीसे जा रहे सुगन्धित पदार्थों की सुगन्ध से अनन्तगुणा अधिक सुवासित होती है, इसका स्पर्श बुर (वनस्पति विशेष) नवनीत, शिरीष पुष्पों के कोमल स्पर्श से अनन्तगुणा अधिक कोमल होता है। परिणाम पूर्वक लेश्याओं के समान हैं। इस लेश्या वाले जीवों की प्रकृति नम्र व अचपल होती है, वे जितेन्द्रिय, तपस्वी, पापभीरु और मुक्ति की गवेषणा करने वाले होते हैं। इस

५१ उत्तराध्ययनसूत्र ३४/६।

५२ उत्तराध्ययनसूत्र ३४/२५ एवं २६।

५३ उत्तराध्ययनसूत्र ३४/३६ एवं ५६।

५४ उत्तराध्ययनसूत्र ३४/७।

५५ उत्तराध्ययनसूत्र ३४/१३।

लेश्या की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त एवं उत्कृष्ट पत्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक दो सागरोपम की है। यह धर्मलेश्या है, अतः सुगतिप्रदायक है।^{५६}

५. पद्मलेश्या

इस लेश्या में आत्म परिणाम विशुद्ध होते हैं। यह धर्मलेश्या का द्वितीय चरण है। इसके वर्ण का प्रतिपादन करते हुए उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि इसका रंग हरिताल और हल्दी के खण्ड तथा सण एवं असण के पुष्प के समान पीत (पीला) होता है। इसका रस उत्तम सुरा और फूलों से बने विविध रसों से अनन्तगुणा अधिक अम्ल कसैला होता है।^{५७} इसकी गन्ध एवं स्पर्श तेजोलेश्या के सदृश है तथा परिणाम कृष्णलेश्या में वर्णित परिणामवत् है।

पद्मलेश्या सम्पन्न व्यक्ति के जीवन में क्रोध, मान, माया, लोभ की अत्यल्पता होती है। उसका चित्त प्रशान्त होता है। वे जितेन्द्रिय, अल्पभाषी एवं ध्यान साधना में रत होते हैं। इस लेश्या की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त एवं उत्कृष्ट स्थिति मुहूर्त अधिक दस सागरोपम है। यह लेश्या सुगति का कारण है।^{५८}

६. शुक्ललेश्या

शुक्ललेश्या श्रेष्ठतम लेश्या है। इसका वर्ण श्वेत माना गया है। श्वेत रंग सात्विक एवं शुद्ध विचारों का प्रतीक होता है। उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार इसका वर्ण शंख, अंकमणि (स्फटिक जैसा श्वेत रत्नविशेष), कुन्दपुष्प, दुग्धधारा तथा रजतहार के समान श्वेत है। इसका रस खजूर, दाख, क्षीर, खांड और शककर के मधुर रस से अनन्तगुणा मधुर है। शुक्ललेश्या वाले व्यक्ति का चित्त अत्यन्त प्रशान्त होता है; वे धर्मध्यान एवं शुक्लध्यान में निरत रहते हैं। इनका मन, वचन एवं काया पर पूर्ण नियन्त्रण रहता है। इनकी प्रवृत्ति पूर्ण विवेक से संचालित होती है।^{५९} सबसे विशिष्ट बात यह है कि यह लेश्या सरागी आत्मा के साथ साथ वीतरागी आत्मा में भी प्राप्त होती है।

५६ उत्तराध्ययनसूत्र ३४/१७, १६, २७, २८, ३७ एवं ५७ ।

५७ उत्तराध्ययनसूत्र ३४/८ एवं १४ ।

५८ उत्तराध्ययनसूत्र ३४/२६, ३०, ३८ एवं ५७ ।

५९ उत्तराध्ययनसूत्र ३४/६, १५, ३१ एवं ३२ ।

शुक्ललेश्या की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त एवं उत्कृष्ट स्थिति मुहूर्त अधिक तेंतीस सागरोपम है।^{६०} इसकी उत्कृष्ट स्थिति अनुत्तर विमानवासी देवताओं की अपेक्षा से कही गई है क्योंकि उनकी उत्कृष्ट आयु तेंतीस सागरोपम होती है। वे सदैव द्रव्य की अपेक्षा से शुक्ललेश्या सम्पन्न ही होते हैं। यह लेश्या सुगति में निमित्तभूत होती है।

उपर्युक्त तीनों शुभलेश्याओं के रंग के साथ एक विशिष्ट महत्त्वपूर्ण तथ्य जुड़ा है। ये तीनों लेश्यायें धर्मलेश्यायें कही जाती हैं तथा भारतीय संस्कृति की मुख्य तीनों धार्मिक परम्पराओं का प्रतिनिधित्व करती हैं।

वैदिकपरम्परा के सन्यासी गैरिक अर्थात् लाल वर्ण के वस्त्रधारण करते हैं। तेजोलेश्या का वर्ण रक्त है, यह क्रांति का प्रतीक है, अतः आत्मविकास की दिशा में क्रांतिकारी कदम उठाने वाले सन्त गैरिक वस्त्र धारण करते हैं। लाल रंग में कालिमा का अभाव होता है अर्थात् जीवन में स्वार्थ का काला रंग नष्ट हो जाने पर प्रसंगोचित शब्दावली में तीनों अधर्म लेश्याओं—कृष्ण, नील एवं कापोत से मुक्त होने पर लाल रंग रूप शुभ उत्साहवर्धक पुरुषार्थ जागृत होता है।

- बौद्धभिक्षु पीत वस्त्र धारण करते हैं। जैनग्रन्थों में पद्मलेश्या को पीतवर्णी कहा गया है। पीला वर्ण ध्यान का प्रतीक है। पीले रंग में किसी भी प्रकार की उत्तेजना नहीं होती है। यह आत्मज्योति को प्रकट करने की प्रेरणा देता है।

जैनपरम्परा में साधुओं के श्वेत वस्त्र धारण करने का विधान है। शुक्ललेश्या का वर्ण भी श्वेत है, जैनसाधु का आदर्श है शुक्लध्यान के द्वारा पूर्ण विशुद्धि को प्राप्त करना।

इस प्रकार उत्तराध्ययनसूत्र में लेश्याओं का व्यापक विश्लेषण किया गया है। यह विश्लेषण द्रव्यलेश्या एवं भावलेश्या दोनों की अपेक्षा से किया गया है।

लेश्याओं के सन्दर्भ में जैन साहित्य में एक अत्यन्त मार्मिक रूपक प्रस्तुत किया जाता है जिसके द्वारा लेश्याओं का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है—

एक बार छः व्यक्तियों की मित्रमण्डली जंगल में सैर करने गई। वहां एक जामुन के पेड़ को देखकर सभी का मन जामुन खाने के लिए लालायित हो उठा। उनमें से एक व्यक्ति ने कहा— 'क्यों न इस वृक्ष को गिरा दिया जाए और

६० उत्तराध्ययनसूत्र ३४/३६ ।

मनमाने फल खा लिये जायें।' दूसरे व्यक्ति ने कहा :- 'सारे वृक्ष को धराशायी करने की कहां जरूरत है, इसकी एक बड़ी डाली तोड़ लें तो भी अपना काम हो ही जायेगा।' तीसरे व्यक्ति ने कहा :- 'अरे भाईयों! बड़ी डाली तोड़ने की भी आवश्यकता नहीं है, हमारी आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए तो छोटी-छोटी शाखायें ही पर्याप्त हैं।' चौथे व्यक्ति ने कहा:- 'मित्र! तुम्हारा कथन भी युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता छोटी-छोटी शाखाओं को तोड़ने की अपेक्षा गुच्छों को तोड़ने से ही हमारा काम चल जायेगा।' पांचवें व्यक्ति ने कहा :- 'गुच्छों को तोड़ना भी निरर्थक है, सिर्फ पके-पके फल तोड़ना ही श्रेयस्कर है।' छठे व्यक्ति ने कहा:- 'अरे मित्रों! हमें यदि फल ही खाना है तो वृक्ष, टहनियों एवं फलों को नुकसान पहुंचाने की अपेक्षा नीचे गिरे हुए फलों को ही चुनकर खा लेना चाहिये।'

उपर्युक्त व्यक्तियों की मनोवृत्ति क्रमशः छः लेश्याओं की सूचक है। लेश्याओं का यह वर्गीकरण अशुभतम भावों से शुभतम भावों की ओर ले जाने वाला है।

जैनदर्शन में लेश्या की अवधारणा के समकक्ष अन्य भारतीय परम्पराओं में भी कई अवधारणायें प्राप्त होती हैं। बौद्धग्रन्थों में छः प्रकार की जातियों का उल्लेख प्राप्त होता है^{६१}—

१. कृष्णामिजाति -- क्रूरकर्म करने वाले सौकरिक, शाकुनिक आदि व्यक्तियों का वर्ग।
२. नीलामिजाति -- बौद्धभिक्षु तथा अन्य कर्मवादी, क्रियावादी भिक्षुओं का वर्ग।
३. लोहितामिजाति -- एकशाटक निर्ग्रन्थों का वर्ग।
४. हरिद्रामिजाति -- श्वेतवस्त्रधारी या निर्वस्त्र व्यक्तियों का वर्ग।
५. शुक्लामिजाति -- आजीवक श्रमण श्रमणीयों का वर्ग।

६. परमशुक्लाभिजाति — आजीवक आचार्य नन्द, वत्स, कृश, सांकृत्य, मस्करी गोशालक आदि का वर्ग।

पूर्णकाश्यप के उपर्युक्त मत की समालोचना करते हुए बुद्ध ने छः अभिजातियों की प्रज्ञापना की है जो मुख्यतः जन्म पर आधारित न होकर कर्म पर आधारित हैं। उसके अनुसार कृष्णाभिजातक (नीचकुल में उत्पन्न) शुभ कर्म भी कर सकता है।

प्रस्तुत सन्दर्भ में ज्ञातव्य है कि यह अभिजातिक वर्णन लेश्यासिद्धान्त से इस अर्थ में भिन्नता रखता है कि जहाँ लेश्यासिद्धान्त प्राणीमात्र की मनोवृत्ति का विश्लेषण करता है वह अभिजातिक की अवधारणा मात्र मानव का ही वर्गीकरण करती है। इसकी अपेक्षा लेश्या - सिद्धान्त महाभारत के वर्गीकरण से अधिक साम्य रखता है। इसमें सनतकुमार दानवेंद्र वृत्रासुर से कहते हैं— 'प्राणियों के वर्ण (रंग) छः प्रकार के हैं— १. कृष्ण २. धूम ३. नील ४. रक्त ५. हरिद्र और ६. शुक्ल। इनमें से कृष्ण, धूम और नील वर्ण का सुख मध्यम होता है, रक्त वर्ण का अधिक सद्य होता है, हरिद्र वर्ण का सुखकर एवं शुक्ल वर्ण का अधिक सुखकर होता है। पुनश्च इसमें यह भी कहा गया है कि कृष्ण वर्ण की नीचगति होती है। वह नरक में ले जाने वाले कर्मों में आसक्त रहता है, नरक से निकलने वाले जीवों का वर्ण धूम होता है, यह प्रशु-पक्षी जाति का रंग है। नील वर्ण मनुष्य जाति का रंग है, हरिद्र वर्ण विशिष्ट देवताओं का रंग है तथा शुक्ल वर्ण सिद्धधारी साधकों का रंग है।^{६१} इस प्रकार महाभारत के वर्ण-विश्लेषण से लेश्या सिद्धान्त का निकट का सम्बन्ध है।

गीता के सोलहवें अध्याय में प्राणियों की आसुरी एवं दैविक ऐसी दो प्रकृतियों का उल्लेख और इसी आधार पर प्राणियों को दो भागों में विभाजित किया गया है। इसमें यह भी कहा गया है कि दैवी गुण मोक्ष के हेतु हैं तथा आसुरी अद्विगुण बन्धन के हेतु हैं।^{६२} गीता के इस द्विविध वर्गीकरण के परिप्रेक्ष्य में विचार करने पर हम देखते हैं कि जैनपरम्परा में षट्लेश्याओं की अवधारणा में भी मूलरूप से दो प्रकार का ही वर्गीकरण किया गया है।

उत्तराध्ययनसूत्र में स्पष्टतः कहा गया है कि कृष्ण, नील एवं कापोत अर्ध लेश्यायें हैं और इनके कारण जीव दुर्गति में जाता है तथा तेजो, पद्म एवं

६१ महाभारत शांतिपर्व - २८० से २३।

६२ गीता १६/१।

पर किया गया वर्गीकरण षड्विध तथा उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार अनेकविध (रूपक) भी है।

योगसूत्र में महर्षि पतंजलि ने भी कर्म की चार जातियां प्रतिपादित की हैं।⁶⁶ १. कृष्ण २. शुक्लकृष्ण ३. शुक्ल और ४ अशुक्ल अकृष्ण। इनमें योगी की कर्मजाति अशुक्ल अकृष्ण होती है तथा शेष तीनों जातियां सभी जीवों में होती हैं। जिनका चित्त कलुषित या क्रूर होता है उनका कर्म कृष्ण होता है अर्थात् वे कृष्ण जाति की श्रेणी में आते हैं। पीड़ा और अनुग्रह से मिश्रित कर्म शुक्ल-कृष्ण जाति के अन्तर्गत आता है। तप, स्वाध्याय और ध्यान में निरत लोगों के कर्म शुक्ल जाति में समाविष्ट किये जाते हैं तथा जो पुण्य के फल की भी इच्छा नहीं करते हैं उन क्षीण क्लेश चरमदेह योगियों के कर्म अशुक्ल अकृष्ण जाति की श्रेणी में वर्गीकृत किये जाते हैं।

योगदर्शन का उपर्युक्त सिद्धान्त भी जैनदर्शन के लेश्या सिद्धान्त से विशिष्ट सम्बन्ध रखता है। सभी परम्पराओं में विभाजित मानसिक प्रवृत्तियों का विश्लेषण करने के पश्चात् यहां इस निष्कर्ष को प्रस्तुत करना भी आवश्यक प्रतीत होता है कि जैनदर्शन का लेश्या सिद्धान्त अति प्राचीन एवं मौलिक सिद्धान्त है। यह अन्य आजीवक आदि सम्प्रदायों की मान्यताओं से प्रभावित भी नहीं है। यद्यपि पाश्चात्य विचारक प्रो. ल्यूमन एवं डॉ. हर्मन जेकोबी ने लेश्या के विभाजन का आधार गोशालक द्वारा किया गया मानवों का विभाजन माना है।⁶⁷

उपर्युक्त विचारकों की यह मान्यता सर्वप्रथम इसलिए निराधार हो जाती है कि मानव प्रकृति का यह विभाजन गोशालक द्वारा नहीं वरन् 'पूरण काश्यप' द्वारा किया गया था। इसका स्पष्ट उल्लेख बौद्धग्रन्थ, दीर्घनिकाय एवं अंगुत्तरनिकाय में उपलब्ध होता है।⁶⁸ डॉ. सागरमल जैन ने अनेक ऐतिहासिक साक्ष्यों से यह सिद्ध कर दिया है कि लेश्या की अवधारणा जैनदर्शन की अपनी प्राचीन एवं मौलिक अवधारणा है।⁶⁹

६६ योगसूत्र ४/७।

६७ Sacred Books of the East, Vol. XLV Introduction, Page XXX

- उद्धृत- उत्तराध्ययनसूत्र : एक समीक्षात्मक अध्ययन पृष्ठ २४२।

६८ (क) अंगुत्तरनिकाय ६/६/३, भाग - ३, पृष्ठ ६३;

(ख) दीर्घनिकाय १/२, पृष्ठ ३६, २०

६९ जैन धर्म का लेश्या सिद्धान्त डॉ. सागरमल जैन - (श्रवण पत्रिका १६६२ अंक ४-६)

ध्यान

भारतीयपरम्परा में ध्यान साधना का गौरवपूर्ण स्थान है। ध्यान पद्धति भारत की एक प्राचीन पद्धति है। यह तथ्य हड़प्पा एवं मोहनजोदड़ों की खुदाई में प्राप्त अवशेषों से भी प्रमाणित हो चुका है।

जैनपरम्परा में ध्यान साधना को प्रमुख स्थान दिया गया है। सभी तीर्थंकरों की प्रतिमायें सदा ध्यान मुद्रा में अवस्थित होती हैं। आज तक कोई भी जिनप्रतिमा ध्यान मुद्रा के अतिरिक्त अन्य किसी भी मुद्रा में प्राप्त नहीं हुई है। चाहे वह प्रतिमा हजारों वर्ष प्राचीन हो या आज निर्मित हुई हो, सब प्रतिमायें ध्यानस्थ अवस्था में ही होती हैं। यह तथ्य भी जैनपरम्परा में ध्यान के विशिष्ट महत्त्व को प्रस्तुत करता है।

प्राकृतसाहित्य के प्राचीनतम ग्रन्थ 'आचारंग', 'उत्तराध्ययनसूत्र' आदि में ध्यान के महत्त्व पर व्यापक रूप से प्रकाश डाला गया है।⁷⁰

ऋषिभाषितसूत्र में संक्षिप्त एवं सारगर्भित रूप से ध्यान के महत्त्व को प्रस्तुत करते हुये लिखा है कि शरीर में जो स्थान मस्तिष्क का है, साधना में वही स्थान ध्यान का है।

मस्तिष्क, मानव शरीर का महत्त्वपूर्ण अंग है। उसके निष्क्रिय होने पर जीवन का कोई अर्थ नहीं रहता है; उसी प्रकार ध्यानसाधना के अभाव में जैनसाधना का कोई अर्थ नहीं रह जाता है। शुक्लध्यान के चतुर्थचरण में पहुंचे बिना मुक्ति सम्भव नहीं होती है।

उत्तराध्ययनसूत्र और ध्यान

उत्तराध्ययनसूत्र में ध्यान को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। ध्यान के महत्त्व को प्रकट करते हुए इसके छबीसवें अध्ययन में कहा गया है कि प्रत्येक श्रमण साधक को दिन और रात्रि के दूसरे प्रहर में नियमित रूप से ध्यान करना चाहिये।⁷¹

७० (क) आचारंग १/६/१/१४ एवं १५

(ख) ऋषिभाषित - उत्तराध्ययनसूत्र - २३;

(ग) उत्तराध्ययनसूत्र १/२६/२३।

७१ उत्तराध्ययनसूत्र २६/१२ एवं १८।

- (अंगसुत्ताभि, लाडनू, खण्ड १, पृष्ठ ६७०);

वर्तमान में भी मुनि अपनी दिनचर्या में अनेक बार ध्यान करते हैं। मुनि की चर्या के प्रत्येक अंग के साथ ध्यान का सम्बन्ध जुड़ा हुआ है। मुनि को निद्रा से पूर्व तथा निद्रा त्याग के बाद गमनागमन एवं मलमूत्र विसर्जन आदि की क्रिया के पश्चात्, प्रातःकालीन तथा सांयकालीन प्रतिक्रमण के समय और अन्य ऐसे ही अनेक प्रसंगों पर ध्यान करना होता है। इसे हम इस प्रकार भी समझ सकते हैं कि जैनपरम्परा के अनुसार मुनि को प्रत्येक कार्य सज्जगतापूर्वक अर्थात् ध्यान पूर्वक करना होता है। इस प्रकार मुनि के जीवन का हर क्षण ध्यानमय होता है। संक्षेप में कहा जाय तो मुनि की प्रत्येक क्रिया के साथ ध्यान की प्रक्रिया जुड़ी हुई है।

ध्यान की परिभाषा

उत्तराध्ययनसूत्र में ध्यान सम्बन्धी चर्चा अनेक स्थलों पर की गई है। इसके प्रथम अध्ययन में कहा गया है कि मुनि को स्वाध्यायकाल में अध्ययन करना चाहिये तथा तत्पश्चात् ध्यान करना चाहिये। इसके अठारहवें अध्ययन में गर्दभालिमुनि के धर्मध्यान में स्थित होने का उल्लेख है।⁷²

छबीसवें अध्ययन में मुनि की दिनचर्या में ध्यान साधना को अनिवार्य माना गया है; तीसवें अध्ययन में ध्यान को आभ्यन्तरतप के अन्तर्गत रखते हुये इसके मुख्यतः चार भेदों का उल्लेख किया गया है। फिर भी उत्तराध्ययनसूत्र में हमें ध्यान की ऐसी कोई परिभाषा उपलब्ध नहीं होती है जिसके आधार पर ध्यान के स्वरूप को समझा जा सके।

उत्तराध्ययनसूत्र के टीकाकारों में शान्त्याचार्य तथा कमलसंयमोपाध्याय ने ध्यान के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि स्थिर अध्यवसाय ध्यान है।⁷³ उत्तराध्ययनसूत्र की टीकाओं में ध्यान के सन्दर्भ में प्राप्त यह पंक्ति सम्भवतः ध्यानशतक से उद्धृत है।

तत्त्वार्थसूत्र में चित्त की एक विषय में एकाग्रता को ध्यान कहा है।⁷⁴ यहां ज्ञातव्य है कि चित्त की किसी एक विषय में एकाग्रता को ही ध्यान कहा गया

७१ उत्तराध्ययनसूत्र २६/१२ एवं १८ ।

७२ उत्तराध्ययनसूत्र १/१०; १८/४ ।

७३ (क) उत्तराध्ययनसूत्र टीका पत्र - ६०६

(ख) उत्तराध्ययनसूत्र टीका पत्र - ३०११

७४ तत्त्वार्थसूत्र ६/२७ ।

- (शान्त्याचार्य) ।

- (कमलसंयमोपाध्याय) ।

है। चित्तवृत्ति के निरोध अथवा चेतना की निर्विकल्प दशा (चिन्ता निरोध) ध्यान का एक रूप है। जहां तक चित्त की एकाग्रता का प्रश्न है वह शुभ भी हो सकती है और अशुभ भी – इसी अपेक्षा से जैनदर्शन में ध्यान के चार प्रकार प्रतिपादित किये गये हैं जिनका विवरण नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है।

ध्यान के प्रकार

उत्तराध्ययनसूत्र में ध्यान के निम्न चार प्रकारों का उल्लेख किया गया है⁷⁵— (१) आर्तध्यान; (२) रौद्रध्यान; (३) धर्मध्यान और (४) शुक्लध्यान। इनमें आर्तध्यान एवं रौद्रध्यान अशुभ एवं अप्रशस्त ध्यान हैं जबकि धर्मध्यान एवं शुक्लध्यान शुभ एवं प्रशस्त ध्यान हैं। जहां आर्तध्यान एवं रौद्रध्यान से कर्म का बन्धन होता है वहीं धर्मध्यान एवं शुक्लध्यान से कर्मों की निर्जरा होती है।

ध्यान के उपर्युक्त चार भेदों के अतिरिक्त इनके प्रभेदों का भी तत्त्वार्थसूत्र 'ध्यानविचार' आदि ग्रन्थों में विस्तृतरूप से वर्णन उपलब्ध होता है।⁷⁶ चूंकि उत्तराध्ययनसूत्र में ध्यान के मुख्य चार प्रकारों का ही उल्लेख मिलता है, इसकी टीकाओं में भी अन्य प्रभेदों की कोई चर्चा उपलब्ध नहीं होती है। अतः यहां हम ध्यान के भेद-प्रभेदों की चर्चा को अति संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं।

आर्तध्यान

उत्तराध्ययनसूत्र के टीकाकार शान्त्याचार्य ने इस ध्यान की 'धृतपतिपरक' व्याख्या करते हुए लिखा है कि 'ऋते भवं आर्तम्' यहां ऋत शब्द दुःख, पीड़ा और परेशानी का द्योतक है। इस प्रकार दुःखद स्थिति में होने वाला ध्यान आर्तध्यान है।⁷⁷ आत्मज्ञानी साधक दुःखद स्थिति में भी धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान के

७५ उत्तराध्ययनसूत्र ३०/३४ ।

७६ (क) तत्त्वार्थसूत्र ६/२६ से ४६;

(ख) ध्यानविचार पृष्ठ १० से ३६ ।

ध्याता हो सकते हैं। दुःख के प्रति द्वेष एवं सुख के प्रति अनुराग रूप ध्यान आर्तध्यान कहलाता है। संक्षेप में चेतना की दुःखद विषयों में एकाग्र परिणति आर्तध्यान है। इसके निम्न चार प्रकार हैं—

(१) **इष्टवियोगजन्य** — प्रिय व्यक्ति, वस्तु, प्रिय विषय आदि के वियोग होने पर आर्तनाद या शोक चिन्ता आदि करना इष्टवियोग रूप आर्तध्यान है।

(२) **अनिष्टसंयोगजन्य** — अप्रिय व्यक्ति, पदार्थ या विषय के संयोग होने पर दुःखी परेशान होना तथा उनसे दूर होने का सतत चिन्तन करना अनिष्ट संयोग आर्तध्यान है।

(३) **व्याधि/वेदनाजन्य** — अशातावेदनीय कर्म के उदय से शरीर में रोग आने तथा उसके निवारण हेतु सतत चिन्तन करना व्याधिजन्य आर्तध्यान है।

(४) **निदानचिन्तनरूप** — भोगाकांक्षा या अन्य किसी आकांक्षा से मविष्य में सत्कार्य के प्रतिफल का संकल्प करना निदानचिन्तनरूप आर्तध्यान है।

रौद्रध्यान

चेतना की क्रूर हिंसक परिणति रौद्रध्यान कहलाती है। इस ध्यान को अति भयंकर ध्यान माना गया है क्योंकि इसमें हिंसा आदि करने के क्रूर अध्यवसाय होते हैं।

टीकाकार शान्त्याचार्य ने इसे व्याख्यायित करते हुए लिखा है कि आत्मा (चेतना) की प्राणीवद्य आदि रूप परिणति रौद्रध्यान है।⁷⁸ रौद्रध्यान के भी निम्न चार प्रकार प्ररूपित किये गये हैं —

- (१) हिंसानुबन्धी — हिंसक प्रवृत्तियों में एकाग्र परिणति;
- (२) मृषानुबन्धी — असत्य भाषण रूप चित्त की एकाग्र परिणति;
- (३) स्तेनानुबन्धी — चोरी सम्बन्धी निरन्तर परिणति;
- (४) संरक्षणानुबन्धी — संग्रह-परिग्रह के संरक्षण की लालसा रूप एकाग्र परिणति।

व्यवहारिक जगत में रौद्रध्यान की पहचान हेतु स्थानांगसूत्र तथा 'ध्यानविचार' नामक ग्रन्थ में इसके निम्न चार लक्षण प्रतिपादित किये गये हैं।⁷⁹

- (१) **उत्सन्नदोष** — हिंसादि किसी एक पापकार्य में सतत प्रवृत्तिशील रहना;
- (२) **बहुदोष** — हिंसादि सभी पाप कार्यों में सतत प्रवृत्ति रखना;

- (३) अज्ञानदोष — अज्ञानवश हिंसा आदि में प्रवृत्त होना;
 (४) आमरणान्तदोष — मृत्यु के समय तक भी जीवन में किये गये हिंसादि पाप कार्यों का प्रायश्चित्त नहीं करना।

शास्त्रों में आर्तध्यान को नरकगति एवं रौद्रध्यान को तिर्यचगति का कारण बतलाया है।

धर्मध्यान

जैनदर्शन में धर्मध्यान एवं शुक्लध्यान को प्रशस्त ध्यान की श्रेणी में रखा गया है। जैनदर्शन के अनुसार साधना की दृष्टि से दोनों प्रशस्त ध्यानों को ही प्रश्रय दिया गया है। आगमों में इनके व्यापक वर्णन उपलब्ध होते हैं। स्थानांगसूत्र आदि में धर्मध्यान एवं शुक्लध्यान के भेद एवं लक्षण के साथ इनके आलम्बनों एवं इनकी अनुप्रेक्षाओं का भी वर्णन किया गया है।^{१०}

धर्मध्यान का एक नाम विचयध्यान भी है। चेतना की शुभ परिणति धर्मध्यान कहलाती है। इसके चार भेद किये गये हैं जो इसके स्वरूप को भी स्पष्ट करते हैं।

धर्मध्यान के भेद

- (१) आज्ञाविचय — वीतराग परमात्मा की आज्ञा एवं उपदेश के अनुरूप चिन्तन करना;
 (२) अपायविचय — रागद्वेष आदि दुःख के कारणों से बचने का चिन्तन करना;
 (३) विपाकविचय— कर्मों के विपाक में एकाग्रता विपाक विचय ध्यान है। यह एकाग्रता समभावपूर्वक होती है, अतः पूर्वकृत कर्मों के उदय में समभाव परिणति रखना विपाकविचय रूप धर्मध्यान है,
 (४) संस्थानविचय— लोक के स्वरूप स्वभाव तथा उसमें होने वाले पदार्थों की वस्तुस्थिति का यथार्थ चिन्तन संस्थानविचय ध्यान है;

धर्मध्यान के चार लक्षण

- (१) आज्ञारूचि - जिन आज्ञा में अदूट श्रद्धा का होना।
- (२) निसर्गरूचि - धर्मकार्यों में स्वाभाविक रूप से रूचि होना।
- (३) सूत्ररूचि - आगमों के पठन पाठन में रूचि होना।
- (४) अवगाढरूचि- आगमिक विषयों के गहन चिन्तन एवं मनन में रूचि होना।

धर्मध्यान के आलम्बन

- (१) वाचना - अध्ययन करना,
- (२) प्रतिपृच्छना -- शंका के निवारणार्थ प्रश्न करना,
- (३) परिवर्तना - पुनरावर्तन करना;
- (४) अनुप्रेक्षा - अर्थ का गहन चिन्तन करना।

धर्मध्यान की अनुप्रेक्षा

- (१) एकत्व अनुप्रेक्षा -- एकाकीपन का चिन्तन;
- (२) अनित्य अनुप्रेक्षा-- पदार्थों की अनित्यता का चिन्तन;
- (३) अशरण अनुप्रेक्षा- अशरणता का चिन्तन;
- (४) संसार अनुप्रेक्षा - संसार-परिभ्रमण का चिन्तन।

इस प्रकार धर्मध्यान के भेद, लक्षण, आलम्बन एवं अनुप्रेक्षा का वर्णन किया गया है।

शुक्लध्यान

यह चेतना की शुद्ध-स्वरूपमय एकान्त परिणति है। इसके निम्न चार प्रकार हैं --

- (१) पृथक्त्व वितर्क सविचारी - ध्याता जब द्रव्य, गुण एवं पर्याय का पृथक्-पृथक् ध्यान करता है, जैसे द्रव्य का चिन्तन करते-करते, द्रव्य के किसी गुण

विशेष का चिन्तन करना तथा गुण का चिन्तन करते-करते किसी पर्याय विशेष पर एकाग्र हो जाना पृथक्त्व वितर्क सविचारी ध्यान है।

निष्कर्षतः इस ध्यान में शुक्लध्यान की धारा तो सतत प्रवाहित रहती है, किन्तु ध्यान के विषय बदल जाते हैं।

(२) एकत्व वितर्क अविचारी – द्रव्य, गुण एवं पर्याय में से किसी एक विषय पर ध्यान को केन्द्रित करना एकत्व वितर्क अविचारी ध्यान है। इस ध्यान में विषय परिवर्तन नहीं होता है।

(३) सूक्ष्म क्रिया अनिवृत्ति – सयोगी केवली आत्मा जब मनोयोग एवं वचनयोग का निरोध करके मात्र सूक्ष्मकाययोग के आलम्बन से जो ध्यान करती है, वह सूक्ष्म क्रिया अनिवृत्ति ध्यान है।

(४) समुच्छिन्न क्रिया अप्रतिपाती – यह सूक्ष्म काययोग के निरोध होने पर होने वाला ध्यान है। शुक्लध्यान की अवस्था में योग क्रिया अर्थात् मानसिक, वाचिक एवं कायिक गतिविधि समुच्छिन्न हो जाती है। अतः इस ध्यान में पुनः पतन की सम्भावना नहीं रहती है। इसे अप्रतिपाती भी कहा गया है।

शुक्लध्यान के लक्षण

- | | | |
|----------------|---|---|
| (१) अव्यथा | – | किसी भी प्रकार के क्षोभ से निवृत्ति; |
| (२) असम्मोह | – | मोह का पूर्णतः अभाव; |
| (३) विवेक | – | आत्म अनात्म का बोध; |
| (४) व्युत्सर्ग | – | शरीर एवं बाह्य पदार्थों के प्रति आसक्ति का त्याग। |

शुक्लध्यान के आलम्बन

- | | |
|-----------------------|-------------------------|
| (१) क्षान्ति (क्षमा); | (२) मुक्ति (निर्लोभता); |
| (३) आर्जव (सरलता); | (४) मार्दव (मृदुता)। |

शुक्लध्यान की अनुप्रेक्षा

- (१) अनन्तवृत्तिता अनुप्रेक्षा— संसार परम्परा की अनन्तता का विचार करना अनन्तवृत्तिता अनुप्रेक्षा है;
- (२) विपरिणाम अनुप्रेक्षा — वस्तुओं के विविध परिणामों का और उनकी क्षणिकता का चिन्तन करना विपरिणाम अनुप्रेक्षा है;
- (३) अशुभ अनुप्रेक्षा — संसार, शरीर आदि की अशुचिता का चिन्तन करना अशुभ अनुप्रेक्षा है;
- (४) उपाय अनुप्रेक्षा — राग-द्वेष रूप दोषों का चिन्तन करना उपाय अनुप्रेक्षा है।

१३.२ वासनाओं का दमन हो या निरसन ?

मानव-व्यक्तित्व अनेक क्षमताओं से सम्पन्न है। उनमें से एक ऐन्द्रिक क्षमता भी है। आध्यात्मिक विकास की यात्रा में ऐन्द्रिक-क्षमता सहायक भी होती है और बाधक भी। इन्द्रियों की क्षमता का समुचित दिशा में उपयोग करने पर वे साधना में सहायक बन जाती हैं एवं उनका अनुचित दिशा में उपयोग करने पर बाधक बन जाती हैं। उत्तराध्ययनसूत्र में इन्द्रियसंयम एवं इन्द्रियदमन पर विशेष बल दिया गया है। इस में प्रयुक्त 'दमन' शब्द यह सोचने को विवश करता है कि वासनाओं का दमन होना चाहिये या निरसन ? इस प्रश्न के उत्तर से पूर्व यहां यह जानना भी हमारे लिये आवश्यक है कि दमन क्या है, निरसन क्या है, तथा दमन और निरसन में अन्तर क्या है ?

मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने पर यह प्रश्न स्वभाविक रूप से प्रस्तुत होता है कि अशुभ वृत्तियों से युक्त होने की तथा शुभप्रवृत्तियों में संलग्न होने की प्रक्रिया क्या है। अशुभप्रवृत्तियों (वासनाओं) का दमन करना चाहिये या निरसन? इसका समाधान हम विश्लेषण द्वारा प्रस्तुत करेंगे।

सामान्यतः दमन शब्द का प्रयोग बलपूर्वक होने वाले निरोध के अर्थ में किया जाता है। संस्कृतहिन्दीकोश में इस शब्द के अनेक अर्थ प्राप्त होते हैं उनमें से कुछ निम्न हैं — दबाना, नियन्त्रित करना, निरावेश, शान्त, आत्मसंयम, वश में करना

जीतना।^{६१} जहां तक निरसन शब्द के अर्थ का प्रश्न है उसका प्रचलित अर्थ 'निकालना' एवं 'दूर करना' है किन्तु संस्कृतहिन्दीकोश के अनुसार इसके निम्न अनेक अर्थ हैं - निकालना, प्रक्षेपन, हटाना, दूर करना, उद्वमन, उन्मूलन, निष्कासन, रोकना, दबाना, विनाश आदि।^{६२}

इस प्रकार कोश के अनुसार दमन एवं निरसन शब्द किसी सीमा तक समानार्थक प्रतीत होते हैं तो फिर क्या उपर्युक्त प्रश्न निराधार है ? नहीं, इस प्रश्न का आधार है इनका वर्तमान में प्रचलित मनोवैज्ञानिक अर्थ।

आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार दमन में वासना एवं नैतिकमन में संघर्ष चलता रहता है और जहां संघर्ष है वहां शान्ति कैसे ?

जैन शब्दावली में हम इसे उपशम की अवस्था कह सकते हैं। यह एक प्रकार की निरोध की स्थिति होती है; जैसे आते हुए गुस्से को पी जाना। किन्तु महत्त्व की बात तो यह है महावीर की साधना दमनमूलक नहीं प्रज्ञामूलक है अतः जैनागम में प्रयुक्त दमन शब्द भी निरसन का ही प्रतीक है।

उत्तराध्ययनसूत्र के प्रथम अध्ययन में स्पष्टतः कहा गया है कि संयम एवं तप के द्वारा दमन करना चाहिये।^{६३} इसे ही अधिक स्पष्ट करते हुए टीकाकार शान्त्याचार्य ने दमन का अर्थ विवेक द्वारा वासनाओं का उपशमन किया है।^{६४} इस प्रकार यहां दमन बलपूर्वक नहीं वरन् विवेक एवं संयम के द्वारा करने के लिये कहा गया है। बलपूर्वक दमन एवं विवेकपूर्वक दमन में महान अन्तर है। बल पूर्वक दमन में विचलन या विस्फोट की निःसंदेह सम्भावना रहती है जबकि विवेकपूर्ण दमन आध्यात्मिक विकास में अत्यन्त सहायक होता है। उसमें कहीं कोई विचलन की सम्भावना नहीं रहती है।

एक बच्चे को जब अग्नि के पास जाने के लिये बलपूर्वक रोका जाता है तो ऐसी स्थिति में उस बच्चे के अग्नि के पास जाने की सम्भावना बनी रहती है किन्तु बच्चे का यह विवेक जागृत हो जाय कि अग्नि जलाती है, अहितकारी है तो फिर वह स्वतः उसके पास जाने से रूक जाता है; फिर कभी भी उसकी अग्नि के पास जाने की सम्भावना नहीं रहती।

६१ संस्कृतहिन्दीकोश पृष्ठ ४८८।

६२ संस्कृतहिन्दीकोश पृष्ठ १३५।

६३ उत्तराध्ययनसूत्र १/१६।

६४ उत्तराध्ययनसूत्र टीका पत्र - ५२

-(शान्त्वावाची)।

उत्तराध्ययनसूत्र में मन का निरोध कैसे करना चाहिये, इस प्रक्रिया को सूक्ष्म रूप से व्याख्यायित किया गया है। इसके तेवीसवें अध्ययन में केशीभ्रमण, गौतम स्वामी से पूछते हैं कि आप एक ऐसे भयानक दुष्ट अश्व पर सवार हैं जो बड़ी तीव्र गति से भागता है, वह आपको उन्मार्ग की ओर न ले जाकर सन्मार्ग की ओर कैसे ले जा सकता है ? इस प्रश्न का प्रतीकात्मक उत्तर देते हुये गौतमस्वामी कहते हैं कि यह मन साहसिक दुष्ट अश्व है जो चारों ओर भागता है। उसे मैं जातिवान अश्व की तरह श्रुतरूपी रत्सियों से बांधकर समत्व एवं धर्म शिक्षा से उसका निग्रह करता हूँ।^{६६}

इस प्रकार धर्मशिक्षा, ज्ञान एवं समत्व के द्वारा मन का निग्रह करना दमन नहीं वरन् उदात्तीकरण है। उपर्युक्त गौतमस्वामी के उद्बोधन में तीन शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं विषय को स्पष्ट करने में सहायक हैं। 'सुयरस्सीसमाहियं', 'सम्मं' एवं 'धम्मसिक्खाए' इसमें श्रुत रूपी रस्सी से बांधने का तात्पर्य है विवेक एवं ज्ञान के द्वारा मन को सही मार्ग पर चलाना तथा सम्मं का आशय है समत्व द्वारा मन को सन्तुलित बनाना। इसी प्रकार धम्मसिक्खाए का अर्थ है धर्मशिक्षण द्वारा मन को सदप्रवृत्तियों में लगाना। इस प्रक्रिया से किया गया दमन वासनाओं का निरसन ही करता है न कि उपशमन। जैनदर्शन की साधना वासनाशून्यता की साधना है, अतः इसमें बलपूर्वक दमन नहीं वरन् विवेकपूर्वक शमन इष्ट है।

गीता में भी कहा गया है : 'अभ्यास एवं वैराग्य के द्वारा मन का निग्रह करें' यहां भी विवेकपूर्वक निग्रह की ही बात कही गयी है।^{६७} जैसे उत्तराध्ययनसूत्र में ज्ञान रूपी रस्सी से मन को वश में करने का कहा गया है वैसे ही यहां भी वैराग्य से मन को वश में करने की प्रेरणा दी गयी है एवं जिस प्रकार उत्तराध्ययनसूत्र में धर्म शिक्षा से मन को संयत करने का कहा गया है उसी प्रकार गीता में अभ्यास पूर्वक मनोनिग्रह करने की शिक्षा दी गई है।

आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार इन्द्रियों के व्यापार का निरोध अस्वाभाविक है। आंख के समक्ष उसका विषय उपस्थित हो और वह उसका अनुभव या दर्शन न करे तथा इसी प्रकार भोजन करते समय जिह्वा स्वाद को स्वीकार न करे यह असम्भव है। अतः यह विचारणीय है कि इन्द्रिय दमन के सन्दर्भ में

६६ उत्तराध्ययनसूत्र २३/१५ एवं १६।

६७ गीता ६/३५।

उत्तराध्ययनसूत्र का दृष्टिकोण आधुनिक मनोविज्ञान के दृष्टिकोण से कहां तक सहमत है। उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार इन्द्रिय निरोध से तात्पर्य इन्द्रियों को अपने अपने विषयों से विमुख या विलग करना नहीं है वरन् आत्मा को विषय-सेवन के निमित्त से उत्पन्न होने वाले भावों अर्थात् राग-द्वेष से अप्रभावित रखना है। इस सन्दर्भ में इस के बत्तीसवें अध्ययन में मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि इन्द्रियों के मनोज्ञ (प्रिय) अथवा अमनोज्ञ (अप्रिय) विषय आसक्त व्यक्ति के लिये राग-द्वेष के कारण होते हैं क्योंकि ऐन्द्रिक विषयों की अनुभूति रागी-व्यक्ति के लिये ही दुःख (बन्धन) का कारण होती है, किन्तु वीतरागियों के लिए बन्धन या दुःख का कारण नहीं होती है। शब्द आदि जो इन्द्रियों के विषय हैं उनकी अनुभूति वीतराग के मन में राग-द्वेष उत्पन्न नहीं करती है।⁶⁷

इस प्रकार ऐन्द्रिक विषयों की अनुभूति एक अलग तथ्य है और अनुकूल एवं प्रतिकूल अनुभूतियों में राग द्वेष करना एक अलग तथ्य है। अनुभूति विषयाश्रित है किन्तु राग-द्वेष व्यक्ति के आश्रित हैं। राग-द्वेष करने में व्यक्ति स्वतन्त्र होता है, जबकि विषयानुभूति में वह परतन्त्र है। इसे स्पष्ट करते हुये उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि कामभोग न किसी को बंधन में डालते हैं और न ही किसी को मुक्त करते हैं किन्तु विषयों में राग-द्वेष करने वाला व्यक्ति स्वयं विकृत होता है और फलतः दुःख को प्राप्त होता है, अतः विषयों का त्याग नहीं वरन् विषयों में होने वाली आसक्ति (राग-द्वेष) का त्याग करना है। इस तथ्य का समर्थन करते हुए उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है - 'यह सम्भव नहीं है कि कानों में पड़ने वाले अच्छे बुरे जो शब्द हैं, वे सुनने में ही न आये'। अतः शब्दों का नहीं, शब्दों के प्रति जगने वाले राग-द्वेष के भावों का त्याग करना चाहिए। यह भी शक्य नहीं कि आंखों के सामने वाला अच्छा या बुरा रूप न दिखाई दे। अतः रूप का नहीं, अपितु रूप के प्रति होने वाले राग-द्वेष का त्याग करना चाहिए। यह शक्य नहीं कि नासिका के समक्ष उपस्थित सुगन्ध या दुर्गन्ध की अनुभूति व्यक्ति को नहीं हो, अतः गन्ध का नहीं, किन्तु गन्ध के प्रति होने वाली राग-द्वेष की वृत्ति का त्याग करना चाहिए। यह शक्य नहीं की जीभ पर आयी हुई वस्तु के अच्छे या बुरे स्वाद की अनुभूति न हो, अतः रस का नहीं रस के प्रति उत्पन्न होने वाले राग-द्वेष का त्याग करना चाहिए। यह शक्य नहीं कि शरीर से सम्पृक्त होने वाले अच्छे या बुरे स्पर्श की

६७ 'असिद्धया य मगस्स आया, दुक्खस्स हेउं मणुवस्स रागिणो ।

ते वेव वोवीए कयइ दुक्खं, न वीपरागस्स करीते किंचि ॥

१ क्षम भोगा सम्यं उवेति, न यत्थि भोगा विगइ उवेति ।

२ तथ्यजोसी य परिगही य, सो तेसु भेहा विगइ उवेइ ॥'

- उत्तराध्ययनसूत्र ३२/१०० एवं १०१ ।

अनुभूति न हो, अतः स्पर्श का नहीं वरन् स्पर्श जन्य राग-द्वेष रूप मनोवृत्ति का त्याग करना चाहिए^{६६}। यही सत्य आचारांगसूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में भावना नामक अध्ययन में भी मिलता है।^{६७}

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचारांग एवं उत्तराध्ययनसूत्र आदि जैनागमों में वर्णित इन्द्रिय-निरोध का चित्रण पूर्णतः मनोवैज्ञानिक है। उत्तराध्ययनसूत्र के प्रथम अध्ययन में आया है : 'अप्पा चेव दमेयव्वो' - आत्मा (इन्द्रिय एवं मन) का दमन करना चाहिए।^{६८} यहां यह ध्यान रखना अत्यावश्यक है कि दमन साधना की प्राथमिक स्थिति है न कि अन्तिम स्थिति अर्थात् दमन से निरसन की ओर उन्मुख होना है। सामान्य जीव में एकाएक वासनाओं के निरसन की पात्रता नहीं होती है, अतः उसके लिये वासनाओं के दमन की प्रक्रिया में से होकर वासनाओं के निरसन की प्रक्रिया पर पहुंचना होता है।

यथार्थतः जैनदर्शन में साधना का सच्चा मार्ग क्षायिक है, औपशमिक नहीं। क्षायिक मार्ग वासनाओं के निरसन का मार्ग है; वह विकार वासना से ऊपर उठाता है जबकि औपशमिक मार्ग में वासनाओं का दमन होता है। औपशमिक मार्ग इच्छाओं के निरोध की प्रक्रिया है। क्षायिक मार्ग की तरह है जिसमें जल में रही हुई गन्दगी को दूर कर दिया जाता है जबकि औपशमिक मार्ग गंदे जल में फिटकरी आदि डालने का कारण जल में रही हुई गन्दगी पात्र में नीचे बैठ जाती है, समाप्त नहीं होती।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैनदर्शन भी आधुनिक मनोविज्ञान की तरह दमन को साधना का सच्चा मार्ग नहीं मानता है। उसके अनुसार साधना का सच्चा मार्ग वासनाओं का दमन नहीं अपितु चित्त विशुद्धि है; वासनाओं से ऊपर उठ जाना है। वह इन्द्रियों के निरोध या निग्रह की नहीं किन्तु इन्द्रियजन्य अनुभूतियों में भी मन की वीतरागता, तटस्थता, समत्व या साक्षीभाव की अवस्था है। उपर्युक्त तथ्य स्पष्टतः सूचित करता है कि जैनधर्म की साधना दमन की नहीं है। फिर भी जैनागमों में अनेक स्थलों पर दमन शब्द का प्रयोग हुआ है। इस परिप्रेक्ष्य में हमें यह समझ लेना चाहिए कि सामान्य स्तर पर प्रयोग किये जाने वाले दमन शब्द एवं आगमिक दमन शब्दों में महद् अन्तर है।

६६ उत्तराध्ययनसूत्र ३२/२२ - ६६।

६६ आचारांग २/१५/१-७८

६७ उत्तराध्ययनसूत्र १/१५।

- (जंगमुत्तमि, ताडनू, खण्ड १, पृष्ठ २३१-२४८)

अध्याय - १४

उत्तराध्ययनसूत्र का
सामाजिक दर्शन



उत्तराध्ययनसूत्र का सामाजिक दर्शन

उत्तराध्ययनसूत्र में तत्त्वमीमांसा एवं ज्ञानमीमांसा के साथ-साथ आचार मीमांसा सम्बन्धी अवधारणाएं भी व्यापक रूप से उपलब्ध होती हैं। इसमें प्रतिपादित सैद्धान्तिक अवधारणाओं का मुख्य प्रयोजन आध्यात्मिक चेतना के समुचित विकास के द्वारा सामाजिक व्यवहार की शुद्धि है।

(जैनधर्म निवृत्ति प्रधान धर्म है; अतः जन सामान्य की इसके प्रति यही धारणा रही है कि यह व्यक्तिवादी धर्म है, किन्तु यथार्थ चिन्तन के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि जैनधर्म को असामाजिक या व्यक्तिवादी धर्म मानना नितान्त असंगत है।

प्रश्नव्याकरणसूत्र में कहा गया है कि अहिंसा आदि के उपदेश का प्रयोजन लोकहित या लोकमंगल भी हैं^१ और यह लोकमंगल सामाजिक व्यवहार की शुद्धि पर आधारित है। इसी प्रकार उत्तराध्ययनसूत्र में वर्णित सिद्धान्तों की सामाजिक उपयोगिता अनेक प्रकार से सिद्ध होती है। अतः प्रस्तुत अध्याय में हम उत्तराध्ययनसूत्र के सिद्धान्तों की सामाजिक जीवन एवं सामाजिक व्यवहार के क्षेत्र में क्या उपयोगिता है, इस पर विचार करेंगे।)

(उत्तराध्ययनसूत्र दुःख की यथार्थता के चित्रण के साथ दुःख विमुक्ति का जीवनदर्शन भी प्रस्तुत करता है।^२ इस सन्दर्भ में ज्ञातव्य है कि दुःख विमुक्ति का यह प्रत्यय वैयक्तिक न होकर सामाजिक है क्योंकि यह स्वयं की दुःख विमुक्ति के साथ प्राणीमात्र की दुःखमुक्ति की बात करता है। यही नहीं इसके प्रत्येक सिद्धान्त के साथ सामाजिकता का तत्त्व जुड़ा हुआ है। अहिंसादि पांच महाव्रतों की व्यक्तिगत उपयोगिता के साथ सामाजिक उपयोगिता भी है, क्योंकि हिंसा, झूठ, चोरी, व्याभिचार और संग्रह यह सब सामाजिक जीवन की ही दुष्प्रवृत्तियां हैं। अतः इनका त्याग स्व-पर दोनों के लिये ही हितकर है। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो पूर्वोक्त

१ प्रश्नव्याकरण - ६/१-१२

२ उत्तराध्ययनसूत्र - ३२/७, ८।

- (अंगसूक्ति, लाहौर, खंड ३, पृष्ठ ६८३)।

दुष्प्रवृत्तियों से विमुख होना व्यक्तिगत एवं सामाजिक दोनों ही जीवनधारकों के लिये श्रेयस्कर है। इसी प्रकार उत्तराध्ययनसूत्र का बत्तीसवां अध्ययन अनासक्त जीवन जीने की प्रेरणा देता है। यह अनासक्त दृष्टि प्राणीमात्र के कल्याण की शुभ भावना से असम्पृक्त नहीं है। पुनश्च इसमें एक प्रसंग पर यह भी कहा गया है 'मेत्ति भूए कप्पए' अर्थात् प्राणीमात्र के साथ मैत्री की स्थापना करनी चाहिए।^३ यह प्राणी मात्र के प्रति मैत्रीभाव की कल्पना सामाजिक कल्याण की भावना से भिन्न नहीं है।

(उत्तराध्ययनसूत्र श्रमणधर्म एवं श्रावकधर्म दोनों की विवेचना करता है सूत्रकार का आशय श्रमणधर्म के द्वारा ऐसे वर्ग की स्थापना करना है जो निस्वार्थ निस्पृह और वीतराग भाव से अपने एवं दूसरों के कल्याण में ही अपना समय व्यतीत करे। इसी प्रकार इसमें गृहस्थधर्म की व्यवस्था के भी कुछ ऐसे संकेतात्मक निर्देश दिये गये हैं जिनके द्वारा व्यक्ति सदाचारी होकर परिवार, देश एवं समाज क सर्वांगीण विकास कर सकता है।^४ जैन धर्म में श्रावक के बारह व्रतों की व्यवस्था एक स्वस्थ समाज की संरचना का आधार है। सदाचारी एवं सुव्रती श्रावकों के द्वारा ही उत्कृष्ट समाज का गठन सम्भव हो सकता है।) अब हम अग्रिम क्रम में कुछ बिन्दुओं के परिप्रेक्ष्य में उत्तराध्ययनसूत्र के सामाजिक दर्शन को व्याख्यायित करने का प्रयास करेंगे।

१४.१ वर्णव्यवस्था एवं जातिगत श्रेष्ठता का खण्डन

एक आदर्श समाज के लिये सामाजिक समता आधारभूत सिद्धान्त होता है। समाज के सभी सदस्यों का समान मूल्य एवं महत्त्व स्वीकार करना सामाजिक समता का मुख्य आधार है। समाज व्यवस्था में यह अत्यावश्यक है कि समाज के विभिन्न सदस्यों के बीच कार्यों का विभाजन उनकी योग्यता के आधार पर हो समाज के सभी सदस्यों का बौद्धिक विकास, कार्य, रूचि आदि में वैविध्य होता है और इस आधार पर उनके दायित्व या कार्य भी भिन्न-भिन्न होते हैं। उत्तराध्ययनसूत्र में योग्यताओं के आधार पर कार्यों के विभाजन को स्वीकार किया गया है। उसमें स्पष्ट रूप से यह प्रतिपादित किया गया है कि कर्म के आधार पर

३ उत्तराध्ययनसूत्र - ६/२।

४ उत्तराध्ययनसूत्र - ४/२; ५/६।

ही व्यक्ति ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र होता है।^१ इस प्रकार उत्तराध्ययनसूत्र कर्मणा वर्णव्यवस्था को स्वीकार करता है, किन्तु वह यह मानकर चलता है कि व्यक्ति की श्रेष्ठता या हीनता उसकी सम्पन्नता या सामाजिक दायित्व के आधार पर नहीं अपितु उसके वैयक्तिक चरित्र या सदगुणों के आधार पर होती है। कर्तव्य क्या है, यह महत्त्वपूर्ण नहीं है; महत्त्वपूर्ण है उस कर्तव्य का निर्वाह किस निष्ठा सहित किया जा रहा है।

उत्तराध्ययनसूत्र जहां एक ओर कर्मणा वर्णव्यवस्था को स्वीकार करता है, वहीं दूसरी ओर वर्णगत या जातिगत श्रेष्ठता को अस्वीकार करता है। इसमें जन्मना, वर्ण-व्यवस्था की स्पष्ट समीक्षा उपलब्ध होती है। इसके अनुसार जाति की कोई श्रेष्ठता नहीं, श्रेष्ठता व्यक्ति के चरित्र की है। वस्तुतः समाज व्यवस्था के क्षेत्र में कर्म पर आधारित वर्ण-व्यवस्था (श्रम विभाजन) को परिवर्तित करके जब उसे तथाकथित उच्चवर्गों के निहित स्वार्थों के द्वारा जन्म के आधार पर बनाने का कार्य किया गया तभी उसके प्रति एक विद्रोह का स्वर मुखर हुआ और वही स्वर उत्तराध्ययनसूत्र के बारहवें अध्ययन में ध्वनित होता है। उत्तराध्ययनसूत्र में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र के दायित्वों की व्यापक रूप से चर्चा की गई है, जो निम्न है -

(१) ब्राह्मण

उत्तराध्ययनसूत्र में चारों वर्णों में ब्राह्मणों की प्रमुखता इसी आधार पर स्वीकार की गई कि वे चरित्रवान् हों। ब्राह्मण कुल में जन्म लेने मात्र से कोई ब्राह्मण नहीं होता, अपितु व्यक्ति अपने चरित्र के बल से ब्राह्मण होता है। उत्तराध्ययनसूत्र स्पष्टतः उस ब्राह्मण की श्रेष्ठता को स्वीकार करता है जिसका आचरण उत्तम हो। इसके पंचवीसवें अध्ययन में ब्राह्मणों की विशेषताओं का वर्णन करते हुए बताया गया है कि जो उत्तम गुणों से युक्त होता है, वही ब्राह्मण कहलाने का अधिकारी है। ब्राह्मण के लिए जैनागमों एवं उत्तराध्ययनसूत्र में भी 'माहण' शब्द का प्रयोग किया गया है।^२ 'माहण' शब्द में 'मा' का अर्थ 'निषेध' एवं 'हण' का अर्थ हिंसा या हनन

१ उत्तराध्ययनसूत्र - २५/३१।

२ (क) आषाढगण - १/३/३/४५; १/४/४/२०; १/८/१/१४ (लक्ष्मण);

(ख) सूक्तगण - १/१/६; १/२/५; १/३/३२ (लक्ष्मण);

(ग) उत्तराध्ययनसूत्र - २५/१६-२७।

करना है। इस प्रकार जो हिंसक/क्रूर कर्म नहीं करता है, वही ब्राह्मण है। उत्तराध्ययनसूत्र में विद्या को ब्राह्मण की सम्पदा कहा गया है।⁷

उत्तराध्ययनसूत्र में ब्राह्मणों के जो कर्तव्य निरूपित किये गये हैं, वे जैनश्रमण की आचार-संहिता के साथ अत्यधिक सामंजस्य रखते हैं, यथा- जो पापरहित होने से संसार में अग्नि की तरह पूजनीय, श्रेष्ठ पुरुषों द्वारा प्रशंसनीय, सम्भावी, मधुरभाषी, कालिमा से रहित, स्वर्ण की तरह राग-द्वेष एवं भय आदि दोषों से रहित, तपस्वी, जितेन्द्रिय, सदाचारी, निर्वाणाभिमुख, मन, वचन एवं काया से त्रस एवं स्थावर जीवों की हिंसा नहीं करने वाला, क्रोधादि के वशीभूत होकर असत्य वचन नहीं बोलनेवाला, अदत्त वस्तु को ग्रहण नहीं करनेवाला, मन, वचन, काया से मैथुन का त्यागी, कमल की तरह कामभोगों में अलिप्त रहने वाला अलोलुपी, क्षुधाजीवी अर्थात् भिक्षावृत्ति से क्षुधानिवृत्ति करनेवाला तथा सभी प्रकार के संयोगों से मुक्त है, वह ब्राह्मण है।⁸

(२) क्षत्रिय

उत्तराध्ययनसूत्र जहां एक ओर ब्राह्मणों के प्रभुत्व को प्रस्तुत करता है, वहां क्षत्रियों की गौरवगाथा को भी प्रस्तुत करता है। इसमें ऐसे अनेक क्षत्रिय राजाओं का उल्लेख है जिन्होंने घरपरिवार, राज्यवैभव का त्याग कर संयम जीवन स्वीकार किया और अन्ततः मुक्तिपद को प्राप्त किया।⁹

इसके नवम अध्यायन में क्षत्रियोचित कर्म का व्यापक रूप से उल्लेख किया गया है। इन्द्र नमिराजर्षि को कहते हैं कि हे क्षत्रिय! आप सर्वप्रथम अपने कर्तव्य को पूर्ण करें तत्पश्चात् संयम स्वीकार करें। इन्द्र क्षत्रियधर्म का वर्णन करते हुए कहते हैं कि हे क्षत्रिय! पहले आप नगर का परकोटा, नगर का द्वार, अट्टालिकायें, दुर्ग की खाई, शतघ्नी (एक बार में सैकड़ों लोगों को मारनेवाला यन्त्र अर्थात् तोप) आदि का निर्माण करके अनेक राजाओं को अपने वश में कीजिये, साथ ही लुटेरों, डाकुओं एवं चोरों से नगर की सुरक्षा की व्यवस्था कीजिये, श्रमण एवं

७ उत्तराध्ययनसूत्र - २५/१८ ।

८ उत्तराध्ययनसूत्र - २५/१९-२७ ।

९ उत्तराध्ययनसूत्र - १८/३४-५० ।

ब्राह्मणों को दान देकर, सांसारिक भोगों को भोगकर एवं यज्ञ अनुष्ठान आदि करके फिर मुनि जीवन अंगीकार कीजिए।¹⁰

इसके प्रत्युत्तर में नमिराजर्षि कहते हैं कि कर्मशत्रुओं पर विजय प्राप्त करना ही सबसे बड़ी विजय है क्योंकि दुर्जय संग्राम में दस लाख योद्धाओं को जीतने की अपेक्षा स्वयं पर विजय प्राप्त करना ही परम विजय है। इन्द्र के प्रश्नों का प्रतीकात्मक उत्तर देते हुए नमिराजर्षि आगे यह भी कहते हैं कि श्रद्धा नगर है, तप संवर अर्गला है, क्षमा प्राकार है, तीन गुप्तियां शतघ्नी (शस्त्र) हैं, संयम में पराक्रम धनुष है; ईर्यासमिति उसकी प्रत्यंचा है। धैर्य केतन अर्थात् मूठ है; सत्य उस धनुष की डोरी है, तप रूपी बाणों से युक्त इस धनुष से कर्मरूपी कवच को भेद कर अन्तर्युद्ध में विजेता बनना ही सर्वश्रेष्ठ विजेता बनना है। वास्तव में विजय तो पांच इन्द्रियों तथा क्रोध, मान, माया एवं लोभ पर ही करनी होती है। नमिराजर्षि ने दानधर्म से सयमधर्म को श्रेष्ठ बतलाया है। संयमी में जीवों को अभयदान अर्थात् जीवनदान देता है वही सर्वश्रेष्ठ दान है।¹¹

इस प्रकार उत्तराध्ययनसूत्र की दृष्टि में केवल शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर अपने राज्य की सुरक्षा करना ही क्षत्रियधर्म नहीं है, अपितु अपने कर्मशत्रुओं से लड़ते हुए अपनी वासनाओं पर विजय प्राप्त करना सच्चा क्षत्रिय धर्म है।

(३) वैश्य

उत्तराध्ययनसूत्र में ब्राह्मण एवं क्षत्रियवर्ण के साथ वैश्यवर्ण का भी उल्लेख किया गया है। इसमें वैश्यजन के लिये 'वणिक' शब्द का प्रयोग किया गया है। व्यापार करने के कारण इन्हें वणिक कहा जाता है।¹² वैश्यवर्ण देश-विदेश में व्यापार-व्यवसाय करता था। उत्तराध्ययनसूत्र के इक्कीसवें अध्ययन में पालित नामक वणिक का समुद्र के पार पिहुण्ड नगर में व्यापार करने के लिए जाने का उल्लेख है। साथ ही इसमें वणिक के लिये श्रावक शब्द का प्रयोग भी किया गया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि जैन गृहस्थवर्ण भी वणिक होते थे; साथ ही वे शास्त्रों के रहस्य को जानने वाले भी होते थे।¹³

१० उत्तराध्ययनसूत्र - ६/१८, २४, २८, ३२, ३८ ।

११ उत्तराध्ययनसूत्र - ६/२०, २१, २२, ३४, ३६, ४० ।

१२ उत्तराध्ययनसूत्र - २१/१ ।

१३ उत्तराध्ययनसूत्र - २१/२ ।

वैश्यवर्ण के लोग श्रमणजीवन भी अंगीकार करते थे। उत्तराध्ययनसूत्र में अनाथीमुनि आदि के ऐसे अनेक उदाहरण हैं जो वैश्यकुल में जन्म लेकर जैनसंघ में दीक्षित हुए थे।¹⁴ उपासकदशांग में भगवान महावीर के जिन दस प्रमुख श्रावकों का वर्णन मिलता है वे सभी वैश्यकुल से सम्बन्धित हैं। इन श्रावकों के जीवनवृत्त से यह भी ज्ञात होता है कि व्यवसाय के अतिरिक्त कृषिकर्म भी वैश्यों का प्रमुख कार्य था। जैनाचार्यों की दृष्टि से कृषक और व्यवसायी दोनों ही वैश्य कुल से सम्बन्धित थे।

(४) शूद्र

शूद्रवर्ण की स्थिति प्रायः दयनीय होती है। समाज में इन्हें हेय दृष्टि से देखा जाता है। ये प्रायः निम्नश्रेणी के कार्य किया करते हैं तथा इनका सर्वत्र निरादर किया जाता है, किन्तु उत्तराध्ययनसूत्र में कुछ ऐसे व्यक्तियों का भी उल्लेख किया गया है, जो निम्नकुल या शूद्रवर्ण में जन्म लेने के उपरान्त भी अपनी योग्यताओं से सर्वत्र पूजनीय बन गये। जैसे चाण्डाल जाति में उत्पन्न हरिकेशबल जैनश्रमण बन गये और उच्च पद को प्राप्त किया।¹⁵ इसी प्रकार पूर्वभव में चाण्डालकुल में उत्पन्न चित्र एवं सम्भूत ने तपस्या करके देवलोक को प्राप्त किया था।¹⁶

उत्तराध्ययनसूत्र में उल्लिखित वर्णव्यवस्था के आधार पर यह स्पष्ट परिलक्षित हो जाता है कि इसमें जातिगत श्रेष्ठता का निर्धारक तत्त्व जन्म नहीं वरन् कर्म रहा है। उपर्युक्त चर्चा से यह तथ्य भी स्पष्ट हो जाता है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र इस वर्ण विभाजन का आधार व्यक्ति की योग्यता और उसके द्वारा अपनाये गये कार्य विशेष हैं न कि उसकी वंशपरम्परा। यही बात श्रीकृष्ण ने गीता में कही है:- 'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्म विभागशः' अर्थात् मेरे द्वारा गुण एवं कर्म के आधार पर चारों वर्णों की स्थापना की गई है।¹⁷

उत्तराध्ययनसूत्र में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र इन चारों वर्णों में से एक को भी हीन या उच्च दृष्टि से नहीं देखा गया है। आचारांगसूत्र में भी कहा

१४ उत्तराध्ययनसूत्र - बीसवां अध्यायन ।

१५ उत्तराध्ययनसूत्र - १२/१ ।

१६ उत्तराध्ययनसूत्र - १३/६, ७ ।

१७ गीता - ४/१३ ।

गया है: 'नो हीने नो अइरित्ते' अर्थात् कोई हीन या उच्च नहीं है।¹⁸ इसी प्रकार आचारंगनिर्युक्ति में भी कहा गया है: 'एवका मणुस्स जाई' अर्थात् मनुष्यजाति एक है।¹⁹ सम्पूर्ण मानवजाति को एक मानने पर भी चार प्रकार के वर्णों की स्थापना का उद्देश्य समाज को एक समुचित व्यवस्था देना तथा श्रम का उचित विभाजन करना था। एक व्यक्ति में सभी प्रकार की योग्यता का होना सम्भव नहीं होता। अतः समाज की जो चार महत्त्वपूर्ण आवश्यकतायें थीं— शिक्षण, रक्षण, उपार्जन एवं सेवा उसके आधार पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, एवं शूद्र वर्ण की व्यवस्था की गई किन्तु इसमें यह आवश्यक नहीं था कि ब्राह्मणकुल में जन्म लेनेवाला व्यक्ति ब्राह्मणोचित योग्यता के अभाव में भी ब्राह्मण ही कहलाये। कर्मणा जातिव्यवस्था का सबसे महत्त्वपूर्ण योगदान सामाजिक विषमता को दूर करना और ऊँच-नीच की भावनाओं को तिलांजलि देना था।

वैदिकसंस्कृति में प्रतीकात्मक रूप से यह माना जाता है कि ब्रह्मा के सिर से ब्राह्मण, भुजा से क्षत्रिय, पेट से वैश्य एवं पैर से शूद्र की उत्पत्ति हुई,²⁰ उसका आशय यह होना चाहिये कि ब्राह्मणवर्ण विद्वत्वर्ग के अन्तर्गत आता है; अतः जो बुद्धि से काम लेता है उसकी उत्पत्ति का सिर से होना सार्थक है। भुजा पौरुष का प्रतीक है और क्षत्रिय वर्ग शूरीवीरता का द्योतक है ही, अतः उसकी भुजा से उत्पत्ति भी सार्थक कल्पना है। इसी प्रकार से पालन में व्यापारी वर्ग का विशिष्ट योगदान होता है; अतः पेट से वैश्य की उत्पत्ति बतलाना भी समुचित है तथा पैर, सेवा देने में तत्पर रहते हैं, शरीर का वजन अपने ऊपर उठाते हैं; अतः सेवकवर्ग (शूद्र) की उत्पत्ति पैरों से मानने का भी औचित्य है।

१४.२ विवाह संस्था एवं उसके उद्देश्य

उत्तराध्ययनसूत्र एक अध्यात्मपरक ग्रन्थ है, अतः उसमें स्पष्ट रूप से विवाह सम्बन्धी किसी सूचना की कल्पना करने का कोई औचित्य नहीं है; फिर भी इसमें वर्णित सन्दर्भों में तत्कालीन विवाहसम्बन्धी अनेक तथ्य उजागर हुए हैं।

१८ आचारंग - १/२/३/४६ - (अंगसुत्तानि, लाहन्, खंड १, पृष्ठ २०)

१९ आचारंगनिर्युक्ति - १६ - (निर्युक्तिसंग्रह, पृष्ठ ४२२)।

२० ऋग्वेद-२१/१० - उद्धत् 'जैन, बौद्ध और गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' भाग-२, पृष्ठ १७६।

विवाह क्या है इसे स्पष्ट करते हुये डॉ. सुदर्शनलाल जैन ने लिखा है: 'स्त्री और पुरुष के मधुर मिलन को एक सूत्र में बांधने वाली सामाजिक प्रथा विवाह है।'²¹ विवाह शब्द की व्युत्पत्तिपरक व्याख्या करने पर 'विशेषण वाहयति संचालयति इति विवाहः' अर्थात् जिसका विशेषरूप से वहन/संचालन किया जाता है वह विवाह है। उत्तराध्ययनसूत्र में प्राप्त विवाहसम्बन्धी चर्चा को हम निम्न रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं—

(१) सामान्यतः वर एवं कन्या दोनों के माता-पिता, अभिभावक या अन्य परिवारजन विवाह प्रस्ताव को रखते एवं तय करते थे। उत्तराध्ययनसूत्र के बाईसवें अध्ययन में यह उल्लेख है कि भगवान अरिष्टनेमि के युवा हो जाने पर उनके अग्रज श्रीकृष्ण ने नेमिकुमार के विवाहसम्बन्ध के लिये उग्रसेन की पुत्री राजीमती की याचना की थी।²²

(२) उत्तराध्ययनसूत्र के काल में कुछ राजकन्यायें भेंट स्वरूप भी दी जाती थीं। यह तथ्य इस बात से सिद्ध होता है कि सर्वगुणसम्पन्न नेमिकुमार को अपनी राजपुत्री देने के लिये उग्रसेन राजा का यह कहना कि यदि कुमार यहां आये तो मैं अपनी कन्या उन्हें दे सकता हूँ।²³

(३) देवता की प्रेरणा के द्वारा भी पाणिग्रहण किया जाता था अर्थात् देवता यह निर्धारित कर देते थे कि किसका विवाह किसके साथ सम्पन्न किया जाय। उत्तराध्ययनसूत्र के बारहवें अध्ययन में यह उल्लेख आता है, जिसमें यक्ष राजकुमारी भद्रा का विवाह, हरिकेशीमुनि के साथ करने को कहता है।²⁴

(४) विदेशयात्रा पर गये व्यापारी का विवाह उन देशों में भी हो जाता था। पालित नामक श्रावक व्यापार के लिये जब पिहुण्ड नगर जाता है तो वहां का एक व्यापारी अपनी पुत्री का विवाह उससे कर देता है।²⁵

(५) उत्तराध्ययनसूत्र के इक्कीसवें अध्ययन में यह उल्लेख मिलता है कि समुद्रपाल के पिता ने उसके लिये एक रूपिणी नाम की कन्या ला दी। अतः यह सिद्ध होता है कि माता-पिता अपने पुत्र के लिये कन्या पसन्द करते थे।²⁶

२१ उत्तराध्ययनसूत्र : एक परिशीलन पृष्ठ

२२ उत्तराध्ययनसूत्र - २२/६ ।

२३ उत्तराध्ययनसूत्र - २२/८ ।

२४ उत्तराध्ययनसूत्र - १२/२१ ।

२५ उत्तराध्ययनसूत्र - २१/३ ।

२६ उत्तराध्ययनसूत्र - २१/७ ।

(६) उस समय बारात ले जाने की प्रथा भी थी। नेमिकुमार अपने राजसी वैभव सहित श्रेष्ठ गंधहस्ती पर सवार होकर चतुरंगिणी सेना एवं गाजे बाजे के साथ सपरिवार विवाह के लिये प्रस्थान करते हैं। इसमें यह भी उल्लेख मिलता है कि वर और कन्या को नाना प्रकार के आभूषणों से अलंकृत भी किया जाता था।²⁷

(७) बारात में सभी प्रकार के अर्थात् ऊंच नीच सभी कुलों के व्यक्ति आते थे और उनके लिये भोजन आदि की व्यवस्था की जाती थी अर्थात् विवाहभोज का आयोजन बड़े पैमाने पर होता था।²⁸

(८) उत्तराध्ययनसूत्रकालीन युग में बहुविवाह प्रथा का भी प्रचलन था। जैसे मृगापुत्र अनेक पत्नियों के साथ देवसदृश भोग भोगता था।²⁹ इसमें यह भी उल्लेख आता है कि मृगापुत्र के पिता बलभद्र की पटरानी का नाम मृगा था।³⁰ यह सूचित करता है कि बलभद्र राजा की और अन्य रानियां भी थीं। राजा वसुदेव की भी रोहणी एवं देवकी ये दो रानियां थीं।³¹

(९) उत्तराध्ययनसूत्र में यह भी उल्लेख आता है कि विधवा स्त्री कभी-कभी अन्य पुरुष के साथ भी चली जाती थी, किन्तु इस सन्दर्भ में यह ज्ञातव्य है कि विधवा का अन्य पुरुष के साथ जाना निन्दनीय कृत्य ही माना जाता था।³²

(१०) उत्तराध्ययनसूत्र में यह भी देखने को मिलता है कि जब स्त्री मन से एक पुरुष को पति के रूप में स्वीकार कर लेती थी तब उसके पश्चात् वह अन्य पुरुष की कल्पना को भी पाप/अनुचित मानती थी। राजीमती नेमिकुमार के लौट जाने पर उनके मार्ग का ही अनुसरण करती है। वह अन्य पुरुष को पति के रूप में स्वीकार नहीं करती है।³³

(११) तत्कालीन युग में प्रेम-परिणय भी होते थे। यह बात उत्तराध्ययनसूत्र के आठवें अध्ययन की कथावस्तु से उजागर होती है। कपिल ब्राह्मण एक दासी के प्रेम में आसक्त था। प्रेम सम्बन्धों में जाति का ध्यान भी नहीं रखा जाता था।

२७ उत्तराध्ययनसूत्र - २२/६, १० ।

२८ उत्तराध्ययनसूत्र - २२/१७ ।

२९ उत्तराध्ययनसूत्र - १६/३ ।

३० उत्तराध्ययनसूत्र - १६/१ ।

३१ उत्तराध्ययनसूत्र - २२/२ ।

३२ उत्तराध्ययनसूत्र - १३/२५ ।

३३ उत्तराध्ययनसूत्र - २२/२६ ।

विवाह का उद्देश्य

वैवाहिक रीति रिवाजों की चर्चा करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि जैनदर्शन में विवाह को साध्य या कामपुरुषार्थ के रूप में उचित नहीं माना गया है।

जैनपरम्परा में जहां श्रमणसंस्था पूर्णतः ब्रह्मचर्य का पालन करती है अर्थात् वह स्त्री-पुरुष सम्बन्धी क्रियाओं से सर्वथा विरत होती है, वहां गृहस्थ साधक स्वदारा संतोष या स्वपुरुष संतोष व्रत का पालन करता है अर्थात् उसके लिये यह आवश्यक है कि वह अपनी सम्भोग की आकांक्षा को मर्यादित करे - उसे स्वस्त्री या स्वपुरुष तक ही सीमित रखे।

जैनदर्शन में विवाह का पूर्णतः निषेध नहीं किया गया है, किन्तु इसके अनुसार विवाह का उद्देश्य घर-परिवार बसाना या संतानोत्पत्ति नहीं है। इसमें विवाह को मात्र इसलिये आवश्यक माना गया है कि प्रत्येक व्यक्ति सन्यासी (श्रमण) नहीं हो सकता। अतः व्यक्ति की कामेच्छा का निर्वाह एक सीमित दायरे में करने के लिये विवाह का प्रावधान रखा गया है। श्रावक के व्रतों के अन्तर्गत यह विधान है कि उसे स्वपत्नी में संतोष रखने एवं परस्त्री से विरत होने की प्रतिज्ञा लेनी होती है।

उत्तराध्ययनसूत्र में अनेक राजा-महाराजाओं एवं श्रेष्ठीपुत्रों के विवाह के पश्चात् संयम अंगीकार करने का वर्णन है।³⁴ इससे भी यह स्पष्ट होता है कि विवाह का उद्देश्य भी अन्ततः निवृत्तिमय या त्यागमय जीवन की ओर उन्मुख होना ही है।

१४.३ पारिवारिक जीवन

सामान्यतः एक साथ एक घर में रहने वाले एक कुल के सदस्यों का समूह परिवार कहा जाता है। इसका व्युत्पत्तिपरक अर्थ करने पर 'परितः वारयति इति' अर्थात् जो चारों ओर से घेरे रखता है, वह परिवार कहलाता है।

परिवार के सन्दर्भ में डॉ. निरंजन अग्रवाल लिखते हैं कि 'परिवार की परिभाषा में उन सभी व्यक्तियों एवम् वस्तुओं के नाम आते हैं, जिनके बने रहने में आप सुख का अनुभव करते हैं और जिनके बिगड़ने में आप दुःख का अनुभव करते

हैं, जिनके संयोग में आप प्रसन्न होते हैं और जिनके वियोग में आप परेशान होते हैं; जिनकी अनुकूलता में आप चैन से रहते हैं और जिनकी प्रतिकूलता में आप बैचेन हो जाते हैं। डॉ. अग्रवाल की उपर्युक्त परिभाषा परिवार को एक व्यापक आयाम देती है। उनके अनुसार परिवार के मुख्य तीन अंग हैं - (१) शरीर (२)सम्बन्धी (पति, पुत्र, पुत्रियां, माता, पिता, भाई, बहिन आदि) (३) सम्पत्ति।^{३९}

परिवार के व्युत्पत्तिपरक अर्थ में उपर्युक्त तीनों अंगों का समावेश हो जाता है तथापि परिवार में सामान्यतः पारिवारिक सदस्यगण का ही ग्रहण किया जाता है। अतः हम अग्रिम क्रम में उत्तराध्ययनसूत्र के परिप्रेक्ष्य में पारिवारिक सदस्य कौन-कौन होते थे, उनकी क्या स्थिति थी तथा उनका आपसी व्यवहार क्या था, इसकी चर्चा प्रस्तुत करेंगे।

उत्तराध्ययनसूत्र और पारिवारिक जीवन

उत्तराध्ययनसूत्र में पारिवारिक जीवन के सन्दर्भ में भी अनेक महत्वपूर्ण सूचनायें उपलब्ध होती हैं। इसमें वर्णित कथानकों के माध्यम से हमें तत्कालीन पारिवारिक परिवेश का परिचय प्राप्त होता है। उस युग में परिवार का प्रत्येक सदस्य अपने अपने कर्तव्य का समुचित रूप से पालन करता था। अतः इसमें हमें आदर्श माता-पिता, आदर्श सन्तान, आदर्श पति, आदर्श पत्नी, आदर्श भ्राता एवं आदर्श बहिन के दर्शन होते हैं। हम उत्तराध्ययनसूत्र की पारिवारिक स्थिति को निम्न बिन्दुओं के आधार पर विश्लेषित कर सकते हैं -

संयुक्त परिवार प्रणाली

उत्तराध्ययनसूत्र के कुछ कथानकों से यह परिलक्षित होता है कि उस समय संयुक्त परिवार प्रथा का अधिक प्रचलन था। इस के कथानकों में दादा-दादी का उल्लेख कहीं भी प्राप्त नहीं होता है, किन्तु इसके अधिकांश कथानकों में माता-पिता, पुत्र तथा पुत्रवधु की चर्चा आती है। मृगापुत्र, अनाथी मुनि, समुद्रपाल

३९: परिवार में रहने की कला - पृष्ठ ६।

आदि की कथाओं में संयुक्त परिवार के ही उदाहरण मिलते हैं;^{३६} वहाँ परिवार की आधुनिक परिभाषा अर्थात् पति पत्नी एवं बच्चों वाली प्रथा दिखाई नहीं देती है।

लघु एवं विशाल परिवार

जहाँ तक उत्तराध्ययनसूत्र की कथाओं का प्रश्न है उसमें हमें अधिकांश छोटे परिवारों के ही उल्लेख प्राप्त होते हैं। इसमें अनाथीमुनि के संदर्भ को छोड़कर कहीं भी अधिक बड़े परिवार के संदर्भ नहीं मिलते हैं। अनाथीमुनि अवश्य अपने गृहस्थजीवन का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि मेरे बड़े एवं छोटे भाई तथा मेरी बड़ी एवं छोटी बहनें मेरी वेदना से दुःखी थीं; किन्तु वहाँ इनकी भी निश्चित संख्या नहीं दी गई है^{३७}। शेष चित्र सम्भूति आदि अन्य अध्ययनों में एक या दो सन्तान के ही उल्लेख प्राप्त होते हैं। बहुपत्नी प्रथा का प्रचलन भी इसमें अल्पमात्रा में ही दृष्टिगोचर होता है। अतः अधिकांश लघुपरिवार ही होते थे।

सौहार्दपूर्ण पारिवारिक स्थिति

उस समय पारिवारिक सम्बन्ध अत्यन्त सौहार्दपूर्ण एवं स्नेहयुक्त होते थे। उत्तराध्ययनसूत्र के कथानकों में हमें मातृप्रेम, पितृप्रेम, पुत्रप्रेम, भातृप्रेम, पतिप्रेम आदि के विशिष्ट उदाहरण उपलब्ध होते हैं। इसमें एक भी उदाहरण इस प्रकार का उपलब्ध नहीं होता है, जिसमें पारिवारिक वातावरण अशान्त, कलहपूर्ण एवं दुःखी हो। प्रायः परिवार के किसी भी सदस्य में आपसी ईर्ष्या, घृणा तथा द्वेष का अभाव ही पाया जाता है।

परिवार के प्रमुख सदस्य

उत्तराध्ययनसूत्र के काल में सामान्यतः एक परिवार में माता पिता, पुत्र एवं पुत्रवधुयें होती थीं। इसके कथानकों में प्रायः इन्हीं सदस्यों का वर्णन उपलब्ध होता है। इन सदस्यों का परिवार में क्या स्थान था एवं परिवार के ये सदस्यगण अपने-अपने कर्तव्य का किस प्रकार पालन करते थे, इसका सुन्दर

३६ उत्तराध्ययनसूत्र-अध्ययन - १६, २०, २१।

३७ उत्तराध्ययनसूत्र - २०/२६, २७।

चित्रण उपलब्ध होता है, जिसे हम प्रत्येक सदस्य के सन्दर्भ में निम्नरूप से आलेखित कर सकते हैं -

माता-पिता एवं पुत्र

परिवार में माता पिता का प्रमुख एवं प्रथम स्थान था। सन्तान अपना प्रत्येक कार्य माता-पिता की आज्ञा से ही सम्पन्न करती थी। यहां तक कि माता-पिता की अनुमति के बिना संयम भी ग्रहण नहीं किया जाता था। उत्तराध्ययनसूत्र में भृगुपुरोहित के दोनों पुत्र, मृगापुत्र, समुद्रपाल आदि के अनेक ऐसे वर्णन आते हैं जिसमें पुत्र संयम के लिये माता-पिता से सविनय अनुमति प्राप्त करते हैं।³⁸ जैनग्रन्थों में प्रायः ऐसे उदाहरणों का अभाव ही है, जिसमें किसी व्यक्ति ने बिना माता-पिता की अनुमति के दीक्षा ग्रहण की हो। अभिभावकों की सहमति से दीक्षा देने या लेने की यह परम्परा आज तक भी जीवित है।

उत्तराध्ययनसूत्र में यह भी उल्लेख आता है कि पुत्र को दीक्षा लेते हुए देखकर माता-पिता भी दीक्षा लेने को तत्पर हो जाते थे। सर्वप्रथम सन्तान के मोह के कारण माता-पिता अनेक प्रकार से उन्हें संयम ग्रहण करने से रोकते थे, किन्तु जब देखते थे कि उनका पुत्र दृढप्रतिज्ञ है, उसे संसार का अंशमात्र भी आकर्षण नहीं है तब वे न केवल अपने पुत्र को अनुमति प्रदान करते थे, वरन् स्वयं भी साथ में संयम लेने को तत्पर हो जाते थे। माता-पिता के लिये पुत्र के बिना घर में रहना अत्यन्त कष्टप्रद प्रतीत होता था। इस प्रसंग में भृगुपुरोहित के उद्गार उल्लेखनीय हैं।

भृगुपुरोहित अपने पुत्रों को दीक्षा की अनुमति देने के पश्चात् कहते हैं- जिस प्रकार वृक्ष अपनी शाखाओं से शोभा को प्राप्त होता है और शाखाओं के कट जाने पर शोभाहीन हो जाता है स्थाणुमात्र रह जाता है, उसी प्रकार माता-पिता अपने पुत्रों से सुशोभित होते हैं; और पुत्रों के अभाव में निस्सहाय हो जाते हैं। जैसे पंखविहीन पक्षी, युद्धक्षेत्र में सेन्य विहीन राजा तथा जहाज के समुद्र में डूबने से निर्धन बने वैश्य की तरह निस्सहाय हो जाते हैं वैसे ही पुत्र के अभाव में मैं अपने आपको निस्सहाय मानता हूँ। अतः मेरा तुम्हारे बिना गृह में रहना

दुष्कर है।^{३९} इसी क्रम में स्त्री जब अपने पुत्र एवं पति को वैराग्यवासित देखती तो वह भी यह मानकर कि घर की शोभा पति एवं पुत्र से ही है, दीक्षा लेने को तत्पर हो जाती थी।^{४०}

इस प्रकार हम देखते हैं कि माता-पिता एवं पुत्र के मध्य अत्यन्त मधुर सम्बन्ध होते थे। उनके बीच सच्चा स्नेह होता था क्योंकि कहा गया है - 'सच्चा स्नेह हो अगर तो, चलना सत्पथ पर संग।' माता-पिता अपने पुत्र की स्वस्थता के लिये अपना सर्वस्व न्यौछावर करने को तत्पर हो जाते थे। इस तथ्य की पुष्टि अनाथी मुनि की कथा से होती है। उत्तराध्ययनसूत्र में अन्य स्थलों पर यह भी उल्लेख प्राप्त होता है कि पिता अपने गृहस्थोचित कर्तव्य का निर्वाह करने के पश्चात् घर-परिवार एवं राज्य का कार्यभार अपने पुत्र को सुपुर्द करके स्वयं संयम अंगीकार कर लेते थे। नमिराजर्षि, सनत्कुमार चक्रवर्ती, करकण्डु, द्विमुख, नगति आदि राजाओं ने अपने अपने पुत्र को राज्य में स्थापित कर संयम अंगीकार किया था।

भाई-बन्धु सम्बन्ध

उत्तराध्ययनसूत्र भातृ-स्नेह का अनुपम उदाहरण प्रस्तुत करता है। इसमें वर्णित उल्लेखों से यह स्पष्ट होता है कि उस समय भाई-बन्धुओं के बीच चिरस्थायी प्रेम होता था।

चित्र एवं सम्भूत नामक दो भाई पूर्व के पांच जन्मों में साथ-साथ उत्पन्न होने के पश्चात् छट्टे भव में अपने पूर्वकृत कर्मों के फलस्वरूप चित्र एवं सम्भूति के रूप में पृथक्-पृथक् जन्म ग्रहण करते हैं। उनमें चित्र संयम अंगीकार कर लेते हैं और जातिस्मरणज्ञान से जब अपने भाई सम्भूति की स्थिति जानते हैं कि उनका भाई चक्रवर्ती की ऋद्धि-समृद्धि पाकर उसमें आसक्त बना हुआ है तब चित्रमुनि अपने भाई को प्रतिबोध देने के लिये आते हैं और अनेक प्रकार की वैराग्योत्पादक चर्चा करते हैं। चित्रमुनि चाहते थे कि वे जिस अलौकिक एवं आध्यात्मिक सुख के उपभोक्ता बने थे। उनका भाई भी उसी सुख के स्वामी बने। इसी प्रकार जयघोषमुनि भी अपने भाई विजयघोष को कल्याणकारी उपदेश के द्वारा संयम मार्ग में स्थिर करते हैं।

३९ उत्तराध्ययनसूत्र - १४/२६, ३०।

४० उत्तराध्ययनसूत्र - १४/३६।

उत्तराध्ययनसूत्र के चौदहवें अध्ययन में भृगुपुरोहित के दोनों पुत्रों का एक साथ संयम मार्ग में तत्पर होना भी उत्कृष्ट भातृ-प्रेम का परिचायक है। इस प्रकार इसमें भातृ-स्नेह का सुन्दर चित्रण प्रस्तुत है।

पति-पत्नी सम्बन्ध

उत्तराध्ययनसूत्र में वर्णित उल्लेखों से हमें यह जानकारी प्राप्त होती है कि उस समय दाम्पत्य जीवन सुखद एवं शान्तिपूर्ण था। इसमें दाम्पत्य जीवन के अन्तर्गत नारी की महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत की गई है। ग्रन्थ में कहीं कहीं नारी का पतित रूप भी देखने को मिलता है। नारी की निन्दा करते हुए अनेक स्थलों पर इसे राक्षसी, पंकभूत तथा अनेक चित्तवाली, कहा गया है; 41 । ज्ञातव्य है कि नारी की यह आलोचना वस्तुतः नारी की आलोचना न होकर वासनारूपी वृत्ति की आलोचना है। यहां नारी को वासना का प्रतीक मानकर उसकी आलोचना की गई है। ब्रह्मचर्यव्रत की सुरक्षा के लिये यह वर्णन अत्यन्त सहायक प्रतीत होता है। इसमें ऐसा किसी भी नारी का वर्णन नहीं आता है जिससे नारी की गरिमा धूमिल होती हो। इस प्रकार उत्तराध्ययनसूत्र में नारी के प्रेरणा स्रोत पतिव्रता, शीलवती आदि अनेक उज्ज्वल रूप उजागर हुये हैं। इसमें वर्णित नारी का जो आदर्श रूप निम्न रूप से उल्लिखित किया जा सकता है -

रानी कमलावती

उत्तराध्ययनसूत्र के चौदहवें अध्ययन में रानी कमलावती का उज्ज्वल चित्र प्रस्तुत किया गया है। बात उस समय की है जब भृगुपुरोहित सपरिवार संयम क्षेत्रों को सन्तुष्ट हो जाते हैं तो राजा इषुकार उनकी धन-सम्पत्ति को अपने स्वयंकोष में मंगवाना चाहता है। तब रानी कमलावती राजा को प्रतिबोधित करते हुए कहती है : राजन् ! आप ब्राह्मण के द्वारा परित्यक्त धन को ग्रहण

करने की इच्छा रखते हो ! अरे वह धन वमन के समान है; वमन को खाने वाला पुरुष प्रशंसनीय नहीं होता है।

व्यक्ति की अतृप्त आकांक्षा का उल्लेख करते हुए रानी यह भी कहती है : 'जगत का समस्त धन भी यदि आपका हो जाय तो भी वह आपके लिये अपर्याप्त ही होगा और वह धन भी आपकी रक्षा नहीं कर सकेगा। अतः हे नरदेव ! धर्म के अतिरिक्त कोई रक्षा करने वाला नहीं है। इसी सन्दर्भ में रानी यह भी कहती है कि जैसे दावानल में जन्तुओं को जलते देख रागद्वेष के कारण अन्य जीव प्रमुदित होते हैं उसी प्रकार काम भोग में मूर्छित मूढ लोग भी राग-द्वेष की अग्नि में जलते हुए जगत को नहीं समझते हैं। इस प्रकार रानी कमलावती आध्यात्मिक शिक्षाओं के द्वारा राजा को आत्मशुद्धि की प्रेरणा देती है तथा उन्हें चरम लक्ष्य मोक्ष की ओर उन्मुख करती है।'⁴²

उपरोक्त विवेचन से यह प्रकट होता है कि नारी पुरुष की वासनापूर्ति का साधन मात्र ही नहीं होती वरन् वह उसे जीवन विकास की सही दिशा की ओर प्रेरित भी करती है।

राजीमती

राजीमती का उत्कृष्ट चरित्र हमें उत्तराध्ययनसूत्र के बाइसवें अध्याय में देखने को मिलता है। राजीमती को जब यह ज्ञात हो जाता है कि उसके साथ विवाह करने आये नेमिकुमार वापिस लौट गये हैं और उन्होंने संयम ग्रहण कर लिया है, तो वह भी उनके पदचिह्नों पर चलने के लिये तैयार हो जाती है। परिवारगण अनेक प्रलोभनों के द्वारा राजीमती को रोकने का प्रयत्न करते हैं। वे अन्य राजकुमार के साथ उसके विवाह का प्रस्ताव भी रखते हैं; वह स्पष्ट मना कर देती है। राजीमती के ये उद्गार हैं -

'पति तो नेम एक माहरो रे, अवर गणु भाई ने बाप रे'।

इस प्रकार राजीमती भारतीय संस्कृति की गौरव और गरिमा को सुरक्षित रखती हुई संयमी जीवन अंगीकार करती है। राजीमती के उज्ज्वल व्यक्तित्व को उजागर करने वाला एक और उदाहरण उत्तराध्ययनसूत्र में आता है। एक बार

साध्वी राजीमती रैवतक पर्वत पर जा रही थी। मार्ग में अचानक घनघोर वर्षा हुई। राजीमती एक गुफा में जाकर रुक गई। उसके वस्त्र वर्षा के कारण गीले हो गये। एक कोने में वह उन्हें सुखाने लगी। वहां अंधकार छाया हुआ था। उसी गुफा में साधु स्थनेमी, जो नेमिनाथ प्रभु के लघुभ्राता थे, ध्यान कर रहे थे। उनका ध्यान पूर्ण होने पर अचानक बिजली के चमकने से उनकी दृष्टि राजीमती के निर्वस्त्र देह पर गई और उनका मन विचलित हो गया। वे राजीमती से भोग की याचना करने लगे। राजीमती तुरन्त संभल गई और वस्त्रों से अपने अंगों को आवृत करने के पश्चात् स्थनेमी को जाति, कुल एवं शील की गरिमा का भान कराकर पुनः संयम में स्थिर कर दिया।

उपर्युक्त दोनों उदाहरणों के अतिरिक्त भी उत्तराध्ययनसूत्र में अन्य अनेक स्थलों में नारी के उदात्त चारित्र का वर्णन किया गया है, जैसे पति के पीछे संयम अंगीकार करना व.पति की वेदना में अत्यन्त दुःखी होना।^{४३} इस प्रकार इसमें वर्णित ये आरब्धान नारी की गरिमा को महिमामण्डित करते हैं। साथ ही यह भी सूचित करते हैं कि उन्मार्ग में जाते हुए पुरुषों को उन्मार्ग के सम्मुख करने में नारी का विशिष्ट योगदान है।

१४.४ शासन व्यवस्था

शासन के मुख्यतः दो प्रकार उपलब्ध होते हैं—(१) धर्मशासन और (२) राजशासन।

धर्मशासन के संचालक ऋषि, मुनि, सन्त, भगवन्त होते हैं तथा राजशासन की डोर राजा, महासजा एवं सत्ताधीश के हाथ में होती है। इन दोनों ही शासनों का कर्तव्य दोष एवं दुर्जनता को दूर कर गुण एवं सज्जनता को प्रश्रय देना है। फिर भी इनमें कुछ मौलिक अन्तर है। धर्मशासन दुर्गुण एवं दुर्जनता को दूर करना चाहता है; राजशासन दुर्गुणी एवं दुर्जन को।

उत्तराध्ययनसूत्र में धर्मशासन की चर्चा व्यापक रूप से उपलब्ध होती है। इसमें मुख्यतः आत्मानुशासन पर जोर दिया गया है जिसकी चर्चा हम अन्य अनेक स्थलों पर कर चुके हैं। प्रस्तुत प्रसंग में राजशासन की चर्चा अभिप्रेत है।

४३ उत्तराध्ययनसूत्र - २२/४०-४६।

यद्यपि राजशासन का स्पष्ट रूप से विवरण उपलब्ध नहीं होता है, तथापि इसमें ऐसे अनेक संकेत मिलते हैं जिसके आधार पर हम उसके राजनैतिक दर्शन को प्रस्तुत कर सकते हैं।

राजतंत्र और गणतंत्र

प्राचीन युग में राजतंत्र एवं गणतंत्र दोनों ही शासन व्यवस्थाएँ प्रचलित थीं। प्रभु महावीर के काल में जहां महाराजा चेटक के अधीन वैशाली का विशाल गणतंत्र था; श्रेणिक के अधीन राजगृही में राजतंत्र था। अजातशत्रु कुणिक और वैशाली गणतंत्र के अधिपति चेटक के बीच जिस स्थमूसल संग्राम का भगवतीसूत्र में उल्लेख मिलता है^{४४} उससे ऐसा प्रतीत होता है कि वह युग गणतंत्र से राजतंत्र की ओर संक्रमण का युग था। उस युद्ध में हुई गणतंत्र की पराजय एवं राजतंत्र की विजय यह सूचित करती है कि धीरे-धीरे गणतन्त्रात्मक शासन पद्धति राजतंत्र का रूप ले रही थी।

उत्तराध्ययनसूत्र में ऐसा संकेत भी मिलता है कि जहां गणतंत्र में राजा का चुनाव होता था, वहां राजतंत्र में पुत्र ही पिता के राज्य का अधिकारी बनता था। उस युग का गणतंत्र वस्तुतः कुलतंत्र ही था, जहां विभिन्न कुलों के मुखिया मिलकर राजा का चुनाव करते थे और गणतंत्र या कुलतंत्र के अधिपति भी राजा ही कहलाते थे। कुल के ज्येष्ठ पुरुष को राजा के चयन का अधिकार होता था। इस प्रकार उस युग के गणतंत्रों में प्रमुख कुलों के अधिपति ही शासनव्यवस्था का संचालन करते थे और वे राजा के पद पर समासीन भी किये जाते थे।

उत्तराध्ययनसूत्र के बाईसवें अध्ययन में वसुदेव आदि दश जो कुल प्रमुख थे सभी राजा के पद से सम्मानित किये गये थे। किन्तु वहां की सम्पूर्ण शासनव्यवस्था का केन्द्र महाराजा कृष्ण के अधीन था। इसके नवमें एवं अठारहवें अध्ययन में यह भी सूचना मिलती है कि राजा की मृत्यु के बाद अथवा राजा के द्वारा दीक्षा ग्रहण करने पर उसका पुत्र ही राज्य का अधिकारी बनाया जाता था। इससे यह स्पष्ट है कि उत्तराध्ययनसूत्र के काल में राजतंत्र और प्रजातंत्र

दोनों ही व्यवस्थायें थीं। फिर भी इतना अवश्य है कि राजतन्त्र का स्थान प्रजातन्त्र ले रहा था।

राजा का कर्तव्य

राजा का प्रमुख कार्य अपनी प्रजा की सुरक्षा करना था। राजा का प्रधानबल उसकी सेना ही थी। उस समय सेना चार भागों में बांटी जाती थी - हाथी, घोड़े, रथ और पैदल।^{६५} ये सेना के प्रमुख अंग होते थे। न केवल उस युग के मनुष्य कवच धारण करते थे अपितु घोड़े एवं हाथी को भी कवच पहनाया जाता था। विशाल दुर्ग एवं खाई का निर्माण करके भी प्रजा की रक्षा की जाती थी। राजा का दायित्व दूसरे राजा एवं चोर लुटेरों आदि से भी प्रजा की सुरक्षा करना था और इसके लिए राजा प्रजा से कर भी वसूल करता था। मात्र यही नहीं प्रजा के हितों का ध्यान रखना राजा का प्रथम कर्तव्य था। यही कारण था कि उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार जब नमिराजर्षि संयम लेने को तत्पर हुए तो उनकी प्रजा अति व्याकुल हो गई।^{६६} राजा का दायित्व दोहरा था। एक ओर बाह्य शत्रुओं से प्रजा की रक्षा करना था तो दूसरी ओर समाज में उपस्थित अपराधी लोगों से प्रजा की सुरक्षा करना।

राज्य में मुनियों का स्थान

राजा प्रजाजनों के सुख-दुःख में भागीदार होता था। राज्य व्यवस्था की दृष्टि से राजा सार्वभौम प्रशासक होता था। समस्त प्रजाजन उसके अधीन होते थे। उत्तराध्ययनसूत्र के युग में राजा की अपेक्षा श्रमणों या मुनियों का समाज में अधिक सम्मान था। मुनि के प्रति किसी प्रकार का अपराध होने पर राजा उनसे क्षमायाचना करता था। उत्तराध्ययनसूत्र के अठारहवें अध्याय में राजा संजय मृग का शिकार करने पर मुनि से क्षमायाचना करता है।^{६७} इस प्रकार राजा की अपेक्षा भी

६५ उत्तराध्ययनसूत्र - १८/२।

६६ उत्तराध्ययनसूत्र - ६/१८,२८।

६७ उत्तराध्ययनसूत्र - १८/८।

मुनियों का स्थान समाज में श्रेष्ठतर था। इसमें ऐसे अनेक प्रसंग उल्लेखित हैं, जहां राजा मुनियों की सेवा में उपस्थित होते थे।

न्याय व्यवस्था

राज्य के सुरक्षा सम्बन्धी कार्यों के अतिरिक्त न्याय व्यवस्था, राजकोष की वृद्धि, नगर का विकास आदि कार्य भी प्रमुख माने जाते थे। न्याय व्यवस्था के अधीन राजा अपराधियों को दण्ड प्रदान करते थे, ऐसे भी संकेत उत्तराध्ययनसूत्र में प्राप्त होते हैं। इसके इक्कीसवें अध्यायन में कहा गया है : 'वज्जमण्डन सोभाग' अर्थात् वध्यजनोचित मण्डनों से शोभित।⁴⁸ इन शब्दों में प्राचीन दण्ड पद्धति के संकेत उपलब्ध होते हैं। इस गाथा की व्याख्या में टीकाकार ने लिखा है कि प्राचीनकाल में चोरी करने वाले को मृत्युदण्ड दिया जाता था, जिसे वध की संज्ञा दी जाती थी। उसके गले में कनेर के लाल फूलों की माला और लाल वस्त्र पहनाये जाते थे। उसके शरीर पर लाल चन्दन का लेप किया जाता था।⁴⁹

सूत्रकृतांग की चूर्णि एवं टीका में उपर्युक्त उल्लेख के साथ यह भी संकेत मिलता है कि अपराधी को पूरे नगर में घुमाया जाता था।⁵⁰ यह बात उत्तराध्ययनसूत्र की मूल गाथा से भी सिद्ध होती है क्योंकि नगर में घुमाते हुए चोर को ही मृगापुत्र देखते हैं।

संक्षेप में हम यही कहेंगे कि यद्यपि उत्तराध्ययनसूत्र मूलतः संयम एवं साधना पर ही विशेष बल देता है फिर भी उसमें उपर्युक्त राज्यव्यवस्था सम्बन्धी कुछ सूचनायें भी सांकेतिक रूप से उपलब्ध हो जाती हैं। इस प्रकार उत्तराध्ययनसूत्र का सामाजिक दर्शन मानव के सामाजिक जीवन के लिए सम्यक् दिशा प्रदान करता है।

४८ उत्तराध्ययनसूत्र - २१/८ ।

४९ उत्तराध्ययनसूत्र टीका-पत्र ४८३

५० (क) सूत्रकृतांग चूर्णि-पत्र - १८४

(ख) सूत्रकृतांगटीका-पत्र १५०

- (ज्ञानप्रचर्य)

- उद्धृत - उत्तराध्ययनसूत्र भाग २, पृष्ठ १० (युवाचर्य महाप्रज्ञ) ।

अध्याय - १५

उत्तराध्ययनसूत्र का
आर्थिक दर्शन



उत्तराध्ययनसूत्र का आर्थिक दर्शन

मनुष्य का जीवन बहु आयामी है, उसके आर्थिक, सामाजिक, आध्यात्मिक जीवन के विविध पक्ष हैं। भारतीय संस्कृति में मानव जीवन के इन विविध पक्षों को चार पुरुषार्थ - धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के अन्तर्गत समाहित किया है। पुरुषार्थ शब्द के निम्न दो अर्थ प्राप्त होते हैं -

(१) पुरुष का प्रयोजन; और (२) पुरुष के लिए करणीय।

(१) धर्म - जिससे 'स्व-पर' का कल्याण होता हो तथा व्यक्ति आध्यात्मिक विकास की ओर अग्रसर होता हो, वह धर्मपुरुषार्थ है।

(२) अर्थ - जीवनयात्रा के निर्वाह के लिए मानव को भोजन, वस्त्र, आवास आदि की आवश्यकता होती है। अतः जीवन की इन आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु साधन जुटाना अर्थपुरुषार्थ है।

(३) काम - जैविक आकांक्षाओं की पूर्ति हेतु जुटाये गए साधनों का उपभोग करना कामपुरुषार्थ है। दूसरे शब्दों में ऐन्द्रिक विषयों की प्राप्ति हेतु किया जाने वाला पुरुषार्थ ही कामपुरुषार्थ है। अर्थपुरुषार्थ में सामान्यतः दैहिक आवश्यकताओं की पूर्ति के साधनों की उपलब्धि प्रमुख रहती है; वहीं कामपुरुषार्थ के अन्तर्गत मन एवं इन्द्रियों की मांग की पूर्ति के प्रयास की प्रमुखता रहती है।

(४) मोक्ष - दुःख के कारणों को जानकर उनके निराकरण हेतु किया गया पुरुषार्थ मोक्ष पुरुषार्थ है। इसमें दैहिक वासनाओं और आकांक्षाओं से ऊपर उठने और अपनी स्वतन्त्रता को बनाए रखने का प्रयत्न प्रमुख होता है।

प्राचीन स्तर के आगमों में हमें चतुर्विध पुरुषार्थ का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त नहीं होता है, फिर भी उनमें चारों पुरुषार्थ सम्बन्धी चर्चा प्रकीर्ण रूप में

उपलब्ध होती है। उत्तराध्ययनसूत्र में जो धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष सम्बन्धी चिन्तन उपलब्ध होता है, उसके आधार पर हम यह कह सकते हैं कि जैनदर्शन में पुरुषार्थ का अर्थ – पुरुष का प्रयोजन या पुरुष के लिये करणीय कार्य है।

जैनदर्शन मनुष्य जीवन के प्रयोजनभूत धर्म एवं मोक्ष को ही स्वीकार करता है, क्योंकि शेष दो में से अर्थ तो साधन पुरुषार्थ है और काम ऐन्द्रिक जीवन का साध्य होने पर भी निवृत्तिपरक दृष्टिकोण के कारण वरेण्य नहीं माना गया है। लेकिन नितान्त यह मानना कि जैनदर्शन मात्र मोक्ष को ही साध्यरूप पुरुषार्थ और धर्म को उसका साधनरूप पुरुषार्थ मानता है तथा शेष पुरुषार्थों अर्थात् अर्थ और काम को यथोचित स्थान नहीं देता है; अनुचित है।

जैनदर्शन अनेकान्तवादी दर्शन है, अतः इसमें अर्थ एवं काम को भी स्थान तो दिया गया है; लेकिन इसमें इन दोनों का धर्म से अनुप्राणित होना आवश्यक माना है। जैनदर्शन में न्यायोपार्जित वित्त एवं मर्यादित काम को स्वीकृति प्रदान की गई है। चार पुरुषार्थ के क्रम में धर्म के बाद अर्थ को रखा गया है। इससे यह फलित होता है कि अर्थ का उपार्जन एवं उपयोग धर्म द्वारा नियन्त्रित हो और अर्थ धर्म की साधना का साधन बने। इस प्रकार धर्म एवं अर्थ का यह सम्बन्ध सन्तुलित अर्थव्यवस्था और सामाजिक सुव्यवस्था को स्थापित करने में सहायक होता है।

प्रस्तुत प्रसंग में हमारा विवेच्य विषय 'आर्थिक दर्शन' होने से यहां हम अपने विवेचन को अर्थपुरुषार्थ तक ही सीमित रखेंगे। जैनदर्शन केवल निवृत्तिपरक दर्शन नहीं है; इसमें प्रवृत्ति को भी महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। इसमें 'अपरिग्रहवाद' के आदर्श को देखते हुए सामान्य व्यक्ति समझता है कि जैन-धर्म में अर्थ का कोई स्थान नहीं है, क्योंकि उत्तराध्ययनसूत्र में भी यह कहा गया है कि धन से मोक्ष नहीं मिलता है।^१ परन्तु दूसरी ओर जैनपरम्परा इस बात को स्वीकार करती है कि प्रत्येक तीर्थंकर की माता चौदह स्वप्न देखती है। उनमें एक स्वप्न लक्ष्मी का होता है तथा धन की देवी लक्ष्मी का स्वप्न, कुल में धन की वृद्धि का सूचक माना गया है।^२ साथ ही जैनधर्म में श्रमणधर्म के साथ-साथ जो श्रावकधर्म की भी व्यवस्था है, उसके लिए तो अर्थपुरुषार्थ आवश्यक है।

१ उत्तराध्ययनसूत्र - ४/५।

२ रूपसूत्र-पत्र - ३।

जैनधर्म में अपरिग्रहवाद के साथ-साथ परिग्रह परिमाण का सिद्धान्त भी प्रस्तुत किया गया है। इससे प्रतिफलित होता है कि सामाजिक जीवन में धन के महत्त्व को स्वीकार किया है। इस दृष्टि से जैनधर्म में जहां एक ओर पंचमहाव्रतधारी, गृहत्यागी, अपरिग्रही श्रमणसंघ की व्यवस्था है वहीं दूसरी ओर घर-परिवार में रह कर भी मर्यादित प्रवृत्ति करने वाले अणुव्रतधारी श्रावक की भी व्यवस्था है।

(जैन धर्मानुयायियों में सिर्फ साधुवर्ग ही नहीं है, वरन् बड़े-बड़े राजा-महाराजा, दीवान, कोषाध्यक्ष, सेठ-साहूकार, व्यवसायी, चिकित्सक आदि भी इसके उपासक रहे हैं। वैभवसम्पन्नता, व्यवसायिक कुशलता और दानशीलता में जैन धर्मावलम्बी सदा अग्रणी रहे हैं। व्यावसायिक प्रामाणिकता और उपार्जित धन का लोककल्याण के क्षेत्र में विनियोग एवं दान इनकी विशिष्टता रही है।)

इससे निःसन्देह यह स्पष्ट हो जाता है कि जैनधर्म के आचार-विचारों ने गृहस्थ उपासकों की आर्थिक गतिविधियों को भी प्रभावित किया है।

उत्तराध्ययनसूत्र में स्पष्टतः ऐसा कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता है जो आर्थिक दर्शन की भुव्यवस्थित रूप-रेखा प्रस्तुत करता हो। फिर भी उसमें यत्र-तत्र अर्थ के सम्बन्ध में जो कुछ उल्लेख प्राप्त होते हैं, वे उसके आर्थिक दर्शन के आधार माने जा सकते हैं। यहाँ उन बिन्दुओं को उजागर करने से पूर्व हम जैनदर्शन का अर्थ के प्रति क्या दृष्टिकोण रहा है, इस पर संक्षेप में विचार करना उचित समझते हैं।

१५.१ जैन साहित्य में आर्थिक चिन्तन

जैन साहित्य में आध्यात्मिक चर्चा के साथ-साथ सामाजिक व्यवस्था के सन्दर्भ में अर्थ के विषय में भी कुछ उल्लेख प्राप्त होते हैं। (ज्ञाताधर्मकथांग से ज्ञात होता है कि श्रेणिक का पुत्र अभयकुमार अर्थशास्त्र का ज्ञाता था।) प्रश्नव्याकरणसूत्र में इस बात का उल्लेख है कि इस काल में 'अत्थसत्थ' अर्थात्

अर्थशास्त्र विषयक ग्रन्थ लिखे जाते थे।^४ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति से यह सूचित होता है कि भरत का सेनापति सुषेण अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र में चतुर था।^५

जैनपरम्परा में प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव को अर्थव्यवस्था का संस्थापक माना गया है। आदिपुराण में कहा गया है कि ऋषभदेव ने अपने पुत्र भरत चक्रवर्ती के लिए अर्थशास्त्र का निर्माण किया था।^६ नन्दीसूत्र में कहा गया है कि विनय से प्राप्त बुद्धि सम्पन्न मनुष्य अर्थशास्त्र तथा अन्य लौकिक शास्त्रों में दक्ष हो जाते हैं।^७

पूर्वोक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त आगमिक व्याख्या साहित्य में भी अर्थ सम्बन्धी विस्तृत उल्लेख प्राप्त होते हैं, किन्तु उन सब की चर्चा करना यहां अप्रासंगिक ही होगा।

१५.२ उत्तराध्ययनसूत्र का आर्थिक दृष्टिकोण

उत्तराध्ययनसूत्र में अर्थ शब्द का प्रयोग अनेक सन्दर्भों में किया गया है,^८ और अलग-अलग सन्दर्भों में उसका अर्थ भी भिन्न-भिन्न है। उसके कुछ अर्थ निम्न हैं – तात्पर्य, प्रयोजन, सम्पत्ति, पदार्थ, ऐन्द्रिक विषय आदि।

उत्तराध्ययनसूत्र में अनेक स्थलों पर अर्थ शब्द का प्रयोग शब्द या कथन के तात्पर्य के अर्थ में किया गया है, जैसे 'सुक्तअर्थं चयं तदुभय', 'महत्थरूवावयणप्पभूया' आदि।^९ इसके अतिरिक्त इसमें अनेक संदर्भों में अर्थ शब्द व्यक्ति के प्रयोजन, उद्देश्य या लक्ष्य के सम्बन्ध में भी प्रयुक्त हुआ है।^{१०} इसी प्रकार इसमें अर्थ शब्द का प्रयोग सम्पत्ति, वस्तु (पदार्थ) तथा ऐन्द्रिक विषयों के लिए भी हुआ है किन्तु सम्पत्ति, वस्तु तथा ऐन्द्रिक विषयों के लिए प्रयुक्त अर्थ शब्द, वस्तुतः सम्पत्ति परिग्रह या धन का ही वाचक है।

४ धनस्यकरण - १/५

५ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति - ३/७७

६ आदिपुराण - १६/११६

७ नन्दीसूत्र - सूत्र ३८, भाषा ६

८ उत्तराध्ययनसूत्र - १/२३; १२/२३; १३/१०, १२; १६/८, ९; १८/१३, ३४; २१/१, १६; २३/३२, ८८; २४/८, २६; २६/२३; ३०/११; ३२/१, ३, ४, ५०, १०९।

९ उत्तराध्ययनसूत्र - १/२३; १३/१२।

१० उत्तराध्ययनसूत्र - ६/८, ११, १३; २०/८

- (अंगसुतापि, लाहन्, खंड ३, पृष्ठ ६८०)

- (अंगसुतापि, लाहन्, खंड २, पृष्ठ ४२६)

- उद्धर् - प्राचीन जैन साहित्य में आर्थिक जीवन, पृष्ठ ६।

- (नवसुतापि, लाहन्, पृष्ठ २५६)।

उत्तराध्ययनसूत्र में 'उत्तमार्थ' शब्द का प्रयोग भी मिलता है।¹¹ परम्परागत दृष्टि से उत्तमार्थ का तात्पर्य 'समाधिमरण' या 'मोक्ष' किया जाता है; उत्तमार्थ का एक अर्थ न्याय नीति पूर्वक अर्जित अर्थ भी हो सकता है। प्रस्तुत प्रसंग में हमारा विवेच्य 'आर्थिक दर्शन' होने से हम यहां उत्तराध्ययनसूत्र में प्रयुक्त 'अर्थ' शब्द के उन्हीं सन्दर्भों को अपने विवेचन का आधार बनायेंगे जहां 'अर्थ', धन, वस्तु या ऐन्द्रिक विषयों का वाचक है। उत्तराध्ययनसूत्र में 'धन' एवं 'वित्त' शब्द का भी प्रयोग मिलता है।¹² यहां इस बात को स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिये कि 'अर्थ' एवं अर्थपुरुषार्थ इन दोनों में अन्तर है। अर्थ के अन्तर्गत सामान्यतः सम्पत्ति या ऐन्द्रिक विषय का ग्रहण किया जाता है। इस सन्दर्भ में अर्थ 'परिग्रह' का पर्याय बन जाता है और परिग्रह के रूप में 'अर्थ' जैन परम्परा में अनर्थ का कारण माना गया है। किन्तु इसके आधार पर यह मानना नितान्त असंगत होगा कि जैनपरम्परा में अर्थ पुरुषार्थ का कोई स्थान नहीं है।

जैनपरम्परा में दो प्रकार के धर्मों का विधान किया गया है—(१) श्रमण (मुनि) धर्म और (२) श्रावक (गृहस्थ) धर्म। यह स्पष्ट है कि अर्थ के अभाव में गृहस्थजीवन का निर्वाह करना असम्भव है। अतः न्याय नीतिपूर्वक अर्थोपार्जन करना जैनपरम्परा को स्वीकार्य है। जैनाचार्य हरिभद्र और हेमचन्द्र ने गृहस्थ के मार्गानुसारी गुणों की चर्चा करते हुए न्याय नीति पूर्वक धन के उपार्जन को श्रावक का कर्त्तव्य माना है। उपर्युक्त दोनों आचार्यों ने धर्म से अविरुद्ध अर्थ एवं काम को गृहस्थ के लिये विहित भी बताया है।

उपर्युक्त विवेचन से यह सूचित होता है कि जैनधर्म में परिग्रहरूप अर्थ अर्थात् संचयवृत्ति या ममत्व को हेय माना गया है; किन्तु अर्थ पुरुषार्थ को नहीं। वह गृहस्थ के लिये धनार्जन का निषेध नहीं करता, अपितु अर्जित धन का अपने ऐन्द्रिक सुखों में व्यय करने का निषेध करता है। वह न्यायनीतिपूर्वक अर्थोपार्जन करने को अनुचित नहीं मानता है किन्तु उसकी दृष्टि में उपार्जित धन पर ममत्व रखना, आवश्यकता से अधिक धन संचित करना तथा अर्जित एवं संचित धन का ऐन्द्रिक सुखों की प्राप्ति हेतु व्यय करना अनुचित है। एक न्यासी के रूप में न्यायनीतिपूर्वक धन का उपार्जन और जनहित में उसका विनियोग करना जैनधर्म को मान्य है और इसे ही जैनाचार्यों ने धर्मानुमोदित अर्थ पुरुषार्थ कहा है।

11 उत्तराध्ययनसूत्र - २०/४६

12 (क) धन-उत्तराध्ययनसूत्र - ४/२७/८; १०/२६,३०; १२/६,२८; १३/१३,२४,१४/११,१४,१६, १०/३८,३९; १६/२६,६८; २०/१८।

(ख) धन-उत्तराध्ययनसूत्र - १/४४; ४/१; १/१०; ७/८; १६/८७।

उत्तराध्ययनसूत्र के 'चित्र--सम्भूति' नामक तेरहवें अध्ययन में स्पष्ट रूप से कहा गया है 'अत्थेहि कामेहि य उत्तमेहि आया मम पुण्यफलोवदेए' अर्थात् मेरी आत्मा उत्तम अर्थ और कामरूप पुण्यफल से युक्त रही है।¹³ इसी प्रकार इसके इक्कीसवें अध्ययन में अर्थोपार्जन के लिये 'पालित' श्रावक के विदेश जाने का भी उल्लेख है।¹⁴ इससे भी यह प्रतिपादित होता है कि न केवल परवर्ती जैन आचार्यों ने अपितु पूर्ववर्ती जैनाचार्यों ने भी अर्थ और काम पुरुषार्थ को पूरी तरह से हेय नहीं माना था। धर्मानुमोदित अर्थ और काम पुरुषार्थ जैन आचार्यों को सदैव ही मान्य रहे हैं।

जैनधर्म को निवृत्तिमार्गी, सन्यासमार्गीय अथवा अपरिग्रहवादी जीवनदर्शन में अर्थ के संघय या परिग्रह को अनुचित माना गया है। मरणसमाधि में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि अर्थ, आत्मा के संक्लेश एवं वैमनस्य का कारण तथा दुःख और दुर्गति प्रदाता है। इस रूप में अर्थ अनर्थ का मूल है। किन्तु हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि इस प्रकार का उपदेश मुख्यतः मुनिधर्म को लक्ष्य में रखकर दिया गया है। यह ठीक है कि मुनि जीवन के लिए अर्थ अनर्थ का मूल है। किन्तु जहां तक गृहस्थजीवन का प्रश्न है, उसके लिए अर्थ सर्वथा उपेक्षणीय नहीं है। गृहस्थजीवन के लिए न्यायनीतिपूर्वक धन का अर्जन अपेक्षित है। उत्तराध्ययनसूत्र के आर्थिकदर्शन की विवेचना करते समय हमें इसी दृष्टिकोण को लक्ष्य में रखकर विचार करना होगा।

अर्थपुरुषार्थ या अर्थ को स्वीकार किया गया हो या अर्थ को ध्येय माना गया हो, ऐसा स्पष्ट उल्लेख उत्तराध्ययनसूत्र में प्राप्त नहीं होता है लेकिन इससे यह भी प्रतिफलित नहीं हो सकता कि इसमें अर्थपुरुषार्थ को स्पष्टतः अस्वीकार किया गया है। क्योंकि यदि ऐसा होता तो यह गृहस्थधर्म की बात ही नहीं करता। इसमें श्रमणधर्म एवं गृहस्थधर्म दोनों की व्याख्या उपलब्ध होती है और गृहस्थ धर्म का निर्वाह बिना अर्थ के सम्भव नहीं। इस प्रकार यह धर्म से नियमित एवं निर्धारित अर्थोपार्जन को स्वीकार करता है। वस्तुतः यह अर्थपुरुषार्थ को स्वीकार करता है किन्तु अर्थ संघय को अस्वीकार करता है। हमें इस बात पर गहराई से विचार करना होगा कि सामान्यतः जैनधर्म में और विशेष रूप से

13 उत्तराध्ययनसूत्र - १३/१० ।

14 उत्तराध्ययनसूत्र - २१/१ ।

उत्तराध्ययनसूत्र में अर्थ की स्वीकृति तथा अस्वीकृति किस रूप में है। आगे हम निम्न बिन्दुओं के सन्दर्भ में उत्तराध्ययनसूत्र के आर्थिक दृष्टिकोण को स्पष्ट करेंगे।

१५.३ अर्थ से दुःखविमुक्ति सम्भव नहीं

उत्तराध्ययनसूत्र के चतुर्थ असंस्कृत अध्ययन में स्पष्टतः कहा गया है: 'वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते' अर्थात् वित्त या अर्थ प्रमत्त पुरुष को त्राण नहीं दे सकता अर्थात् धन व्यक्ति की सुरक्षा करने में समर्थ नहीं है।¹⁵ पुनश्च, इसके छोड़े अध्ययन में भी कहा गया है कि अपने कर्मों से दुःख प्राप्त करते हुए प्राणी को स्थावर एवं जंगम अर्थात् चल-अचल सम्पत्ति, धन, धान्य और गृहोपकरण भी दुःख से मुक्त करने में समर्थ नहीं होते हैं।¹⁶

जहां आधुनिक भौतिकवादी संस्कृति यह मानती है कि अर्थ हमारी सुख-शान्ति का आधार है, दुःखविमुक्ति का अमोघ उपाय है वहीं उत्तराध्ययनसूत्र इस बात को स्पष्टतः अस्वीकार करता है। इसके बीसवें 'महानिग्रंथीय' अध्ययन में उदाहरण सहित इस बात को सिद्ध किया गया है कि कर्मपाश में जकड़े व्यक्ति के दुःख को अथाह धन सम्पत्ति भी दूर नहीं कर सकती।¹⁷ इस सम्बन्ध में अनाथीमुनि की कथा वर्णित है।

अनाथीमुनि गृहस्थावस्था में अपार ऐश्वर्य व प्रचुर धन सम्पत्ति के स्वामी थे। एक बार उनकी आंखों में भयंकर वेदना उत्पन्न हुई। पिता सहित पूरा परिवार इस बात को लेकर चिन्तित हो गया। अनेक प्रकार के उपाय किये गये। पिता सारी सम्पत्ति वैद्यों एवं चिकित्सकों को देने के लिये तत्पर हो गये। फिर भी वह प्रचुर श्रेष्ठ सम्पदा कुमार को रोग और पीड़ा से मुक्त नहीं कर सकी। अन्ततः उन्होंने संकल्प किया कि यदि इस अतुल वेदना का निवारण हो जायेगा तो मैं कल प्रातःकाल संयम अंगीकार कर लूंगा। इस संकल्प के प्रभाव से कुमार की नेत्र पीड़ा उपशान्त हो गई। यह शुभ संकल्प का घमत्कार था। अहिंसा आदि महाव्रतों को पालन करते हुए सभी के कल्याण की भावना के संकल्प का परिणाम था।

१५ उत्तराध्ययनसूत्र - ४/५

१६ उत्तराध्ययनसूत्र - ६/५

१७ उत्तराध्ययनसूत्र - २०/२४

यहां प्रसंगवश शिक्षा दी गई है कि धनसम्पत्ति व्यक्ति को दुःख और पीड़ा से मुक्त नहीं कर सकती ।

उत्तराध्ययनसूत्र के चौदहवें अध्ययन में रानी कमलावती इषुंकार राजा को यही कहकर प्रतिबोध देती है कि सम्पूर्ण जगत का धन भी यदि प्राप्त हो जाय तो भी वह उनकी रक्षा करने में अर्थात् मृत्यु के मुख से बचाने में समर्थ नहीं होगा।^{१७}

इस प्रकार धन से सुख और शान्ति प्राप्त होती है अथवा धन व्यक्ति को दुःख या पीड़ा से बचा सकता है, यह दृष्टिकोण उत्तराध्ययनसूत्र को मान्य नहीं है।

१५.४ अर्थ की उपयोगिता कहां तक ?

उत्तराध्ययनसूत्र अर्थ उपार्जन का निषेध नहीं करता है। इसमें गृहस्थधर्म का उल्लेख आता है और यह बात निर्विवाद सत्य है कि गृहस्थ का जीवन बिना अर्थ के नहीं चल सकता है। अतः उत्तराध्ययनसूत्र यह बताता है कि अर्थ का उपार्जन कैसे किया जाना चाहिये। इसमें कहा गया है कि जो मनुष्य अज्ञान के कारण पाप प्रवृत्तियों से धन का उपार्जन करते हैं, वे वासना और वैर (कर्म) से बंधे हुए, अन्त में मरने के बाद नरक में जाते हैं।^{१८}

इस प्रकार इसमें अन्याय एवं अनीति से उपार्जित धन को अनुचित माना है।

आधुनिक अर्थशास्त्र में अर्थ के उपार्जन के सम्बन्ध में मुख्यतः तीन अंगों पर विचार किया जाता है - (१) उत्पादन (२) वितरण एवं (३) उपभोग।

उत्तराध्ययनसूत्र में उपर्युक्त तीन अंगों के सम्बन्ध में कोई सूचना स्पष्टतः प्राप्त नहीं होती है। फिर भी इस में वर्णित कुछ सन्दर्भ ऐसे हैं, जिनके द्वारा इनके सम्बन्ध में प्रकाश डाला जा सकता है।

^{१७} उत्तराध्ययनसूत्र - १४/२६ ।

^{१८} उत्तराध्ययनसूत्र - ४/२ ।

(१) उत्पादन

आर्थिक सन्दर्भ में जिन साधनों के माध्यम से अर्थ की प्राप्ति होती है वे साधन उत्पादन के अन्तर्गत गिने जाते हैं।

प्रमु महावीर के युग में उत्पादन का मुख्य स्रोत कृषि था। उस समय बड़े उद्योगों का विकास नहीं हुआ था। अतः लघु उद्योग, वाणिज्य और कृषि ही अर्थोपार्जन के मुख्य साधन थे। उत्तराध्ययनसूत्र में कृषि, वाणिज्य एवं लघु उद्योगों के सम्बन्ध में मात्र प्रासंगिक नामनिर्देश को छोड़कर दिशा निर्देशक सिद्धान्त प्राप्त नहीं होते हैं। उत्तराध्ययनचूर्ण में यह उल्लेख अवश्य मिलता है कि मगध देश के पाराशर कुटुम्बी के खेत इतने बड़े थे कि उनमें पांच सौ हलवाहे काम करते थे।^{२०}

अर्थ की उत्पत्ति में भूमि को अति महत्त्वपूर्ण साधन माना जाता है। आधुनिक अर्थशास्त्र में भूमि को अत्यन्त व्यापक अर्थ में गृहीत किया गया है। अर्थोत्पत्ति के स्रोत के रूप में धनसम्पदा, खनिजसम्पदा और जलसम्पदा की गणना भी भूमि के ही अन्तर्गत की जाती है।

वनसम्पदा -- प्राचीन भारत में वनों का महत्त्वपूर्ण स्थान था। आर्थिक क्षेत्र में इन्हें सम्पदा के रूप में स्वीकार किया जाता था।

उत्तराध्ययनसूत्र में ऐसे अनेक उद्यानों के नाम आते हैं जो अत्यन्त समृद्ध थे। इसमें मण्डिकुक्षि उद्यान का वर्णन करते हुए कहा गया है कि वह उद्यान विविध प्रकार के वृक्षों एवं लताओं से घिरा हुआ था और विविध प्रकार के पुष्पों से सुशोभित था। इस उद्यान की प्रशंसा करते हुए इसमें इसे नन्दनवन की उपमा दी गई है।^{२१} उत्तराध्ययनसूत्र में केशर उद्यान, तिन्दुक उद्यान, कोष्टक उद्यान आदि का भी उल्लेख आता है।^{२२} भगवती, प्रज्ञापना एवं औपपातिक आदि सूत्रों में भी बड़े-बड़े वनखण्डों का वर्णन आता है।^{२३} उत्तराध्ययनचूर्ण से भी ज्ञात होता है कि राजगृह के बाहर अठारह योजन की अटवी थी।^{२४}

२० उत्तराध्ययन चूर्ण-पृष्ठ - ११८ ।

२१ उत्तराध्ययनसूत्र - २०/३ ।

२२ उत्तराध्ययनसूत्र - १८/४; २३/४, ८

२३ (क) भावती - १/३६४

(ख) औपपातिकसूत्र - १

(ग) प्रज्ञापना - १/४०

२४ उत्तराध्ययनचूर्ण ८/२२८ ।

- (अंगसुताणि, लाठनू, खंड २, पृष्ठ ३६);

- (जंगसुताणि, लाठनू, खंड १, पृष्ठ ३);

- (जंगसुताणि, लाठनू, खंड २, पृष्ठ १२) ।

इसी प्रकार उत्तराध्ययनसूत्र के छत्तीसवें अध्ययन में वनस्पतिकाय के अनेक प्रकारों का नामोल्लेख किया गया है।^{२५} उनमें से वर्तमान में कई वनस्पतियाँ अनुपलब्ध हैं। यह तथ्य तत्कालीन वनसम्पदा की समृद्धि का परिचायक है। जैनधर्म में श्रावक के लिए ऐसा व्यवसाय निषिद्ध माना गया है जिसमें वनसम्पदा को क्षति पहुंचे।

खनिजसम्पदा - उत्तराध्ययनसूत्र से ज्ञात होता है कि तब खदानों से खारी मिट्टी, लोहा, ताम्बा, सीसा, चांदी, सुवर्ण, वज्र, हरिताल, मेनसिल, सस्यक, अंजन, प्रवाल, अभ्रपटल, अभ्रबालुक, गोमेदक, रूचक, अंकरत्न, स्फटिक, लोहिताक्ष, मरकत, मसारगल्ल, भुजमोचक, इन्द्रनील, चन्दन, गेरूक, हंसगर्भ, पुलक, सौगन्धिक, चन्द्रप्रभ, वैडूर्य, जलकान्त, सूर्यकान्त आदि खनिज पदार्थ निकाले जाते थे।^{२६} प्रज्ञापना आदि आगमग्रन्थों में भी उपर्युक्त खनिज पदार्थों का उल्लेख आता है।^{२७} इसी तरह कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी मौर्यकाल में पाये जाने वाले खनिज पदार्थों का वर्णन उपलब्ध होता है।^{२८}

प्राचीन में यह देश विशिष्ट खनिजसम्पदा से सम्पन्न था, खनिजसम्पदा के अति दोहन को अनुचित माना जाता था। श्रावक द्वारा विस्फोटक पदार्थों से भू-खनन को अनैतिक माना गया है।

जलसम्पदा - भारत हमेशा जलसम्पदा से सम्पन्न रहा है। इसमें ऐसा कोई समय नहीं आया जिसमें जलसम्पदा का अभाव हुआ हो। कृषि एवं यातायात के साधन के रूप में नदियों एवं समुद्रों का विशेष महत्त्व है।

उत्तराध्ययनसूत्र में वर्णित विषयों से यह प्रतीत होता है कि वैश्यों के धनार्जन का मुख्य साधन व्यापार था तथा वे व्यापार के लिये विदेश भी जाया करते थे। व्यापार करने के कारण ही उन्हें वणिक कहा जाता था। वणिक का ही अपभ्रंश रूप बनिया है जो आज भी व्यापारी वर्ग के लिये प्रयुक्त होता है। प्रायः वणिक वर्ग ही समुद्र के पार व्यापार के लिये जाता था। उत्तराध्ययनसूत्र में एक अन्य स्थल पर समुद्र पार करने के परिप्रेक्ष्य में वणिक का ही दृष्टान्त दिया गया है।^{२९} इस प्रकार उस समय व्यापार व्यवसाय के क्षेत्र में जलसम्पदा का भी सुदृढ़ स्थान था।

२५ उत्तराध्ययनसूत्र - ३६/६४-६६।

२६ उत्तराध्ययनसूत्र - ३६/७३-७६।

२७ प्रज्ञापना - १/२०/१

२८ कौटिल्य का अर्थशास्त्र २/६/२४

२९ उत्तराध्ययनसूत्र - ८/६

- (जैनसुत्राणि, ताडनू, खंड २, पृष्ठ १५)

- उद्धृ - 'प्राचीन जैन साहित्य में वर्णित आर्थिक जीवन' पृष्ठ १४।

उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि उत्तराध्ययनसूत्र अनुचित रीति से धन कमाने को अनुचित मानता है साथ ही इसमें दूसरों की सम्पत्ति पर अधिकार करने का भी निषेध किया गया है।³⁰

(२) वितरण

उत्तराध्ययनसूत्र जीवन के संरक्षण के लिये अर्थ की उपयोगिता स्वीकार करता है, किन्तु संचय के लिये नहीं। इसमें एक ओर प्रामाणिकता से अर्थोपार्जन की बात कही गई है, तो दूसरी ओर अर्थ की आसक्ति से विमुक्त होने की बात भी कही गई है। इन दोनों शिक्षाओं का पूर्णतः पालन करने पर वितरण का सिद्धान्त स्वतः फलित हो जाता है। वस्तुतः उत्तराध्ययनसूत्र के युग में वितरण की कोई समस्या ही नहीं थी, क्योंकि उस युग में जनसंख्या कम थी। व्यक्ति की अपेक्षायें कम थीं तथा प्राथमिक आवश्यकताओं के साधन सहज सुलभ थे।

(३) उपभोग

अर्थशास्त्र का तीसरा घटक है - उपभोग। इसकी चर्चा हम इसी अध्याय में 'उत्तराध्ययनसूत्र के आर्थिक दर्शन' के मुख्य बिन्दु के अन्तर्गत करेंगे। अतः 'जीवन के संरक्षण के लिये अर्थ की उपयोगिता' से सम्बन्धित चर्चा को हम यहीं विराम देते हैं।

११.५ अर्थ साधन है साध्य नहीं

उत्तराध्ययनसूत्र का कापिलीय अध्ययन इस बात का स्पष्ट उद्घोष करता है कि अर्थ साधन है साध्य नहीं।

आधुनिक अर्थनीति इस तरह चरमरा गई है कि सोचने को बाध्य होना पड़ता है कि जीवन के केन्द्र में कौन है - अर्थ या मनुष्य ? गृहस्थवर्ग के सन्दर्भ

³⁰ उत्तराध्ययनसूत्र - ४/२; ११/३८।

में यह सत्य है कि अर्थ के बिना जीवन का कोई अर्थ नहीं है किन्तु मात्र अर्थ ही जीवन का अर्थ हो तब भी जीवन का कोई अर्थ नहीं है।

उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार अर्थ को साधन मानने पर मनुष्य केन्द्र में रह सकता है, किन्तु जब अर्थ साध्य बन जाता है तो मनुष्य गौण हो जाता है एवं अर्थ केन्द्र में आ जाता है।

अर्थ जब जीवन में साधन के रूप में प्रस्तुत होता है तो वह दुःखदायी नहीं होता। किन्तु जब वह साध्य के रूप में स्वीकार कर लिया जाता है तो जीवन दुःखमय हो जाता है। अर्थ जीवन का साध्य न बने इसके लिए ही उत्तराध्ययनसूत्र ने अपरिग्रहव्रत एवं परिग्रहपरिमाण व्रत का सिद्धान्त प्रस्तुत किया है।

१५.६ उत्तराध्ययनसूत्र का आर्थिकदर्शन इच्छानिवृत्ति है

उत्तराध्ययनसूत्र का मुख्य उपदेश इच्छानिवृत्ति है। यह इच्छाओं को सीमित करने की शिक्षा देता है। भारत के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री डॉ. मेहता ने भी विश्व को इसी आर्थिकदर्शन का सन्देश दिया है।

अर्थ के उपार्जन में मुख्य दो कारण होते हैं - (१) इच्छा और (२) आवश्यकता। उत्तराध्ययनसूत्र आवश्यकता की पूर्ति हेतु उपार्जन किये जाने वाले अर्थ का निषेध नहीं करता है, किन्तु यह इच्छापूर्ति हेतु प्राप्त किये जाने वाले अर्थ का विरोधी है।

इच्छा के भी तीन रूप हमारे सामने आते हैं - (१) अल्पेच्छा (२) महेच्छा और (३) इच्छाजयी (अनिच्छा)। इस सन्दर्भ में आधुनिक अर्थशास्त्रियों का कहना है कि इच्छा का विस्तार करो। इस सिद्धान्त के पीछे उनका उद्देश्य है कि इच्छा बढ़ेगी तो नये-नये अर्थोपार्जन के साधन विकसित होंगे। किन्तु इसके विपरीत प्रभु महावीर ने अल्पेच्छा एवं अनिच्छा का सिद्धान्त दिया। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि इच्छा कभी पूर्ण नहीं होती है। वह आकाश के समान अनन्त है।^{३१} अतः इच्छाओं के पीछे मत भागो। महेच्छा वाला व्यक्ति अपनी आजीविका अन्याय, अनीति और अधर्म के साथ चलाता है। वह महारम्भी एवं महापरिग्रही होता

३१ (क) जहा लोको वहा लोको, लोको लोको पवइइ
(ख) इच्छा उ अणस सना अपतिया

- उत्तराध्ययनसूत्र २/१०

- उत्तराध्ययनसूत्र - ६/४८

है। वह व्यक्ति अपने लिए उपयोगी वस्तुओं एवं अपने स्वार्थ के लाभ के लिये अन्य प्राणियों की प्राणान्तक वेदना से भी कम्पित नहीं होता है। आज हम सौन्दर्य प्रसाधन के क्षेत्र में देखते हैं कि धन के लिये कितने मूक एवं निरीह पशु पक्षियों की हत्या की जाती है। इस प्रकार इच्छा के विस्तार में पापकर्मा का भी विस्तार होता है। इसीलिये उत्तराध्ययनसूत्र में महारम्भ एवं महापरिग्रह को नरक का कारण माना गया है।¹² रही बात इच्छाजयी की तो उत्तराध्ययनसूत्र इच्छा के इन तीनों प्रारूपों में प्रथम स्थान इच्छाजयी को ही देता है। यह अपरिग्रहवाद का सन्देशवाहक है। इसमें कहा गया है कि जिसे धर्म की धुरा को वहन करने का अधिकार प्राप्त है उसे धन, स्वजन तथा ऐन्द्रिक विषयों से क्या प्रयोजन है ? इच्छा हमेशा अतृप्ति, असन्तोष एवं दुःख ही देती है। इसका अत्यन्त विस्तृत विवेचन उत्तराध्ययनसूत्र में किया गया है। इसमें इच्छा को आकाश की उपमा दी गई है। आकाश का जैसे कोई ओर-छोर नहीं होता वह अनन्त होता है उसी प्रकार इच्छा का भी कभी अन्त नहीं होता है। एक इच्छा अपनी समाप्ति पर नई इच्छा को जन्म देकर जाती है। यही कारण है कि 'चाहिये' अनेक बार 'है' में परिवर्तित हो जाता है; फिर भी 'चाहिये' की धुन कभी समाप्त नहीं होती। इसमें यह भी कहा गया है कि जैसे-जैसे लाभ होता है, वैसे-वैसे लोभ बढ़ता जाता है। कपिल दो माशा सोने की चाह में राजभवन गये थे, किन्तु उनका लोभ करोड़ों स्वर्ण मुद्राओं तक पहुंचने पर भी शान्त नहीं हो सका। अतः कहा गया है कि धन धान्य आदि से परिपूर्ण यह समग्र विश्व भी यदि किसी व्यक्ति को दे दिया जाय तो भी यह लोभाभिभूत आत्मा इतनी दुष्पूर है कि वह उससे भी सन्तुष्ट नहीं होती।¹³

इस प्रकार उत्तराध्ययनसूत्र इच्छानिवृत्ति तथा इच्छाओं को सीमित करने की प्रेरणा देता है। इस शिक्षा का आर्थिक जगत में महत्त्वपूर्ण योगदान है। उत्तराध्ययनसूत्र वर्तमान उपभोक्तावादी संस्कृति का पूर्णतः विरोधी है। उसके अनुसार भोगों से इच्छायें तृप्त नहीं होती हैं। अग्नि में डाले गये घी से जैसे ज्वाला प्रथम क्षण में शान्त होती प्रतीत होती है, किन्तु वस्तुतः वह अधिक ही भड़कती है। अतः उपभोक्तावादी संस्कृति में मानवता को त्राण नहीं मिल सकता है। इस प्रकार उत्तराध्ययनसूत्र का आर्थिकदर्शन उपभोक्तावाद का विरोधी है।

12 उत्तराध्ययनसूत्र - ७/६ ।

13 उत्तराध्ययनसूत्र - ८/१६ ।

उपभोक्तावाद का आधार अनियन्त्रित इच्छावृत्ति है । उत्तराध्ययनसूत्र इच्छाओं को सीमित करने की बात करता है ।

उपभोक्तावाद स्वार्थवृत्ति पर आधारित है, जबकि उत्तराध्ययनसूत्र स्वार्थ से ऊपर उठकर परार्थ एवं परमार्थ की बात करता है। यह जब इच्छाओं के सीमाकरण की बात करता है तो यह परार्थवृत्ति का सन्देश देता है और जब इच्छा से निवृत्ति अर्थात् अपरिग्रह की चर्चा करता है तब यह परमार्थ का सन्देशवाहक होता है ।

इस प्रकार उत्तराध्ययनसूत्र का आर्थिक दर्शन मानव को सुख-शान्ति पूर्वक जीवन यापन करने की प्रेरणा देता है ।

अध्याय - १६

उत्तराध्ययनसूत्र में प्रतिपादित
अन्य धार्मिक एवं दार्शनिक
परम्परायें



उत्तराध्ययनसूत्र में प्रतिपादित अन्य धार्मिक एवं दार्शनिक परम्परायें

उत्तराध्ययनसूत्र के अधिकांश अध्ययन भगवान महावीर के समकालीन हैं। इस में उन्हीं धर्म एवं दर्शन की परम्पराओं का निर्देश उपलब्ध होता है जो प्रायः ईस्वी पूर्व पांचवीं/छठी शताब्दी की रही हैं। इसके अठारहवें अध्ययन में उस समय की प्रचलित चार दार्शनिक मान्यताओं का उल्लेख मिलता है— (१) क्रियावादी (२) अक्रियावादी (३) विनयवादी और (४) अज्ञानवादी।^१

उत्तराध्ययनसूत्र में षट्दर्शनों में से किसी का भी स्पष्ट नाम निर्देश नहीं मिलता है। इसमें हमें चार्वाकदर्शन, सांख्य दर्शन और न्याय - वैशेषिक दर्शन की कुछ मान्यताओं के पूर्व रूप उपलब्ध हो जाते हैं। ऐसा लगता है कि उत्तराध्ययनसूत्र में अभिव्यक्त ये विचारधारायें परवर्ती काल में इन दार्शनिक सम्प्रदायों के विकास का कारण रही हैं, जैसे सांख्यदर्शन के सत्कार्यवाद का उल्लेख उत्तराध्ययनसूत्र के इषुकारीय नामक चौदहवें अध्ययन में मिलता है।^२ उत्तराध्ययनसूत्र की द्रव्य सम्बन्धी परिभाषा न्याय - वैशेषिक दर्शन की द्रव्य सम्बन्धी मान्यता से कुछ निकट प्रतीत होती है।^३ इसी प्रकार भौतिकवादी चार्वाक दृष्टिकोण का उल्लेख भी अनेक स्थानों पर बिना उसका नाम निर्देश किये उपलब्ध होता है।^४

इससे यह नहीं समझना चाहिए कि उत्तराध्ययनसूत्र की स्थिति इन दर्शनों से परवर्ती है, क्योंकि इसमें कहीं भी किसी भी दर्शन का नाम निर्देश नहीं किया गया है। वस्तुतः दार्शनिक मान्यतायें पहले अस्तित्व में आती हैं फिर इनसे ही दार्शनिक सम्प्रदायों का विकास होता है। उपनिषदों में भी विभिन्न दार्शनिक मतों के

१ 'किरियं अकिरियं विषयं, अन्नाणं च महामुणी ।

एषां वउहिं ठानेहिं, मेयने किं एभासइ ॥'

- उत्तराध्ययनसूत्र - १८/२३ ।

२ गन्न य अग्गी, अरणीउसतो, खीरे वयं तेल्ल म्हातिल्लेसु

- उत्तराध्ययनसूत्र - १४/१८ ।

३ उत्तराध्ययनसूत्र - २८/६

४ उत्तराध्ययनसूत्र - ४/५, ६, ६; ७/६ ।

उल्लेख मिलते हैं, किन्तु उनमें किसी भी दार्शनिक सम्प्रदाय का नाम नहीं मिलता है। ऐसी ही कुछ स्थिति उत्तराध्ययनसूत्र की भी है।

धार्मिक परम्परा के सन्दर्भ में भी हम स्पष्ट रूप से यह देखते हैं कि उत्तराध्ययनसूत्र में जैन, बौद्ध या हिन्दू जैसे किसी धर्म का उल्लेख नहीं हुआ। फिर भी इसमें उपलब्ध निर्ग्रन्थ, जिन, बुद्ध आदि शब्द यह सूचित करते हैं कि इन परम्पराओं के मूल तत्त्व उस समय उपस्थित थे। वेदों, वैदिक कर्मकाण्डों एवं वैदिक दृष्टिकोण का उल्लेख इसमें अनेक स्थलों पर उपलब्ध होता है।^६ इसके बारहवें एवं पच्चीसवें अध्ययन में वैदिककर्मकाण्ड अर्थात् यज्ञ-याग का विस्तृत उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार चौदहवें अध्ययन के अन्दर पुत्र के बिना गति नहीं होती है ऐसी वैदिक मान्यता का भी उल्लेख है।^७

उत्तराध्ययनसूत्र में ओंकार का जाप करने वाली परम्परा का भी उल्लेख मिलता है।^८ वहां यह भी कहा गया है कि ओंकार का जाप करने मात्र से कोई ब्राह्मण नहीं हो जाता है। इसी प्रकार तापस, भृगु-चर्मधारी एवं वनवासियों के रूप में तापस परम्परा के भी उल्लेख उपलब्ध होते हैं।^९ फिर भी उत्तराध्ययनसूत्र किसी भी धर्मपरम्परा विशेष का नाम लेकर उल्लेख नहीं करता है। उसमें श्रमणपरम्परा के अंतर्गत निर्ग्रन्थ के रूप में जैनपरम्परा का उल्लेख हुआ है। यद्यपि उत्तराध्ययनसूत्र में बुद्ध, जिन आदि शब्द अनेक बार प्रयुक्त हुए हैं, फिर भी यह आश्चर्यजनक बात है कि बौद्ध-दर्शन का इसमें स्पष्टतः कोई उल्लेख नहीं है।

इससे यह सिद्ध होता है कि उत्तराध्ययनसूत्र के काल तक यद्यपि श्रमणों और वैदिकों की विभिन्न परम्पराएं अस्तित्व में आ गई थीं फिर भी श्रमण, निर्ग्रन्थ, तापस आदि नाम निर्देशों के अतिरिक्त इसमें विस्तार से विभिन्न श्रमण धाराओं के बारे में कोई सूचना नहीं मिलती है। दान, यज्ञ और उपवास आदि की कठोर तप साधनाएं उस युग में प्रचलित थीं, ऐसे निर्देश इसमें अवश्य प्राप्त होते हैं। साथ ही अन्न आदि के दान के साथ-साथ गोदान की परम्परा भी उस युग में

५ (क) 'निर्ग्रन्थ' उत्तराध्ययनसूत्र - १६/३-१२; २१/२; २६/१, ३३;

(ख) 'जिन' उत्तराध्ययनसूत्र - २/४५; १०/३१; १६/१०; १८/४३; २०/५०; २५; २१/१२ ।

(ग) 'बुद्ध' उत्तराध्ययनसूत्र - १/८, १०, २७, २, ४०, ४२; ६/३; १०/३६, ३७; ११/३; १४/५३; १८/२१, २४, ३२; २३/३७; २५/३२; ३६/१; ३६/३६८ ।

६ उत्तराध्ययनसूत्र अध्ययन - १२, १४, २५ ।

७ उत्तराध्ययनसूत्र - १४/६ ।

८ उत्तराध्ययनसूत्र - २५/२६ ।

९ उत्तराध्ययनसूत्र - ५/२१ ।

प्रचलित थी, ऐसा निर्देश भी इसमें मिलता है।¹⁰ इसी प्रकार महिने-महिने की कठोर तपसाधना भी उस युग में की जाती थी।¹¹ इस सन्दर्भ में यह बात सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है कि उत्तराध्ययनसूत्र में कर्मकाण्डात्मक यज्ञ-याग, दक्षिणा रूप दान और देह दण्डन रूप तप साधना की समीचीन समीक्षा की गई है। इससे यह सिद्ध होता है कि उत्तराध्ययनसूत्र में विवेक एवं संयम रूप आत्म साधना को ही अधिक महत्त्व प्रदान किया गया है। यद्यपि इसमें पूर्वोक्त धर्मदर्शन की इन विविध परम्पराओं का विस्तृत वर्णन प्राप्त नहीं होता, फिर भी हम यहां इसकी टीकाओं में उपलब्ध व्याख्याओं के आधार पर उनका संक्षेप में वर्णन प्रस्तुत कर रहे हैं¹²—

भगवान महावीर के समय में प्रचलित — (१) क्रियावादी (२) अक्रियावादी (३) विनयवादी और (४) अज्ञानवादी। इन चारों वादों का संक्षिप्त में विवेचन करते हुए सूत्रकृतांग-निर्युक्ति में कहा गया है कि अस्तित्व के आधार पर क्रियावाद, नास्तिक के आधार पर अक्रियावाद, विनय के आधार पर विनयवाद एवं अज्ञान के आधार पर अज्ञानवाद का प्रतिपादन किया गया है।¹³ इन वादों का उल्लेख सूत्रकृतांग, भगवती, दशाश्रुतस्कंध आदि अनेक ग्रन्थों में भी मिलता है।¹⁴ उत्तराध्ययनसूत्र में इन चारों का मात्र नाम ही मिलता है लेकिन टीकाकारों ने इनका विशद विवेचन किया है, जो निम्न है —

(१) क्रियावादी

जो दर्शन, आत्मा, लोक, पुण्य, पाप आदि को स्वीकार करता है वह क्रियावादी दर्शन कहलाता है। टीकाकार शान्त्याचार्य ने क्रिया का अर्थ अस्तित्ववाद एवं सद्नुष्ठान किया है।¹⁵ अतः क्रियावाद का अर्थ आत्मा आदि पदार्थों में विश्वास करना तथा आत्मा के कर्ता-भोक्ता गुण को स्वीकार करना है।

१० उत्तराध्ययनसूत्र - ६/४० ।

११ उत्तराध्ययनसूत्र - ६/४४ ।

१२ (क) उत्तराध्ययनसूत्र टीका-पत्र ४४३

(ख) उत्तराध्ययनसूत्र टीका-पत्र ३११

(ग) उत्तराध्ययनसूत्र टीका-पत्र ६०८

१३ सूत्रकृतांगनिर्युक्ति - ११८

१४ (क) सूत्रकृतांग - १/६/२७

(ख) भगवती - ३०/१/१

(ग) दशाश्रुतस्कंध - ६/३, ७

१५ उत्तराध्ययनसूत्र टीका-पत्र - ४४७

- (शान्त्याचार्य);

- (कर्मवासंयमोपध्याय);

- (लक्ष्मीवस्तुषण्डि) ।

- (निर्युक्तिसंग्रह, पृष्ठ ४६६) ।

- (अंगसुतापि, ताडनु, खंड १, पृष्ठ ३०४)

- (अंगसुतापि, ताडनु, खंड २, पृष्ठ ३६०);

- (नवसुतापि, ताडनु, पृष्ठ ४४०; ४४५) ।

- (शान्त्याचार्य) ।

उत्तराध्ययनसूत्र के अठारहवें अध्ययन की तैतीसवीं गाथा की व्याख्या करते हुये टीकाकार शान्त्याचार्य ने क्रियावादियों के विषय में निम्न जानकारी प्रस्तुत की है - क्रियावादी जीव का अस्तित्व मानते हैं किन्तु उसका अस्तित्व मानने पर भी सभी क्रियावादी एकमत नहीं हैं; कुछ जीव को सर्वव्यापी मानते हैं, कुछ उसे असर्वव्यापी मानते हैं। कुछ मूर्त मानते हैं; कुछ अमूर्त मानते हैं; कुछ उसे सकलशरीरव्यापी मानते हैं; कुछ उसे शरीर के अंगुष्ठ पर्व जितने भाग में अधिष्ठित मानते हैं।¹⁶ सूत्रकृतांगचूर्णि में भी क्रियावाद का इससे मिलता-जुलता स्वरूप उपलब्ध होता है।¹⁷

सूत्रकृतांग के अनुसार जो आत्मा, लोक, गति, अनागति, शाश्वत, जन्म, मरण, च्यवन और उपपात को जानता है तथा जो अधोलोक के प्राणियों के विवर्तन (जन्म-मरण) को जानता है और जो आश्रव, संवर, दुःख व निर्जरा को जानता है वही क्रियावाद का प्रतिपादन कर सकता है।¹⁸ इस प्रकार जो दर्शन, आत्मा, लोक, गति, अनागति, जन्म-मरण, शाश्वत-अशाश्वत, आश्रव, संवर और निर्जरा में विश्वास रखता है; वह क्रियावादी दर्शन है। दशाश्रुतस्कन्ध में क्रियावाद की विस्तृत विवेचना की गई है। जिसके आधार पर आचार्य महाप्रज्ञ ने क्रियावाद के निम्न चार अर्थ प्रस्तुत किये हैं - (१) आस्तिकवाद (२) साम्यवाद (३) पुनर्जन्मवाद और (४) कर्मवाद।¹⁹

क्रियावादी-क्रिया के साथ कर्ता में विश्वास किस प्रकार रखते हैं, इसे स्पष्ट करते हुए गुरुवर्या श्री हेमप्रभाश्री म. सा. ने 'प्रवचनसारोद्धार' के अन्तर्गत क्रियावाद की व्याख्या करते हुए लिखा है कि संसार की विचित्रता देखने से सिद्ध होता है कि क्रियाएं पुण्य पाप रूप हैं। कोई भी क्रिया कर्ता के बिना नहीं हो सकती। अतः क्रिया का कोई न कोई कर्ता अवश्य है और वह आत्मा है क्योंकि आत्मा के सिवाय ये क्रियायें अन्यत्र संभवित नहीं हो सकती, ऐसा मानने वाले क्रियावादी हैं। प्रवचनसारोद्धार में क्रियावाद के अपेक्षामेद से निम्न पांच भेद प्रतिपादित किये गये हैं (१) कालवाद (२) स्वभाववाद (३) नियतिवाद (४) ईश्वरवाद और (५) आत्मवाद।²⁰

१६ उत्तराध्ययनसूत्र टीका पत्र - ४४३

१७ सूत्रकृतांग चूर्णि-पत्र - २५१।

१८ सूत्रकृतांग - १/१२/२०,२१

१९ उत्तराध्ययनसूत्र-भाग १, पृष्ठ ४०६

२० प्रवचनसारोद्धार, पृष्ठ-५२१

- (शान्त्याचार्य)।

- (अंगसुतापि, लाडनं, खंड १, पृष्ठ ३३०)।

- (युवाचार्य मलप्रज्ञ)।

- (साध्वी हेमप्रभा श्री)।

उत्तराध्ययनसूत्र के टीकाकार लक्ष्मीवल्लभगणि ने क्रियावाद के १८० भेदों का निरूपण किया है।²¹ किन्तु उन्होंने ये भेद किस प्रकार से होते हैं इसका उल्लेख नहीं किया है। सूत्रकृतांगचूर्णि एवं प्रवचनसारोद्धार में इनका विस्तृत विवेचन किया है जो निम्न है²²—

- (१) जीव (२) अजीव (३) पुण्य (४) पाप (५) आश्रय
(६) संवर (७) निर्जरा (८) बन्ध और (९) मोक्ष।

ये नवतत्त्व स्वतः और परतः इन दोनों अपेक्षाओं से जाने जाते हैं। वस्तु का ज्ञान स्वस्वरूप एवं परस्वरूप दोनों ही प्रकार से होता है। जैसे— आत्मा का ज्ञान चेतना लक्षण (स्वस्वरूप) से होता है वैसे ही स्ताम्भ, कुम्भ आदि विपरीत लक्षण वाले पदार्थ से उसका विभेद करने पर भी होता है। जैसे दीर्घ को देखकर ह्रस्व का ज्ञान होता है, उसी प्रकार विपरीत लक्षण वाली वस्तु को देखकर उससे भिन्न लक्षण वाली वस्तु का ज्ञान होता है। ये नौ तत्त्व अपेक्षाभेद से नित्य और अनित्य दोनों हैं। इस प्रकार एक जीव तत्त्व के स्व, पर, नित्य तथा अनित्य की अपेक्षा से चार भेद हुए। पुनश्च इन चारों के काल, स्वभाव, नियति, ईश्वर तथा आत्मा की अपेक्षा से पांच भेद हुए हैं। इस प्रकार $4 \times 5 = 20$ ऐसे एक जीवतत्त्व के २० भेद हुए। इसी प्रकार अजीव आदि तत्त्व के २०-२० भेद होने पर $20 \times 4 = 80$ भेद क्रियावाद के हुए।

संक्षेप में इनके भेद इस प्रकार हैं: जीव, अजीव आदि उपर्युक्त नवतत्त्व हैं। स्व, पर की अपेक्षा से इन नौ के अठारह भेद हुए। इन अठारह भेदों के नित्य एवं अनित्य की अपेक्षा से छत्तीस भेद हुए और इन छत्तीस के काल, नियति, स्वभाव, ईश्वर एवं आत्मा की अपेक्षा से $36 \times 5 = 180$ भेद हुए। क्रियावाद के इन भेदों को किस प्रकार सम्यक् रूप से समझा जा सकता है इसे गुरुवर्या हेमप्रभाश्री जी न. सा. ने प्रवचनसारोद्धार में निम्न तालिका द्वारा प्रस्तुत किया है²³—

१. अस्ति जीव नित्य स्वतः कालतः २. अस्ति जीव नित्यः परतः कालतः

21 उत्तराध्ययनसूत्र टीका पत्र - ५०६

22 (क) सूत्रकृतांगचूर्णि - पृष्ठ २५१।

(ख) प्रवचनसारोद्धार, पृष्ठ - ५२३

23 प्रवचनसारोद्धार - पृष्ठ ५२३

- (लक्ष्मीवल्लभगणि)

- (साध्वी हेमप्रभा श्री)

- (साध्वी हेमप्रभा श्री)

३. अस्ति जीव अनित्यः स्वतः कालतः ४. अस्ति जीव अनित्यः परतः कालतः
 ५. अस्ति जीव नित्यः स्वतः स्वभावतः ६. अस्ति जीव नित्यः परतः स्वभावतः
 ७. अस्ति जीव अनित्यः स्वतः स्वभावतः ८. अस्ति जीव अनित्यः परतः स्वभावतः
 ९. अस्ति जीव नित्यः स्वतः नियतेः १०. अस्ति जीव नित्यः परतः नियतेः
 ११. अस्ति जीवः अनित्यः स्वतः नियतेः १२. अस्ति जीव अनित्यः परतः नियतेः
 १३. अस्ति जीव नित्यः स्वतः ईश्वरात् १४. अस्ति जीव नित्यः परतः ईश्वरात्
 १५. अस्ति जीव अनित्यः स्वतः ईश्वरात् १६. अस्ति जीव अनित्यः परतः ईश्वरात्
 १७. अस्ति जीव नित्यः स्वतः आत्मनः १८. अस्ति जीव नित्यः परतः आत्मनः
 १९. अस्ति जीव अनित्यः स्वतः आत्मनः २०. अस्ति जीव अनित्यः परतः आत्मनः

(२) अक्रियावाद

शान्त्याचार्य ने अक्रिया का अर्थ नास्तिकवाद और मिथ्यानुष्ठान किया है।^{२४} निर्युक्तिकार ने सूत्रकृतांगनिर्युक्ति में नास्तिक के आधार पर अक्रियावाद की व्याख्या की है।^{२५} दशाश्रुतस्कंध में इसके निम्न चार सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं - (१) आत्मा का अस्वीकार (२) आत्मा के कर्तव्य का अस्वीकार (३) कर्म का अस्वीकार और (४) पुनर्जन्म का अस्वीकार। इसमें अक्रियावादी को नास्तिकवादी, नास्तिकप्रज्ञ एवं नास्तिक दृष्टि कहा गया है।^{२६} स्थानांगसूत्र में अक्रियावादी के आठ प्रकार बतलाए गये हैं -

- | | |
|---------------|-------------------------------------|
| (१) एकवादी | (२) अनेकवादी |
| (३) मितवादी | (४) निमित्तवादी |
| (५) सतवादी | (६) समुच्छेदवादी |
| (७) नित्यवादी | (८) नास्तिक परलोकवादी ^{२७} |

२४ उत्तराध्ययनसूत्र टीका-पत्र - ४४७

२५ सूत्रकृतांगनिर्युक्ति - ११८

२६ दशाश्रुतस्कन्ध - ६/७

२७ स्थानांग - ८/२२

- (शान्पाषाण)

- (निर्युक्तिसंग्रह, पृष्ठ ४६६) ।

- (नवयुत्तांगि, लाहन्, पृष्ठ ४४५) ।

- (अंगसुतांगि, लाहन्, खंड १, पृष्ठ ७६२) ।

प्रवचनसारोद्धार में अक्रियावादी के छः भेदों का उल्लेख किया गया है, जिसमें कालवादी आदि पूर्ववत् पांच के अतिरिक्त छद्मा यदृच्छावादी है।^{२८}

क्रियावादी की मान्यता को स्पष्ट करते हुए गुरुवर्या श्री हेमप्रभाश्री म. सा. ने लिखा है कि पुण्यबन्ध, पापबन्ध रूप क्रियाओं को नहीं मानने वाले अक्रियावादी हैं। उनके अनुसार जगत के सभी पदार्थ क्षणिक हैं और क्षणिक पदार्थों में क्रिया घट नहीं सकती, क्योंकि वे तो उत्पन्न होते ही दूसरे क्षण में नष्ट हो जाते हैं। क्रिया उन्हीं पदार्थों में हो सकती है जो उत्पत्ति के पश्चात् कुछ क्षण ठहरते हैं। ये आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते हैं।^{२९}

उत्तराध्ययनसूत्र की लक्ष्मीवल्गुभगणिकृत टीका तथा सूत्रकृतांगनिर्युक्ति में इसके चौरासी भेद का उल्लेख आता है जो निम्न हैं^{३०}—

जीव, अजीव, आश्रय, संवर, बन्ध, निर्जरा एवं मोक्ष इन सात तत्त्वों के स्व, पर विकल्प की अपेक्षा से $७ \times २ = १४$ भेद होते हैं। पुनश्च इन चौदह के काल स्वभाव, नियति, ईश्वर, आत्मा एवं यदृच्छा इन छः की अपेक्षा से $१४ \times ६ = ८४$ (चौरासी) भेद होते हैं।

अक्रियावादी पुण्य एवं पाप को नहीं मानते हैं। अतः इनकी अपेक्षा से सात ही तत्त्व होते हैं। ये नित्य एवं अनित्य विकल्प भी नहीं मानते हैं, क्योंकि नित्य एवं अनित्य धर्म रूप हैं और धर्म को मानने पर उसके आधार रूप धर्मों को मानना ही पड़ेगा। यह नियम है कि धर्म धर्मों के बिना नहीं रह सकता। अतः अक्रियावादी को नित्य—अनित्य रूप धर्म मानने पर आत्मा रूपी धर्मों को भी मानना पड़ेगा, जो (आत्म—अस्तित्व) उसे इष्ट नहीं है। अक्रियावादी के भेदों को स्पष्ट करते हुए प्रवचनसारोद्धार में गुरुवर्याश्री ने निम्न तालिका प्रस्तुत की है^{३१}—

- | | |
|-------------------------------|------------------------------|
| १. अस्ति जीव स्वतः कालतः | २. अस्ति जीव परतः कालतः |
| ३. अस्ति जीव स्वतः यदृच्छायाः | ४. अस्ति जीव परतः यदृच्छायाः |
| ५. अस्ति जीव स्वतः स्वभावतः | ६. अस्ति जीव परतः स्वभावतः |
| ७. अस्ति जीव स्वतः नियतेः | ८. अस्ति जीव परतः नियतेः |
| ९. अस्ति जीव स्वतः ईश्वरात् | १०. अस्ति जीव परतः ईश्वरात् |

२८ प्रवचनसारोद्धार - ५२४

२९ प्रवचनसारोद्धार - ५२३

३० (क) उत्तराध्ययनसूत्र टीका-पत्र - ५०६

(ख) सूत्रकृतांगनिर्युक्ति - ११६

३१ प्रवचनसारोद्धार, पृष्ठ ५२३

- (साध्वी हेमप्रभा श्री)।

- (साध्वी हेमप्रभा श्री)।

- (लक्ष्मीवल्गुभगणि);

- (निर्युक्तिसंग्रह, पृष्ठ ४६६)

- (साध्वी हेमप्रभा श्री)।

११. अस्ति जीव स्वतः आत्मनः १२. अस्ति जीव परतः आत्मनः

ये जीव के १२ भेद हुए इसी प्रकार अजीवादि के भी १२-१२ होने से कुल सात तत्त्वों के $१२ \times ७ = ८४$ भेद हुए। सूत्रकृतांग की चूर्णि में सांख्य और ईश्वर को कारण मानने वाले वैशेषिक को अक्रियावादी कहा गया है। सांख्यदर्शन के अनुसार क्रिया का मूल प्रकृति है; पुरुष निष्क्रिय है अर्थात् अकर्ता है। अतः पुरुष के अकर्तव्य की अपेक्षा से सांख्य को अक्रियावादी की कोटि में परिगणित किया गया है।^{३२}

वैशेषिकदर्शन के अनुसार सृष्टि का मूल उपादान परमाणु है। विभिन्न परमाणुओं के संयोग से विभिन्न पदार्थों का निर्माण हुआ है। इसी प्रकार उनकी मान्यता है कि जगत कार्य है तथा उसका कर्ता ईश्वर है जैसे कुम्भकार मिट्टी आदि उपादानों को लेकर घट की रचना करता है, वैसे ही ईश्वर परमाणुओं के उपादान से सृष्टि की रचना करता है। वही जीवों को कर्मानुसार फल प्रदान करता है। इस प्रकार कर्मफल आत्मा के अधीन नहीं है। वैशेषिकदर्शन की उपयुक्त अवधारणा को लक्ष्य में रखकर ही इसे अक्रियावादी माना गया है।

क्रियावाद और अक्रियावाद का विभाजन मुख्यतः आत्मा को केन्द्र में रखकर ही किया गया है। क्रियावाद का पूर्ण लक्षण इस प्रकार है - आत्मा है, आत्मा कर्म का कर्ता है, कर्मफल का भोक्ता है, पुनर्जन्म है अर्थात् आत्मा नित्य है, तथा उसका मोक्ष है (आत्मा मुक्त हो सकती है)। इसमें से किसी एक मान्यता को भी अस्वीकार करने वाली विचारधारा अक्रियावादी मानी जाती है। सांख्यदर्शन के अनुसार आत्मा कर्म का कर्ता नहीं है तथा वैशेषिकदर्शन में आत्मा कर्मफल की प्राप्ति में स्वतन्त्र नहीं है। सम्भवतः इसी अपेक्षा से चूर्णिकार ने इन्हें अक्रियावादी दर्शन कहा है। चूर्णिकार ने पंचमहाभौतिक, चतुर्भौतिक, स्कन्धमात्रिक, शून्यवादी, लोकायतिक आदि दार्शनिक धाराओं को भी अक्रियावादी कहा है।^{३३}

३२ सूत्रकृतांगचूर्णि - पत्र २५३

३३ सूत्रकृतांगचूर्णि - पत्र २५३

(३) विनयवादी

जो विनय से मुक्ति मानते हैं, वे विनयवादी हैं। ये विनय को ही श्रेष्ठ मानते हैं। विनय का अर्थ गर्वरहित-विनम्रवृत्ति किया जाता है। विनयवादी की मान्यता है - देव, दानव, राजा, तपस्वी, हाथी, घोड़ा, हिरण गाय, भैंस, शृगाल आदि को नमस्कार करने से क्लेश का नाश होता है। अतः विनय से ही कल्याण होता है अन्यथा नहीं।^{३४}

उत्तराध्ययनसूत्र की टीका में इसके ३२ भेदों की सूचना मिलती है,^{३५} जिसका स्पष्ट उल्लेख प्रवचनसारोद्धार के अनुसार निम्न है^{३६} -

देव, राजा, मुनि, स्वजन, वृद्ध, दयनीयजीव (भिखारी, अपंग आदि), माता तथा पिता इन आठ का मन, वचन, काया एवं दान द्वारा विनय करने से मोक्ष या स्वर्ग की प्राप्ति होती है। विनयवादियों की इस मान्यता के आधार पर सुर आदि आठ के साथ मन, वचन, काया और दान इन चार अपेक्षाओं का गुणा करने पर $8 \times 8 = 32$ भेद होते हैं, जिसे निम्न रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है-

- (१) सुराणां विनयं मनसा कर्तव्यं
- (२) सुराणां विनयं वचसा कर्तव्यं
- (३) सुराणां विनयं कायसा कर्तव्यं
- (४) सुराणां विनयं दानेन कर्तव्यं

इसी प्रकार राजा आदि के भी उपर्युक्त चार विकल्प होंगे।

विनयवाद के सन्दर्भ में आचार्य महाप्रज्ञ ने एक महत्त्वपूर्ण तथ्य प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार यहां विनय का अर्थ 'आचार' होना चाहिये। ज्ञानवादी जैसे ज्ञान के द्वारा ही सिद्धि मानते थे; वैसे ही आचारवादी (विनयवादी) आचार पर ही बल देते थे। उनका घोष था- 'आचारः प्रथमो धर्मः'। आचार्यश्री के अनुसार: प्राचीन साहित्य में 'विनय' शब्द आचार के रूप में व्यवहृत होता था। इसे पुष्ट करते हुए ज्ञाताधर्मकथांग एवं बौद्धग्रन्थ विनयपिटक का उल्लेख किया है। वैसे यह बात उत्तराध्ययनसूत्र से भी पुष्ट होती है। उत्तराध्ययनसूत्र का प्रथम विनय अध्ययन

३४ उत्तराध्ययनसूत्र टीका-पृष्ठ ४४४

३५ उत्तराध्ययनसूत्र टीका - पृष्ठ ५०६

३६ प्रवचनसारोद्धार पृष्ठ - ६२७

- (ज्ञानवादी)।

- (साध्वीवृत्तभावगणि)।

- (साध्वी हेमप्रभा श्री)

सूत्र इस तथ्य को स्पष्टतः प्रकट करता है कि वहाँ प्रयुक्त विनय शब्द 'विनम्रता' एवं 'आचार' दोनों का सूचक है।

उस युग में केवल ज्ञानवादी एवं आचारवादी विचार धारायें प्रचलित थीं। इसका उल्लेख करते हुए उन्होंने बौद्धग्रन्थ में प्रयुक्त 'सीलम्बतपरामास' शब्द को उद्धृत किया है। वस्तुतः विनयवादी विचार धारा को आचारवादी विचारधारा मानने पर आचार में विनम्रता का भी समावेश हो जाता है।^{३७}

(४) अज्ञानवादी

अज्ञान को प्रश्रय देने वाली अवधारणा अज्ञानवादी कहलाती है। ये अज्ञानपूर्वक किये गये कर्मों का फल निष्फल मानते हैं। उनकी मान्यता में ज्ञानी होना अहितकर है, क्योंकि ज्ञान होगा तो परस्पर विवाद होगा, जिससे राग-द्वेष पैदा होंगे और भवग्रमण बढ़ेगा। अज्ञानी को मानसिक अभिनिवेश नहीं होता। मानसिक अभिनिवेश ज्ञानी को ही होता है।

अज्ञानवाद में भी दो प्रकार की विचारधाराएं संकलित हैं। कुछ अज्ञानवादी आत्मा के होने में सन्देह करते हैं। उनका मत है आत्मा है तो भी उसे जानने से क्या लाभ? दूसरी अज्ञानवादी विचारधारा के अनुसार ज्ञान सब समस्याओं का मूल है। अतः अज्ञान ही श्रेयस्कर है।

शान्त्याचार्य के अनुसार अज्ञानवादियों में कुछ लोग जगत को ब्रह्मादि विवर्तमय; कई प्रकृति-पुरुषात्मक; कई षड्द्रव्यात्मक; कई चतुः सत्यात्मक; कई विज्ञानमय; कई शून्यमय आदि-आदि मानते हैं। इसी प्रकार कई आत्मा को भी नित्य या अनित्य आदि मानते हैं। किन्तु इन सबके ज्ञान से क्या प्रयोजन है? यह ज्ञान स्वर्ग प्राप्ति के लिये अनुपयुक्त है, अकिञ्चित्कर है।^{३८}

उत्तराध्ययनसूत्र के टीकाकारों ने इसके सड़सठ भेदों का उल्लेख किया है।^{३९} सूत्रकृतांगनिर्युक्ति तथा प्रवचनसारोद्धार में भी इसके सड़सठ भेद ही बतलाये गये हैं।^{४०}

जीव, अजीव आदि नौ तत्त्वों को सत्, असत्, सदसत्, अवक्तव्य, सद-अवक्तव्य, सदसद-अवक्तव्य और असद-अवक्तव्य इन सात अपेक्षाओं से गुणा करने पर ६x ७ = ६३ भेद होते हैं। साथ ही चार विकल्प उत्पत्ति के होते हैं। इसके भेदों की तालिका निम्न है -

१. सत् जीवो इति को वेत्ति, किं वा तेन ज्ञातेन
२. असत् जीवो इति को वेत्ति, किं वा तेन ज्ञातेन
३. सदसत् जीवो इति को वेत्ति, किं वा तेन ज्ञातेन
४. अवक्तव्यो जीवो इति को वेत्ति, किं वा तेन ज्ञातेन
५. सदवक्तव्यो जीवो इति को वेत्ति, किं वा तेन ज्ञातेन
६. असदवक्तव्यो जीवो इति को वेत्ति, किं वा तेन ज्ञातेन
७. सदसदवक्तव्यो जीवो इति को वेत्ति, किं वा तेन ज्ञातेन

ये सात जीव तत्त्व के विकल्प हुए। इसी प्रकार शेष अजीवादि आठ के भी ये ही सात विकल्प होने से कुल ६३ भेद हुए। उत्पत्ति के ४ भेद होते हैं -

१. सती भावोत्पत्तिः को वेत्ति, किं वा तथा ज्ञातया
२. असती भावोत्पत्तिः को वेत्ति, किं वा तथा ज्ञातया
३. सदसती भावोत्पत्तिः को वेत्ति, किं वा तथा ज्ञातया
४. अवक्तव्या भावोत्पत्तिः को वेत्ति, किं वा तथा ज्ञातया

इस प्रकार कियावादी आदि इन चारों विचारधाराओं के पूर्वोक्त ३६३ भेद हुये।

३९ (क) उत्तराध्ययनसूत्र टीका-पत्र ४४४

(ख) उत्तराध्ययनसूत्र टीका-पत्र ५०६

४० (क) सूत्रकृतांगनिर्युक्ति - ११६

(ख) प्रवचनसारोद्धार-पृष्ठ - ५२६

- (शान्पाकदी)

- (सम्मीलनसंग्रह)

- (निर्युक्तिसंग्रह, पृष्ठ ४६६);

- (साधु श्रेयसा श्री)

अध्याय - १७

उत्तराध्ययनसूत्र की शिक्षाओं की
प्रासंगिकता और उनका महत्त्व



उत्तराध्ययनसूत्र की शिक्षाओं की प्रासंगिकता और उनका महत्त्व

उत्तराध्ययनसूत्र में प्रतिपादित सिद्धान्तों की वर्तमान में क्या प्रासंगिकता है ? यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। जैन धर्म के सामान्य सिद्धान्तों की प्रासंगिकता को लेकर विद्वानों एवं मनीषियों ने अपने-अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। आज धार्मिक सिद्धान्तों की युगीन सन्दर्भों में प्रासंगिकता देखना अत्यावश्यक हो गया है। प्रस्तुत शोध की परिपूर्णता भी इसी में है कि हम उत्तराध्ययनसूत्र के सिद्धान्तों की वर्तमान परिप्रेक्ष्य में प्रासंगिकता को समझने का प्रयत्न करें।

किसी भी शास्त्र, सिद्धान्त, वस्तु या व्यक्ति की हमारे लिये उपयोगिता तभी सिद्ध होती है जब उसका सीधा प्रभाव हमारे जीवन-व्यवहार पर पड़ता हो। अतः उत्तराध्ययनसूत्र की शिक्षाओं की वर्तमान सन्दर्भ में क्या प्रासंगिकता है ? इस पर विमर्श करना आवश्यक है।

वर्तमानकाल में सम्पूर्ण विश्व अशान्त एवं तनावग्रस्त है। भौतिक सुख-समृद्धि का अम्बार लग रहा है; वैज्ञानिक-साधनों की भरमार है, फिर भी आज मानव अत्याधिक तनावग्रस्त है। वह मानसिक सुख एवं शान्ति की उपलब्धि नहीं कर पाया है। इसका मुख्य कारण आज की उपभोक्तावादी संस्कृति है। अपनी भौतिकवादी जीवनदृष्टि के कारण आज मनुष्य सुख और शान्ति की खोज बाह्य वस्तुओं में कर रहा है; जबकि मानसिक सुख और शान्ति हमारी आध्यात्मिक जीवनदृष्टि पर आधारित है।

आज का युग वैज्ञानिक युग कहलाता है। वैज्ञानिक खोजों और तकनीकी उपलब्धियों ने व्यक्ति के जीवन के विविध पक्षों को प्रभावित किया है। इसके कारण मानवों के रहन-सहन, आचार-विचार, धर्म-कर्म, रीति-नीति तथा सभ्यता और संस्कृति में बहुत बड़ा परिवर्तन आ गया है; किन्तु इतना सब होते हुए भी यह सोचना जरूरी है कि इस तथाकथित प्रगति के कारण विश्व में सुख और शान्ति बढ़ी या घटी है ? स्पष्ट है कि भौतिक सुख-साधनों की वृद्धि के साथ विश्व में पहले की अपेक्षा अशान्ति, असन्तोष, दुःख और क्लेश की वृद्धि हुई है।

आज दुनिया जितनी अशान्त है उतनी पहले कभी नहीं थी। ऐसी विषम स्थिति में मात्र अध्यात्म ही एक ऐसा रसायन है जो दुनिया को इस त्रासदी से मुक्त कर सकता है।

आध्यात्मिक जीवनदृष्टि वैज्ञानिक जीवनदृष्टि है। यथार्थ में वह जीवन का विज्ञान है। जगत में मुख्यतः दो तत्त्व हैं -- जीव (चेतन) और अजीव (जड़)। वर्तमान में प्रचलित विज्ञान जड़ का विज्ञान है क्योंकि वह पदार्थ तक सीमित होकर रह गया है; जबकि अध्यात्म जीव का विज्ञान है। 'विज्ञान साधनों का ज्ञान है तो अध्यात्म साध्य का ज्ञान'।^१ विज्ञान एवं अध्यात्म एक दूसरे के पूरक हैं जैसे जगत के सन्दर्भ में जड़ एवं चेतन दोनों का अपना-अपना महत्त्व है, वैसे ही जीवन की व्यवस्था में अध्यात्म एवं विज्ञान दोनों का महत्त्व है। इनमें से किसी एक की उपेक्षा करना जीवन में अव्यवस्था को आमंत्रण देना है।

आचारांगसूत्र में अध्यात्म एवं विज्ञान का समन्दय निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया है :- 'जे आया से विष्ण्या जे विष्ण्या से आया' - जो आत्मा है वही विज्ञाता है और जो विज्ञाता है, वही आत्मा है।^२ विज्ञाता को जाने बिना विज्ञान अधूरा है क्योंकि वही विज्ञान का अधिष्ठान है। आज सबसे बड़ी विडम्बना यह है कि विज्ञान अध्यात्म से विमुख होता जा रहा है; अतः वह मात्र जड़ तक सीमित हो गया। यद्यपि सभी भौतिक साधन भले ही शरीर की सुख सुविधा के लिये हैं, परन्तु इन्हें भोगने वाला शरीर नहीं कोई और है। जैसे भूख भले ही पेट में प्रतीत होती है पर खाया पेट से नहीं जाता है, वैसे ही शरीर की व्यवस्था में भी आत्मा को गौण नहीं किया जा सकता है।

भौतिक सुख सुविधाओं के द्वारा मानव आकृति को सजा या सवारा जा सकता है, किन्तु उसकी प्रकृति में आन्तरिक रूपान्तरण नहीं किया जा सकता। आन्तरिक रूपान्तरण के लिए तो अध्यात्म ही अनिवार्य है।

हमारे उपर्युक्त विवेचन का आशय आधुनिक विज्ञान की उपेक्षा करना नहीं है; क्योंकि वैज्ञानिक उपलब्धियों की उपेक्षा न तो सम्भव है और न ही औचित्यपूर्ण, किन्तु इतना अवश्य है कि विज्ञान में पूर्णता लाने के लिये अथवा जीवन

१ 'अध्यात्म और विज्ञान'

२ आचारांग १/५/५/१०४

- डॉ. सागरमल जैन (त्रयम; अगस्त-जून, १९९७)।

- (अंगसुत्तपि, लाहौर, खंड १, पृष्ठ ४५)।

में समृद्धि के साथ शान्ति लाने के लिये विज्ञान का अध्यात्म द्वारा अनुशासित होना अत्यन्त आवश्यक है।

उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है:- 'अप्यणा सच्चमेसेज्जा, मेत्ति भूएसु कप्पए'। यह सूत्र परम वैज्ञानिक दृष्टि का परिचायक है,^३ इसमें कहा गया है:- 'अपना सत्य खोजो एवं सब के साथ मैत्रीपूर्ण व्यवहार करो'। व्यक्ति स्वयं के परिप्रेक्ष्य में सत्य का अन्वेषण करे, अपनी अनुभूति के आधार पर शाश्वत् सत्य को भी सामयिक सत्य बनाये। क्योंकि दिया हुआ सत्य या आरोपित सत्य पूर्ण नहीं होता है। साथ ही इसमें दूसरी बात यह कही गई है कि 'प्राणी मात्र के साथ मैत्री स्थापित करो'। यह सूत्र विज्ञान की संहारक शक्ति को अनुशासित करने में अत्यन्त सहायक है। कितनी नार्मिक बात इस सूत्र में कह दी गई कि स्वयं का सत्य स्वयं के द्वारा शोधित हो, साथ ही प्राणी मात्र के साथ मैत्रीपूर्ण व्यवहार हो।

वस्तुतः सत्य स्वयं के अनुभव से ही प्रसूत होना चाहिए क्योंकि ऐसा सत्य ही जीवन का यथार्थ मार्ग दृष्टा होता है। आध्यात्मिक या आन्तरिक सत्य की खोज से अहिंसा, अनेकान्त और अपरिग्रह के सिद्धान्त उपलब्ध होते हैं। आत्मविज्ञान या भेद विज्ञान के ये सिद्धान्त आज अध्यात्म जगत के ही नहीं दरन् व्यवहारिक जीवन के भी आधार बन चुके हैं। आज हिंसा, वैचारिक-संघर्ष जातिवाद, रूढ़िवाद एवं परिग्रह तथा पर्यावरण की समस्याओं ने मनुष्य को अहिंसा, अनेकान्त एवं अपरिग्रह के सिद्धान्तों के महत्त्व को विशेष रूप से समझने के लिए बाध्य किया है। उत्तराध्ययनसूत्र की शिक्षायें हमारे जीवन के विविध पक्षों में किस प्रकार उपयोगी सिद्ध हुई हैं इसे हम अग्रिम बिन्दुओं के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत कर रहे हैं-

कर्मकाण्ड एवं रूढ़िवाद से मुक्ति

उत्तराध्ययनसूत्र में अनेक प्रसंगों में बाह्य कर्मकाण्ड एवं रूढ़िवाद से मुक्त होने की प्रेरणा दी गई है, साथ ही इसमें धर्म के नाम पर प्रचलित कर्मकाण्ड एवं आडम्बरों के खण्डन हेतु भी तीव्र प्रहार किये गये हैं। कर्मकाण्ड एवं रूढ़िवाद के अन्तर्गत उस युग में धर्म के नाम पर प्रचलित ब्राह्मण वर्ग की श्रेष्ठता, यज्ञयाग, पशुबलि, मांसाहार आदि का खुला विरोध किया गया है।

३ उत्तराध्ययनसूत्र ६/२।

आडम्बर का विरोध करते हुए इसमें कहा गया है कि केवल सिर मूंड लेने से कोई श्रमण नहीं होता, 'ओम्' के जप मात्र से कोई ब्राह्मण नहीं होता, केवल अरण्य में रहने से कोई मुनि नहीं होता और कुश का चीवर मात्र पहनने से कोई तापस नहीं होता।^४ पुनश्च आगे इसमें कहा गया है कि समभाव की साधना से श्रमण होता है, ब्रह्मचर्य के पालन से ब्राह्मण होता है, ज्ञान की आराधना मनन करने से मुनि होता है, तप का आचरण करने से तापस होता है।^५

उत्तराध्ययनसूत्र के चौदहवें अध्ययन में कहा गया है कि वेद पढ़ने पर भी वे त्राणभूत (रक्षा) नहीं होते, ब्राह्मणों को भोजन कराने पर भी व्यक्ति अन्धकारमय नरक को प्राप्त होता है।^६ इसका तात्पर्य यही है कि धार्मिक क्रिया भी विवेकपूर्वक की जानी चाहिये। धार्मिक क्रियाओं को मात्र रूढ़ि समझकर नहीं करना चाहिये।

कर्मकाण्ड की जो आध्यात्मिक व्याख्यायें उत्तराध्ययनसूत्र में दी गई हैं उनकी प्रासंगिकता न केवल उस युग में थी, किन्तु वे आज भी उतनी ही प्रासंगिक हैं। आज भी धर्म में कर्मकाण्ड एवं आडम्बर बढ़ते जा रहे हैं इसीलिये उन कर्मकाण्डों के आध्यात्मिक अर्थ को समझना आज अधिक प्रासंगिक हो गया है।

जन्मना वर्ण व्यवस्था का खण्डन

उत्तराध्ययनसूत्र कर्म अर्थात् व्यवसाय आदि के आधार पर जाति व्यवस्था को स्वीकार करता है किन्तु वह जन्मना जातिवाद या वर्णव्यवस्था को अस्वीकार करता है। इसके पच्चीसवें अध्याय में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि व्यक्ति कर्म के आधार पर ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र होता है, न कि जन्म के आधार पर।^७

उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार जातिगत श्रेष्ठता का प्रतिमान सदाचरण है। इसके पच्चीसवें अध्ययन में सदाचरण के आधार पर ब्राह्मणत्व की प्रतिष्ठा की गई है। इसमें कहा गया है कि जो जल में उत्पन्न हुए कमल के समान भोगों में

४ 'न वि मुञ्चिष्य समनो, न औक्षरेण बभनो'
न मुनी रण्य वासेन, कुसुधीरिण न तावसो', ॥

- उत्तराध्ययनसूत्र २५/३१ ।

५ 'समयाए समनो होइ, बभयेरेण बभनो ।
नापेण य मुनी होइ, तवेण होइ तावसो' ॥

- उत्तराध्ययनसूत्र २५/३२ ।

६ 'विश्व अहीश्व न भवन्ति ताण, भुत्ता दिश निति तमं तमेण' ।

- उत्तराध्ययनसूत्र १४/१२ श्व अश्व ।

७ उत्तराध्ययनसूत्र २५/३३ ।

लिप्त नहीं रहता वही सच्चा ब्राह्मण है और भी इसमें ब्राह्मण की ^९ विशिष्ट व्याख्या की गई है, किन्तु यहां उसकी चर्चा करना पिष्टपेषण होगा; क्योंकि उस सबकी चर्चा इसी ग्रन्थ के चौदहवें अध्याय में की जा चुकी है।

इस समस्त चर्चा का निष्कर्ष तो इतना ही है कि व्यक्ति की श्रेष्ठता का आधार उसका सदाचरण है; किसी जाति या वर्ण विशेष में जन्म लेना नहीं। यह उस युग में प्रचलित जन्मना, जातिवाद या वर्ण व्यवस्था के प्रति करारा प्रहार था। इसने लोगों को नई दिशा में सोचने को विवश किया कि व्यक्ति की श्रेष्ठता का मापदण्ड किसी जाति विशेष में जन्म लेना नहीं हो सकता है, उसकी श्रेष्ठता का आधार तो उसका आध्यात्मिक विकास और सदाचरण है।

वैदिक परम्परा के ग्रन्थ महाभारत (वनपर्व) एवं बौद्धपरम्परा के 'सुत्तनिपात' में भी ब्राह्मण के इन्हीं गुणों का उल्लेख किया गया है।^९

यज्ञ का आध्यात्मिक स्वरूप

वैदिक कर्मकाण्डों पर प्रहार करते हुए उत्तराध्ययनसूत्र ने यज्ञयाग की कर्मकाण्डी परम्परा का विरोध किया और यज्ञ को एक नया आध्यात्मिक अर्थ प्रदान किया। उत्तराध्ययनसूत्र में यज्ञ की नवीन आध्यात्मिक परिभाषा प्रस्तुत करते हुए उस युग में प्रचलित हिंसात्मक यज्ञ के स्थान पर आध्यात्मिक यज्ञ की प्ररूपणा की गई है। इसके बारहवें अध्याय में कहा गया है कि तप अग्नि है, जीवात्मा अग्निकुण्ड है, मन वचन और काया की प्रवृत्तियां कलछी (चम्मच) है और कर्मों (पापों) का नष्ट करना ही आहुति है; यही यज्ञ संयमयुक्त होने से शान्तिदायक और सुखकारक है; ऋषियों ने ऐसे ही यज्ञ की प्रशंसा की है।^{१०}

हरिकेशी मुनि हिंसात्मक यज्ञ को पापकार्य घोषित करते हुये कहते हैं कि जहां अग्नि का समारम्भ है वहां हिंसा है और हिंसा के साथ पापकर्म जुड़ा हुआ है ही। इसके साथ ही उसके पच्चीसवें यज्ञीय नामक अध्याय में भी यज्ञ सम्बन्धी कर्मकाण्डों को नया अर्थ दिया गया है। उसमें कहा गया है कि वेदों का मुख

९ उत्तराध्ययनसूत्र २६/२५ एवं २६।

१० (क) महाभारत ३१३/१०८ - उद्धृत 'जैन बौद्ध और गीता के आधार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' भाग २, पृष्ठ १८१।

(ख) देखिए - 'जैन बौद्ध और गीता के आधार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' भाग २, पृष्ठ १९६।

१० 'तस्यो जोह ओहो जाइठानां, जोगा सुया सरीर करिसंगं।

कच्चं एष संजमजोग सती, भोगं हुगामी इस्मिं पसत्वं ॥'

- उत्तराध्ययनसूत्र १२/४४।

अग्निहोत्र (यज्ञ) है और यज्ञ का मुख यज्ञार्थी है, नक्षत्रों का मुख चन्द्रमा है और धर्म का मुख काश्यप अर्थात् ऋषभदेव हैं।¹¹ इसी क्रम में अग्निहोत्र के वास्तविक स्वरूप को समझाते हुए टीकाकारों द्वारा कहा गया कि कर्म रूपी ईधन के द्वारा धर्मध्यान रूपी अग्नि में आहुति देना ही वास्तविक अग्निहोत्र है। इस प्रकार हम देखते हैं कि यज्ञ के इस आध्यात्मिक अर्थ ने अन्य चिन्तकों को भी प्रभावित किया। यही कारण है कि गीता में भी यज्ञ का अर्थ बदल गया है। वहां सेवा को ही सच्चा यज्ञ कहा गया है।

याज्ञिक का आध्यात्मिक स्वरूप

सच्चा याज्ञिक अर्थात् यज्ञ करने वाला कैसा होता है इसका स्वरूप प्रकाशित करते हुए उत्तराध्ययनसूत्र के बारहवें अध्ययन में कहा गया है कि जो पांच संवरों से सुसंवृत होता है, जो असंयत जीवन की इच्छा नहीं करता है, जो पवित्र आचरण वाला है एवं देहासक्ति का त्यागी है, वह महाजयी श्रेष्ठ यज्ञ का सम्पादन करता है।¹²

तीर्थस्नान का आध्यात्मिक स्वरूप

यज्ञ के सच्चे स्वरूप का प्रतिपादन करने के साथ ही उत्तराध्ययनसूत्र में सच्चे तीर्थस्नान का स्वरूप भी बतलाया गया है। इसमें मुनि हरिकेशबल के द्वारा कहा गया है कि अकलुषित एवं प्रसन्न लेश्या (मनोवृत्ति) वाला आत्मा का धर्म ही मेरा हृद (जलाशय) है। ब्रह्मचर्य मेरा शान्तितीर्थ है जहां नहा कर मैं विमल, विशुद्ध और शीतल होकर कर्मरज का त्याग करता हूं।¹³

उत्तराध्ययनसूत्र में जातिवाद, यज्ञयाग या तीर्थस्नान का खण्डन नहीं किया वरन् उत्तराध्ययनसूत्र ने कर्मकाण्डों को आध्यात्मिक स्वरूप प्रदान किया है। यज्ञ के विषय में भी इसका मूल सन्देश यही है कि आध्यात्मिक जीवनदृष्टि और अहिंसा की पीठिका पर स्थित कार्य पवित्र एवं शुद्ध होते हैं। अतः हर अनुष्ठान के साथ हिंसा के स्थान पर अहिंसा की प्रतिष्ठा करनी चाहिए और इसी दृष्टिकोण के

११ उत्तराध्ययनसूत्र २५/१६।

१२ उत्तराध्ययनसूत्र १२/४२।

१३ उत्तराध्ययनसूत्र १२/४६।

आधार पर यज्ञ का आध्यात्मिकीकरण किया गया है। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो जातिवाद, यज्ञवाद एवं तीर्थस्नान उस युग की जटिल समस्यायें थीं। ये तीनों अनुष्ठान व्यक्ति को धर्म की अपेक्षा अधर्म की ओर उन्मुख कर रहे थे। उत्तराध्ययनसूत्र में इन तीनों का आध्यात्मिकीकरण करके इनके सम्बन्ध में सम्यक् समाधान प्रस्तुत किया गया है।

उत्तराध्ययनसूत्र अपने युग की समस्याओं का समाधान ही प्रस्तुत नहीं करता, वरन् यह वर्तमान कालीन समस्याओं के निराकरण में भी पूर्णतः सक्षम है। मानव की समस्यायें प्रायः समान होती हैं, अतः देश और काल के अन्तराल से भी उनमें विशेष अन्तर नहीं होता। मुख्य समस्यायें तो हर युग की प्रायः समान ही रही हैं; देश और काल के साथ उनकी बाह्य अभिव्यक्तियों के स्वरूप में अवश्य परिवर्तन आता है। सम्पूर्ण समस्याओं की जड़ में विषमता है। उत्तराध्ययनसूत्र विषमता को दूर करने के लिये समता एवं वीतरागता को उपलब्ध करने की प्रेरणा देता है। इसके बत्तीसवें अध्ययन में सोदाहरण विषमता से समता की ओर अग्रसर होने का मार्ग प्रतिपादित किया गया है। इस प्रकार सबसे बड़ी समस्या 'विषमता' है एवं उसके निराकरण का उपाय 'समता' है। मानव जीवन की मुख्य विषमतायें निम्न हैं—

- | | |
|-----------------------|--------------------|
| (१) सामाजिक विषमता; | (२) आर्थिक विषमता; |
| (३) वैचारिक विषमता और | (४) मानसिक विषमता। |

इन चारों विषमताओं को दूर करने के लिये उत्तराध्ययनसूत्र अनेक उपाय प्रस्तुत करता है जिनमें से कुछ निम्न हैं।

(१) सामाजिक विषमता

आज मानव में एवं 'मेरे' के घेरे में आबद्ध है। मनुष्य का क्षुद्र स्वार्थ उसे ऊपर नहीं उठने देता है। स्वार्थवृत्ति व्यक्ति को संकुचित बना देती है, फलतः व्यक्ति जिसे अपना मानता है, उसका हित चाहता है और जिसे अपना नहीं मानता है उसके हित की उपेक्षा करता है। यह स्वार्थ जन्य संकीर्णता ही सामाजिक विषमता का मूलकारण है और इसका मूल 'रागवृत्ति' की प्रबलता है। राग ही मनुष्य में अपने पराये की भावना पैदा करता है और सामाजिक वातावरण को विषम,

अस्वस्थ, अशुद्ध बनाता है और समाज में ऊँच नीच की भेद रेखा खींचता है। यद्यपि सामान्यजन के लिये एक साथ राग का पूर्णतः निरसन सम्भव नहीं है, फिर भी शनैः शनैः विवेक पूर्वक इससे मुक्त हुआ जा सकता है।

उत्तराध्ययनसूत्र में राग भाव कहाँ-कहाँ होता है और उसकी विफलता कालान्तर में आत्मा को कितना कष्ट देता है, इसका व्यापक एवं सजीव चित्रण किया गया है। इसके द्वारा प्रतिपादित साधना का मूल लक्ष्य समत्व को उपलब्ध करना है, क्योंकि वीतराग आत्मा अरागी होने से सामाजिक विषमता का कारण नहीं बनती है। इसके उन्नीसवें अध्ययन में ममत्व एवं अहंकार के त्याग एवं सभी जीवों पर समभाव रखने की प्रेरणा दी गई है।

ममत्व से मुक्ति के लिये सांसारिक सुखों की नश्वरता एवं सम्बन्धों की असारता का दिग्दर्शन कराते हुये उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि परिवारजन, दास-दासी एवं अपार सम्पत्ति मानव के लिये शरणभूत नहीं हो सकती है।¹⁴ आज भी यदि यह सत्य मानव के समझ में आ जाये तो वह स्वार्थ बुद्धि से नहीं अपितु कर्तव्यबुद्धि द्वारा पारिवारिक उत्तरदायित्वों का निर्वाह कर सकता है और इस प्रकार सामाजिक विषमताओं को दूर करने में सफल हो सकता है, क्योंकि सभी सामाजिक विषमतायें स्वार्थ और संकीर्ण जीवनदृष्टि का परिणाम है।

उत्तराध्ययनसूत्र जातिगत वैषम्य एवं वर्गभेद का खुलकर विरोध करता है। आज समाज में यदि उत्तराध्ययनसूत्र का मात्र यह सूत्र लागू हो जाय कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शुद्र इन चारों वर्णों का विभाजन कर्म के आधार पर है, जन्म के आधार पर नहीं, व्यक्ति अपने चरित्र या आचार से श्रेष्ठ होता है, जन्म से नहीं, तो सामाजिक विषमता को निःसन्देह दूर किया जा सकता है। उत्तराध्ययनसूत्र में वर्णित वर्ण एवं जाति से सम्बन्धित चर्चा को हम इसी ग्रन्थ के चौदहवें अध्याय 'उत्तराध्ययनसूत्र के सामाजिक दर्शन' में विस्तृत रूप से कर चुके हैं।

आज इस बात का जोर शोर से प्रचार किया जा रहा है कि जातिवाद एवं ऊँच-नीच की भावना को समाप्त किया जाय। सरकार निम्नवर्ग के लिये हर क्षेत्र में आरक्षण व्यवस्था भी कर रही है, किन्तु यह योग्यता का अवमूल्यन है। इन सुविधाओं के आधार पर जातिवाद मिटने के स्थान पर और अधिक सुदृढ़ हो रहा है। आज आवश्यकता है व्यक्ति के चारित्रिक मूल्यों के संरक्षण की। श्रेष्ठता का मानदण्ड

चारित्रिक मूल्य या सदाचार होना चाहिए। उत्तराध्ययनसूत्र स्पष्ट रूप से कहता है कि महत्त्व इस बात का नहीं है कि व्यक्ति का जन्म किस जाति एवं कुल में हुआ है अपितु इस बात का है कि उसने सदाचार और अध्यात्म को जीवन में कितना स्थान दिया है। जातिपूजा और व्यक्तिपूजा दोनों ही अनुचित है, आवश्यकता है सदाचार की पूजा की और उत्तराध्ययनसूत्र हमें यही शिक्षा देता है।

(२) आर्थिक विषमता

आर्थिक विषमता आज के युग की ज्वलन्त समस्या है। इस समस्या का मूल कारण मानव की संग्रह एवं संचय की वृत्ति है।

आज का मानव भौतिक सुख-समृद्धि की अपेक्षा जैविक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये नहीं वरन् अपनी तृष्णा के कारण करता है। आज के मानव को पेट से अधिक पेट की चिन्ता है। आकांक्षा की पराकाष्ठा का उल्लेख करते हुए उत्तराध्ययनसूत्र में अनेक गाथायें प्रस्तुत की गई हैं जिनमें कहा गया है 'लभ के साथ-साथ लोभ बढ़ता जाता है'। इच्छायें आकाश के समान अनन्त होती हैं; वे सोने, चांदी के असंख्य पर्वतों को प्राप्त कर लेने पर भी तृप्त होने वाली नहीं हैं।¹⁵

इस प्रकार उत्तराध्ययनसूत्र मानव के लिये यह महत्त्वपूर्ण सन्देश देता है कि इच्छायें कभी तृप्त नहीं होती हैं, अतः इच्छाओं का परिसीमन करना चाहिए। उत्तराध्ययनसूत्र का अपरिग्रह सिद्धान्त भी यही सन्देश देता है कि इच्छाओं के सीमांकन एवं अपरिग्रह के सिद्धान्त के द्वारा आज के युग में व्याप्त आर्थिक विषमता से छुटकारा पाया जा सकता है।

आज के युग का भ्रष्टाचार जैसे घूसखोरी, खाद्य पदार्थों में मिलावट, व्यापार सम्बन्धी घोटाले, कालाबाजारी आदि अनियन्त्रित भोगेच्छा एवं संग्रहेच्छा के ही परिणाम हैं। उत्तराध्ययनसूत्र हमें इनसे उपर उठने का सन्देश देता है।

(३) वैचारिक विषमता

आज के इस बुद्धिप्रधान युग में वैचारिक मतभेद अपनी चरम सीमा पर हैं। धार्मिक क्षेत्र भी इससे अछूता नहीं है। यह कहना अनुचित नहीं होगा कि आज धर्म एवं सम्प्रदायों के नाम पर जो वैचारिक विषमता उत्पन्न हो रही है वह मानव के लिए एक अभिशाप बनती जा रही है।

आज आतंकवादी प्रवृत्तियों के मूल में अविवेकपूर्ण साम्प्रदायिक कट्टरता ही तो काम कर रही है। आतंककारी सम्पूर्ण विश्व को अपनी मान्यता से रंग देना चाहते हैं। इसके लिये उन्होंने धार्मिक कट्टरता को माध्यम बनाया है। वे धर्म के लिये मरने-मारने का रास्ता अपना रहे हैं जो कि मानव जाति के लिये कलंक है।

धर्म के नाम पर उत्पन्न इस वैचारिक विषमता का कारण यह है कि आज बाह्य कर्मकाण्ड एवं रीति रिवाज को ही धर्म का सर्वस्व माना जा रहा है; जबकि धर्म मुख्यतः भावना-प्रधान है। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि जरा और मृत्यु के वेग में बहते हुए प्राणियों के लिए धर्म द्वीप, प्रतिष्ठा, गति और उत्तमशरण है।¹⁶ ऐसे उत्तम एवं शरणभूत धर्म के नाम पर आज जो वर्ग-विद्वेष एवं साम्प्रदायिक-संकीर्णता छा रही है उसके पीछे व्यक्ति की अहंकार वृत्ति एवं स्वार्थपरता ही है। यद्यपि धार्मिक सिद्धान्तों में विविधता अवश्य है, किन्तु यह विविधता विद्वेष के लिए नहीं अपितु व्यक्ति के स्वयोग्यतानुसार विकास के लिये है। ये विभिन्न धर्ममार्ग परस्पर विरोधी नहीं हैं, वरन् ये वैसे ही हैं जैसे एक ही नगर को जाने वाले विभिन्न मार्ग।

उत्तराध्ययनसूत्र धार्मिक विषमता को दूर करने के लिये महत्त्वपूर्ण सूत्र देता है। उसमें कहा गया है:- 'पन्ना समिक्खए धम्मं, तत्तं तत्त विणिच्छयं' - प्रज्ञा के द्वारा धर्म की समीक्षा करो एवं तर्क के द्वारा तत्त्व का विश्लेषण करो। इसका तात्पर्य यह है कि धर्ममार्ग का चयन स्वप्रज्ञा के आधार पर करना चाहिए। उसका निर्देश है कि यदि धर्म के मूल तत्त्व या उसको तार्किक बुद्धि से समझने का प्रयत्न नहीं किया गया तो धर्म मात्र रूढ़ि बनकर रह जायेगा। रूढ़िग्रस्त धर्म मात्र अन्धश्रद्धा के अतिरिक्त कुछ नहीं होता है। वह मात्र साम्प्रदायिक तनावों और मतभेदों को जन्म देता है। साथ ही उत्तराध्ययनसूत्र में यह भी कहा गया है:- 'अप्पणा सच्चमेसेज्जा' - अपना सत्य खोजो यह बहुत मार्मिक एवं तात्त्विक बात है

जो उत्तराध्ययनसूत्र की अनेकान्तवादी विचारधारा का प्रतिनिधित्व करती है। क्योंकि जब यह कहा जाता है कि अपना सत्य खोजो तो इसका तात्पर्य यह है 'आपका सत्य आपके दृष्टिकोण (point of view) पर आधारित होगा। प्रत्येक का सत्य अपना व्यक्तिगत है; अतः उसको दूसरों पर थोपने का अधिकार नहीं है। उसका सत्य उसकी अपनी परिस्थिति या जीवनदृष्टि पर निर्भर होता है। व्यक्ति परिधि पर जिस स्थान पर खड़ा है, उसका मार्ग वहीं से निर्धारित होगा। एक व्यक्ति को परिधि के उसी बिन्दु से, उसी मार्ग से केन्द्र की ओर प्रयाण करना होगा जहां वह स्थित है। वह दूसरे के परिधि स्थान से केन्द्र की ओर अग्रसर होने पर लक्ष्य को नहीं पा सकता है।

उत्तराध्ययनसूत्र का तेईसवां अध्ययन वैचारिक तथा धार्मिक असहिष्णुता को दूर करने की प्रेरणा देता है। उसमें अनेकान्तवादी दृष्टिकोण के द्वारा आधार और विचार सम्बन्धी मत-वैभिन्न्य के समन्वय का समुचित उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। आज साम्प्रदायिक संघर्षों के निराकरण के लिये उसका सन्देश अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि उसमें तीर्थंकर पार्श्वनाथ एवं तीर्थंकर महावीर इन दोनों परम्पराओं के बीच रही विभिन्नताओं के बीच समन्वय की उचित दिशा प्रदान की गई है। यहां इसमें बताया गया है कि भगवान पार्श्वनाथ की परम्परा के तत्कालीन प्रमुख आचार्य श्रमणकेशी और भगवान महावीर के प्रधान गणधर (शिष्य प्रमुख) गौतमस्वामी का जब एक ही समय श्रावस्ती नगरी में पदार्पण होता है तो वे दोनों परम्पराओं के पारस्परिक मतभेदों को दूर करने के लिए परस्पर सौहार्दपूर्ण वातावरण में मिलते हैं। एक ओर केशीश्रमण को ज्येष्ठ कुल का मानकर गौतमस्वामी स्वयं केशीश्रमण के पास जाते हैं तो दूसरी ओर उन्हें अपने यहां आते हुए देखकर केशीश्रमण उन्हें पूर्ण सम्मान प्रदान करते हैं। पुनः दोनों आचार्य परस्पर मिलकर अपने आधारगत बाह्य मतभेदों का किस उदारदृष्टि से समन्वय करते हैं, यह उत्तराध्ययनसूत्र का यह प्रतिपादन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

इन दोनों परम्पराओं के मतभेद सिद्धान्तगत नहीं होकर मूलतः आधारगत ही थे, क्योंकि मूल सिद्धान्त तो सभी तीर्थंकर के समान होते हैं। आचारांग में अहिंसा को शुद्ध, नित्य और शाश्वत धर्म कहा गया है। यह सभी तीर्थंकरों द्वारा समान रूप से प्रवेदित धर्म है।¹⁷ इस प्रकार मूल सिद्धान्त सभी तीर्थंकरों के समान होते हुए भी देश, काल, व्यक्ति एवं परिस्थितिगत सापेक्षता के

कारण उनमें आचारगत विभिन्नता होती है। उत्तराध्ययनसूत्र में इस आचारगत विभिन्नता की समस्या को तार्किक आधारों पर जिस प्रकार से समन्वित किया गया है उसमें आज के धार्मिक मतभेदों को सुलझाने की दिशा में सही निर्देश उपलब्ध होते हैं।

(४) मानसिक विषमता

मानसिक विषमता तनाव की अवस्था है। आज का मानव तनाव की त्रासदी से बुरी तरह ग्रस्त होता जा रहा है और दुःख एवं अशान्तिपूर्ण जीवन व्यतीत कर रहा है। आज शारीरिक अस्वस्थता का भी मूल कारण भी बनता जा रहा है। पाश्चात्य चिकित्सकों ने भी यह घोषित कर दिया है कि ८० प्रतिशत रोगों के कारण मनोवेग एवं तनाव हैं।

जैनदर्शन के अनुसार मानसिक विषमता का मुख्य कारण इच्छायें और आकांक्षायें हैं। उनके परिणामस्वरूप राग, द्वेष और कषाय जन्म लेते हैं। उत्तराध्ययनसूत्र में चार कषायों का वर्णन उपलब्ध होता है— क्रोध, मान, माया और लोभ। इसमें इन चारों कषायों से मुक्त होने के अनेक उपाय प्रतिपादित किये गये हैं।¹⁸

उत्तराध्ययनसूत्र के तेईसवें अध्ययन में कहा गया है कि एक पर विजय प्राप्त कर लेने से पांच पर विजय प्राप्त की जा सकती है और पांच पर विजय प्राप्त कर लेने से दस पर विजय प्राप्त की जा सकती है। इसका तात्पर्य यह है कि एक अर्थात् मन पर विजय प्राप्त करने पर पांच अर्थात् एक मन और चार कषाय इन पांचों पर विजय प्राप्त की जा सकती है और इन पांचों पर विजय प्राप्त कर लेने पर दस अर्थात् एक मन, चार कषाय एवं पांच इन्द्रियां इन दसों पर विजय प्राप्त की जा सकती है।¹⁹ इस प्रकार कषाय पर विजय प्राप्त करने के लिए मन पर विजय प्राप्त करना आवश्यक है। पुनश्च उत्तराध्ययनसूत्र में कषाय को अग्नि कहा है; साथ ही इसमें यह भी कहा गया है कि श्रुत, शील एवं तप के द्वारा कषाय पर विजय प्राप्त की जा सकती है।²⁰

१८ उत्तराध्ययनसूत्र २६/६८ से ७१।

१९ 'एगो जिए जिया पंच, पंच जिए जिया दस।

दससा ३ विगित्तानं, सव्वसत्तु विजामहं ।'

'एगया अजिए सत्तु, कस्साया इदिजाणि य।

ते जिणित्तु जहानायां, विहरामि जहं गुणी ॥

२० कस्साया अग्निणो दुत्ता, सुय-सीलसव्वो जंसं ।

- उत्तराध्ययनसूत्र २३/३६ एवं ३८।

- उत्तराध्ययनसूत्र २३/१३।

उत्तराध्ययनसूत्र में मानसिक शुभ संकल्प के द्वारा शारीरिक अस्वस्थता का निवारण किस प्रकार किया जा सकता है इसे सौदाहरण प्रस्तुत किया गया है। उत्तराध्ययनसूत्र में वर्णित अनाथीमुनि का दृष्टान्त श्रद्धा एवं संकल्प के द्वारा चिकित्सा का स्पष्ट निर्देशन करता है। अनाथीमुनि भयंकर वेदना से पीड़ित थे। सभी प्रकार के औषधोपचार भी जब उनकी वेदना का निवारण नहीं कर सके, तब उन्होंने स्वयं अपने लिये शुभसंकल्प और शुभ अध्ययसाय रूप चिकित्सा की। उस चिकित्सा का अचूक प्रभाव हुआ और वे अपने आत्मविश्वास एवं दृढ़ संकल्प के द्वारा रोग से मुक्त हो गये। उनका संकल्प था कि यदि उस वेदना से मुक्त हो जायेंगे तो संयम स्वीकार कर लेंगे।

इसके अतिरिक्त भी उत्तराध्ययनसूत्र में मानसिक विषमता को दूर करने के अनेक उपाय बतलाये गये हैं यथा— अहिंसा, अपरिग्रह, अनेकान्त, समता, ध्यान, कायोत्सर्ग आदि ऐसे अनेक पहलू हैं जिनके परिप्रेक्ष्य में हम तनावों से मुक्त होने का उपाय खोज सकते हैं।

उत्तराध्ययनसूत्र का आशावादी दृष्टिकोण

वर्तमान की प्रमुख समस्या यह भी है कि आज का मानव निराशा, हताशा एवं कुण्ठा से ग्रसित होता जा रहा है। एक ओर आकांक्षा और इच्छाओं का अम्बार तथा दूसरी ओर धैर्य के साथ अनवरत पुरुषार्थ की कमी, जो हताशा और कुण्ठा को जन्म देते हैं। व्यक्ति मन्त्रिजल की ओर कदम बढ़ाते समय हल्की सी असफलता मिलने पर वहीं हताश होकर बैठ जाता है। ऐसे में वह कभी-कभी लक्ष्य के निकट पहुंचकर भी वंचित रह जाता है। जीवन के प्रति इस निराशावादी दृष्टिकोण से मुक्ति के लिये उत्तराध्ययनसूत्र एक आशावादी दृष्टि प्रदान करता है। उसमें कहा गया है :-

‘अप्जेवाहं न लब्भामि, अवि लाभो सुए सिया।

जो एवं पडिसचिक्खे, अलाभो तं न तज्जाए।।’²¹

— ‘आज मुझे नहीं मिला, परन्तु सम्भव है कल मिल जाय’, जो इस प्रकार सोचता है, उसे अलाभ नहीं सताता। यह बात बहुत गहरी है। प्रभु महावीर ने साढ़े बारह वर्ष तक साधना की, मात्र वे इस आशा पर डटे रहे कि आज सर्वज्ञता

(विशुद्धता) उपलब्ध नहीं हुई पर एक न एक दिन अवश्य उपलब्ध होगी। अतः उत्तराध्ययनसूत्र का यह सूत्र सफलता का सन्देशवाहक है।

स्वेटमार्डन की पुस्तक 'व्यक्तित्व का विकास' पूर्णतः इसी बात पर बल देती है कि आशा की किरण के सहारे कदम बढ़ाते रहने पर सफलता अवश्यमेव उपलब्ध होती है।

आशा, आनन्द एवं सफलता की उपलब्धि का अमोघ साधन है। अतः उत्तराध्ययनसूत्र का यह सन्देश है कि जीवन में कभी निराश नहीं होना चाहिये। इसमें वर्णित अरति परीषह की भी यही शिक्षा है कि संयम में अरति उत्पन्न होने पर भी निराश नहीं होना है; जीवन में कभी भूल हो जाय तो उस भूल को भूल के रूप में स्वीकार एवं सुधार करके अपने लक्ष्य की ओर बढ़ते चले जाना चाहिए, न कि उस भूल के प्रति अत्यधिक चिन्तित होकर हतोत्साहित होना चाहिये।

इस प्रकार उत्तराध्ययनसूत्र का आशावादी दृष्टिकोण आज मानव को सुख एवं शान्ति प्रदान करने में महत्त्वपूर्ण योगदान प्रस्तुत करता है।

उपभोक्तावाद से मुक्ति के उपाय

विज्ञान के कारण आज मानव मन की आकांक्षाएँ दिनोदिन बढ़ती जा रही हैं; मानव की इन बढ़ती हुई आकांक्षाओं ने उपभोक्तावादी संस्कृति को जन्म दिया है। इस संस्कृति के परिणामस्वरूप मानव आक्रोश एवं विक्रोभ से भर गया है। डॉ. नरेन्द्र भानावत के शब्दों में:- 'उपभोक्ता संस्कृति ने व्रत के स्थान पर वासना को, त्याग के स्थान पर भोग को, संवेदना के स्थान पर उत्तेजना को, हार्दिकता के स्थान पर यांत्रिकता को अधिक महत्त्व दिया है।'²² इस प्रकार इस संस्कृति ने मानव को मानवता से विमुख कर क्रूरता एवं दानवता की ओर प्रेरित किया है। इस संस्कृति से मुक्ति दिलाने के लिये उत्तराध्ययनसूत्र हमें उपभोग के स्थान पर संयम को प्रतिष्ठित करने की प्रेरणा देता है। आवश्यकता के अनुसार उपयोग किया जाय, इस बात को इसमें अनेक सन्दर्भों में प्रकट किया गया है।

कामभोगों का आद्योपान्त स्वरूप प्रदर्शित करते हुए इसमें कहा गया है कि ये कामभोग क्षणमात्र के लिये सुखदायी होते हैं, किन्तु चिरकाल तक दुःख देते हैं। अतः ये अधिक दुःख और अल्प सुख देने वाले होते हैं। ये संसार से मुक्त होने में बाधक हैं एवं अनर्थों की खान हैं।'

उपभोक्तावादी संस्कृति ने आज मानव को उस स्थिति में लाकर खड़ा कर दिया है कि वह सुख, शान्ति की प्राप्ति के प्रयासों में दुःख और तनावों से ही ग्रस्त होता जा रहा है। भौतिक साधनों के माध्यम से सुख उपलब्ध करने का उसका यह प्रयास उसी तरह हास्यास्पद है जैसे एक वृद्ध महिला द्वारा झोपड़ी में गुम हुई सुई को सड़क पर ढूँढने का प्रयास करना।

इस सन्दर्भ में उत्तराध्ययनसूत्र में व्यापक रूप से प्रकाश डाला गया है। इसमें बड़े मनोवैज्ञानिक ढंग से उपभोक्तावादी जीवनदृष्टि से मुक्त होने का उपाय बतलाया गया है। इसके तेरहवें अध्ययन में एक बड़ी मार्मिक बात कही गई है :- सब गीत-गान विलाप हैं, नाट्य विडम्बना हैं, सब आभरण (आभूषण) भार हैं एवं सब कामभोग दुःखप्रद हैं।^{२३} उत्तराध्ययनसूत्र के चूर्णिकार ने इस गाथा की सोदाहरण विस्तृत व्याख्या की है।^{२४}

गीत को विलाप रूप कहा गया है। इसका आशय यह है कि गीत या तो इष्ट के वियोग से दुःखी होकर गाये जाते हैं या राग जन्य व्याकुलता से अभिभूत होकर गाये जाते हैं, अतः ये विलाप रूप ही हैं। नाटक को विडम्बना कहा गया है। इसका तात्पर्य यह है कि कोई भी स्त्री या पुरुष अपने प्रिय व्यक्ति के परितोष के लिये अथवा किसी धनवान व्यक्ति से धन की प्राप्ति के लिये नृत्य करता है, अतः ये सारी क्रियायें विडम्बना रूप हैं।

आभूषण को भाररूप कहा है, क्योंकि जो व्यक्ति किसी की आज्ञा के वशवर्ती होकर यदि आभरण को धारण करता है तब तो वह उनके भार का अनुभव करते हुए पीड़ित होता है। किन्तु यदि स्वयं के राग के कारण या प्रदर्शन की भावना से आभरण को धारण करता है तब वह उसके भार को अनुभव नहीं करता है किन्तु वह भार रूप ही है। जहाँ राग होता है वहाँ व्यक्ति कष्ट को आसानी से सहन कर लेता है। एक महिला स्वयं की संतान को गोद में उठाकर लम्बी दूरी तय कर लेती है, उसे भार नहीं लगता है; किन्तु यदि उसे दूसरे के बच्चे को उठाना पड़े तो उसे बच्चा भारी लगता है। उसी प्रकार सारे गीत, गान, नाटक, आभूषण आदि भाररूप एवं दुःखप्रद हैं, किन्तु राग के वशीभूत व्यक्ति उनके भोग में दुःख का अनुभव नहीं करता है।

२३ 'सर्वं क्लेशयिष्यं नीयं, सर्वं नट्टं विडम्बियं ।

सर्वे आभरणा भारा, सर्वे कामा दुःखप्रदा ॥'

२४ उत्तराध्ययनसूत्रम्, पृ. २६६ एवं २६७ ।

उत्तराध्ययनसूत्र के बत्तीसवें अध्ययन में बड़े मनोवैज्ञानिक रूप से एक-एक इन्द्रियों के विषयभोग किस प्रकार अतृप्ति के कारण दुःख प्रदान करते हैं इसका विस्तृत रूप से चित्रण किया गया है जिसकी चर्चा हम इसी ग्रन्थ के सातवें अध्याय के उपशीर्षक 'सांसारिक सुख सुखाभास है' में कर चुके हैं। अतः इससे सम्बन्धित चर्चा को हम यहीं विराम देना उचित समझते हैं।

पर्यावरण का संरक्षणात्मक चिन्तन

पर्यावरण प्रदूषण वर्तमान की ज्वलंत एवं जीवन्त समस्या है। पर्यावरण का सम्बन्ध मात्र परिवार, समाज, सस्कृति, साहित्य, कला आदि से ही नहीं वरन् हमारे सम्पूर्ण अस्तित्व से है। अतः पर्यावरण प्रदूषण की समस्या जीव-सृष्टि के अस्तित्व के लिये सबसे बड़ी चुनौती है।

आज वैज्ञानिक प्रगति एवं आर्थिक उन्नति के नाम पर प्राकृतिक सम्पदा का प्रचुर मात्रा में दुरुपयोग किया जा रहा है। उपभोक्तावादी विचारधारा के कारण साधनों का इतनी तीव्रता एवं प्रचुरता के साथ उपभोग हो रहा है कि प्राकृतिक सम्पदा की विशेष वस्तुयें — गैस-तैल आदि की बात तो दूर पेयजल एवं शुद्धवायु का मिलना भी दुष्कर होता जा रहा है।

प्रदूषण की विकट समस्या के निवारण हेतु यह आवश्यक हो गया है कि हम प्राचीन ग्रन्थों का अनुशीलन करें तथा उन तथ्यों को उजागर करें जिनसे पर्यावरण की सुरक्षा की जा सके।

पर्यावरण का सम्बन्ध मात्र बाह्य जगत तक ही सीमित नहीं है वरन् मानसिक विचारधारा भी पर्यावरण को विशेष रूप से प्रभावित करती है।

उत्तराध्ययनसूत्र में जो अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य अपरिग्रह, शाकाहार, कषायमुक्ति, ध्यानसाधना आदि श्रमण एवं श्रावक की श्रेष्ठ चर्चा का विवेचन है वह वर्तमान में प्राकृतिक एवं मानसिक पर्यावरण संरक्षण की दृष्टि से सर्वाधिक मूल्यवान् हो गया है।

आइये, विचार करें, पर्यावरण क्या है? यह प्रदूषित क्यों होता है? इसकी सुरक्षा कैसे की जा सकती है?

पर्यावरण क्या है ?

पर्यावरण में परि + आवरण इन दो शब्दों का समावेश है। 'परि' का अर्थ चारों ओर से तथा 'आवरण' का अर्थ घिराव या आवरण है। इस प्रकार चारों ओर व्याप्त (पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, वनस्पति तथा अन्य सभी जीव एवं जड़ जगत जो प्राणी के जीवन विकास को प्रभावित करते हैं, पर्यावरण के अन्तर्गत आते हैं।) संक्षेप में वह प्राकृतिक परिवेश जिसके आधार पर जीव का जीवन चलता है, पर्यावरण है।

पर्यावरण की सीमा में मात्र मनुष्य, पशु, पक्षी, जीव-जन्तु की सृष्टि ही नहीं अपितु पूरा ब्रह्माण्ड, सौरमण्डल, गिरी, कन्दरा, सागर सरिता, वन-उपवन, भूपृष्ठ, जलपृष्ठ आदि सभी का अन्तर्भाव है। अतः पर्यावरण बहु आयामी है। पर्यावरण के मुख्यतः दो प्रकार हैं।

1. सजीव पर्यावरण और 2. निर्जीव पर्यावरण। पशु-पक्षी-मानव आदि जीवसृष्टि सजीव पर्यावरण के अन्तर्गत हैं जबकि जीवसृष्टि के चारों ओर व्याप्त भौतिक तत्वों का पर्यावरण निर्जीव पर्यावरण है।

सजीव पर्यावरण का एक पक्ष वैचारिक जगत से जुड़ा हुआ है। मानसिक विचार धारा से पर्यावरण प्रभावित होता है अतः विचार पक्ष भी पर्यावरण का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग है।

पर्यावरण प्रदूषित क्यों ?

विश्व-व्यवस्था को सुरक्षित रखने के लिये प्राकृतिक-संतुलन अत्यन्त आवश्यक है किन्तु पाश्चात्य-संस्कृति के अंधानुकरण की प्रवृत्ति, निरंकुश वैज्ञानिक आविष्कार, सत्ता, सम्पत्ति, सम्मान आदि की महत्त्वाकांक्षा, सुविधावादी विचारधारा आदि से प्राकृतिक व्यवस्था अस्त-व्यस्त होती जा रही है।

प्रकृति की कितनी सुन्दर व्यवस्था है ! हमारे वायुमण्डल में 'ओजोन' की एक परत है। सूर्य की पराबैंगनी किरणें 'ओजोन' की छतरी से छनकर पृथ्वी तक पहुँचती हैं। वे किरणें इतनी जहरीली, उष्ण होती हैं कि यदि वे सीधी पृथ्वी पर आ जायें तो यहां जीवन ही समाप्त हो जाय। पेड़-पौधे सूख जाय, समूचा वातावरण तापमय बन जाय। ओजोन की छतरी हमारी सुरक्षा करती है किन्तु उसमें भी छेद हो गया है और वह सतत बढ़ता ही जा रहा है। उसके परिणाम स्वरूप प्रकृति

विचलित हो रही है, ऋतुयें परिवर्तित हो रही है । भयंकर गर्मी पड़ रही है । कहीं अतिवृष्टि तो कहीं अनावृष्टि हो रही है । प्रश्न है कि ओजोन परत में छेद का कारण क्या है ?

आज विद्युत् संचालित साधनों के अत्यधिक उपयोग ने प्रकृति की व्यवस्था को विचलित किया है । एक सम्पन्न व्यक्ति को घर, ऑफिस, कार, फ़ैक्ट्री, औद्योगिक संस्थानों, आदि सभी में वातानुकूलित सुविधा (एयरकण्डीशन) चाहिये । वैज्ञानिकों का कहना है कि विद्युत् संचालित साधनों के उपयोग से ऐसा वातावरण बनता है जो ओजोन परत को प्रभावित करता है, वायु को विषाक्त बनाता है । पर्यावरण को प्रदूषित करता है ।

मानव को प्रकृति के साथ संतुलन बनाये रखना चाहिये । इसके लिये इन चार बातों पर ध्यान देना होगा:-

1. प्रकृति का पोषण
2. प्रकृति का दोहन
3. प्रकृति का प्रदूषण
4. प्रकृति का शोषण

हमारा व्यवहार प्रकृति के साथ पोषण एवं दोहन का होना चाहिये; प्रदूषण एवं शोषण का नहीं । दोहन एवं शोषण में बुनियादी अन्तर है । व्यक्ति गाय पालता है उसका दोहन करता है पर उसका पोषण किये बिना दोहन नहीं करता या इस हद तक नहीं करता कि गाय के प्राण ही निकल जायें । यदि ऐसा है तो वह दोहन नहीं शोषण है । दोहन में पहली शर्त पोषण की है ।

प्रकृति के सन्दर्भ में देखा जाय तो (आज इसका पोषण एवं दोहन नहीं वरन् प्रदूषण एवं शोषण हो रहा है) वर्तमान में हमारी प्राकृतिक सम्पदा प्रदूषित, शोषित हो रही है । वन-उपवन वीरान होते जा रहे हैं, पेड़-पौधे गिराये जा रहे हैं । पहाड़ पहाड़िया मिटाये जा रहे हैं, नदी-तालाब सूखाये जा रहे हैं । जल, वायु तथा वातावरण को प्रदूषित किया जा रहा है । पशुधन, नष्ट होता जा रहा है ।

मानव का मुख्य उत्तरदायित्व है कि वह प्राकृतिक परिवेश को सुरक्षित रखने में अपना योगदान दे । पर्यावरण को प्रदूषण एवं शोषण से मुक्ति दिलाये । पर्यावरण संरक्षण का कार्य मात्र नारेबाजी या पेम्फलेटबाजी से नहीं हो सकता । आज पर्यावरण – संतुलन की जितनी चर्चा है, उतनी चिन्ता नहीं है । मनुष्य का स्वभाव बन गया है कि वह समस्या के सन्दर्भ में चर्चा करता है किन्तु उसके समुचित समाधान की खोज नहीं करता । और किसी प्रकार से यदि समाधान मिल भी जाये तो वह उसे क्रियान्वित नहीं करता है। यही कारण है कि समस्या, समस्या ही बनी रहती है ।

समस्या सबकी समझ में है, फिर भी व्यक्ति वही कर रहा है जो अनुचित है । अतः सिद्धान्तों को आत्मसात् करना अत्यन्त आवश्यक है । प्राचीन युग था जब अहिंसा का मूल्य आत्मशुद्धि एवं मोक्ष के लिये था किन्तु आज अहिंसा, जीने के लिये, पर्यावरण की सुरक्षा के लिये भी विशेष आवश्यक हो गई है ।

पृथ्वी प्रदूषण और पृथ्वी संरक्षण

प्राकृतिक संपदा हमारा पर्यावरण है । उसका संरक्षण अत्यावश्यक है । पृथ्वी सभी प्राणियों का आधार है किन्तु आज मानव पृथ्वी को प्रदूषित एवं शोषित करके स्वयं के पांवों पर कुल्हाड़ी मारने का कार्य कर रहा है । भूमि की उर्वरा शक्ति का इस प्रकार प्रयोग किया जाना चाहिए कि उसकी शक्ति सर्जनात्मक बनी रहे ।

(आज पर्वतों को अनियन्त्रित रूप से तोड़ा जा रहा है । पहाड़ी क्षेत्रों को समतल बनाया जा रहा है । भविष्य की ओर दृष्टिपात किये बिना पृथ्वी का खनन किया जा रहा है । खनिज सम्पदा को अधिक प्राप्त करने की चाह में प्राकृतिक संतुलन बिगड़ रहा है ।)

जैन धर्म में पृथ्वीकाय और उसके आश्रित जीवों का रसायन या अन्य शस्त्रों से हनन करने का निषेध है । सजीव भूमि में मल-मूत्र त्याग को भी जैनाचार में अनुचित माना गया है । इससे कीट-मच्छर आदि सम्मूर्च्छिम जीवों की उत्पत्ति होती है । तथा वातावरण प्रदूषित होता है ।

रसायनिक - खाद्य के उपयोग से भूमि विषैली होती जा रही है । भूमि की उर्जा शक्ति समाप्त होती जा रही है । फल, शाक-सब्जी, अनाज आदि खाद्य पदार्थों की रस शक्ति का ह्रास होता जा रहा है ।

जैनाचार में श्रावक के लिये भूमिस्फोटक कर्म निषिद्ध है अर्थात् ऐसा व्यापार जिसमें भूमि का अनियंत्रित खनन किया जाता है, वह अनुचित है, त्याज्य है । दशवैकालिकसूत्र में कहा गया है:- पुढविं, भित्तिं, सिलं, लेलुं नैव भिदे नैव सलिहे - अर्थात् पृथ्वी, दीवार, शिला, ढेला आदि का भेदन नहीं करना चाहिये और उनका घर्षण भी नहीं करना चाहिये । उत्तराध्ययनसूत्र में पृथ्वी के तैयालिस भेद बताकर उनकी हिंसा के त्याग की प्रेरणा दी गई है ।

इस प्रकार जैन परम्परा में ऐसे अनेक विधान हैं जो पृथ्वी संरक्षण में सहायक बनते हैं ।

जल प्रदूषण और जल संरक्षण

जल प्रकृति का अनमोल उपहार है यह जीवन की प्रथम आवश्यकता है, किन्तु आज जल का भयंकर अपव्यय हो रहा है (जहां 10-15 लीटर पानी में व्यक्ति की दैनिक शुद्धि संभव है वहीं आज सुविधावादी प्रवृत्ति के कारण एक व्यक्ति 500 लीटर जल का दुरुपयोग करता है ।) मल, बेसिन, फव्वारों आदि के द्वारा पानी का अपव्यय होता है । पक्की इमारतों, डामर की सड़कें, गन्दगी की निकासी के लिये आधुनिक गटर - प्रणाली (Drainage system) आदि शहरीकरण की प्रवृत्तियों के कारण प्राकृतिक जल धरती के अन्दर नहीं पहुंच रहा है । फलस्वरूप, पानी का स्तर निम्न से निम्न होता जा रहा है । यह अत्यधिक चिन्ताजनक है । कहीं कहीं तो 100' के नीचे तक भी पानी उपलब्ध नहीं है । पानी दूध से महंगा हो गया है । जल के निरर्थक अपव्यय से आज कई स्थानों पर पेयजल की समस्या उत्पन्न हो गई है । कहा जाता है कि अगले विश्वयुद्ध का कारण जल होगा ।

जल को प्रदूषण एवं शोषण से मुक्त रखने के लिये उत्तराध्ययनसूत्र में जल के जीवों की हिंसा का निषेध किया गया है । इसमें वर्णित श्रमणाचार से ज्ञात होता है कि नदी, तालाब आदि में मल-मूत्र का विसर्जन नहीं करना चाहिये । इसप्रकार कूड़ा-कर्कट, रेडियो-धर्मी पदार्थ, मल-मूत्र आदि का जल में डालना जल एवं जल

के आश्रित त्रस जीवों का विनाशक प्रदूषण फैलाने वाला होने से जैनाचार में त्याज्य है ।

जैन-परम्परा में छानकर तथा उबालकर पानी का उपयोग करने का विधान है । बिना छाने हुये तथा कच्चे पानी से हैजा आदि संक्रामक रोग होने की संभावना रहती है एवं रोगी व्यक्ति वातावरण को भी प्रभावित करता है ।

वायु प्रदूषण और वायु संरक्षण

वायु जीवन का आधार है, स्वस्थता के लिये शुद्ध वायु का होना आवश्यक है । अशुद्ध वायु व्यक्ति को अस्वस्थ बनाती है । किन्तु वर्तमान स्थिति बड़ी विषम हो गई है । वायु प्रदूषित होती जा रही है । एक ओर कारखाने, स्कूटर, कार, बस, ट्रक आदि के द्वारा निष्कासित धुआँ, विषैली गैसों तथा सूक्ष्म कार्बन-कण वायु में मिल जाते हैं तो दूसरी ओर वन-सम्पदा के नष्ट होने के कारण वातावरण में कार्बनडाइआक्साइड का प्रतिशत बढ़ता जा रहा है । आज शुद्ध प्राणवायु का मित्ना दुर्लभ हो गया है । व्यक्ति अनावश्यक वाहनों का उपयोग करने का आदि हो गया है । यदि यही स्थिति रही तो भविष्य में लोगों को ऑक्सीजन के सिलेण्डर पीठपर लादकर घूमना होगा ।

वायु प्रदूषण मात्र धुएँ और उद्योगों के कारण ही नहीं होता है वरन् घरेलू ईंधन के उपयोग से भी वायु प्रदूषित होती है । राजस्थान पत्रिका (३१ दिसंबर २००१) की सूचना के अनुसार अद्यजले ईंधन से कार्बन मोनोआक्साइड, पॉली आर्गेनिक मैटीरियल्स, पाली एरोमैटिक एवं हाइड्रोकार्बन्स जैसे खतरनाक तत्त्व निकलते हैं जो तरह-तरह के रोग फैलाते हैं । घर के भीतर होने वाले वायु प्रदूषण से कैंसर, क्षयरोग, नेत्ररोग एवं श्वास सम्बन्धी बीमारियाँ होती हैं ।

उत्तराध्ययनसूत्र वायुकाय एवं वायुकाय के आश्रित जीवों के प्रति करुणावान रहने की प्रेरणा देता है । जैन आचार की नियमावली में गृहस्थ का अनावश्यक ईंधन जलाने का निषेध है । गीले ईंधन से धुआँ अधिक होता है जिससे प्रदूषण फैलता है । अतः जैनदर्शन में सजीव ईंधन को जलाने का भी मना किया गया है ।

जैन साधु वाहनों का उपयोग नहीं करते हैं । वे सर्वत्र पैदल भ्रमण करते हैं । जैन धर्म में गृहस्थ को भी यथाशक्य पैदल चलने की प्रेरणा दी गई है । पैदल

भ्रमण एक ओर स्वयं को प्रदूषण से मुक्त रखता है, आरोग्यप्रद है वहीं दूसरी ओर वाहन का प्रयोग न करने पर वातावरण को प्रदूषण से मुक्त रखता है । इस प्रकार वायु प्रदूषण से मुक्त होने के लिये जैनधर्म का अहिंसा आधारित आचार श्रेष्ठ साधन है ।

वनस्पतिक प्रदूषण और उसका संरक्षण

पेड़-पौधे प्राणी की जैविक शक्ति है । अन्य प्राणी श्वसन प्रक्रिया में आक्सीजन को ग्रहण करते हैं तथा कार्बनडाइआक्साइड छोड़ते हैं । जबकि वृक्ष कार्बनडाइआक्साइड ग्रहण करते हैं तथा आक्सीजन का त्याग करते हैं । इस प्रकार दोनों का अनुपात संतुलित रहता है लेकिन आज मानव स्वयं इस संतुलन को बिगाड़ रहा है । वन काटे जा रहे हैं, उनमें आग लगाई जा रही है । जिससे प्राकृतिक वातावरण दूषित होता है । वन बादलों को बरसने के लिये प्रेरित करते हैं तथा बहते हुये प्रवाह को रोकने का कारण बनते हैं ।

प्रभु महावीर ने 2600 वर्ष पूर्व वनस्पति में जीव है ऐसी उद्घोषणा की थी । कालान्तर में डॉ. जगदीशचन्द्रवसु ने भी प्रजनन, संवेदन, संवर्धन आदि के आधार पर वनस्पति में जीवत्व की सिद्धि को परिपुष्ट किया है ।

उत्तराध्ययनसूत्र में वनस्पतिकाय के जीवों का अत्यन्त विशद विवेचन किया गया है । उनकी अनावश्यक हिंसा से बचने की प्रेरणा दी गयी है । (जैनधर्म में श्रावक के अनर्थदंडव्रत के अनुसार अनावश्यक एक पत्ता भी तोड़ना पाप माना गया है) (तथा वन को काटने एवं जलाने का निषेध किया गया है ।)

इस प्रकार जैनाचार वन संरक्षण में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है ।

प्लास्टिक से फैलता प्रदूषण

प्लास्टिक पदार्थों का उपयोग आज पर्यावरण प्रदूषण का विशिष्ट कारण बन गया है । प्लास्टिक एक ऐसा पदार्थ है कि गलता नहीं है । अतः यह पृथ्वी, पानी, वायु, जीव-जन्तु सभी के लिये नुकसानदेह है । प्लास्टिक-प्रदूषण पर चर्चा करते हुये प्रो. सी. बी. बक्शी ने कहा है:- 'प्लास्टिक कचरे के बढ़ते ढेर सिरदर्द साबित हो रहे हैं । गली, नदी नालों में फँकी आपकी थैली पर्यावरण पर कहर ढा रही है । प्लास्टिक थैलिया खाकर मरने वाले जीव-जन्तुओं की संख्या दिनोदिन बढ़ती जा

रही है। पैकिंग, पाऊच तथा किराणा में प्रयुक्त प्लास्टिक अत्यन्त घातक सिद्ध हो रहा है। जलाया गया प्लास्टिक वातावरण को विषाक्त बनाता है। जमीन में गाड़ा गया प्लास्टिक पृथ्वी की उर्वरा शक्ति को नष्ट करता है। चिकित्सकों की मान्यता है कि प्लास्टिक केन्सर रोग का कारण होता है।

पूर्वोक्त चर्चा से स्पष्ट होता है कि प्लास्टिक का प्रयोग हिंसात्मक है। इसका उत्पादन, प्रयोग एवं विनाश सभी हिंसाजनक है। जो जैनदर्शन के अहिंसा सिद्धान्त के प्रतिकूल है। अतः जैनदर्शन की अहिंसा प्लास्टिक प्रदूषण से मुक्ति का श्रेष्ठ उपाय है।

मानवीय आहार और पर्यावरण

जीवन की सुरक्षा के लिए वायु एवं जल के पश्चात् सर्वाधिक आवश्यक तत्त्व आहार है। मानव का आहार कैसा हो? एवं उसका उद्देश्य क्या है, इस बात पर ध्यान देना अत्यावश्यक है।

आहार हमारे, आचार विचार एवं व्यवहार को प्रभावित करता है कहा जाता है -- जैसा खाये अन्न, वैसा होय मन अतः भोजन का लक्ष्य मात्र उदरपूर्ति या क्षुधानिवृत्ति तक ही सीमित नहीं है, वरन् चारित्रिक, नैतिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक विकास भी है। जो आहार विषय -- वासना को उत्तेजित करे, मनोभावों को प्रदूषित करे, पर्यावरण को असंतुलित करे वह उचित एवं संतुलित नहीं हो सकता। भोजन का उद्देश्य हमारे शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक विकास में तथा दया, दान, स्नेह, करुणा, अहिंसा, शांति आदि के संवर्धन में सहायक संतुलित अहिंसक पदार्थों का सेवन करना है। जैनागम उत्तराध्ययनसूत्र में आहार ग्रहण के छः कारण प्रतिपादित किये हैं। वे कारण प्राकृतिक संतुलन बनाने में अहम् भूमिका निभाते हैं।

जैन-आगम जीवन व्यवहार के आधारभूत ग्रंथ हैं। इन ग्रंथों में धर्म, दर्शन एवं योग साधना के साथ जीवन व्यवहार, रहन-सहन एवं खानपान आदि के नियमों का भी विवेचन किया गया है। जैनधर्म में विचार की सुरक्षा के साथ आहार की शुद्धता पर भी विशेष प्रकाश डाला गया है। आचारांगसूत्र, उत्तराध्ययनसूत्र, दशवैकालिकसूत्र आदि ग्रंथों में साधु की भिक्षाचर्या के प्रसंग में आहार की शुद्धता

एवं सात्विकता की विशेष विवेचना की गई है । उनकी यदि अनुप्रेक्षा की जाये तो पर्यावरण संरक्षण एवं प्राकृतिक संतुलन हेतु अनेक नये तथ्य प्राप्त हो सकते हैं ।

वर्तमान युग में पर्यावरण-प्रदूषण का एक प्रमुख कारण मांसाहार है । मांसाहार से पशुजगत, वनस्पति जगत, वातावरण, खनिज संपदा आदि के शोषण एवं प्रदूषण की समस्या उत्पन्न हुई है ।

आज राम, कृष्ण, महावीर की इस भूमि पर हिंसा का ताण्डव देखकर हृदय द्रवित हो उठता है । विदेशी मुद्रा को प्राप्त करने हेतु सरकार मानव को मुर्दा (संवेदनशून्य) बनाने का कार्य कर रही है । विदेशियों की प्लेटों में भारत का पशुधन परोसा जा रहा है । भारत में आये दिन कत्लखानों की संख्या बढ़ती जा रही है ।

आज पशुधन तो नष्ट हो ही रहा है साथ ही कत्लखानों से निकलने वाले अवशिष्ट पदार्थ पर्यावरण को विषाक्त/ प्रदूषित बना रहे हैं ।

यदि समूचे अहिंसक समाज ने मांसाहार/कत्लखानों का विरोध नहीं किया तो यान्त्रिक कत्लखानों की योजना में हमारे पशुधन का सर्वनाश हो जायेगा । आने वाली पीढ़ी के लिये पशुओं के परिचय का साधन मात्र नाम एवं चित्र ही रह जायेगा ।

(मांसाहार मानव जाति पर कलंक है । वैज्ञानिक दृष्टि से यह महारोगों का जन्मदाता है । आर्थिक दृष्टि से महंगा है । प्राकृतिक दृष्टि से पर्यावरण को प्रदूषित करता है । धार्मिक दृष्टि से दुर्गति प्रदाता है । शारीरिक दृष्टि से दुष्पाच्य है ।)

कई मांसाहारी लोग इस भ्रम में हैं कि मांसाहार में पौष्टिक तत्व अधिक हैं किन्तु यह सत्य नहीं है । आज के वैज्ञानिक आंकड़ों ने यह सिद्ध कर दिया है कि शाक, सब्जी, फल, धान्य आदि में प्रोटीन, कैल्शियम, विटामिन, आदि तत्वों की मात्रा समुचित है । शाकाहार संबंधी साहित्य में इनकी तुलनात्मक तालिका भी उपलब्ध होती है । शाकाहार पूर्ण-रूपेण संतुलित आहार है । इसमें वे सभी तत्व उपलब्ध होते हैं जिनकी हमारे शरीर को आवश्यकता है ।

1. मांसाहारी लोग भी अधिकतर शाकाहारी पशु का ही आहार करते हैं । कुत्ते, शेर आदि का मांस कौन खाता है ?

2. शाकाहारी हाथी के समान बल किसमें है ?
3. शाकाहारी घोड़ा शक्ति का प्रतीक है । आज भी मशीनों की क्षमता को हार्सपॉवर से मापा जाता है ।
4. शाकाहारी व्यक्ति का मस्तिष्क मांसाहारी की अपेक्षा अधिक विकसित होता है ।

मांसाहार के दुष्परिणाम से पूरा विश्व संतप्त है ।

शारीरिक संरचना की दृष्टि से मानव के शरीर के लिये शाकाहार ही अधिक उपयुक्त है । उसके दांतों और आंतों की संरचना शाकाहार के ही योग्य है । इस प्रकार शाकाहार पर्यावरण संरक्षण का कारण है जबकि मांसाहार पर्यावरण को प्रदूषित करता है ।

आगमों में सात्विक भोजन करने का निर्देश है । जैन आहार व्यवस्था अहिंसा पर आधारित है । भ्रमण अपने आहार के लिये किसी भी प्राणी को कष्ट नहीं होने देते । जैनसाधु के लिये पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, बीज युक्त वनस्पति तथा त्रसकाय/अन्य जीव-जन्तु की सुरक्षा को ध्यान रखकर ही आहार-ग्रहण करने का विधान है । उत्तराध्ययनसूत्र में स्पष्टतः कहा गया है कि भ्रमण को क्षुधा पूर्ति, सेवा-सुश्रूषा, संयम सुरक्षा, प्राणियों की रक्षा, अहिंसा के पालन तथा आत्म चिन्तन के लिये आहार की गवेषणा करनी चाहिये । इसका आशय यह है कि प्राणियों की रक्षा आहार से अधिक महत्त्वपूर्ण है । इसमें यह भी कहा गया है कि भोजन पकाने में पृथ्वी, पानी, अग्नि, धान्य, काष्ठ के आश्रित अनेक जीवों का हनन होता है, अतः मुनि को आहार पकाने एवं पकवाने का निषेध है । इस विधान के पीछे भी प्राकृतिक साधनों की सुरक्षा का उद्देश्य है । इसमें यह भी कहा गया है कि साधु रसों में आसक्त एवं मूर्च्छित होकर आहार न करे ।

दशवैकालिक सूत्र में कंदमूल तथा बिना पके हुये बीज सहित वनस्पति के खाने का निषेध है; साथ ही इसमें मांसाहार को सर्वथा वर्जनीय बताया गया है । उत्तराध्ययनसूत्र में भी अनेक स्थानों पर मांस मदिरा आदि अभक्ष्य पदार्थों के त्याग का उपदेश दिया गया है । स्थानांगसूत्र में मांसाहार को नरक का कारण बताया है । मांसाहारी व्यक्ति में करुणा, दया, सहनशीलता, संवेदनशीलता प्रायः लुप्त सी हो जाती है । उसका पेट मानों कब्रिस्तान बन जाता है ।

इस प्रकार जैनागमों में शुद्ध, शाकाहार एवं प्रासुक (बीज रहित) पदार्थों के ग्रहण का ही विधान है ।

वैचारिक - प्रदूषण

पर्यावरण—सुरक्षा के लिये अनिवार्य एवं अपरिहार्य पहलू वैचारिक—विशुद्धि है । हमारे अध्यात्म प्रधान ग्रंथों में इस बात पर विशेष ध्यान दिया गया है कि व्यक्ति का वैचारिक—पक्ष शुद्ध होना चाहिये । आन्तरिक प्रदूषण ही बाह्य प्रदूषण का कारण है ।

(एक व्यक्ति ने नीम के पेड़ का पत्ता तोड़ा चखा, कड़वा लगा । उसने नीम का फूल तोड़ा, चखा, कड़वा लगा । इसी प्रकार उसने डाली तोड़ी, वह भी कड़वी । आरिखर उसने उस वृक्ष का जड़ भाग चखा, वह भी कड़वा । उसकी समझ में आ गया जिसका मूल ही कड़वा है उसकी शाखा, प्रशाखा, फल, फूल, पत्ते आदि कड़वे हों तो क्या आश्चर्य !!)

(पूर्वाक्त घटना हमारे प्रदूषण की चर्या के साथ भी घटित होती है । आज विश्व में चारों ओर पृथ्वी, जल, वायु, वन, वातावरण आदि बाह्य घटकों को प्रदूषण से मुक्त रखने के उपाय खोजे जा रहे हैं किन्तु ये सब पूर्णतः तब ही नष्ट हो सकते हैं जब प्रदूषण के आन्तरिक कारण समाप्त होंगे ।)

(विश्व में चारों ओर व्याप्त हिंसा, आतंकवाद, बेरोजगारी, भ्रष्टाचार, व्यभिचार, सांप्रदायिक संकीर्णता, असहिष्णुता, हड़ताल, आंदोलन, तोड़फोड़ के दृश्य, ढहते हुये आदर्शों, गिरते हुये नैतिक मूल्यों एवं मिटती हुई मर्यादाओं का मूल कारण मानव की दूषित विचारधारा है ।)

उत्तराध्ययनसूत्र का मूल हार्द मानव को मानसिक प्रदूषण से मुक्त करना है । इसका प्रत्येक अध्ययन, प्रत्येक गाथा, प्रत्येक परिच्छेद, प्रत्येक पंक्ति, प्रत्येक शब्द आन्तरिक—शुद्धि का संदेशवाहक है । इन संदेशों को प्रयोगात्मक रूप देने पर निस्संदेह आन्तरिक एवं बाह्य दोनों प्रदूषण से मुक्ति प्राप्त की जा सकती है ।

(मानव मन में अहिंसा—हिंसा, प्रियता—अप्रियता, राग—द्वेष, शांति—क्रोध, निरहंकार—अहंकार, सरलता—मायाचार, निर्लोभिता—लोभ, करुणा—क्रूरता, अनाग्रह—दुराग्रह, समत्व—ममत्व, सहिष्णुता—असहिष्णुता आदि प्रतिपक्षी भाव रहते हैं । इसमें से जब हम दूसरों के प्रति सहयोग, परोपकार, दया, करुणा, सहिष्णुता, संतोष आदि शुभ भावों में जीते हैं तो उससे समस्त पर्यावरण—जड़ चेतन जगत में प्रसन्नता एवं सहजता व्याप्त हो जाती है । इसके विपरीत यदि मन में क्रोध, मान, माया,

लोभ, ईर्ष्या-द्वेष, कलह, क्लेश आदि अशुभ भाव होते हैं तो प्राकृतिक व्यवस्था विपरीत रूप से प्रभावित होती है। वातावरण दूषित होता है। यह वैज्ञानिक सत्य है जिसे निम्न घटना के परिप्रेक्ष्य में स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है --

एक राजा जंगल में शिकार खेलने गया। भयंकर गर्मी थी। उसे तीव्र प्यास लगी। वह एक झोंपड़ी में गया। बुढ़िया मां ने उसका स्वागत किया, पानी पिलाया और वह अपने खेत में गई। उसने गन्ना तोड़ा रस निकाला और लौटा भरकर राजा को दिया। राजा ने मधुर, स्वादिष्ट रस पिया। तृप्त हो गया। राजा अपने नगर में लौट आया। मंत्री से गन्ने के रस की प्रशंसा की साथ ही बोला-- "मंत्रिवर ! मेरे राज्य में इतना मीठा गन्ना और मुझे ज्ञात ही नहीं ! लगता है तुमने इस खेत पर टैक्स नहीं लगाया है।" राजा के कहने से खेत पर टैक्स लगा दिया गया।

कुछ दिनों के पश्चात् राजा पुनः बुढ़िया की झोंपड़ी में गया। बोला-- "मां, एक लौटा गन्ने का रस तो पिलादो। बुढ़िया खेत में गई पर देर से लौटी। लौटा भी पूरा भरा नहीं था। राजा बोला :- "क्या बात है ? उस दिन तो तुम जल्दी से पूरा लौटा भर ले आई थी ? और आज.....? बुढ़िया-- "क्या बताऊं बेटा ! हमारा राजा बड़ा दुष्ट है। जबसे उसकी बुरी नज़र गन्ने पर पड़ी उसने टैक्स लगाया तो प्रकृति भी रुष्ट हो गई। पहले एक गन्ने में लौटा भर गया था आज दस गन्ने में भरा।

ये है बुरी भावना का प्रभाव ! हमारे बुजुर्ग कहते थे नज़र लग गई है। क्या होती है नज़र ? एक प्रकार की भावनाओं का ही असर है। ऐसे एक नहीं सैकड़ों उदाहरण हैं।

(क्रोध में मां ने बच्चे को दूध पिलाया। दूध जहर बन गया। बच्चा मर गया। जबकि क्षमा, अहिंसा की भावना के प्रभाव से जन्मजात वैरी पशु भी निर्वैर हो जाता है। कहा गया है-- 'अहिंसायां प्रतिष्ठायां तन्सन्निधौ वैरस्त्यागः' - जहां अहिंसा की प्रतिष्ठा होती है वहां वैरभावना का विनाश स्वतः हो जाता है। यही कारण है हमारे ऋषि महर्षि के पास शेर-बिल्ली, आदि एक साथ निवास करते थे।)

आज समाज में व्याप्त अनुशासनहीनता, निरंकुशता, स्वच्छंदता से हिंसा एवं आतंकवाद को बढ़ावा मिल रहा है। उत्तराध्ययनसूत्र का प्रथम 'विनय' अध्ययन, अनुशासन का, नम्रता का, प्रतिबोध देता है। इसमें विनय का विवेचन बड़े व्यापक अर्थ में हुआ है। विनय, आचार का प्रतीक भी है। इस अर्थ में औचित्य का पालन विनय है। गुरु-शिष्य, पिता-पुत्र, पति-पत्नी, सास-बहू आदि सभी को अपने कर्तव्यों का..... औचित्य का पालन करना चाहिये। इस प्रकार 'विनय' की भावना पर्यावरण संरक्षण में सहायक बनती है।

असहिष्णुता वर्तमान युग का अभिशाप है । आबाल वृद्ध सभी में सहनशीलता की कमी है । व्यक्ति के मान-सम्मान को ठेस पहुंचती है । उसके अन्दर बैठा अहं का नाग फूफकार उठता है । आज पारिवारिक सम्बन्धों में टकराव हो रहा है, पारस्परिक प्रेम टूटता जा रहा है । सब अहमेन्द्र बन गये हैं । चारों ओर कलह-क्लेश छा रहा है । उत्तराध्ययनसूत्र का परीषद अध्ययन व्यक्ति को सहिष्णु बनने की विशिष्ट प्रेरणा देता है ।

उत्तराध्ययनसूत्र के सातवें — उरग्रीय अध्ययन में उपभोक्तावादी, संस्कृति पर करारा व्यंग्य किया है । इसमें कहा गया है वर्तमान कालीन क्षणिक सुख जो भी वस्तुतः सुखाभास है उसके पीछे मानव अपने भविष्य अंधकारमय बनाता है । इसके बतीसवें अध्ययन में भौतिक सुख का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हुये बताया है कि सुख के सारे साधन, प्राप्ति से पूर्व, प्राप्त साधनों का उपभोग करते समय तथा उपभोग के पश्चात् दुःखरूप ही होते हैं । अर्थात् साधनों के अर्जन, संरक्षण एवं उपयोग तीनों स्थिति में व्यक्ति तनावग्रस्त ही रहता है ।

व्यक्ति की सुविधावादी विचारधारा एवं संग्रहवृत्ति ने समाज की व्यवस्था को बुरी तरह प्रभावित किया है । एक ओर दो व्यक्ति के लिये पांच मंजिली इमारत है तो दूसरी ओर दस व्यक्तियों के लिये एक झोपड़ी भी अनुपलब्ध है । इसप्रकार व्यक्ति की तीव्र लालसा से समाज में अमीर-गरीब की खाई बढ़ती जा रही है । उत्तराध्ययनसूत्र के आठवें कापिलीय अध्ययन में लोभ दुष्परिणाम का सुन्दर विवेचन किया गया है । इससे स्पष्ट फलित होता है कि लोभ का कहीं ओर-छोर नहीं होता है । वह स्वयं एवं दूसरे की अशांति का ही कारण बनता है । उत्तराध्ययनसूत्र का अपरिग्रह एवं परिग्रह परिमाण का सिद्धान्त व्यक्ति को अपनी संचय एवं संग्रह वृत्ति पर नियंत्रण रखने की प्रेरणा देता है । इसे स्वीकार करने पर बेरोजगारी एवं गरीबी की समस्या से मुक्ति पाई जा सकती है ।

आज मानव व्यस्तता का मुखौटा पहने हुये वस्तुतः निकम्मा है । इसका कारण वैज्ञानिक यंत्र हैं । इन यंत्रों ने आज मनुष्य का यंत्रीकरण कर दिया है । मशीनों के द्वारा कम समय में अधिक कार्य हो जाता है और सामान्य मानव के पास समय ही समय होता है और वह उस समय को इधर-उधर घूमने-फिरने, टी.वी. सिनेमा, होटल के जरिये निरर्थक व्यतीत करता है । समय का दुरुपयोग भी सामाजिक विकृति का कारण बनता है । कहावत भी है— 'खाती दिमाग शैतान का घर' । अतः उत्तराध्ययनसूत्र हमें समय का महत्त्व समझने की प्रेरणा देता है । इसमें कहा गया है 'समयं गोचम, मा पमायए' अर्थात् एक क्षण भी व्यर्थ नहीं गंवाना चाहिये । समय का सत्कार्यों में सम्यक् नियोजन होना चाहिये । इसमें यह भी कहा गया है

‘कालोकालं समायरे’—समय पर समयोचित कार्य करना चाहिये । वस्तुतः समय का नियमन व्यस्तता कम करके व्यवस्था प्रदान करता है ।

अनियन्त्रित कामवासना मानव के संस्कारों को विकृत बनाती है । आज चलचित्रों के दृश्य व्यक्ति की विषय-वासना को उदीप्त करते हैं । समाज में व्यभिचार का संकट छा रहा है । उत्तराध्ययनसूत्र का ‘ब्रह्मचर्यसमाधि’ अध्ययन ब्रह्मचर्य का महत्व प्रतिष्ठित करता है । इसमें वैज्ञानिक रूप से उस वातावरण से दूर रहने की प्रेरणा दी गई है जिनसे विकार-वासना जागृत होने की संभावना हो । यद्यपि उत्तराध्ययनसूत्र के युग में ‘दूरदर्शन’ (T.V), फिल्म का आविष्कार नहीं हुआ था तथापि उसमें अश्लील दृश्य देखने का निषेध किया गया है । इससे स्वतः टी.वी. का निषेध हो जाता है । टी.वी. हमारी संस्कृति एवं संस्कारों का सर्वनाश करती है । यह समाज के लिये टी.वी. के रोग के समान है । इसमें पारिवारिक मर्यादा मिटती जा रही है ।

आज सरकार को आरक्षण व्यवस्था पर विशेष ध्यान देना पड़ रहा है किन्तु आज की आरक्षण-व्यवस्था समाज के लिये अभिशाप बन गई है इसमें योग्यता का अवमूल्यांकन हो रहा है । योग्य व्यक्ति की पद-नियुक्ति नहीं हो रही है और अयोग्य व्यक्ति पदाग्नीन हो रहे हैं । भारतीय संस्कृति में पद-प्रतिष्ठा का आधार व्यक्ति की योग्यता है न कि जाति । उत्तराध्ययनसूत्र के पच्चीसवें अध्ययन में स्पष्टतः कहा गया है:— ‘कम्मुणा बम्मणो होई कम्मुणा होई खतियो’ — व्यक्ति कर्म से ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र होता है जन्म से नहीं । उत्तराध्ययनसूत्र जातिवाद की समस्या का निराकरण कर एक स्वस्थ समाज की रचना करने का सशक्त संदेश देता है । इसमें हरिकेश मुनि का दृष्टांत है । जो जाति से चाण्डाल होने पर भी मुनि बन गये थे यह छुआछूत की विकृति विचारधारा से मुक्त होने की प्रेरणा देता है ।

उत्तराध्ययनसूत्र का समिति-गुप्ति का विवेचन पर्यावरण-संरक्षण के अनेक आयाम प्रस्तुत करता है । इसमें न केवल स्वयं को वरन् समाज को भी प्रदूषण से मुक्त रखने का संदेश समाहित है । नीचे देखकर चलना, स्वयं की एवं दूसरों की सुरक्षा में सहायक बनता है । हित, मित एवं प्रिय वचन भी समाज में मधुर वातावरण का निर्माण करते हैं । इसी प्रकार आहार-पात्र आदि का उचित उपयोग तथा मल-मूत्र का सूखी जगह में विसर्जन प्राकृतिक संतुलन के लिये अति उपयोगी है । साथ ही इसमें मन, वचन एवं शरीर को नियंत्रित करने की प्रेरणा भी की गई है । इसका प्रवृत्ति निवृत्ति मय उपदेश यह है कि व्यक्ति को अनावश्यक मन, वचन, काया की प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिये । आवश्यकता होने पर सम्यक् प्रवृत्ति करना चाहिये ।

व्यक्ति की मानसिकता कैसी होनी चाहिये । इसका विवेचन उत्तराध्ययनसूत्र के 'लेश्या' अध्ययन में किया गया है । दूसरे के हित को ध्यान में रखकर ही व्यक्ति को कोई भी व्यवहार करना चाहिये । दूसरों को पीड़ा कष्ट, दुःख पहुंचा कर अपना स्वार्थ सिद्ध करना निकृष्टतम मनोवृत्ति का परिचायक है ।

उत्तराध्ययन के अन्तिम 'जीवाजीव विभक्ति' अध्ययन में जगत का अत्यन्त व्यापक एवं सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है साथ ही हिंसा से विरत होने की प्रेरणा भी दी गई है । इसके अन्य अध्ययनों में व्यक्ति की विचारधारा को विशुद्ध बनाने के अनेक उपाय प्रतिपादित किये हैं, जिसके माध्यम से बाह्य एवं आन्तरिक दोनों पर्यावरण की सुरक्षा की जा सकती है ।

भगवान महावीर के अहिंसा एवं अनेकान्तवाद एवं अपरिग्रह का सिद्धान्त यदि सूक्ष्मता से समझा जाय तो विश्व वैचारिक एवं भौतिक दोनों प्रदूषण से, छुटकारा पा सकता है । मानव के विचारों में अनेकान्तवाद तथा आचरण में अहिंसा की प्रतिष्ठा होनी चाहिये । अनाग्रह दृष्टि वैचारिक प्रदूषण से तथा अहिंसात्मक दृष्टि बाह्य प्रदूषण से मुक्ति दिलाने में अत्यन्त सहायक है ।

पूर्वोक्त बिन्दुओं के परिप्रेक्ष्य में यह स्पष्ट होता है कि उत्तराध्ययनसूत्र की शिक्षाएं वर्तमान जीवन में व्याप्त विकृतियों को दूर करने में पूर्णतः सक्षम हैं। उत्तराध्ययनसूत्र के सूत्र, गाथाएं, अध्ययन, दृष्टान्त, और कथानक सभी मार्मिक तथ्य प्रस्तुत करते हैं। इसके प्रत्येक अध्ययन की पृष्ठ भूमि में भी विशिष्ट प्रेरणाएं सन्निहित हैं जो मानव जीवन की समस्याओं का निराकरण करने में और जीवन में सुख-शान्ति का संचार करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत करती है।

सहायक ग्रंथ सूची



सहायक ग्रन्थ सूची

अभिवानराजेन्द्रकोश	श्रीमद् विजय राजेन्द्र -सुरिचवल्की	विजय राजेन्द्र सुरिजी - रत्नलाम	सन् १९७१
अध्यात्म-दर्शन	श्री आनन्दधनजी	विश्ववासस्वय प्रकाशन समिति लोकानगण्डी, आगरा	सन् १९७६
अंगसुताधि (खण्ड १-३)	युवाचार्य महाप्रभ	जैन विश्वभारती संस्थान लाडनू (राज.)	विक्रम संवत् २०४६
अनुशीलन	साध्वी कनकश्री	अखिल भारतीय तेरापंच युवक लाडनू (राज.)	सन् १९६६
आध्यात्मसूत्र	श्री मिश्रीमल्लजी महाराज 'मनुकर'	श्री आनन्दप्रकाशन समिति, ध्यावर (राज.)	ई. सन् १९८८
आध्यात्मसूत्र	शिक्षकचार्यटीका	श्रीयुक्त रायधनपति सिंह बहापुर का आम संग्रह भाग - १ प्रथम (प्राप्ति स्थान- शाकपुर बंडार)	सन् १९३६
आगम शब्दकोश	युवाचार्य महाप्रभ	जैन विश्वभारती लाडनू (राज.)	सन् १९८०
आगम का सागर	आचार्य श्री देवेन्द्रमुनिजी	श्री तारक गुरु जैन श्रद्धालय हास्वी लखन, उदयपुर	सन् १९६२
आत्मसिद्धि शास्त्र	श्रीमद् राजचन्द्र	श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम अगास स्विरिबुद्धल सेन्टर ए ब्लॉक, निर्माण विहार दिल्ली	सं. १९६२ - २०५२
आगम और त्रिपिटक एक अनुशीलन (तीन खण्ड)	मुनि श्री नगराजजी	आचार्य श्री भरतसागरजी महाराज संघ	सन् १९६१
आत्मानुशासनम्	डॉ. आ. ने. उपाध्ये		सन् १९६८
आनन्दधन का रहस्यवाद	साध्वी सुदर्शना श्री	पार्ष्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान आई. टी. आई. रोड वाराणसी	सन् १९८४
आत्म-साधना संग्रह	पोतीलाल मांडोट	अखिल भारतीय साधुमार्गी जैन संस्कृति रसक संघ नेहरू गेट बाहर ध्यावर (राज.)	सन् १९६४
आध्यात्मपद्धत	आचार्य महाप्रभ	आदर्श साहित्य संघ चुरु (राज.)	सन् १९६५
आर्हती - वृष्टि	समर्थी मंगल प्रभा	आदर्श साहित्य संघ चुरु (राज.)	सन् १९६८
आप्त परिक्षा	सम्पादक पं. दरबारीलाल जैन	श्री दिगम्बर जैन मन्दिर गुल्लबगटिका, लेनी रोड, दिल्ली	सन् १९६२
आत्ममीमांसा	पं. बलसुख मालवधिया	जैन संस्कृति संशोधन मण्डल P.O. बनारस हिन्दू प्रिनिसिपी बनारस	सन् १९५३
आश्रमसार	रसिकलाल शाह	निरंजन रसिकलाल सेठ ३६, सुधनलक्ष्मी जैन सोसायटी नं. ५ सुधानपुर, बड़ोदरा - ७	सन् १९६०
आचारंग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन	डॉ. त्रियदर्शनश्रीजी	पार्ष्वनाथ विद्यापीठ आई. टी. आई. रोड कटौरी, वाराणसी	सन् १९६५

इतिहासियाई सुचाई (ऋषिभाषित सूत्र) इंशादि नौ उपनिषद्	भक्षोपाध्याय दिनयसागर	प्रकृत भारती अक्षरदमी जयपुर	सन् १९८८
उदांगसुतापि १-२ उत्तराध्ययनसूत्र	हरिकृष्णदास गोयनकर युवाचार्य महाप्रज्ञ सं. आत्मारामजी महाराज	गोविन्दभवन - कर्मालय पीताप्रेस, गोरखपुर जैन विश्वभारती लाइन् (राज.) आचार्य श्री आत्माराम जैन प्रकाशन समिति, जैन स्थानक, लुधियाना	वि. सं. २०१३ ई. सं. १९८९
उत्तराध्ययनसूत्र (१-३)	सं. आचार्य श्री हस्तीमलजी	सम्पद् ज्ञान प्रचारक मण्डल बापू बाजार, जयपुर	ई. सं. १९८९
उत्तराध्ययनसूत्र	सं. मुनि श्री सोभायचन्द्रजी	महावीर साहित्य प्रकाशन मन्दिर हठौभाईनी बाड़ी, अहमदाबाद	सन् १९३४ - १९६१
उत्तराध्ययनसूत्र	सं. युवाचार्य महप्रज्ञ	जैन विश्वभारती संस्थान मान्य विश्वविद्यालय लाइन् (राज.)	सन् १९६२
उत्तराध्ययनसूत्र	श्री अमर मुनि	आत्म-ज्ञान पीठ मानसा मंडी पंजाब	
उत्तराध्ययनसूत्र	डॉ. राजेन्द्र मुनि	श्री तारक गुरु जैन ग्रंथालय, उदयपुर	सन् १९६६
उत्तराध्ययनसूत्र	सं. श्री मधुकर मुनि	श्री आगम प्रकाशन समिति व्यावर (राज.)	ई. सन् १९८४
उत्तराध्ययनसूत्र	सं. सोभायचन्द्रजी	श्री श्वेताम्बर स्था. जैन काफेस ४१, मेडोवस्ट्रीट, मुंबई	सन् १९६२
उत्तराध्ययनसूत्र	सं. श्री कृतिऋषिजी न.सा.	श्री खंभात रथा जैन संघ श्री अरविंद जगजीवनदास पटेल बोल्सपीकतो खंभात (गुजरात)	वि. सं. २०४६
उत्तराध्ययनसूत्र	जिनदासगणि	श्री जितराज ग्रंथ भंडार लक्ष्मीपुरी, कोल्हापुर	वि. सं. १९८९
उत्तराध्ययनटीका	शान्पाचार्य	श्री जिनशासन आरारथना ट्रस्ट ७/३ जो भाईवाडो, पुस्तकदर, मुंबई	वि. सं. २०४६
उत्तराध्ययनटीका	भादकिजयगणि, नैमिचंद्राचार्य, शान्पाचार्य, लक्ष्मीवत्सामगणि, कमलसंयमोपाध्याय	श्री हर्षपुण्यामृत जैन ग्रंथभाला लाखाबागल - शक्तिपुरी सौराष्ट्र (आगम पंचांगी क्रम: ४१/३)	वि. सं. १९३६
उत्तराध्ययनटीका	लक्ष्मीवत्साम गणि	राय धनपतिसिंह बहादुर कलकता (प्राप्ति स्थान- शाजपुर भंडार)	वि. सं. १९३६
उत्तराध्ययनटीका	कमलसंयमोपाध्याय	श्रीमज्जैसिद्धान्तवाचना प्रकाशनकारिक (प्राप्ति स्थान- जिनवत्ससूरी ज्ञान भण्डार, इन्दौर)	वि. सं. १९७७
उत्तराध्ययन; सर्वाक्षात्मक अध्ययन	मुनि नयमल	जैन श्वेताम्बर तैरापंथी महासभा आगम- साहित्य प्रकाशन समिति, ३, पोर्तुगीज चर्च स्ट्रीट, कलकता	सन् १९६८
उत्तराध्ययनसूत्र; एक परिशीलन	डॉ. सुदर्शनलाल जैन	सोहनलाल जैनग्रंथ सोहनलाल जैनग्रंथ प्रचारक समिति	
एकर्यक कोश	समणी कुसुमप्रज्ञा	जैन विश्व भारती लाइन् (राज.)	सन् १९८४

जीवप्राणिकसूत्र	सं. श्री मधुकर मुनि	श्री आगम प्रकाशन समिति श्री ब्रज-मधुकर स्मृति भवन पीपलिया बाजार, ब्यावर(राज.)	सन् १९६२ ई.
कर्मविपाक (कर्म ग्रन्थ)	साध्वी हर्षगुणाश्रीजी	सरस्वती पुस्तक भण्डार हाथीखाना, रतनपोल, अहमदाबाद	विं. सं. २०५१
कर्मवाद कर्म नो सिद्धान्त	युवराज्य महाप्रभ श्री हीरामाई ठक्करे	आदर्श साहित्य संघ वृत्त(राज.) कांतिलाल दासभाई पटेल मंगल मुद्रणालय रतनपुरपोल, फतेहपुरासिनी हवेली, अहमदाबाद	सन् १९८५
कर्मग्रन्थ (भाग १-६)	अनु. पं. सुखलालजी संघवी	श्री बद्धमान स्थानकवासी जैन धार्मिक शिक्षा समिति बड़ोत (मेरठ)	ई. सन् १९७४
कर्मसूत्र	धर्मबाहु	खरतरागख्यप श्री जिनरंगसुरि महाराज, पोवाल ट्रस्ट, कलकता	
गोप्यतरसार	श्री नैमिषेन्द्र सिद्धान्त घक्रवती	श्री परमशुभ प्रभायक पण्डित (श्रीमद् राजवन्दर जैन शास्त्रप्रस्ता) अणस	सन् १९७२
जैन दर्शन में आचार-दीर्घासा.	मुनि नयमल	सेठ मन्मालालजी सुराना मेमोरियल ट्रस्ट ८१, सदर्न एवेन्यू कलकता	आषाढ़ सं. २०१७
जैन दर्शन में आत्मविचार	डॉ. तालचन्द्र जैन	पाषर्धनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान कश्मी क्रिष्ण विश्वविद्यालय आई.टी.आई. रोड वाराणसी	सन् १९८४
जैन धर्म ग्रन्थ चतुष्टय	आचार्य श्री हरिपद सुरि	मुनि श्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन पीपलिया बाजार, ब्यावर	ई. सन् १९८२
जैन आचार सिद्धान्त और स्वल्प	देवेन्द्र मुनि शास्त्री	श्री तारक जैन गुरु प्रयालय शास्त्री सर्कल उदयपुर (राज.)	ई. सन् १९८२
जैन कर्म सिद्धान्त उद्भव एवं विक्षास	डॉ. रवीन्द्रनाथ मिश्र	पूज्य सोहनलाल स्मारक पाषर्धनाथ शोधपीठ आई.टी.आई. रोड, करौदी, वाराणसी	सन् १९८३
जैनेन्द्र सिद्धान्त क्लेश (भाग १-४)	डॉ. जिनैन्द्र वर्गी	भारतीय क्षानपीठ प्रधान कार्यालय : १८ सोदी रोड, नयी दिल्ली	सन् १९४४
जैन दर्शन स्वरूप और विस्तारण	देवेन्द्र मुनि, शास्त्री	श्री तारक गुरु जैन प्रयालय शास्त्री सर्कल, उदयपुर (राज.)	सन् १९७५
जैन दर्शन में तत्त्वमीमांसा	मुनि नयमल	सेठ मन्मालालजी सुराना मेमोरियल ट्रस्ट ८१, सदर्न एवेन्यू कलकता	आ. सं. २०१७

जैन, बौद्ध और गीता के आधार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन (भाग-१,२) जैन-दर्शन	डॉ. सगरमल जैन	प्रकृत भारती संस्थान जयपुर (राज.)	सन् १९८२
जैनतत्त्वमीमांसा	डॉ. मोहनलाल मेहता	श्री सन्मति ब्रानचीट लोकप्रमची, आगरा	सन् १९५६
जैन धर्म चिंतन	पं. भूलचन्द्र सिन्हातन्त्रास्त्री	अशोक प्रकाशन मन्दिर २/२५६, निर्माण भवन नवीन्द्रपुरी, वाराणसी	बी.नि.सं. २५०४
जैन योग सिद्धांत और स्रचना	पं. दत्तसुख मालवणिया	अशोक शांतिनाल कोरा ४८, गोवालिया टैंक रोड़ मुंबई	वि. सं. २०२१
जैन-दर्शन	आचार्य श्री आत्मराय जी महाराज	आत्म ब्रानचीट, मानसा मच्छी, पंजाब	ई. स. १९८२
जैन नीतिशास्त्र :- एक तुलनात्मक विवेचन	डॉ. प्रतिभा जैन	भोगीनाल कुनीलाल कपडिया मनीनाल गबस्थान शाह पा. पार्श्वनाथ विद्यापीठ आई. टी. आई. रोड़ करीबी पो. ऑ. :	सन् १९५०
जैन न्याय का विकास	मुनि नवमल	बी. एच. यू. वाराणसी जैन विद्या अनुशीलन केंद्र राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर	वर्ष १९६५
जैन विद्या के आयाम भाग (१ - ७)	डॉ. सगरमल जैन	जैन विद्या अनुशीलन केंद्र राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर	सन् १९७७
जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग (१ - ७)	सं. पं. दलसुखभाई मानवणियाँ डॉ. मोहनलाल मेहता	पुण्य सोहनलाल स्मारक पार्श्वनाथ कोषपीठ आई. टी. आई. रोड़ करीबी पो. ऑ. : कशी हिन्दू विश्वविद्यालय	सन् १९८६
जैन दर्शन में कर्मवाद	डॉ. सुबचंद कोशवतल पारख	पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान आई. टी. आई. रोड़ वाराणसी	वि. सं. २०३७
जैन-दर्शन और कबीर एक तुलनात्मक अध्ययन	डॉ. मंजु श्रा जी	तहरेचंद अमीरचंद शाह ३४, आनन्द भवन नवामधुपुरा अहमदाबाद	वर्ष १९६२
जैन प्रवचन किराणवली	श्री विजयप्रसादसूरिसंवरजी	आदित्य प्रकाशन एफ १४/६५ मकल टाऊन श्री जैनधर्म प्रचारक सभा राधनपुरी बाजार, भावनगर	वर्ष १९८७
जैन आगम साहित्य : मनन और मीमांसा	श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री	श्री तारक मुक्त जैन ग्रन्थालय उदयपुर (राज.)	वर्ष १९७७
जैन- तत्व-प्रकाश	श्री अक्षेयक ऋषिजी	श्री अमोल जैन ब्रानालय दुलिया (महाराष्ट्र)	वर्ष १९८२
जैन दर्शन में सम्प्रत्यय का स्वरूप	डॉ. सुरेखा श्री	विद्यार्थन स्मृति प्रकाशन जयपुर (राज.)	वर्ष १९८८
जैन परामर्शविज्ञान	मुनि डॉ. राजेन्द्र रत्नेश	अमन प्रकाशन नई दिल्ली	सन् १९६२
जैन और बौद्ध शिक्षणी संघ : एक तुलनात्मक अध्ययन	डॉ. अरुण प्रताप सिंह	पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान वाराणसी	सन् १९८७
जैन धर्म और दर्शन	मुनि नवमल	सेठ मन्नालालजी सुरणा मेमोरियल ट्रस्ट, ८१, सदरन एवंग्यू, कलकत्ता	सन् १९६०

जैन आगम साहित्य : एक अनुशीलन	आचार्य विजयवन्तसेन सूरि	श्री राज राजेन्द्र प्रकाशन ट्रस्ट श्री राजेन्द्र सूरि जैन ज्ञान मन्दिर, रतनपोल, लघीखान, श्री राजेन्द्र सूरि चौक, अहमदाबाद	संवत् ८८
जैन दर्शन	डॉ. महेन्द्रकुमार जैन	गणेश प्रसाद वर्णी संस्थान नरिया बाराणसी-५	सन् १९७४
जैन अंगशास्त्र के अनुसार मानव व्यक्तित्व का विकास जैन तत्त्वार्थ (पूजाई)	डॉ. हरिन्द्रभूषण जैन श्री आत्मारामजी महाराज	श्री आनन्द जैन महासभा पंजाब हेड ऑफिस, अम्बाला शहर श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय गुरु पुष्कर मार्ग, उदयपुर श्री अनन्ताशयी महाराज जैन देरासरजी तथा तैनु साधारण फंडीनु ट्रस्ट ३०२/३०६, नरसी नाथा स्ट्रीट, बम्बई	सन् १९७४ ई. सं. १९३६
जैन आधार मीमांसा	आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि	श्री कम्प्यूटर सर्विस, जल्लोरो गेट, जोधपुर, अनमोल प्रिन्टर्स जोधपुर	ई. सं. १९६५
जैन दर्शन में साधना संग्रह	साध्वी जयवर्णिता श्री जी	श्री अनन्ताशयी महाराज जैन देरासरजी तथा तैनु साधारण फंडीनु ट्रस्ट ३०२/३०६, नरसी नाथा स्ट्रीट, बम्बई	ई. सं. १९६१
जैन दर्शन में अतिन्द्रिय ज्ञान	साध्वी (डॉ.) संयम ज्योति	जैन कम्प्यूटर सर्विस, जल्लोरो गेट, जोधपुर, अनमोल प्रिन्टर्स जोधपुर	सन् १९६७
जैन योग का आलोचनात्मक अध्ययन	डॉ. अर्हत् खस बन्धोपाध्याय	पार्श्वनाथ विद्यालय लोच संस्थान, काठमांडू	सन् १९८१
जैन दर्शन और संस्कृति	मुनि महेन्द्र कुमार	जैन विश्वभारती प्रकाशन लाडनू (राज.)	सन् १९६०
जैनधर्म - निर्देशिका	मुनि कन्हैयालाल 'कमल'	आगम अनुयोग प्रकाशन पोस्ट बॉक्स ११४१ दिल्ली	ई. सं. १९६६
जैनराधना की वैज्ञानिकता	डॉ. मोखरचंद जैन	प्रतिनिधेद माधी, राकेश जैन समन्वयक प्रकाशक भावनगर	सन् १९८१
जैन दर्शन में द्रव्य की अवधारणा और स्वरूप-कार्य सम्बन्ध	डॉ. कन्हैयालाल	दर्शन विभाग, जोधपुर विश्वविद्यालय, जोधपुर (राज.)	सन् १९८६
जैनसिद्धान्तवैदिकता	आ. श्री तुलसी	आदर्श साहित्य संघ सरदारराहबर (राज.)	सं. २००२
जैन नीतिशास्त्र : एक परिशीलन	आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि	श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय शास्त्री सर्कल, उदयपुर	सन् १९८८
जैन दर्शन और अनेकान्त	आचार्य महाप्रज्ञ	आदर्श साहित्य संघ धूल (राज.)	सन् १९६४
जैन दर्शन अने श्रावकदिनकृत्य	मुनि श्री अंकलकरविजयश्री महाराज	निशांत फ्लिपा उनमराम स्ट्रीट रादर सूरत	सं. २०४४
जैन धर्म प्रवेशिका	साध्वी हेमप्रथा श्री	श्री जैन संघ, पादरु (राज.)	वि. सं. २०४८
जैन धर्म का प्राण	पं. सुखलालजी	सस्ता साहित्य मण्डल, देहली	
जिन धर्मो	आचार्य श्री नानेश	श्री समता साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट इन्दीर - उज्जैन	सन् १९८४
जिन तत्त्व	रमणलाल चौ. शाह	श्री मुंबई जैन युवाक संघ ३८५, सरदार वल्लभ भाई पटेल मार्ग, मुंबई	सन् १९६१

जीवजीवाभिगमसूत्र	सं. श्री मयुर मुनि	श्री आगम प्रकाशन समिति, व्यावर (राज.)	सन् १९८६
स्रष्टव्योपनिषद (स्रष्टव्याद शांकरभाष्य साहित्य) श्रेयसूत्र : एक परिशीलन	आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि	गोविन्दभवन कार्यालय गीताप्रेस, गोरखपुर	सं. १९९३ - २०५२
तत्त्वार्थसूत्र	सं.पं. सुखलाल संवदी	श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय शास्त्री सर्कल, उदयपुर	सन् १९९३
तत्त्वार्थविगमसूत्र (सभाष्य)	सं. अण्णयधन्द्रसागरजी	पार्श्वनाथ विद्याश्रम शीप संस्थान जैन इन्स्टिट्यूट आई.टी.आई. रोड, वाराणसी	सन् १९९३
तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकम्	सं.पं. मनोहरसास	शारदाबेन चिमनभाई ऐम्बुकेशनल रीसर्च सेन्टर शाहीबाग, अहमदाबाद	सन् १९९४
तत्त्वार्थवार्तिक (राजवार्तिक)	सं. प्रो. महेन्द्रकुमार जैन	गोपीनाथाराय जैन ग्रन्थालय पो. माडवी, बम्बई	सन् १९९८
तत्त्वार्थसूत्र	सं. श्री केवलमुनि	भारतीय ज्ञानपीठ प्रधान कार्यालय : १८, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली	सन् १९४४
तत्त्वार्थ (सर्वाथसिद्धि)	सं.पं. फूलचन्द्र शास्त्री	श्री जैन दिवाकर साहित्यपीठ महावीर भवन, १५६, इन्दी बाजार, इन्दौर	सन् १९८७
तर्क भाषा	डॉ. श्रीनिवास	भारतीय ज्ञानपीठ, १८, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली	ई.सं. १९९७
दर्शन और चिन्तन भाग (१ - २)	पं. सुखलालजी	रतिराम शास्त्री सहित्य चण्डार, सुभाष बाजार, मेरठ	ई. १९७२ - १९९२
धर्मविन्दु प्रकरणम् (सटीक) धर्मसंग्रह (भाग १ - ३) धर्म के दशलक्षण	सं. मुनिश्री जम्बूदिव्य महोपाध्याय यशोविजयजी डॉ. हनुमन्तवन्द भारिल्ल	पं. सुखलालजी सम्मान समिति गुजराज विद्या सभाभद्र, अहमदाबाद	सन् १९५७
धम्मपद और उत्तराध्ययनः सूत्र का एक तुलनात्मक अध्ययन धर्म बोध	महेन्द्रनाथ सिंह पं. पू. श्री केवलमुनि	श्री जिनशासन आराधना ट्रस्ट, मुम्बई श्री आत्मानन्द जैन बालश्रम, हस्तिनापुर, मेरठ, यू.पी. पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, ए - ४, बापूनगर, जयपुर	वि.सं. २०१५ सन् १९९३ सन् १९९४
ध्यानविचार	श्री भद्रकर विजयजी महाराज	कशी हिन्दु विश्वविद्यालय, वाराणसी	सन् १९८६
		श्रीहरितालभाई मंगलजी मेहता ३६०१, ऐन, ऐम, जेसी मार्ग, लक्ष्मी निवास, २ जे माले, रूम नं. २४, मुंबई जैन साहित्य विकास मण्डल, ८६, स्वामी विवेकानन्द मार्ग, ईरलायितय - पारले (पश्चिम) मुम्बई	सं. २०१५ सन् १९६०

ध्यानदीपिका	विजयकेशरसुरीधरजी	विजयवंदसुरीधरजी जैन ज्ञान मन्दिर ट्रस्ट, नवरंगपुरा, अहमदाबाद	सन् १९७६
नवसूत्राणि	सं. युवाचार्य महाप्रज्ञ	जैन विश्वभारती लाडनूं (राज.)	ई सन् १९८७
नन्दीसूत्र	सं. युवाचार्य श्री मधुकरमुनि	श्री आगमप्रवर्धन समिति श्री ब्रज मधुकर स्मृति भवन पीपलिया बाजार, ब्यावर(राज.)	सन् १९९१
नियुक्ति संग्रह	सं. श्री विजयजिनेन्द्रसुरीधर	श्री हर्षपुष्पाभूत जैन ग्रंथमाला साक्षात्काल - शांतिपुरी (सौराष्ट्र)	सन् १९८९
निस्तुत केश	युवाचार्य महाप्रज्ञ	जैन विश्व भारती लाडनूं (राज.)	सन् १९८४
नवतन्त्र प्रकरण	पं. हीरालाल दूगड़ जैन	श्री आदिनाथ जैन श्वेताम्बर संघ, चिकपेट, बैंगलोर	सं. २०४२
नवतन्त्र परिबोध	विजय मुनि शास्त्री	सन्मति ज्ञान पीठ, लोहागण्डी, आगरा	वि.सं. २०४८
न्यायदीपिका	डॉ. दरबारी लाल कोटिया	आचार्य श्री भरतसागरजी महाराज संघ	सन् १९८८
न्यायाद्वार	आचार्य श्री सिद्धसेन दिवाकर	श्री परमशुभप्रभावक मण्डल श्रीमद्दुराजचन्द्र आश्रम आगस, पो. बोरीआ	सन् १९७६
पंचारितकव्य	आचार्य सुन्द सुन्द स्वामी	आचार्य श्री भरतसागरजी महाराज संघ	सन् १९८८
पंचाशक-प्रकरणम्	डॉ. सागरमल जैन	पार्वतनाथ विद्यापीठ, आई.टी.आई.रोड, करौंदी, वाराणसी	सन् १९९७
परिवार में रहने की कला	निरंजन अग्रवाल	तनाव मुक्त परिवार केन्द्र, एफ-१/७, ओखला इंडस्ट्रियल एरिया, फेज-१, नई दिल्ली	सन् १९८८
प्रकीर्णकेशक		प्राप्ति स्थान - आचार्य श्री कैलाशसिगरसुरी ज्ञान मन्दिर श्री महावीर जैन आराधना केन्द्र, खेबा, जिला गांधीनगर	
प्रशारणी (भाग - १-२)	सं. भद्रगुप्तविजयजी गणीवर	श्री विश्वकल्याण प्रकाशन ट्रस्ट, कम्बोईनगर के पास मेहसाना (गुजरात)	वि.सं. २०४०
प्रवचन सारोच्छार	साध्वी हेमप्रभाश्री	प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर	१९८६
प्राकृत - हिन्दी कोश	सं. पं. हरगोविन्ददास	प्राकृत जैन विद्या विकास फण्ड, ७७/३७५, सरस्वती नगर, आजाद सोसायटी, अहमदाबाद	सन् १९८७
प्रकीर्णक साहित्य: मनन और मीमांसा पुस्तकालयसिद्धयुवाय	सं. प्रो. सागरमल जैन	आगम, अहिंसा-समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर	सन् १९९५
भगवतीसूत्र - सार संग्रह	सं. श्री पूर्णानन्दविजयश्री महाराज	अनेकांत सिद्धांत समिति, लोहारिया, बौसवाड़ा (राज.)	सन् १९९५
		श्री जगजीवनदास कस्तुरचन्द शाह, श्री विद्याविजयजी स्मारक ग्रन्थमाला, पो. साठबा (साबरकांठा)	ई. सं. १९८८

भारतीय जीवन-मूल्य	डॉ. सुरेन्द्र वर्मा	पार्वरनद्य विद्यापीठ आई.टी.आई. मार्ग, कलौली, वाराणसी	सन् १९६६
भारतीय दर्शन के प्रमुखग्रन्थ	मुनि राकेश कुमार	आदर्श साहित्य संघ धुल (राज.)	सन् १९८८
भारतीय दर्शन में श्रेष्ठ चिन्तन एक तुलनात्मक अध्ययन भावनें बचनशिली	डॉ. अशोक कुमार लाल राजेन्द्र मुनि	मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, ९७, मालवीय नगर, भोपाल श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय शास्त्री संकल, उदयपुर (राज.)	सन् १९७३ वि.सं. २०५१
पावनयोग	आनन्दशक्तिजी	श्री रत्न जैन पुस्तकालय पाण्डरी, अहमदनगर (महाराष्ट्र)	सन् १९७५
भेद में सुधा अपेक्ष	युवाधर्य महाप्रज्ञ	जैन विश्व भारती, लाहनु	सन् १९६१
महावीर का पुनर्जन्म	युवाधर्य महाप्रज्ञ	जैन विश्व भारती, लाहनु, नागौर (राज.)	सन् १९६५
महावीर - वचनमृत	पं. धीरेश्वरत शर्मा	जैन साहित्य प्रकाशन मन्दिर, लघाभाई गुणपत कीर्तिभंग, दीघ बन्दर, बन्वाई	सं. २०१६
धनन और मृत्याकन	युवाधर्य महाप्रज्ञ	आदर्श साहित्य संघ धुल (राज.)	सन् १९८२
महावीर ज्ञानी	पं. बैचरदत्त दोसी	श्री नवीन भाई जवेरी, चन्द्र विहार सीसायटी, सोम जटीय रोड, अहमदाबाद	सन् १९८७
महावीर के महासूत्र	श्री चन्द्रप्रमसागर	श्री जितयशस्वी फ़ौजेशान ६ सी, एस्तानेड रो ईस्ट, कलकत्ता	सन् १९८७
मनोविज्ञान	श्री भुवनविजयजी महाराज	श्री जैन श्वेताम्बर मूर्तिपुस्तकमुद्रण मण्डल मुम्बई	वि.सं. २०२५
मूलाधार	सं. डॉ. फूलचन्द जैन	भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत परिषद	सन् १९६६
मूलाधार का समीक्षात्मक	डॉ. फूलचन्द	पार्वरनद्य विद्यालय शोध संस्थान, आई.टी.आई. रोड, वाराणसी	सन् १९८७
चन्दननी सुवास	श्री सूर्यदेव विजयजी महाराज	मेहतल कबुभाई वसन्ती गंधी नगर, बैंगलोर	वि.सं. २०१६
शब्दकल्पद्रुम: (भाग १-५)	राजा राधाकान्त देव	नाग पब्लिशर्स ११ ए/यू.ए. जवाहर नगर, दिल्ली	सन् १९८८
शब्दों का उच्चारण	डॉ. आनन्द प्रकाश त्रिपाठी	कम्प्लेक्स कलुईरी, आदर्श साहित्य संघ, धुल (राज.)	सन् १९६५
ज्ञान्ति पद्य-प्रदर्शन	जिनेन्द्र वर्मा	श्री जिनेन्द्र वर्मा ग्रन्थालय, ५८/४, जैन स्ट्रीट, पानीपत बी. १६/६० बी. डेभुरियावीर, धेनुपुर, वाराणसी	सन् १९६०-१९८२
श्रमणसूत्र	अपरमूनि	सन्निधि-ज्ञान-पीठ लोहामण्डी, आगरा	सन् १९६६

श्रमण (पत्रिका)	श्री. सागरमल जैन	पार्ष्वनाथ विद्यापीठ, आई.टी.आई. मार्ग, करौंदी, पी.ओ. - बी.एच.यू., वाराणसी	सन् १९६७, अंक ४-६
श्रमण (पत्रिका)	श्री. सागरमल जैन	पार्ष्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी	सन् १९६५, अंक ४-६
श्रीमद्भगवद्गीता		मोतीसाल जलान गीताप्रेस, नोरखपुर भदरलात नाहरा	वि.सं. २०२९
श्रीमद् देवचन्द्र सज्जामाला भाग - १	अगरचन्द्र नाहटा	श्रीमद् देवचन्द्र ग्रन्थमाला, ४, जगनोहन मल्लिक लेन, कलकत्ता - ७	वि.सं. २०२०
स्थानांगसूत्र	श्री मधुकर मुनि	श्री आगमप्रकाशन समिति, श्री ब्रज-मधुकर स्मृति भवन, पीपलिया बाजार, ब्यावर(राज.)	सन् १९६२
सभ्यापांगसूत्र	तं. श्री मधुकर मुनि	श्री आगमप्रकाशन समिति श्री ब्रज मधुकर स्मृति भवन, पीपलिया बाजार, ब्यावर(राज.)	सन् १९६१
संस्कृत हिन्दी क्लेश	सं. श्री सुरेन्द्र प्रताप	नाग प्रकाशन, ११ ए./यू. ए. (पोस्ट ऑफिस बिल्डिंग), जम्हार नगर, दिल्ली	ई.सं. १९६६
सम्पत्ति तर्क प्रकरण (खण्ड-१)	सिद्धसेखीकामरसूत्रिणी	रोट मोतीसाल जलान, जैन सेटोटीज ट्रस्ट पंजाबपाल कम्प्लेक्स, मुलेश्वर मुम्बई	वि.सं. २०४०
साध्याय	महात्मा धनश्यामदीनजी	दत्तसुख शंकरशिवजी मंत्री, जैन संस्कृत-संशोधन मण्डल, वाराणसी	सन् १९५७
सागर जैन विद्या भारती (भाग १-३)	श्री. सागरमल जैन	पूज्य सोहनलाल स्मारक पार्ष्वनाथ शोधपीठ, वाराणसी	सन् १९६४
साधारणसंभृतम्	आ. सुपाश्वर्नतिजी	अनेकान्त सिखात समिति लोहारिया, बालयाङ्ग (राज.)	सन् १९६५
साहित्य और संस्कृति	देवेन्द्रमुनि शास्त्री	भारतीय विद्या प्रकाशन, पो.बा. १०८, कथौड़ीगन्ती, वाराणसी	सन् १९६७
सांख्यकारिका	श्री. रामकृष्ण आचार्य	रतिराम शास्त्री साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार, मेरठ	सन् १९६१
सुवर्णमे	सुवर्णमे महाशय	जैन विश्व भारती संस्थान, लाहौर	सन् १९८४
सूक्तार्थांगशुक्ति	मुनि पुष्पविजय	प्राकृत ग्रन्थ परिषद् वाराणसी - ५	सन् १९७५
शैलशास्त्र	मुनि जम्बूविजय	जैन साहित्यविकासमण्डलत्यागशयः श्रेष्ठी अमरलाल कालीदासरोशी मुम्बई	सन् १९७७
शैलसूत्र	पार्तजति	पार्तजल यौग प्रदीप, गीता प्रेस	वि.सं. २०१८

ललकारण्डकश्रावकप्रचार	पन्नालाल 'वसन्त'	श्री मुनिसंघ स्वाध्याय समिति सागर (मध्यप्रदेश)	सन् १९८६
राष्ट्रप्रतीपसूत्रम्	सं. श्री मधुकर मुनि	श्री आर्य प्रकाशन समिति, जैन स्थानक, पीपलिया बाजार, झाबर (राज.)	सन् १९८२
लेख्य और मनोवैज्ञानिक	डॉ. शान्त जैन	जैन विश्व भारती लाडनू (राज.)	सन् १९९६
लोकतंत्र : नया व्यक्ति नया समाज	युवाधर्म महाप्रज्ञ	जैन विश्व भारती लाडनू (राज.)	सन् १९९३
वृहदारण्यकप्रतिषद् (सानुवाद शांडरभाष्यसहित) वृहद्रथसंग्रह :	श्री नेमिचन्द्रसिखन्तिधेव	मोचिन्दभवन कार्यालय, गीताप्रैस, गोरखपुर मुम्बयीस्य - परमश्रुतप्रकाशक मण्डल :	सं. १९९५-२०१२ वि.नि.सं. २४३३
विज्ञान के सन्दर्भ में जैन धर्म	मुनि सुखलाल	अखिल भारतीय तेरापय युवक परिषद्, पो. लाडनू, जिला (नागौर) राज.	सन् १९८२
विज्ञान अने धर्म	मुनि श्री चंद्रशेखरविजयजी	कमल प्रकाशन, ५०८२/२, बीजे माले, बन्दर होटलनी सामे रत्नमौल नाका, गांधी रोड, अहमदाबाद	वि.सं. २०२७
विश्वदर्शन जयज्योत	सौम्यज्योति श्री जी	पंचाशक प्रकाशन समिति, हारा- बेसलं खुमचंद मुलाबचंद, मु.सिलेदरा (गणेश) स्टे. नवसारी	सन् १९९०
विशेषावश्यक भाष्य	श्री ब्रजसेन विजयजी	सेठ अनीधंदजी बन्नालाल आदिश्वरजी, जैन देरासर वैरिटेबल ट्रस्ट, ४१, रीज रोड, बालकेसर मालाबार जिल, मुंबई	वि.सं. १९८०
An Introduction to the Uttaradhayana	Dr. R. P. Poddar	Department of Jainology University of Madras Madras	
Jaina Epistemology	Indra chandra Shastri	P. V. Research Institute P.T.I. Road, Varanasi -5	1990
Studies in Jaina Philosophy	Nathmal Tatia	P.V. Research Institute Jainashram Hindu University Varanasi	1951
Saman Suttam	Sri. Jinendra Varni	Sarva seva sangh prakashan rajghat, Varanasi - 221001 (U.P.) India	1993



प.पू. महान आत्मसाधिका गुरुवर्या अनुभवश्रीजी म.सा.